प्रकाशक—
श्री चन्द्रराज भण्डारी
ज्ञान-मन्दिर, भानपुरा (मध्य प्रदेश)

लेखक की अन्य पुस्तकें

(१) भगवान् महावीर—ऐतिहासिक जीवनी पृष्ठ संख्या ५
प्रकाशन सन् १९२५।

(२) भारत के हिन्दू सम्राट्—ऐतिहासिक ग्रन्थ पृष्ठ संख्या ३ ,
भूमिका लेखक रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द "ओझा" प्रकाशन सन् १९२५

(३) समाज विज्ञान—समाज शास्त्र का मौलिक ग्रन्थ, पुरस्कृत एवं हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की उत्तमा परीक्षा में स्वीकृत, पृष्ठ संख्या ६ प्रकाशन सन् १९२७।

(४) अग्रवाल जाति का इतिहास—पृष्ठ संख्या १
प्रकाशन सन् १९३६।

(५) नैतिक-जीवन—पृष्ठ संख्या २ प्रकाशन सन् १९३५।

(६) सिद्धार्थ कुमार (बुद्धदेव सम्बन्धी नाटक) प्रकाशन सन् १९३१।

(७) सम्राट् अशोक (नाटक) प्रकाशन सन् १९३४।

(८) वनौषधि-चन्द्रोदय (वानस्पतिक विश्व-कोष) १ भाग ११ पृष्ठ, प्रकाशन सन् १९३८ से १९४४ तक।

(९) सम्पादक—जीव-विज्ञान (मासिक-पत्र) प्रकाशन सन् १९४५ से १९४८ तक।

(१) भारत का औद्योगिक विकास—पृष्ठ संख्या ७० प्रकाशन सन् १९६ ।

(११) ओसवाल-जाति का इतिहास—पृष्ठ संख्या १

[illegible]
दफ्तरी एण्ड को०
बुलानाला,
वाराणसी।

मुद्रक—
ममन सिंह
प्रकाश प्रेस
मध्यमेश्वर, वाराणसी।

विषय-सूची नं० १

(अकारादि क्रम से)

[ए—ऐ]

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
एशिया महाद्वीप	११७	ऐन्दु (देवपत्नी)	१५८
भारत	१३८	ऐतरेय ब्राह्मण	१५९
चीन	६१९	ऐतिहासिक भौतिकवाद	१५९
मध्य एशिया	१४२	ऐम्मेट राबर (आयर्लैंड)	१५९
ईरान	१४१	ऐम्स्टर्डम (हालैंड का नगर)	११
जापान	१४५	ऐरीजोना (अमेरिका)	११
दक्षिण-पूर्वी एशिया	१४८	ऐलीजा-एम्पी (रूस)	१६०
ऐह्मीस (प्राचीन मिस्र का राजा)	६५१	ऐलक्विन (शिक्षाशास्त्री)	१६०
ऐकेगारे (स्पेन का साहित्यकार)	१५०	ऐलतरस (तुर्क सरदार)	१६०
ऐक्रोपालिस (प्राचीन यूनान का मन्दिर)	१५१	ऐलगिन (गवर्नर जनरल)	१६१
ऐकेडेमी (अनुसन्धान संस्था)	६१	ऐलाम (प्राचीन नगर)	१६१
ऐगोर सिकोरस्की (वैज्ञानिक)	६५३	ऐलिजाबेथ बिलिंगटन (गायिका)	१६२
ऐंजल्स (कम्यूनिज्म का संस्थापक)	१५४	ऐलिजाबेथ टेलर (अभिनेत्री)	१६२
ऐंग्रिस ऑगस्ट (फ्रांस का चित्रकार)	१५४	ऐलिस हेनरी हैवलॉक	१६२
ऐंग्लिकन चर्च (ईसाई सम्प्रदाय)	१५४	एलिफैण्टा गुफाएँ	१६३
ऐथीना देवी (प्राचीन यूनान)	१५५	ऐल्सटन वाशिंगटन (चित्रकार)	१६३
ऐवर्स (फ्रांस का एक नगर)	१५५	ऐलोपैथी (पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति)	१६३
ऐड्रियनम (प्राचीन रोम का नगर)	१५५	ऐलोरा गुफा मन्दिर	१६७
ऐडमाउ (पूर्वी अफ्रीका)	१५५	ऐल्सेस लॉरेन (जर्मनी)	१६९
ऐद्य (भारतीय नगर)	१५६	ऐल्यूमीनियम (धातु)	१६९
ऐदद निरारी (प्राचीन असीरिया)	१५७	ऐलम (ईरान)	१७
ऐन् ची काउ (बौद्ध सन्यासी)	१५७	ऐशुर्बन सिरपोल (असीरिया)	१७
ऐन फील्ड (इंग्लैंड का नगर)	१५७	ऐसेनी (यहूदी सम्प्रदाय)	१७
एर्नाकुलम (केरल प्रान्त का नगर)	१५७	एस्कि (टर्की)	१७१
ऐपीरस (प्राचीन यूनान)	६५७	एस्थेर (यहूदी सुन्दरी)	१७१
ऐपोलोडोरस (रोम का मूर्तिकार)	१५७	ऐस्टे राजवंश (इटाली)	१७१
ऐमिल खिसाम्पा (रिनसेवक)	१५७	ऐस्मेरा (हृय नलोमा)	१७१
ऐट्रियम (रोम की कला)	१५८	ऐलाबामा (अमेरिका)	१७२
ऐण्टोनियस (रोम)	१५८	ऐस्टेरहास जनरल (फ्रांस)	१७२

नाम	पृष्ठ
वर्धन राजवंश	७१२
आयुध राजवंश	७१२
प्रतिहार राजवंश	७१३
गाहड़वाल राजवंश	७१४
कन्सीलियर आन्दोलन (यूरोप)	७१५
कन्हेरी गुफा (बम्बई)	७१७
कन्हैयालाल मुंशी	७१८
कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	७१९
कन्हैयालाल सहल	७१९
कन्हाईलाल दत्त (क्रान्तिकारी)	७१९
कन्याकुमारी (भारत)	७४
कन्दहार (अफगानिस्तान)	७४
कपिल मुनि	७४
कपिलवस्तु	७४१
कपिलदेव द्विवेदी	७४२
कबीर	७४२
कबीरपंथ	७४६
कमलापति त्रिपाठी	७४७
कमलारत्नम् (कौशिका)	७४८
कमाल नामिक (तुर्की का कवि)	७४८
कमाल पाशा	७४८
कमलाकान्त विद्यालंकार	७५२
कमलाकर भट्ट (संस्कृत लेखक)	७५२
कमेनियस (जर्मन शिक्षा-शास्त्री)	७५२
कम्बोडिया	७५४
कम्यून	७५६
कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो	७५७
करणी देवी (बीकानेर)	७६२
करतार सिंह (क्रान्तिकारी)	७६४
करनाल	७६५
करमशाह के पिता (ईरान)	७६५
करनूल (आन्ध्रप्रदेश)	७६५
कराँची (पाकिस्तान)	७६६
कराखानी राजवंश (मध्य एशिया)	७६६
करामाती पंथ	७६७
कराखिताई राजवंश (म ए)	७६७

नाम	पृष्ठ
करौली (राजस्थान)	७६८
कर्कोटक राजवंश (कश्मीर)	७६८
कर्जन (वाइसराय)	७७१
कर्ण सोलंकी (गुजरात का राजा)	७७२
कर्णावती	७७१
कर्ण सुन्दरी	७७१
कर्ण—चेदिराज (नरेश)	७७१
कर्ण – बघेला (गुजरात का राजा)	७७४
कर्ण सिंह राणा (मेवाड़)	७७५
कर्नाटक	७७५
चालुक्य राजवंश	७७५
चोल राजवंश	७७६
पल्लव राजवंश	७७७
विजयनगर साम्राज्य	७७७
कर्बला (इस्लामी तीर्थ)	७७९
कर्म सिद्धान्त	७७९
करोल (यूरोप का सामूहिक नृत्य)	७८१
कर्वे (आचार्य कर्वे)	७८१
कलकत्ता (भारतीय नगर)	७८४
कलचुरी राजवंश (भारतीय राजवंश)	७८७
कलेश्वर	७८९
कलश राज (कश्मीर का राजा)	७९१
कल्हण कवि (कश्मीर का कवि)	७९१
कलास्त (प्राचीन बर्बरिया)	७९२
कलाद (ऋषि)	७९२
कल्याणी (भारतीय नगर)	७९२
कलिंग	७९३
करेन्स्की (रूस)	७९५
कल्पना (मासिक पत्र)	७९६
कल्प सूत्र (जैन सूत्र)	७९७
कविता-साहित्य	७९७
संस्कृत काव्य	७९७
प्राकृत काव्य	७९९
मराठी काव्य	८
यूनानी काव्य	८ १

नाम	पृष्ठ
चीनी काव्य	८ १
लैटिन काव्य	८ २
फ्रेंच काव्य	८ ३
अंग्रेजी काव्य	८ ४
जर्मन काव्य	८ ५
फारसी काव्य	८०६
उर्दू काव्य	८ ७
हिन्दी काव्य	८ ८
बंगला काव्य	८९
गुजराती काव्य	८१२
कविताबली गीत (बंगला गीत)	८१४
कश्मीर	८१५
गोनन्द राजवंश	८१५
कर्कोटक राजवंश	८१६
उत्पल राजवंश	८१६
गुप्त राजवंश	८१८
लोहर राजवंश	८१९
मुसलमानी शासन	८२२
डोगरा राजवंश	८२३
आधुनिक कश्मीर	८२४
कश्मीर का साहित्यिक वैभव	८२६
कस्तूर बा गांधी	८२८
कसुगा (जापानी प्रधान मन्त्री)	८२९
कम्पनगति सिद्धान्त ऊष्मोत्पत्ति)	८२९
कहानी साहित्य	८२९
काउनिट्ज — राजकर्मा	८३४
काकतीय राजवंश	८३४
कागोशीमा (जापान)	८३५
काकेशस (रूस)	८३५
कागज	८३६
कांग्रेस इण्डियन नेशनल	८३९
कांग्रेस अमेरिकन	८३९
कांगड़ा	८३९
कांगड़ी गुरुकुल	८४
कांग ही (चीनी सम्राट)	८४२
कांगो (दक्षिणी अफ्रीका)	८४२
काच	८४३
कांचीपुरम् (कर्नाटक)	८४४
काडारेंट (फ्रान्स)	८४५
काजी (इस्लामी धर्म गुरु)	८४५
काजी मसरूर	८४६
काजी अजीम खाँ (आगरा)	८४६
काटजू कैलासनाथ	८४६
कातुल्लस वेलेरियस (लैटिन कवि)	८४७
कासा डी निकालो (इटली)	८४७
काण्ट (जर्मन दार्शनिक)	८४८
कास्टोर वार्ल (जर्मन गणितज्ञ)	८५२
काठमाण्डू (नेपाल)	८५२
काठियावाड़	८५२
काण्डला बन्दरगाह	८५३
कावे (आचार्य कर्वे)	८५३
कात्यायन वररुचि	८५४
कातो (लैटिन गद्यकार)	८५४
कातेना (इटली)	८५४
कादम्बरी (संस्कृत गद्य काव्य)	८५५
कादूरी (इजिप्शियन चित्रकार)	८६
कादिस (स्पेन का नगर)	८६
कानपुर (भारतीय नगर)	८६
कापालिक (सम्प्रदाय)	८६१
कापित्सापीटर (रूसी वैज्ञानिक)	८६१
काफी	८६१
काफूरमलिक	८६२
काबुल (अफगानिस्तान)	८६३
कावेट विलियम (अंग्रेज लेखक)	८६३
कामता प्रसाद जैन	९१७
काम सूत्र	८६४
काम जियान	८६६
कामरूप	८७०
कामाख्या देवी	८७१
कामयान मिश्र	८७१
कामनप्पा	८७२

नाम	पृष्ठ संख्या
कामराज	८७२
कामा मीकाजी (क्रान्ति कारिणी महिला)	८७३
कमाकुरा योगनराही	८७४
कामायनी (काव्य)	८७४
काम्बार साहित्य	८७६
कामी नी-योपेई (जापानी कवि)	८७९
करडोबा (स्पेन का नगर)	८८१
कान्स्टेन्टाइन (रोम सम्राट)	८८२
कार्डिनल (ईसाई धर्माचार्य)	८८२
कार्थेज (प्राचीन नगर)	८८२
काफर्ड लौंग (वैज्ञानिक)	८८३
कार्ल-बर्नहार्ड (कहानीकार)	८८३
कार्नेलमियर (फ्रेंच नाटककार)	८८३
करामजिन (रूसी इतिहासकार)	८८४
कार्टर (अंग्रेज लेखक)	८८५
कार्पेन्टर	९२८
कार्ल स्पिट्लर	८८६
कार्ल मार्क्स	८८६
कार्ल वायसस्त्रेना	८८८
कार्ल पेअर (स्वीडन)	८८९
कार्वर वाशिंगटन	८८९
काडूसी बिमोशुए (इटाली)	८९
करापको	८९
कार्नेवालिस (वाइसराय)	८९१
कार्ला गुफा	८९१
कारनेगी (धन कुबेर)	८९२
कारलाइल (अंग्रेज दार्शनिक)	८९२
कालविन (फ्रेंच दार्शनिक)	८९२
कार्डिमर (क्रिया)	८९४
कालदस्ती (तीर्थ)	८९५
काला पहाड़ इस्लामी सेनापति)	८९५
कालिदास (महाकवि)	८९६

नाम	पृष्ठ संख्या
कालिकाचार्य (जैनाचार्य)	९
कालिनिन (रूस)	९
कालर (इंग्लैंड)	९०१
कालेलकर काका	९ १
कालेवाला	९०२
क्लाइव राबर्ट (गवर्नर जनरल)	९ २
कालूराम जैनाचार्य	९ ४
काशी	९ ५
पुराणों में काशी	९ ६
बौद्ध साहित्य में काशी	९ ७
गुप्त साम्राज्य में काशी	९ ८
मुसलमानी आक्रमण	९ ८
वारेन हेस्टिंग्स का शासन	९११
काशी के मन्दिर	९११
काशी के घाट और मुहल्ले	९११
काशी के सन्त महात्मा	९१४
काशी के पर्व और त्योहार	९१८
काशी की शिक्षा संस्थाएँ	९२
काशी की विशिष्टताएँ	९२१
काशी प्रसाद जायसवाल	९२५
काशीराम दास	९२५
कास्त्रो	९२५
काहिरा	९२६
परिशिष्ट	
काशीमेरस	९२७
कॉलेज विलियम	९२८
क्लाउडियोमोण्टेवर्डी	९२८
कार्मोगोर्गी	९२८
कामेडियाडेल आर्टे	९२९
काम-सू-नेर्ड	९२९
कार्ल-मॉगस्ट	९२९

नाम	पृष्ठ संख्या
काकेशस (रूस)	८१५
कांगड़ा	८१९
कश्मीर	८१५
गोनन्द राजवंश	८१५
कर्कोटक राजवंश	८१७
उत्पल राजवंश	८१७
गुप्त राजवंश	८१८
लोहर राजवंश	८१९
मुसलमानी शासन	८२२
डोगरा राजवंश	८३३
काञ्ची	८४२
काञ्चीपुरम्	८४४
काटमाण्डू	८५२
काठियावाड़	८५२
कलकत्ता बन्दरगाह	८५३
कादीस (स्पेन)	८६
कानपुर	८६
काबुल	८६३
कारडोबा	८८१
कार्थेज	८८२
कामरूप	८७
काशी	९ ५
पुराणों में काशी	९ ६
बौद्ध साहित्य में काशी	९ ७
गुप्त साम्राज्य में काशी	९ ८
मुसलमानी काल	९ ८
वारेन हेस्टिंग्स का शासन	९११
काशी के मन्दिर	९१३
काशी के घाट मकान	९१३
काशी के सन्त महात्मा	९१४
काशी की विभिन्नताएं	९२१
काशी की शिक्षा-संस्थाएं	९२
काहिरा	९२६

सम्राट, राजा, राजवंश और शासक

नाम	पृष्ठ संख्या
ऐहमोज (प्राचीन मिस्र)	६५१
ऐदद निरारी (असीरिया)	६५७
ऐमरी सिमोपीरस	६५९
ऐलडेरस (तुर्क सरदार)	६६
ऐलगिन (गवर्नर जनरल)	६६१
ऐसीहन सिरेपोल (असीरिया)	६७
ऐस्थेर (ईरानी सम्राज्ञी)	६७१
ऐस्टे राजवंश (इटाली)	६७१
ऐस्सेना (तुर्क कबीला)	६७१
ओगेदाई (मंगोल)	६७७
ओटो महान् (जर्मनी)	६७८
ओटोमान्सविक (जर्मनी)	६७८
ओडो (फ्रान्स)	६७९
ओडेसर (रोम)	६७९
ओडेनाथस	६८२
ओमहातप (मिस्र)	६८४
ओमेन होतेप (मिस्र)	६८४
ओरगाना (मंगोल)	६८५
ओरोडस (ईरान)	६८७
ओलेग (रूस)	६८९
ओसारहद्दो (असीरिया)	६९४
औरंगजेब	७ २
कछवाहा राजवंश	७ ९
कदम्ब राजवंश	७१४
कदम्ब राजवंश	७२२
कनिष्क सम्राट्	७२६
कमाल पाशा	७४८
कमलापति त्रिपाठी	७४७
कल्याणी राजवंश	७६६
कर्णाटवाई राजवंश	७६७
कार्तिक-राजवंश	७६९
कर्जन (वाइसराय)	७७१
कर्णदेव सोलंकी (गुजरात)	७७२
कर्ण चरित्र	७७३
कर्ण बघेला (गुजरात)	७७४
कर्णसिंह (मेवाड़)	७७५
कलचुरी राजवंश	७८७

नाम	पृष्ठ संख्या
कासो पोर्ट्यो	६२०
कासी मेफस	६२७
कांग-यू वेई	६१८
कार्ल ऑगस्ट	६२६
कातुलस वेलेरियस (लैटिन कवि)	८४०
कास्ट-डी-निकालो	८४७
काणे वामन पाण्डुरंग	८५१
कात्यायन वररुचि	८५४
कातो (लैटिन गद्यकार)	८५४
कादम्बरी (संस्कृत गद्य काव्य)	८५४
कावेट विलियम	८११
कामदार साहित्य	८७९
कालि दास	८६१
कामी-नो-चोयेई (जापान)	८७६
कार्ल कर्नहार्ड (डेनमार्क)	८८१
कर्नेक-पियर (फ्रान्स)	८८१
काराम्बिन (रूस)	८८४
कार्टर-हावर्ड (इंग्लैण्ड)	८८४
कार्ल-ए-गैलोरस	८८५
कार्ल सिट्लर	८८६
कार्ल मार्क्स	८८६
काईसी विमोसुए	८९
कामायनी	८७४

कलाकार और कलाकृतियाँ

नाम	पृष्ठ संख्या
ऐकार्पोलिस (प्राचीन यूनान)	१५१
ऐंब्रेवामॉगस्ट (चित्रकार)	१५४
ऐथीना मन्दिर (प्राचीन-यूनान)	१५५
ऐपीडोडोरस (रोम)	१५७
ऐम्पियम (रोम)	१५८
ऐलिझाबेथ विलिंगटन (गायिका)	११२
ऐलिझाबेथ टेलर (अभिनेत्री)	६१२
ऐलिफन्टा-गुफाएं	१११
ऐलस्टन वाशिंगटन (चित्रकार)	१११
ऐलोरा गुफाएं	११७
ओंकार नाथ ठाकुर (संगीत)	१७५
ओकूनी (जापान)	१७६
ओरोज्को (चित्रकार)	१७९
ओपेरा	१८१
ओबू सिम्बेल (मिस्र)	१८४
ओमेंना का मन्दिर (मिस्र)	१८७
कठपुतली	७१९
कथकली नृत्य	७१९
करमशाह के चित्र	७१५
कैरोले (फ्रेंचनृत्य)	७८१
कातेना (चित्रकार)	८५४
काबूली (चित्रकार)	८९०
कार्ली-गुफा	८९१
काढ़िकर	८९४
काराबजो (चित्रकार)	८९

धर्म और धर्माचार्य

नाम	पृष्ठ संख्या
ऐंग्लिकन चर्च	११४
ऐनु-शी-काउ (बौद्ध)	६५७
ऐसेनी (यहूदी संत)	१७
ओंकार मान्धाता	१७४
आमिताभ सम्प्रदाय	६८५
ओरीजेन (ईसाई धर्माचार्य)	१८८
कबीर	७४२
कबीर पंथ	७४१
करणी देवी (बीकानेर)	७६२
करामाती पंथ	७६७
कलशा	७७९
कल्प सूत्र (जैन सूत्र)	७९७
काबा	८७५
कापालिक	८६१
काल हस्ती (तीर्थ)	८९५
कार्डिनल	८८२
कामाख्या देवी	८७१
कालिका चार्य	९
कालूराम जैनाचार्य	९४

प्रकाश—स्तम्भ ।

इस ग्रन्थ की रचना में जिन महान् ग्रन्थकारों और विद्वानों की रचनाओं ने प्रकाश—स्तम्भ की तरह हमारे मार्ग को प्रकाशित किया है उनके प्रति हम अपनी नम्र-भाव श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं। उन रचनाओं की संक्षिप्त सूची नीचे दी जा रही है। पूरी और विस्तृत सूची ग्रन्थ के अन्तिम भाग में दी जायगी।

हिन्दी

डॉ धीरेन्द्र वर्मा और डा० भगवत् शरण उपाध्याय (काशी नागरी प्रचारिणी)	हिन्दी विश्व कोष (भाग १-२)
श्री नगेन्द्र नाथ बसु	हिन्दी-विश्व कोष (भाग १-४)
महापंडित राहुल सांकृत्यायन	मध्य-एशिया का इतिहास (भाग १-२) और अकबर
डा० भगवत् शरण उपाध्याय	विश्व-साहित्य की रूप रेखा प्राचीन भारत का इतिहास
रा० ब० पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा	राजपूताने का इतिहास (८ भाग)
डा० सत्यकेतु विद्यालंकार	एशिया का आधुनिक इतिहास यूरोप का आधुनिक इतिहास
श्री गंगा प्रसाद एम० ए०	मगध जाति का इतिहास
श्री शिवचन्द्र कपूर एम० ए०	इंगलैंड का इतिहास
बरवे और चतुर्वेदी	इंग्लैंड का इतिहास
श्री पट्टाभि सीतारामैय्या	कांग्रेस का इतिहास
श्री ज्योति प्रसाद सूद एम० ए०	राजनैतिक विचारों का इतिहास (भाग १-२)
श्री आचार्य नरेन्द्र देव	बौद्ध-दर्शन
डॉ ज्योतिप्रसाद जैन	भारतीय इतिहास एक दृष्टि
महाकवि कल्हण अनुवादक—पं० रामतेज शास्त्री	राजतरंगिणी
महाकवि बाण भट्ट अनुवादक—पं० रामतेजशास्त्री	कादम्बरी
डॉ मोतीचन्द्र	काशी का इतिहास
श्री जय शंकर प्रसाद	कामायनी
वात्स्यायन मुनि अनुवादक—कविराज रामसुशील शास्त्री	काम सूत्र
श्री चिरंजीलाल पाराशर	विश्व सभ्यता का विकास
बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्	[illegible] भाषा निरुक्तावली
डॉ यदुनाथ सरकार	औरंगजेब
श्री मन्मथ नाथ गुप्त	सेक्स से सुख और जीवन

फ्रेडरिक एंगेल्स	ड्यूहरिंग मत खण्डन
कार्ल मार्क्स	कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो
आर० एस० श्रीवास्तव एम० ए०	संसार के प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री
श्री सुख सम्पत्ति राय भंडारी	भारत के स्वातंत्र्य संग्राम का इतिहास, भारत के देशी राज्य ।।
श्री विश्वेश्वर नाथ रेऊ	भारत के प्राचीन राजवंश (भाग १–२–३)
आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी-साहित्य का इतिहास
श्री पं० बलदेव उपाध्याय	संस्कृत-साहित्य का इतिहास
श्री ब्रजरत्न दास	उर्दू-साहित्य का इतिहास
श्री अयोध्या प्रसाद गोयलीय	शेर और शायरी
पं० द्वारका प्रसाद चतुर्वेदी	भारतीय चरिताम्बुधि
डॉ० सत्येन्द्र एम० ए०, पी० एच० डी०, डी-लिट्०	बंगला-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास
के० भास्करन् नायर	मलयालम-साहित्य का इतिहास
श्री सुरेन्द्रनाथ बिसारिया	आधुनिक राजनैतिक विचार-धाराएँ
श्री परशुराम चतुर्वेदी	सन्त-काव्य, उत्तर भारत की सन्त परंपरा
डॉ प्रभास कुमार भट्टाचार्य	प्रतिनिधि राजनैतिक विचारक
श्री देवीप्रसाद मुंसिफ	मारवाड़ राज्य का इतिहास
श्री जयचन्द्र विद्यालंकार	भारतीय इतिहास की रूपरेखा
श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य	हिन्दू-भारत का अन्त
पं० रामनरेश त्रिपाठी	कविता-कौमुदी (५ भाग)
श्री गुलाबराय एम० ए०	विज्ञान-विनोद
श्री गुरुनाम शर्मा	मिस्र की राष्ट्रीय प्रगति
श्री रामदास गौड़ एम० ए०	हिन्दुत्व
श्री 'इन्द्र' विद्या वाचस्पति	आर्य-समाज का इतिहास
श्री पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी	समाचार-पत्रों का इतिहास
श्री शंकर राव जोशी	रोम साम्राज्य
प्लूटार्क, अनुवादक श्री मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव	ग्रीस और रोम के महापुरुष
डॉ प्राणनाथ विद्यालंकार	इंग्लैंड का इतिहास
एस० मुकर्जी	यूरोप का इतिहास
श्री सुरेन्द्रनाथ सेन	अठारह सौ सत्तावन
श्री पी० वी० पाठक	बौद्ध धर्म के २५ वर्ष
श्री रामनारायण दूगड़	मुहणोत नैणसी की ख्यात
महाराज कुमार डा० रघुवीर सिंह	मालवा में युगान्तर
श्री रामदत्त सांकृत्य	मगारपर्वीय का पाषाणीय
श्री सुरेश्वर प्रसाद एम० ए०	विश्व सभ्यता का इतिहास
श्री शान्तिकुमार गोयल एम० एस० सी०	सरल सामान्य विज्ञान

श्री आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	मेगास्थनीज इण्डिका
श्री नाथूराम प्रेमी	जैन साहित्य का इतिहास
श्री जनार्दन मिश्र बी० ए०	धनकुबेर कार्नेगी
श्री गोपाल नारायण बहुरा एम० ए०	रास माला
श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी	विश्व-साहित्य
श्री सत्यदेव विद्यालंकार	हमारे राष्ट्रपति
श्री द्विजेन्द्रलाल राय	कालिदास और भवभूति
श्री कामता प्रसाद जैन	संक्षिप्त जैन इतिहास
पं० रामकर्ण	मारवाड़ का मूल इतिहास
श्री सुखसम्पत्ति राय भंडारी	जगद्गुरु भारत वर्ष
श्री सुन्दरलाल	भारत में अंग्रेजी राज्य
श्री हरिवंश राय 'बच्चन'	उमर खय्याम की रुबाइयाँ
श्री चन्द्रराज भंडारी	समाज विज्ञान, भगवान महावीर, भारत के हिन्दू-सम्राट भारत का औद्योगिक विकास और अग्रवाल जाति का इतिहास

साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' और साप्ताहिक 'धर्मयुग' के करीब २०० प्राचीन अंक।

गुजराती—

श्री मोहनलाल दलीचन्द	जैन-साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास
श्री रवीलाल नायक	विज्ञान-कथा
श्री कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी	गुजराती साहित्यना मार्ग-सूचक स्तंभो
श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री	आयुर्वेदनो इतिहास
श्री मुनि विद्या विजय	म्हारी कच्छ-यात्रा

English

H. G. Wells	Out line of History
K. M. Pannikar	A survey of Indian History
Moreland	India from Akbar to Aurangzeb
Homes	History of Indian Mutiny
K. M. Pannikar	The future of South East Asia
Roy Chaudhari	Political history of Ancient India
Bhandarkar	Early History of Deccan; Asoka
E. G. Browne	Literary History of Persia
H. H. Howarth	History of Mangol
L. A. Mills	The New World of South East Asia
Chaldea	The Story of the Nations
John Macy	The Story of the World's Literature
Nawrace W. Ph.d.	A Story of Indian Literature
Hays C. J. H.	A History of Modern Europe
A. Berridale Keith	A History of Sanskrit Literature
Sarkar & Srivastava	The World Year-Book

विश्व-इतिहास-कोष

तृतीय खण्ड

(अकारादि क्रम से)

एशिया महाद्वीप

संसार का सबसे बड़ा महाद्वीप। इस महाद्वीप के उत्तर में उत्तरी महासागर, पूर्व में प्रशान्त महासागर दक्षिण में हिन्द महासागर और पश्चिम में यूरोप, कृष्णसागर और भूमध्य सागर है। इसका कुल क्षेत्रफल १,८८,२१,५२२ कोमीलि है जो सारे संसार की भूमि का ⅓ है और जन संख्या १ ४ , , है जो सारे संसार की आबादी से आधी है।

इस महाद्वीप में चीन, जापान, कोरिया (सुदूर पूर्वी एशिया) हिन्दुस्तान, तिब्बत, लंका (दक्षिणी एशिया) ईरान, अफगानिस्तान अरबस्तान, ईराक और रूसी साम्राज्य का एशियायी भाग (मध्य एशिया) तथा बर्मा इण्डोनेशिया, इण्डोचाइना मलेशिया, (दक्षिण पूर्वी एशिया) इत्यादि देश सम्मिलित है।

एशिया का नामकरण

प्राचीन ग्रीक इतिहासकार हेरोडोटस के मतानुसार 'प्रमिथियस नामक देवता की पत्नी का नाम 'एशिया' था, यह एशिया टेथिस की कन्या थी, ग्रीक परम्परा के अनुसार इसी "एशिया" नामक देवी के नाम पर एशिया का नामकरण हुआ। मगर इतिहास कार "लिडीयन" के मतानुसार कोटिस (Cotys) के पुत्र "एसियास" के नाम पर एशिया का नामकरण हुआ। कुछ इतिहासकारों के मतसे 'एशिया शब्द का अर्थ-सूर्य और एशियन शब्द का अर्थ सूर्यलोकवासी या पूर्वी दिशा के रहने वाले लोग है।

ऐतिहासिक गौरव

विशाल एशिया महाद्वीप समग्र संसार में एक महान और प्राचीन महाद्वीप है। संसार भर के युगपरिवर्तक, नूतन संस्कृति संस्थापक और अवतारी आठ महापुरुष-राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, कनफ्यूशस और जर थोस्त—इसी पवित्र भूमि में अवतरित हुए हैं।

संसार की प्राचीनतम और महान् संस्कृतियों की स्थापना भी इसी महाद्वीप में हुई और यहीं से सारे संसार में उनका प्रचार हुआ। इन सभ्यताओं में महान् भारतीय सभ्यता चीन की सभ्यता ईरान की सभ्यता मेसोपोटेमिया की सभ्यताएँ और ईसाई तथा इस्लाम-सभ्यता का प्रमुख स्थान है।

सम्पूर्ण एशिया के इतिहास को समझने के लिए ऐति-हासिक दृष्टि से इसके चार विभाग किये जा सकते हैं। दक्षिणी एशिया जिसमें भारत लंका और नेपाल शामिल है। सुदूर पूर्वी एशिया जिसमें चीन, जापान और कोरिया शामिल है। मध्य एशिया जिसमें ईरान अरब, मेसोपोटेमियाँ, अफगा निस्तान तथा रूस का एशियायी भाग सम्मिलित है और दक्षिण पूर्वी एशिया जिसमें इण्डोनेशिया इण्डोचायना मलेशिया इत्यादि प्रदेश सम्मिलित है। इन सबका अत्यन्त संक्षिप्त इतिहास इस प्रकार है।

भारतवर्ष और भारतीय सभ्यता

एशिया के समग्र इतिहास में भारतीय सभ्यता के के विकास की गौरवपूर्ण कहानी एक ऐसे सुनहरे अध्याय की तरह है, जिसकी जोड़ मिलना कठिन है।

आज से हजारों बरस पहले—करीब दस हजार बरस पहले इस देश में एक ऐसी महान् संस्कृति की स्थापना हुई थी जो प्राचीनता और गौरव दोनों ही दृष्टियों से सम्पन्न थी। जिसने मानव जीवन और मानव समाज के हर एक पहलू पर विचार करके कुछ सिद्धान्त निश्चित किये थे और उन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित एक सुदृढ़ समाज-व्यवस्था का व्यावहारिक रूप से निर्माण किया था। ऐसी समाज व्यवस्था जो एक लम्बे समय तक निर्दोष रूप से इस देश में चलती रही।

जीवन के प्रत्येक पहलू पर इस सभ्यता में निर्णयात्मक विचार किया गया था और इसीलिए इस सभ्यता ने ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में कपिल कणाद तथा गौतम के समान तत्त्वज्ञानी सामाजिक विधान के निर्माण में मनु के समान महान् विधानशास्त्री चिकित्सा के क्षेत्र में चरक और सुश्रुत के समान चिकित्साशास्त्री साहित्य के क्षेत्र में वाल्मीकि, व्यास कालिदास और भवभूति के समान महान् विभूतियाँ, राज्य के क्षेत्र में राम कृष्ण अशोक और गुप्त सम्राटों के समान महान् लोकप्रिय नरेश कामशास्त्र के क्षेत्र में वात्स्यायन के समान वैज्ञानिक राजनीति के क्षेत्र में शुक्र और कौटिल्य के समान महान् विभूतियाँ प्रदान की।

भारतीय इतिहास की एक महान घटना

वैसे तो भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास सम्पन्न और महान् घटनाओं से भरा पड़ा है मगर ईसा की ६ शताब्दी पूर्व इस देश में एक महान घटना के फलस्वरूप एक ऐसी विभूति को उत्पन्न किया जिसने सारे एशिया महाद्वीप को अपनी ओर आकर्षित कर लिया वह विभूति महात्मा बुद्ध की थी।

इस महान् विभूति ने अपने राजवैभव को लात मार कर और सुन्दर पत्नी और पुत्र को छोड़कर मनुष्य-जाति के कल्याण का मार्ग ढूँढ निकालने के लिए कठोर तपस्या का मार्ग अंगीकार किया था। इस तपस्या के फलस्वरूप उन्हें बोधिसत्व की प्राप्ति हुई और उसके पश्चात् उन्होंने अपना उपदेश प्रारम्भ किया।

उनका उपदेश वसन्त ऋतु की शीतल बयार की तरह मानव आत्मा को सान्त्वना और ठण्डक पहुँचाने वाला था। उसमें शान्ति थी, उसमें शीतलता थी उसमें जीवन रस था और उसमें वह चीज भी थी जिसे मनुष्य चाहता था।

हजारों लाखों व्यक्ति उनकी सान्त्वना से सुखी हो उनके भण्डे के नीचे आने लगे और चारों ओर "बुद्धं शरणं गच्छामि" "संघं शरणं गच्छामि" "धम्मं शरणं गच्छामि" के नारे वातावरण में गूँजने लगे।

उनके हजारों उत्साही और विद्वान भिक्षुक विदेशों में अपने धर्म का प्रचार करने निकल पड़े। चीन, बरमा सीलोन और मध्य एशिया के कितने ही स्थानों में बौद्ध धर्म वहाँ का जन-धर्म बन गया। इस समय भी संसार में करीब पचास करोड़ व्यक्ति अपने को बौद्धधर्म का अनुयायी कहते हैं।

बौद्धधर्म के साथ ही साथ बौद्ध-संस्कृति का भी प्रादुर्भाव हुआ। साहित्य के क्षेत्र में चित्रकला के क्षेत्र में, मूर्तिकला के क्षेत्र में भवन-निर्माण कला के क्षेत्र में इस सभ्यता ने कई ऐसे नये नये सृजन किये, जिनका मूल्यांकन नहीं हो सकता।

भारतीय इतिहास की अन्य गौरवपूर्ण घटनाओं में सम्राट अशोक और सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के द्वारा स्थापित विशाल साम्राज्यों में समस्त जनता की चाहो चलाई शासन की सुन्दर और सम न्यायी व्यवस्था तथा नैतिक मूल्यों पर स्थापित की हुई समाज और राज्य व्यवस्था अत्यन्त आश्चर्यजनक थी। इन राज्यों के समय में मनुष्य के सामाजिक जीवन का साहित्य का कला का और वैभव का जितना विकास हुआ था उतना मानव इतिहास के किसी दूसरे कोने में चिराग लेकर ढूँढने पर शायद नहीं मिल जाय।

भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना उत्तरी पश्चिमी सीमा से शक, यूनान और हूण लोगों के आक्रमण और उसके बाद इन जातियों के द्वारा भारतीय सभ्यता

में घुल मिल कर यहाँ की परम्पराओं को अपना लेना है। इससे मालूम होता है कि उस समय तक भारतीय सभ्यता में दूसरी सभ्यताओं को पचा लेने की शक्ति थी।

इसके बाद भारतवर्ष के इतिहास में इस्लाम का आक्रमण एक ऐसी युगान्तरकारी घटना है जिसने यहाँ के सारे इतिहास को एक नया मोड़ दे दिया। इस्लाम के प्रसिद्ध आक्रमण कारियों ने भारतवर्ष पर आक्रमण करके सैकड़ों मन्दिरों और पूजास्थानों को तोड़-फोड़ दिया। लाखों व्यक्तियों को इस्लाम में दीक्षित किया। बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित किये और इस बात का प्रयत्न किया कि भारत की प्राचीन संस्कृति समाप्त होकर मध्य एशिया की तरह यह देश भी इस्लाम के रंग में रँग जाय। मगर यहाँ की सभ्यता में अनेक शताब्दियों के घुस जाने पर भी कुछ मौलिक तत्व ऐसे थे जिनकी वजह से इस प्रबल तूफान में भी यह अमर दीप बुझा नहीं, ऊपर से छत विछत हो जाने पर भी इसकी नींवें हिलीं नहीं।

अन्त में मुगल साम्राज्य के समय में शासक वर्ग यह महसूस करने लगा कि राज्य और समाज दोनों के कल्याण के लिए इन दोनों सभ्यताओं का संघर्ष बन्द कर दोनों को फूलने फलने का अवसर दिया जाय।

इसी सिद्धान्त पर मुगल-साम्राज्य पाँच पुश्तों तक इस देश पर शान्ति पूर्वक शासन करता रहा। उसके पश्चात् सम्राट् औरंगजेब ने फिर इस मर्यादा को तोड़कर हिन्दू समाज को नष्ट करने का प्रयत्न किया मगर इस प्रयत्न में उसके देखते ही देखते मुगल साम्राज्य का मजबूत किला खिसकने लगा और ऐसा खिसका कि फिर कोई शक्ति उसे सम्हाल नहीं सकी।

मुगल-साम्राज्य के पतन के साथ-साथ मरहठा-साम्राज्य की स्थापना के प्रयत्न होने लगे मगर आपस की फूट के कारण उसमें सफलता नहीं मिली। चारों तरफ लूट-खसोट और अराजकता के दृश्य उत्पन्न होने लगे, जिसका लाभ अंग्रेजों ने पूरी तरह से उठाया और धीरे-धीरे यह सारा देश अंग्रेजी-साम्राज्य में विलीन हो गया।

कई सौ बरस तक सुव्यवस्थित शासन करने के पश्चात् देश के आन्दोलनों और उपनिवेशवाद के विरुद्ध संसार की बदलती हुई परिस्थितियों से मजबूर होकर सन् १९४७ ई० की पन्द्रह अगस्त को अंग्रेजों ने भारतीय स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। तब से स्वाधीन भारत कॉमनवैल्थ-शासन के अन्तर्गत अपनी शासन-व्यवस्था चला रहा है।

चीन और चीनी सभ्यता

चीन और चीन की सभ्यता का इतिहास भी बहुत पुराना है। ईसा से करीब तीन हजार वर्ष पहले चीन के लोग सांस्कृतिक क्षेत्र में उस समय की दुनिया से काफी आगे बढ़े हुए थे। ये लोग खेती करना जानते थे। भवन निर्माण कला में भी ये आगे बढ़े हुए थे। उनका समाज उन्नत समाज माना जाता था।

सबसे पहले ईसा से करीब २ वर्ष पहले "याओ" नामक एक पराक्रमी पुरुष चीन में पैदा हुआ जिसने पहले पहल अपने को 'सम्राट' कहना प्रारम्भ किया। इसके पश्चात् "हिस्या" नामक एक राजवंश का चीन पर अधिकार हुआ। हिस्यावंश का अन्तिम राजा बड़ा जालिम था इसलिए उसको गद्दी से हटाकर शंग नामक एक दूसरे राजवंश ने चीन का शासन सम्हाला। यह राजवंश ६५ वर्षों तक राज्य करता रहा।

शंग राजवंश के पश्चात् "चाऊ" नाम के एक नये राजवंश का शासन कायम हुआ। इस राजवंश का शासन ८६७ वर्ष तक चलता रहा। इसी राजवंश के समय में चीनी साम्राज्य की नींव बहुत मजबूत हुई और इसी राजवंश के समय में चीन के अन्तर्गत महान दार्शनिक और धर्मनेता कन्फ्यूशस और लाओत्से का आविर्भाव हुआ जिन्होंने अपने महान विचारों के द्वारा चीनी समाज और संस्कृति में नवीन भावों का संचार कर दिया। चीन के इतिहास में कन्फ्यूशस का आविर्भाव एक महान् घटना है।

कोरिया देश की स्थापना

चाऊ राजवंश के द्वारा शंग राजवंश को समाप्त कर दिये जाने पर शंग राजवंश का "कि-त्से" नामक एक राज पुरुष अपने पाँच हजार अनुयायियों के साथ चीन देश को हमेशा के लिए छोड़कर चल निकला और पूर्व दिशा में जाकर उसने कोरिया या चोसेन नामक देश को बसाया।

चोसेन का अर्थ 'उगते हुए सूर्य का देश' होता है। इस प्रकार ईसा से ग्यारह सौ वर्ष पूर्व इसी "किन्त्स" के द्वारा कोरिया देश का इतिहास प्रारम्भ हुआ। किन्त्से के साथ ही इस देश में चीनी वस्त्रोद्योग, भवन निर्माण कला, कृषि और रेशम की कारीगरी भी आ गई। किन्त्से के वंश ने कोरिया पर करीब नौ सौ वर्षों तक शासन किया।

ईसा से २५५ वर्ष पहले चिन राजवंश ने चाऊ राजवंश को हटाकर अपना शासन स्थापित किया। इस राजवंश में सम्राट शीह ह्वांग-टी नामक एक बड़ा शक्तिशाली सम्राट हुआ। जो यह चाहता था कि लोग प्राचीन इतिहास को भूलकर उसी को संसार का पहला सम्राट मानें। उसने एक फरमान जारी किया कि तमाम ऐसी पुस्तकें जिनमें प्राचीन इतिहास का वर्णन हो और कन्फ्यूशस की सब रचनाएँ जलाकर राख कर दी जाएँ। उसने सारे साहित्य को जला कर उसके पढ़ने वालों को जिन्दा दफन करवा दिया। फिर भी कन्फ्यूशस के कुछ भक्तों ने उसके साहित्य को छिपाकर रख दिया जो आगे जाकर काम आया।

इसी शासक ने चीन के आसपास की संसार प्रसिद्ध दीवाल को बनाने का काम प्रारम्भ किया।

चिन राजवंश ने केवल १५ वर्ष तक शासन किया। उसके पश्चात् चीन का शासन हान राजवंश के हाथ में आया। इस राजवंश ने करीब ४ वर्ष तक राज्य किया। इस राजवंश का छठा शासक "वू-ती" बड़ा प्रतापी हुआ। उसके समय में चीन के शासन का बहुत विस्तार हुआ। पूर्व में कोरिया से पश्चिम में कैस्पियन सागर तक चीनी शासन का बोल बाला था और मध्य एशिया के सब देश चीन को अपना प्रमुख शासक मानते थे।

हान राजवंश के समय में ही चीन में बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ। बौद्धधर्म के साथ ही साथ भारतीय कला का प्रभाव भी चीन में पहुँचा। इसी राजवंश के राज्यकाल में लकड़ी के ठप्पों से छपाई की कला का आविष्कार हुआ। इसी शासन में चीन के अन्तर्गत सरकारी नौकरी प्राप्त करने के लिए परीक्षा की प्रणाली भी प्रारम्भ हुई।

ईसा की तीसरी शताब्दी में हानवंश की सत्ता समाप्त हो गई और चीनी साम्राज्य तीन हिस्सों में विभक्त हो गया, मगर सन् ६१८ में सम्राट काओ-त्सू ने टांग राजवंश का शासन स्थापित कर सारे चीनी साम्राज्य को एक कर दिया। यह सम्राट बड़ा प्रतापी था और इसने अपने साम्राज्य की सीमाएँ दक्षिण में अनाम और कम्बोडिया तक तथा पश्चिम में ईरान और कैस्पियन सागर तक विस्तृत करदीं।

टांग राजवंश के समय में चीन में बौद्धधर्म का बहुत प्रचार हुआ। भारत से हजारों बौद्धभिक्षु धर्मप्रचार के उद्देश्य से वहाँ पर गये। इसी राजवंश के समय में इस्लाम ने भी चीन में प्रवेश किया और सम्राट ने उनको कैण्टन में एक मसजिद बनाने की आज्ञा प्रदान की। यह मसजिद अभी भी कैण्टन में विद्यमान है और संसार की सबसे पुरानी मसजिदों में गिनी जाती है। यह हजरत मुहम्मद साहब के जीवनकाल में ही बनाई गई थी। ईसाइयों के नेस्टोरियन सम्प्रदाय ने भी इसी राजवंश के समय चीन में प्रवेश किया था।

टांग-राजवंश का शासन तीन सौ वर्ष तक रहा। यह तीन सौ वर्ष चीन के इतिहास में एक महान युग की तरह माने जाते हैं, जब चीन की संस्कृति अत्यन्त उच्चस्तर पर पहुँच गई थी और जनता भी बहुत खुशहाल थी। कागज बनाने की कला छापने की कला जनगणना की मर्दुम शुमारी, भवन-निर्माणकला बारूद का निर्माण आदि अनेक बातें जो पश्चिम को कई शताब्दियों के बाद मालूम हुई—चीन में उस समय प्रचलित हो चुकी थीं।

भारत के साथ चीन के सांस्कृतिक सम्बन्ध बौद्धधर्म के द्वारा बहुत तेजी से बढ़ते जा रहे थे। भारत से पहुँचने वाले भारतीय कलाकार और बौद्धधर्म के विचारों का चीन के सांस्कृतिक जीवन पर बहुत असर पड़ा। भारत से पहुँचने वाली इन विचार-धाराओं ने चीन के मानसिक धार्मिक और कला-सम्बन्धी जीवन को एक नई स्फूर्ति और प्रेरणा प्रदान की।

लेकिन आगे चलकर टांग-राजवंश के शासक विलासी और ऐय्याश हो गये और सन् ९०७ ई० में यह राजवंश खत्म हो गया और उसकी जगह सन् ९६ ई० में सुंग राजवंश का शासन प्रारंभ हुआ। ११वीं सदी में वांग-आन शीह नामक एक प्रधान मंत्री बड़ा प्रसिद्ध हुआ

जिसने गरीबों के ऊपर से करों का बोझ हटाकर धनवानों पर इनकम टैक्स लगा दिया। इस प्रकार ११वीं सदी में चीन में उस इनकम टैक्स का प्रादुर्भाव हो गया था जिसे आजकल के लोग बिल्कुल आधुनिक समझते हैं।

सुंग-राजवंश के समय में चीन पर उत्तर की ओर से खितन नामक जंगली कौमों के आक्रमण प्रारंभ हो गये जिनसे निपटने के लिए सुंग राजवंश ने सुनहरे तातारी लोगों की मदद माँगी। इन लोगों ने आकर खितन लोगों को तो भगा दिया, मगर ये स्वयं चीन के मालिक बन बैठे और सुंग-राजवंश को दक्षिण में हटा दिया।

इसके पश्चात् मंगोल लोगों के आक्रमण ने सुंग-वंश और सुनहरे तातारी लोगों के शासन को समाप्त कर दिया। सन् १२५२ ई० में मंगू खाँ ने 'खान महान्' का खिताब ग्रहण किया और उसने कुबलाई खाँ को चीन का गवर्नर नियुक्त किया। यही कुबलाई खाँ आगे जाकर सन् १२६१ ई० में 'खान महान्' बना और उसने पेकिंग में अपनी राजधानी स्थापित की।

कुबलाई खाँ ने युवान राजवंश की स्थापना की। उसने टोंकिंग अनाम और बर्मा को अपने राज्य में मिला लिया।

सन् १३६८ ई० में हॉग-वू नामक एक विद्रोही नेता ने युवान राजवंश के खिलाफ विद्रोह करके उसे समाप्त कर दिया और मिंग—राजवंश की स्थापना की। मिंग राजवंश सन् १३६८ से १६४४ ई० तक चला। चीन के तमाम राजवंशों में यह राजवंश सबसे ज्यादा चीनी नमूने का सच्चा वाहरता है। इस युग में चीनी लोगों को अपनी प्रतिभा के विकास का पूरा मौका मिला इसी युग में सड़कों नहरों, जलमार्गों और तालाबों की हालत सुधारी गई। टेक्सों का बोझ कम करके किसानों को राहत पहुँचाई गई। इसी युग में चीनी सरकार ने कागज के नोट चलाये। इसी युग में शानदार इमारतें बनी, सुन्दर चित्रकारी का विकास हुआ लकड़ी हाथी दाँत और हरे पत्थर पर नक्काशी का बारीक काम प्रारम्भ हुआ।

इसी युग में सन् १५१६ ई० में भरतुकक नामक पोर्तुगीज के नेतृत्व में पहला पुर्तगाली जहाज चीन के कैन्टन नगर में पहुँचा। इस जहाज में कई ईसाई धर्म प्रचारक भी थे। इनमें सेंट फ्रांसिस जेवियर का नाम बहुत प्रसिद्ध है।

१७ वीं सदी में मंचू लोगों के आक्रमण ने मिंग राजवंश को खतम कर दिया और मंचू राजवंश का का शासन प्रारम्भ हुआ।

इस राजवंश का दूसरा सम्राट कांग—ही था। इस सम्राट ने सन् १६६१ से सन् १७२२ ई० तक राज्य किया। यह सम्राट कन्फ्यूशस का पक्का अनुयायी था और संस्कृति, कला तथा साहित्य का बड़ा प्रेमी था। उसने चीनी भाषा का एक बड़ा कोष तैयार करवाया जिसमें ४ हजार से ज्यादा शब्द चिन्ह थे। उसने एक बड़ा भारी सचित्र विश्व कोष भी तैयार करवाया जो सौ जिल्दों में पूरा होने वाला एक अद्भुत ग्रन्थ है। उसने सारे चीनी साहित्य के निचोड़ का भी एक विश्व-कोष तैय्यार करवाया। उसके ये कार्य विश्व-साहित्य की दृष्टि से अमर काम कहे जा सकते हैं।

इसी सम्राट के समय में विदेशी लोगों ने चीन में प्रवेश करना शुरू किया। प्रारम्भ में सम्राट ने विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए चीन के सारे बन्दरगाह इन लोगों के लिए खोल दिये मगर जब इन विदेशियों की बदमाशी का उसे पता लगा तो वह चौंक पड़ा और उसने तत्काल विदेशियों की साजिशों से साम्राज्य को बचाने के लिए उनके व्यापार पर और ईसाई धर्म के प्रचार पर प्रतिबन्ध लगा दिये।

मगर इसके बाद चीन का इतिहास क्रमशः अन्धकार के गर्त में गिरना प्रारम्भ होता है। पश्चिम की साम्राज्यवादी शक्तियाँ चीन में धीरे-धीरे अपना पैर जमाना शुरू करती हैं। चीनी लोग इनके प्रभाव में आकर अफीम खाने के आदी बन जाते हैं। ब्रिटेन जबरदस्ती चीन के ऊपर अफीम का व्यवसाय लादने में सफल होता है और प्राचीन इतिहास का यह महान देश नष्ट भ्रष्ट होने लगता है। अन्त में सन् १८९४ ई० में डाक्टर सनयातसेन के नेतृत्व में चीन-पुनरुद्धार-समिति की स्थापना होती है और यह समिति विदेशियों के द्वारा की गई अन्यायपूर्ण सन्धियों का विरोध करती है। सन् १९११ में इसका नाम बदल कर कुओमिनतांग या जनता का राष्ट्रीय दल रखा जाता है। इस आन्दोलन के

परिणाम-स्वरूप १२ फरवरी सन् १९१२ ई० को मंचू-सम्राट् को गद्दी छोड़नी पड़ी और चीन में प्रजातंत्र की स्थापना हुई। मगर युआन-शी-काई नामक चीन के एक प्रान्त के गवर्नर ने नवीन प्रजातन्त्र को कुचलने का बहुत प्रयत्न किया। डा० सनयात सेन ने उसके विरोध को मिटाने के लिए, उसे चीनी प्रजातंत्र का राष्ट्रपति भी बना दिया मगर युआन तो पार्लियामेंट को बरखास्त करके स्वयं सम्राट बनने की फिक्र में था। तब सनयात सेन को दक्षिण के कैंटन नगर में एक नई प्रतिपक्षी सरकार स्थापित करनी पड़ी। प्रथम महायुद्ध के समय में चीन में नानकिंग और कैंटन की दो सरकारें काम कर रही थीं।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् ही चीन में कम्युनिस्ट शक्तियों का जोर बढ़ा और उन्होंने च्यांग-काई-शेक की प्रजातंत्रीय सरकार को हटाकर फारमोसा में भगा दिया। और माओ-त्से-तुङ्ग के नेतृत्व में वहाँ पर कम्युनिस्ट सरकार की स्थापना हुई।

कम्युनिस्ट सरकार के प्रधान मंत्री चाऊ-एन-लाई ने भारत को भ्रम दिलासा देकर तिब्बत की स्वतंत्रता को खत्म कर उसे चीनी साम्राज्य में मिला लिया और भारत पर भी एक आक्रमण करके हिमालय की उपत्यका में उसकी कई हजार वर्गमील भूमि पर कब्जा कर लिया।

इधर रूसी कम्यूनिज्म और चीनी कम्यूनिज्म के बीच भी कई गम्भीर मतभेद पैदा हो गये हैं और अन्तर्राष्ट्रीय कम्यूनिज्म में एक खतरनाक खाई पैदा हो गई है जो क्रमशः बढ़ती जाती है।

मध्य-एशिया

मैसोपटोमियाँ की सभ्यताएँ

जिस प्रकार गंगा और सिन्धु की उपत्यकाओं में हमारे बहुत पहले पूर्वजों के साथ भारतीय सभ्यता का सृजन हो रहा था उसी प्रकार मध्य एशिया की दजला और फरात नदियों की उपत्यका में मैसोपटोमियाँ का आधुनिक ईराक में ईसा से करीब चार हजार वर्ष पूर्व सुमेरियन संस्कृति पनप रही थी। सुमेरियन संस्कृति का प्रधान केन्द्र "उर" नामक नगर में था जो उस समय का एक प्रसिद्ध नगर था। इस संस्कृति पर मोहन-जोदड़ो में पाई जाने वाली भारतीय संस्कृति का बड़ा प्रभाव पड़ा था। कई बातों में मोहन-जोदड़ो का अनुकरण सुमेरियन संस्कृति में पाये जाने वाली पुरातत्वीय सामग्री में पाया जाता है।

ईसा के २१७ वर्ष पहले सुमेरियन संस्कृति के तीसरे राजवंश के अन्त के साथ ही सुमेरियन संस्कृति का अन्त हो गया और बेबीलोनिया के राजवंश ने वहाँ पर अपना शासन स्थापित कर बेबीलोनियन संस्कृति की स्थापना की। बेबीलोनियन राजवंश में "हम्मुराबी" नामक एक अत्यन्त प्रतापी सम्राट हुआ जो साहित्य और कला तथा कानून का बड़ा शौकीन था। इसके शासनकाल में इस देश की भी सर्वांगीण उन्नति हुई। उस अत्यन्त प्राचीन काल में सम्राट् हम्मुराबी ने राज्य का एक विधान बनवा कर एक स्तम्भ पर खुदवा दिया जो आज संसार का सबसे पहला और प्राचीन विधान माना जाता है। इस विधान में समाज में स्त्रियों की स्थिति की जो व्याख्या की गई है वह दूसरी सभ्यताओं की अपेक्षा बहुत उदार है।

ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व तक इस देश में बेबिलोनियन संस्कृति का बोलबाला रहा। इसके बाद असीरियन राजवंश ने इस सभ्यता को समाप्त कर 'असुर' संस्कृति की स्थापना की। इस राजवंश में "असुर बनिपाल" नामक एक बड़ा कठोर निर्दयी और साहसी शासक हुआ। ऐसा मालूम पड़ता है कि असुर संस्कृति के साथ आर्य्य संस्कृति के भी कई संघर्ष हुए जिनका विवरण पुराणों में दिखलाई देता है। सुमेरियन बेबिलोनियन और असुर संस्कृति का समकालीन बहुत सा साहित्य क्यूनीफार्म लिपि में ईंटों पर खुदा हुआ प्राप्त हुआ है।

असुर संस्कृति चार सौ वर्षों तक इस देश पर छाई रही उसके बाद कुछ समय तक इस भूमि पर केल्डियन राजवंश की सत्ता रही। इन लोगों ने एक बार फिर इस प्रदेश को राजनीति और सभ्यता का केन्द्र बना दिया। इन लोगों के समय का बनाया हुआ आकाशी-उद्यान संसार के सात आश्चर्यों में एक माना जाता है।

इसके पश्चात् ईसा से छः सौ वर्ष पूर्व यह देश ईरान

गये और वहीं से उन्होंने अपने को ईश्वर का पैगम्बर होने की घोषणा की। (पूरा वर्णन दूसरे खण्ड में "ईसा मसीह" नाम के साथ देखें)

यद्यपि महात्मा ईसा के जीवन काल में ईसाई धर्म का अधिक प्रचार नहीं हुआ मगर आगे चलकर इसने एक विश्व व्यापी धर्म का रूप धारण कर लिया और इसका अधिक प्रचार यूरोप में होकर वहीं से यह सारे संसार में फैल गया। इस नवीन धर्म ने यहूदी धर्मक्रियाओं के खिलाफ एक क्रान्ति खड़ी करदी और नई मान्यताओं और नवीन क्रियाओं को जन्म दिया। इन क्रियाओं ने मनुष्य और मनुष्य के बीच भेदभाव की दीवारों को तोड़कर विशुद्ध सेवा और समता के रचनात्मक सिद्धान्तों का प्रचार किया।

यद्यपि आगे चलकर ईसाई धर्मसंस्थाने अपने विरुद्ध विचार रखनेवाले तथाकथित नास्तिक लोगों पर बड़े भयंकर और बर्बर अत्याचार किये। मगर इन अत्याचारों के खिलाफ अपनी आवाज बुलन्द करने वाले शक्तिशाली व्यक्ति भी इस धर्म में पैदा हुए और उन्होंने बड़े साहस के साथ भयंकर अत्याचारों को सहन करके भी इन अत्याचारों का प्रतिकार किया।

यद्यपि महात्मा ईसा का जन्म एशियायी भूखण्ड में हुआ था पर इस क्षेत्र में इस धर्म का अधिक प्रचार न हो सका। इसीलिए ईसाई धर्म माननेवालों की संख्या जहाँ यूरोप में ७ प्रतिशत अमेरिका में ८१ प्रतिशत और आस्ट्रेलिया में १८ प्रतिशत है वहाँ एशिया में सिर्फ ३ प्रतिशत है।

इस्लाम का उदय

मध्य एशिया के इतिहास की दूसरी महत्त्व पूर्ण घटना अरबस्थान में इस्लाम का उदय और उसका अत्यन्त तीव्र गामी गति से अधिकांश एशिया मिश्र और यूरोप के कुछ हिस्से में फैल जाना है।

ई० सन् ५७० में मक्का के एक कुरेश वंश में हजरत मुहम्मद पैगम्बर का जन्म हुआ। ४० वर्ष की उम्र में उन्हें ईश्वरीय इलहाम हुआ और ईस्वी सन् ६२२ की १६ जुलाई को उन्होंने इस्लाम की घोषणा की और स्वयं उसके पैगम्बर बने, उसी दिन से मुसलमानों का हिजरी सन् शुरू होता है।

इस्लाम की स्थापना में हजरत पैगम्बर ने कुछ मूल भूत रचनात्मक (धार्मिक) सिद्धान्त रक्खे जिससे उनका यह मजहब अत्यन्त शीघ्र वहाँ के क्षेत्र में लोकप्रिय हो गया। इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर उन्होंने इस्लाम का दरवाजा गरीब, अमीर, स्त्री, पुरुष, शूद्र, अछूत देशी विदेशी सबके लिए समानरूप से खोल दिया जिसके परिणाम स्वरूप हजारों नवयुवक तेजी के साथ इस्लाम के झण्डे के नीचे आने लगे।

जो लोग इस्लाम ग्रहण कर रहे थे उनमें अधिकांश लोग सैनिक वर्ग के थे और इस कारण इस संस्कृति ने प्रारम्भ सैनिक रूप ग्रहण कर लिया और सैकड़ों सैनिक अपनी सेनाओं के साथ तलवार के बल पर कुफ्र (यह शब्द मूर्तिपूजा और नास्तिकता के लिए प्रयुक्त होता है) का नाश करने निकल पड़े। आनन फानन में इन संगठित सैनिकों ने मध्य एशिया में कुफ्र की मर्यादा में आनेवाले सभी प्राचीन धर्म स्थानों, और सांस्कृतिक स्मृतियों को नष्ट कर सभी लोगों को इस्लाम में दीक्षित कर दिया। मेसोपोटेमियां की सभ्यताएँ उसके एक ही झोंके में नष्ट हो गईं ईरान की सभ्यता भी चर २ हो गई, *भारतीय सभ्यता पर भी इस्लाम का हमला हुआ,* राजनीति दृष्टि से यहाँ पर उनका साम्राज्य भी स्थापित हो गया मगर सांस्कृतिक रूप से वे इस देश की सभ्यता पर विजय नहीं पा सके अन्त में दोनों सभ्यताएँ इस देश में साथ साथ समझौते के साथ चलती रहीं।

दूसरी सभ्यताओं पर प्रहार करने के पश्चात् इस्लाम ने एक नवीन संस्कृति की स्थापना की। बड़े-बड़े खलीफों, राजाओं, साहित्यकारों और कवियों ने इस संस्कृति को सम्पन्न बनाने की कोशिश की। इसके फलस्वरूप अरबी और फारसी के विद्वानों ने विश्व साहित्य के निर्माण में अपना महत्व पूर्ण योगदान दिया। भारतवर्ष से अङ्क शास्त्र का ज्ञान ग्रहण करके यूरोप को इस विषय का ज्ञान अरब लोगों ने ही दिया। प्लेटो और अरिस्टोटल के लुप्त ग्रन्थों का उद्धार भी अरब विद्वानों के द्वारा ही हुआ। कला के क्षेत्र में ताज महल और उसी की तरह मध्य एशिया में अनेक कलात्मक कृतियाँ तथा स्पेन में कारडोवा के समान नगर का निर्माण किया। कई बड़े-बड़े बादशाह भी इस्लाम के अनुयायी बड़े न्यायी और लोक प्रिय हुए।

अठारहवीं सदी में मध्य एशिया पर भी यूरोपीय विदेशी शक्तियों की काली छाया पड़ी और धीरे धीरे यह सारा क्षेत्र रूस, इङ्गलैण्ड आदि विदेशी शक्तियों के प्रभाव में आ गया।

जापान

एशिया के समग्र इतिहास में जापान का इतिहास अपने ढंग का निराला और अद्भुत इतिहास है। यह देश एशिया के सुदूर पूर्वी कोने में ऐसे स्थान में बसा हुआ है जहाँ पर एशिया में या संसार में होने वाली घटनाओं का कोई असर नहीं पड़ता। फिर भी अपना होश सँभालने के बाद इस छोटे से देश ने बहुत थोड़े समय में आश्चर्यजनक उन्नति की। अपनी सैनिक शक्ति को सुदृढ़ करके रूस और चीन के समान विशाल देशों को पछाड़ दिया और व्यापारिक क्षेत्र में अपने यहाँ के बने हुए सामानों से सारे संसार के बाजारों को पाट दिया। ये घटनाएँ इतिहास की मामूली घटनाएँ नहीं हैं। इन घटनाओं ने थोड़े समय में मानवीय इतिहास पर जापान के गौरव की छाप बिठा दी थी।

ऐसा समझा जाता है कि जापानियों के पूर्वज कोरिया से ही जापान में आये थे। जापानी लोग मंगोलियन जाति के हैं। इनके आने से पहले जापान में 'आईनस' नाम के आदिम जाति के लोग रहते थे।

ईस्वी सन् दो सौ के करीब जिंगो नामक एक रानी जापान के यामातो राज्य की शासिका थी। यामातो जापान के उस मध्यवर्ती हिस्से का नाम है, जहाँ पर ये प्रवासी आकर बसे थे।

बौद्ध धर्म के पहुँचने के पहले जापान का पुराना धर्म शिंटो था। शिंटो का अर्थ होता है—'देवताओं का मार्ग'। यह धर्म प्रकृति और पूर्वजों की पूजा का मेल जोल था। यह एक सैनिक जाति का धर्म था और देवताओं तथा उनके वंशजों के प्रति वफादारी ही इसका मूल मंत्र था। उसके बाद जापान में बौद्ध धर्म ने प्रवेश किया। सन् ५५२ में कोरिया के एक शासक ने बुद्ध की एक सोने की मूर्ति और बौद्धधर्म के कुछ प्रचारक जापान भेजे थे।

जापान का सम्राट 'मिकाडो' सर्वशक्तिमान निरंकुश अर्द्धदेवी और सूर्य का वंशज माना जाता है और शिंटो धर्म जनता को उसकी वफादारी का आदेश देता है। फिर भी सम्राट दूसरे बड़े खानदानों के हाथ की कठपुतली की तरह रहता था और राजवंश के उच्च खानदानों के हाथ में राज्य की असली शक्ति रहती थी।

जापान के इतिहास में सबसे पहले 'सोगा' खानदान के एक प्रभावशाली व्यक्ति शोतुकू-तैशी ने सबसे पहले जापानी राज्य का निर्माण किया। इस व्यक्ति की गणना जापानी इतिहास के एक महापुरुष की तरह की जाती है। इसने जापान में एक ऐसी सरकार बनाने की कोशिश की जिसकी बुनियाद सिर्फ बल पर नहीं बल्कि नैतिकता पर रखी गई हो। यह सन् ६ सौ ईस्वी के लगभग की बात है।

सोगा-वंश के बाद 'फूजीवारा' वंश के हाथ में जापान की सत्ता आई। इस वंश के काकातोमी नामक पुरुष ने जापान के इतिहास में बड़ा नाम कमाया। इसने जापानी सरकार के संगठन में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये। जापानी इतिहास में इस वंश ने दो सौ वर्ष तक शासन किया। इस वंश के लोग जापान के सम्राट् को अपने हाथ की कठपुतली बनाये रहे जिससे सम्राट् बड़ा असन्तुष्ट रहता था। इसी के समय में जापान की राजधानी क्योटो में सन् ७९४ में स्थापित की गई जो बराबर ११ सौ वर्षों तक रही।

इसी युग में एक बार चीन के सम्राट ने जापानी शासक के पास एक राजदूत भेजा जिसमें जापान के राज्य को 'दाईनी पु न कोकु' अर्थात् महान् सूर्योदय का राज्य कह कर सम्बोधित किया था। जापानी लोगों को यह नाम बहुत पसन्द आया और इसी के आधार पर उन्होंने अपने देश का नाम 'दाईनीप्पन' या सूर्योदय का देश रखा। इसी 'नीप्पन' शब्द से आधुनिक 'जापान' शब्द बना।

दो सौ वर्ष तक फूजीवारा-वंश के शासन के बाद जापान में 'दाइम्यो' नामक जमींदार लोगों ने अपनी छोटी छोटी सेनाओं की मदद से बड़ी शक्ति प्राप्त कर ली और सन् ११५६ में फूजीवारा वंश को समाप्त करने के लिए इन लोगों ने सम्राट की बड़ी मदद की। इन्हीं दाइम्यो के एक वंश में योरीतोमा नामक एक अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्ति हुआ और इसने जापान की सारी शक्ति हथिया ली। सम्राट ने उसे सन् ११९२

में सीय-ताई-शोगुन की उपाधि प्रदान की। यह उपाधि पुश्तैनी थी और इसके साथ शासन के पूरे अधिकार जुड़े हुए थे। अब जापान का असली शासक शोगुन ही होता था। इस प्रकार जापान में शोगुन शाही कायम हुई जो ७ सौ वर्षों तक चलती रही। इन सात सौ वर्षों में कर वंश के शोगुन आये और उन्होंने शासन किया।

योरीतोमा ने राजधानी क्योटो के विलासितापूर्ण जीवन से घबराकर कामाकुरा नामक स्थान में अपनी सैनिक राजधानी बनाई जो करीब डेढ़ सौ वर्षों तक रही। इस युग में जापान की सर्वतोमुखी उन्नति हुई।

कामाकुरा शोगुन शाही के बाद सन् ११३८ में अशीकागा शोगुन शाही का शासन जापान में प्रारंभ हुआ जो २३५ वर्षों तक चलता रहा। इसी समय जापान में संघर्ष और षड्यन्त्र का दौर दौरा प्रारंभ हो गया और जापान में अशान्ति पैदा हो गई। इस अशान्ति को मिटाने में जापान के तीन आदमियों ने जिनके नाम हिदेयोशी तोकूगावा और नोबुनागा था। इनमें से हिदेयोशी ने बड़ा काम किया और इन लोगों ने जापान को एक सूत्र में बांध दिया। इनमें से दूसरा व्यक्ति "तोकूगावा आयेयासू सन् १६०३ में जापान का 'शोगुन बना और इस तरह तोकूगावा शोगुनशाही' नामक तीसरी शोगुनशाही जापान में कायम हुई जो ढाई सौ वर्षों तक चलती रही।

इसी बीच एशिया के अन्य देशों की तरह जापान में भी योरोप के लोगों का प्रवाह आना शुरू हुआ। ईसाई धर्म का प्रचार भी यहाँ पर सन् १५४६ से सेंट फ्रान्सिस जेवियर ने करना प्रारंभ किया मगर इन विदेशियों की चालाकी को जापानियों ने बहुत जल्दी महसूस कर लिया और सन् १५८७ में एक राजाज्ञा निकाल कर एलान किया गया कि जो ईसाई धर्मोपदेशक २ दिन के अन्दर जापान से बाहर न चला जायगा उसे मौत की सजा दी जायगी हालाँ कि यह आज्ञा विदेशी व्यापारियों के खिलाफ नहीं थी।

मगर इसके बाद विदेशियों से खतरा समझकर जापान ने अपनी पूरी दरवाजाबन्दी कर दी और इस दरवाजा बन्दी को इस कड़ाई के साथ निभाया कि डच, स्पेन और पुर्तगाली व्यापारियों ने यहाँ पर आना बन्द कर दिया। सन् १६३६ में इस दरवाजाबन्दी पर और भी मुहर लगा दी गई और जापान के लोगों को भी विदेश जाना एक दम से बन्द कर दी गई और जो जापानी विदेश में चले गये थे, उन्हें वापस आने से मना कर दिया गया। इस प्रकार दो सौ वर्षों से ज्यादा समय तक जापान का दुनिया से यहाँ तक कि अपने पड़ोसी चीन और कोरिया से भी कोई सम्बन्ध नहीं रहा और इस बुद्धिमानी से जापान विदेशी साम्राज्यवादियों के उस खतरे से बिलकुल बच गया, जिसमें सारे एशिया के राष्ट्र बड़ी बुरी तरह से फँस चुके थे। सन् १८५३ में उसने अपने दरवाजे और खिड़कियों को खोला और तेजी के साथ यूरोपियन राष्ट्रों की बराबरी में शामिल हो गया और उन्हीं की राजनैतिक चालों से उन्हीं को मात दे दिया।

सन् १८५३ में एक अमेरिकन जहाजी बेड़ा अमेरीका के राष्ट्रपति का पत्र लेकर जापान आया। इसी समय जापान के लोगों ने पहले पहल भाफ से चलने वाले जहाजों को देखा। अमेरिका की प्रार्थना पर शोगुन ने जापान के दो बन्दरगाह खोलना मंजूर कर लिया। इससे जापान में शोगुन के खिलाफ बड़ा असन्तोष फैल गया और सन् १८६७ ई० में ७०० वर्षों से चली आने वाली शोगुन शाही का हमेशा के लिए अन्त हो गया।

इसी समय नये सम्राट ने अपने वास्तविक अधिकारों को फिर से प्राप्त किया। केवल १४ वर्ष की उम्र में "मुत्सुहितो" नामक सम्राट जापान की गद्दी पर बैठा और सन् १९१२ ई० तक ४५ वर्ष इसने राज्य किया। जापान में यह युग मेजीजी यानी ज्ञानवान शासन का युग कहा जाता है। ४५ वर्षों की इस पीढ़ी में जापान ने जिस तेजी से अपनी सामरिक और औद्योगिक उन्नति की वह अभी तक के समग्र मानव इतिहास में अभूतपूर्व थी। इसी युग में जापान एक महान औद्योगिक देश बन गया। उन्नति के सभी चिन्ह उसमें मौजूद थे। उद्योग धन्धों में तो वह यूरोप के सभी देशों से आगे बढ़ गया। उसकी आबादी बड़ी तेजी से बढ़ने लगी। उसके जहाज दुनियाँ का चक्कर लगाने लगे। पुरानी सामन्ती सरंजामी-प्रथा उठा दी गई। सम्राट की राजधानी क्योटो से उठाकर 'टोकियो' में लाई गई। एक नये शासन विधान की घोषणा की गई। आधुनिक ढंग की जल और थल-सेना तैयार की

गई। शिक्षा, कानून, उद्योग इत्यादि प्रत्येक क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये गये। विदेशों से विशेषज्ञ बुलवाये गये। तथा जापानी विद्यार्थियों को वैज्ञानिक और औद्योगिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए विदेशों में भेजा गया।

इस प्रकार जापान तेजी के साथ आगे बढ़ने लगा। एक ओर उसका औद्योगिक उत्पादन आसमान की सीमा को छूने लगा। दूसरी ओर सुसंगठित स्थल और जल सेना की शक्ति से वह एक शक्तिशाली राष्ट्र बन गया। वहाँ की जन संख्या बड़ी तेजी के साथ बढ़ने लगी। इस बढ़ती हुई जन-संख्या के लिए उसने अपने साम्राज्य को विस्तृत करने का इरादा किया और चीन तथा कोरिया पर उसने आक्रमण करने की योजना बनायी।

सन् १८८२ में जापान ने एक छोटे से बहाने को लेकर कोरिया पर हमला कर दिया और कोरिया को जापानी व्यापार के लिए अपना बन्दरगाह खोलना पड़ा। मगर जापान इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसकी साम्राज्य लिप्सा ने उसको सन् १८६४ में चीन पर हमला करने को प्रेरित किया और अपनी सुसंगठित सेनाओं के बल पर उसने चीन को ऐसी करारी हार दी कि सारे संसार में तहलका मच गया।

इस विजय के फलस्वरूप मंचूरिया, पोर्ट आर्थर, फॉरमूसा इत्यादि चीन के कई द्वीप जापान के हाथ आये और चीन के द्वारा कोरिया को स्वाधीन घोषित करना पड़ा।

इस विजय से जापान का हौसला बहुत बढ़ गया और उसने रूस के बढ़ते हुए प्रभाव को घटाने के लिए सन् १६०४ में रूस के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी। जापान इसके लिए बिल्कुल तैयार था। डेढ़ साल तक यह लड़ाई बड़े जोरों से चलती रही और सारा संसार जल और स्थल दोनों क्षेत्रों में इस छोटे से राष्ट्र की गति विधियों को बड़े आश्चर्य के साथ देखता रहा। रूस ने जापान को पराजित करने के लिए एक बहुत बड़ा जंगी जहाजों का बेड़ा लंबे समुद्री रास्ते से सुदूर पूर्व को भेजा। आधी दुनियाँ को पार करके जब यह जबर्दस्त बेड़ा जापान के समुद्र में पहुँचा तो वहाँ जापान और कोरिया के बीच के तंग समुद्री रास्ते में सारे बेड़े को जल-सेना नायक सहित जापानियों ने डुबो दिया। इस प्रकार इस युद्ध में भी जापान को भारी विजय मिली और सितम्बर सन् १६०५ में पोर्टसमाउथ की सन्धि के साथ रूस जापान की लड़ाई का अन्त हुआ। इस सन्धि के अनुसार जापान को पोर्ट-आर्थर और लाओ-तुंग प्राय द्वीप फिर से मिल गये जो चीन के युद्ध के बाद उसे वापस करने पड़े थे। रूस ने जो रेल मार्ग मंचूरिया में बनाया था उसका भी एक बड़ा हिस्सा जापान को मिल गया। इस प्रकार इस छोटे राष्ट्र की शक्ति दिन प्रति दिन बढ़ती गई और कोरिया तथा मंचूरिया में इसके पाँव मजबूती से जम गये। कुछ ही दिनों के बाद कोरिया पर कब्जा करके उसे जापानी साम्राज्य का एक हिस्सा बना लिया गया।

जब प्रथम महायुद्ध शुरू हुआ तो जापान तुरन्त मित्र राष्ट्रों के साथ शामिल हो गया और उसने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी और इस अवधि में उसने चीन के अन्दर अपने कदम बढ़ाना शुरू किया। उसने क्याउ चाऊ पर कब्जा कर लिया और शांतुंग प्रान्त की ओर बढ़ने लगा। जब चीन ने इसका विरोध किया तो जापान ने अपने विरोध पत्र में चीन को दबाने के लिए अपनी २१ माँगें पेश कीं। इससे चीनी जनता में बड़ी हलचल मच गई।

युद्ध समाप्त होने के पश्चात् मित्र शक्तियों ने चीन का शानतुंग प्रान्त जापान को दिलवा दिया मगर इससे चीनी जनता में जापान के प्रति भयंकर विद्रोह उत्पन्न हो गया। परिणाम स्वरूप सन् १६२१ के वाशिंगटन सम्मेलन में जापान ने शानतुंग प्रान्त चीन को वापस देना मंजूर कर लिया।

मगर इसके बाद भी उसकी लालसा तृप्ति कम न हुई और सन् १६३१ में मंचूरिया पर उसने खुल्लम खुल्ला आक्रमण-नीति को अपनाया और जनवरी सन् १६३२ में जापानी सेना शंघाई पर निकट चीन की भूमि पर एकदम उतर पड़ी और वहाँ पर ऐसा बीभत्स हत्याकांड मचाया कि सारा संसार आतंकित हो गया। मगर इसी समय शंघाई के क्षेत्र में उन्नीसवीं रूट-मार्च-सेना के नाम से चीनियों की एक नवीन सेना प्रकट हुई जिसने जापानियों के साथ ऐसा वीरतापूर्ण लोहा लिया कि जापानी आश्चर्य

वधिक हो गये। सन् १९३१ में जापानी सेना मंचूरिया में प्रविष्ट हो गई और उसने चीन के सारे मंसूबों पर पानी फेर दिया। अतः जापान को लड़ाई से रुकना पड़ा। तब जापान ने मंचूरिया को स्वतन्त्र घोषित किया और वहाँ पर उसने 'मंचूकुओ' नाम से एक कठपुतली सरकार कायम कर दी।

इसके पश्चात् सन् १९३३ ई० की पहली जनवरी के दिन जापानी सेना एकाएक चीन की असली भूमि पर आ उतरी और उसने 'शान-हाइ-क्वान' नगर पर आक्रमण कर दिया।

इस अचानक आक्रमण से सारे संसार में खलबली मच गई। राष्ट्रसंघ में जापान के विरुद्ध एक प्रस्ताव किया गया। जापान ने इसकी बिल्कुल परवाह नहीं की। उसने राष्ट्रसंघ से इस्तीफा दे दिया और उसकी सेनाएं पीकिंग की ओर बढ़ती गयीं। मई सन् १९३३ में जापानी सेना पीकिंग के दरवाजे के पास पहुँच गई। तब चीन और जापान की ओर से विराम-सन्धि की घोषणा हुई। इस प्रकार जापान ने अपने पंजे चीन में मजबूती से जमा लिए।

दूसरे महा युद्ध के समय जापान जर्मनी का साथी हो गया और सन् १९४१ में मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध घोषणा करते ही उसकी सेनाओं ने आनन फानन में बर्मा, सिंगापुर इंडोनेशिया और इंडोचाइना पर कब्जा कर लिया। उसकी जलसेना ने हवाई द्वीप पर पड़े हुए अमेरिकन बेड़े को समूल नष्ट कर दिया। सिंगापुर में अंग्रेजों के सुप्रसिद्ध जहाज 'प्रिंस-आफ वेल्स' और उसी की बराबरी के एक दूसरे जहाज को डुबो दिया। जापान की इन आकस्मिक विजयों से युद्ध का भविष्य अत्यन्त खतरनाक हो गया। मगर इसी समय अमेरिका में 'परमाणु बम' का आविष्कार हुआ और उसका प्रथम प्रयोग जापान के 'नागासाकी' और 'हिरोशिमा' नामक शहरों पर किया गया। परमाणु बम के इन प्रहारों से ये दोनों शहर एकदम ध्वस्त हो गये। इनमें बसने वाले सारे नागरिक या तो मारे गये या लूले-लँगड़े हो गये। सारी जमीन बंजर हो गयी।

सर्वनाश की इस लीला को देख कर जापान के छक्के छूट गये। उसकी जीत हार में बदल गयी। उधर पश्चिमी रणक्षेत्र में जर्मनी की सेनाओं को रूस ने खदेड़ना शुरू किया और इस प्रकार दूसरा महायुद्ध मित्र राष्ट्रों की विजय के रूप में समाप्त हुआ और इस होड़ से महाभिमानी राष्ट्र का गर्व खंडित हुआ।

दक्षिण पूर्वी एशिया

इण्डोनेशिया, इण्डोचायना, इत्यादि देश दक्षिण पूर्वी एशिया के अन्तर्गत हैं।

जिस युग में चीन के अन्दर चीनी संस्कृति और मध्य-एशिया में ईरानी संस्कृति का पुरजोर विकास हो रहा था उस समय दक्षिण पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति का बोलबाला हो रहा था। यद्यपि इसके पहले इस प्रदेश पर चीनी सभ्यता का प्रभुत्व था। कई भारतीय राजाओं ने यहाँ पर अपने उपनिवेश स्थापित कर अपना राज्य स्थापित किया था।

ईसा की दूसरी शताब्दी से पूर्व अनाम के दक्षिण में "चम्पा" नामक उपनिवेश की स्थापना हो चुकी थी और उसके राजा श्रीमार ने अनाम और टोंकिंग को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया था। राजा श्रीमार और उसके उत्तराधिकारी भारतीय थे और उनकी भाषा संस्कृत थी इनके शिलालेख दक्षिणी अनाम में प्राप्त हुए हैं। चम्पा के राजाओं में भद्रवर्मन का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इसने भद्र-श्वर शिव का एक विशाल मन्दिर का निर्माण करवाया जो कुछ ही समय में सारे दक्षिण पूर्वी एशिया में प्रसिद्ध हो गया था। ईसा की तीसरी सदी में अनाम में पाण्डुरंग नामक शहर बड़ा सुन्दर और उन्नति शील था। इसके दो सौ वर्षों बाद कम्बोज नामक विशालनगर का भी निर्माण हुआ।

नवीं सदी में कम्बोज के राजा जयवर्मन ने अनाम के तीनों राज्यों को मिलाकर एक छोटे साम्राज्य का सूत्रपात किया। इसने अपनी राजधानी के लिए अङ्कोर नामक सुन्दर और कला पूर्ण नगर का निर्माण प्रारम्भ किया जिसे उसके पुत्र यशोवर्मन ने पूरा किया।

अङ्कोर नाम का राजनगर सारे दक्षिण पूर्व में शान-दार अङ्कोर के नाम से प्रसिद्ध था। इसकी आबादी दस लाख से ऊपर थी। इस शहर के पास ही "अङ्कोर-वट" का अद्भुत मन्दिर था जिसकी स्थापत्य कला बड़ी सुन्दर थी।

नौवहवीं सदी में अनाम के लोगों ने अपनी एक स्वतंत्र लिपि का आविष्कार किया जिसके अक्षर चीनी लिपि के अक्षरों से भिन्न थे। इसी लिपि में अनामी लेखकों ने अपने साहित्य का निर्माण किया। पहले इस क्षेत्र में शैव मत का प्रचार था उसके बाद बौद्ध प्रचारकों के प्रयत्न से यहाँ बौद्ध मत का प्राबल्य हो गया।

इसी प्रकार इण्डोनेशिया के जावाद्वीप में ईसा की दूसरी सदी में राजा देववर्मन राज्य करता था। ईसाकी चौथी शताब्दी में यहाँ पर श्री विजय नामक भारतीय उपनिवेश की स्थापना हो चुकी थी। श्री विजय में कई प्रतापी राजा हुए। जिन्होंने सारे इण्डोनेशिया और मलाया में अपने साम्राज्य की स्थापना की थी।

इन उपनिवेशों में उस समय प्रधान रूप से शैव धर्म का प्रचार था। मगर काश्मीर के राजपुत्र गुणवर्मन ने इस क्षेत्र में आकर बौद्ध धर्म का प्रचार किया। इस राजपुत्र की वाणी में इतना प्रभाव था कि उससे प्रभावित होकर दक्षिण पूर्व एशिया के बहुत से द्वीपों ने बौद्ध धर्म अङ्गीकार कर लिया। उसकी प्रतिभा को देखकर चीन के सम्राट ने भी उसको अपने दरबार में आमन्त्रित किया।

पन्द्रहवीं सदी में दक्षिण पूर्वी एशिया में इस्लाम का प्रवेश हुआ। उस समय यहाँ के पौराणिक और बौद्ध धर्मों का बहुत ह्रास हो चुका था। इस्लाम का प्रवेश बड़ी धूम धाम और ताकती के साथ हुआ, इस लिए यहाँ के अधिकांश द्वीपों ने इस्लाम को ग्रहण कर लिया। केवल "बाली" द्वीप ही ऐसा बच गया जहाँ इस्लाम का प्रवेश न हो सका।

१७ वी सदी के प्रारम्भ में इंडोनेशिया में हालैंड वालों का प्रभुत्व हो गया और एशिया के अन्य देशों की तरह यह देश भी पश्चिमी शक्तियों के साम्राज्यवादी शोषण क्षेत्र में आ गया।

इसी प्रकार इंडोचाइना फ्रांस के साम्राज्यवादी शासन में आ गया और इस क्षेत्रमें भी उस अन्धकार युग का प्रारम्भ हो गया जिसका प्रारम्भ जापान को छोड़कर समूचे एशिया में प्रारम्भ हो चुका था।

(आगे का पूरा इतिहास दूसरे खण्ड में इण्डोनेशिया और इण्डोचायना नाम क अन्तर्गत देखें।

एशिया में अन्धकार युग

मानवीय इतिहास के अन्तर्गत १६वीं शताब्दी अपना विशेष महत्व रखती है। इस शताब्दी के अन्तर्गत योरोप के अन्दर 'रेनेसा' या पुनर्जागरण का युग प्रारंभ होता है, जिसके एक ही झोंके से सारा यूरोप अपनी मोह निद्रा को छोड़कर जाग्रत हो उठता है। उसके आचार-विचार, रहन सहन, साहित्य और कला तथा जीवन के हर एक क्षेत्र में तेजी के साथ क्रान्तिकारी परिवर्तन होता है। धर्म-संस्था के बन्धनों को तोड़कर आजादी के वातावरण में वह साँस लेने लगता है और उसकी क्रियाशक्ति तथा महत्वाकांक्षाएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगती हैं।

योरोप के भिन्न-भिन्न देशों के नाविक अज्ञात दुनिया के स्थानों का पता लगाने के लिए चल पड़ते हैं। स्पेन, पुर्तगाल, फ्रेंच, डच और अंग्रेजों के नाविक अमेरिका, भारतवर्ष दक्षिण पूर्वी एशिया और चीन के किनारों पर पहुँचकर व्यापार करने के बहाने से अपने साम्राज्यवादी पंजों को गड़ाने का प्रयत्न करते हैं।

इस प्रकार एक ओर जहाँ पश्चिम में पुनर्जागरण का सूर्य उदय होता है, वहाँ दूसरी ओर पूर्व अर्थात् एशिया का सूर्य अस्ताचल गामी होता है। हजारों बरस की ऊंची संस्कृति, सत्ता और वैभव का उपभोग करते-करते यहाँ की जनता और यहाँ के शासक अकर्मण्य आलसी, विलासी और ऐशो-आराम में तल्लीन हो जाते हैं। चीन का विशाल और शक्तिशाली देश अफ़ीम के नशे में मस्त होकर अपने होश हवास खो बैठता है। भारतवर्ष का मुगल साम्राज्य—

'दो आब सेर कबाब मुझको एक सेर शराब हो—
सल्तनत-मुगलियाँ की चाहे हो कि खराब हो'

के झोंके में आकर सर टामस रो को विदेशी व्यापार की स्थापना की इजाजत दे देता है।

मध्य एशिया के मुसलिम शासकों की भी ऐशो आराम में लिप्त हो जाने से, ऐसी हालत हो जाती है।

उधर यूरोप में क्रमशः विज्ञान भी बड़ी तेजी से अपनी उन्नति करता है। धीरे धीरे वहाँ मशीनों का आविष्कार होने लगता है और वहाँ की जन-शक्ति का विकास भी

के बीच की महत्वपूर्ण मूर्तियों को लेकर लन्दन के म्यूजियम में सुरक्षित रूप से रख दीं।

इन मूर्तियों के लन्दन पहुँचते ही समस्त यूरोप के पुरातत्त्ववेत्ताओं का ध्यान इधर आकर्षित हुआ और फ्रान्स, जर्मनी, ब्रिटेन, अमेरिका इत्यादि कई देशों के पुरातत्त्ववेत्ताओं ने यूनान के भिन्न-भिन्न स्थानों पर पहुँच कर अपना शोधकार्य प्रारम्भ किया। इस शोधकार्य में प्राचीन यूनानी कला की अनेक आश्चर्यजनक वस्तुएँ प्राप्त हुईं। इनमें ग्रीस के प्राचीन मन्दिरों की कला अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

इन मन्दिरों की स्थापत्य कला में प्रमुख रूप से तीन प्रकार की शैलियाँ पाई जाती हैं जिन्हें (१) डोरिक शैली (२) आयोनिक शैली और (३) कोरिन्थियन शैली कहा जाता है।

इनमें डोरिक शैली बहुत सादी और कठोर भावों से युक्त होती है इस शैली को विशेषकर ग्रीस के पश्चिमी और मध्यवर्ती भाग के लोगों ने अपनाई थी। ओलम्पिया, सिसली, टेम्पी और दक्षिणी इटली के मन्दिर स्थापत्यकला की इसी शैली के अनुसार बने हुए हैं।

दूसरी आयोनिक शैली में अलंकार और सजावट की मात्रा अधिक होती थी। इस शैली का प्राधान्य इफीसस, सारीडस, समास, मिलीटस और हेलीकारनेसस के मन्दिरों में पाया जाता है।

तीसरी शैली कोरिन्थियन में कोमल भावनाओं से पूर्ण सजावट और श्री-सुषमा रुचि का प्रदर्शन विशेष रूप से हुआ है।

ऐक्रापालिस और पार्थेनन के मन्दिरों में डोरियन और आयोनियन शैली का सम्मिश्रण बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है।

ऐक्रापालिस में एथेन्स का नागरिक गौरव अपनी उच्चता की चरम सीमा पर पहुँचा था। क्योंकि ऐक्रापालिस में अभिव्यक्ति की एक विशेष धारा की पूर्णता प्राचीन जगत् की कला की अन्तिम पराकाष्ठा तथा यूनानी भावना की अभिव्यक्ति का एक विशुद्ध मूर्त उदाहरण दिखलाई पड़ता है। इसी कारण मिस्री राजवंश की स्थापत्य कला की प्रशंसा करने वाले इतिहासकारों को भी यूनानी स्थापत्य कला का गौरव स्वीकार करना पड़ा।

ऐक्रापालिस के "प्रोपाइलिया" का प्रवेशतोरण प्राचीन यूनान के स्थापत्य सम्बन्धी गौरव का एक महान् स्मारक है। यह एक देवालय का तोरणद्वार है जिसमें पार्थेनन जैसे महत्त्वपूर्ण मन्दिर के द्वार की तरह ही दो स्तम्भपंक्तियों के बीच आने जाने का प्रधान मार्ग बना हुआ है।

ऐकेडेमी

उच्च ज्ञान-संशोधक और प्रचारक संस्था, जिसमें उच्च साहित्य के निर्माण और ज्ञान के पठन-पाठन की व्यवस्था रहती है।

सबसे पहली 'ऐकेडेमी' सम्भवतः ईस्वी सन से ३८७ वर्ष पूर्व यूनान के एथेन्स नगर में महान तत्त्वज्ञानी अफलातून या 'प्लेटो' के द्वारा स्थापित की गई थी। इसमें अफलातून के रिपब्लिक (Republic) नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में दी हुई उच्च शिक्षा की रूप-रेखा के अनुसार विद्यार्थियों को गणित, ज्योतिष, तर्क, न्याय नीति और मनशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। प्लेटो के पश्चात् ईस्वी सन् पूर्व [illegible] में प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता 'एपीक्युरियस' ने भी इसी प्रकार की शिक्षा-संस्था कायम की थी। इस संस्था में एपीक्युरियन सिद्धान्तों की शिक्षा दी जाती थी। एपीक्युरियस ने इस संस्था में छात्रों और स्त्रियों का प्रवेश भी प्रारम्भ कर दिया था।

इसी तरह की एकेडेमी का रूप अब्बासी खलीफा अल-मामून के जमाने में बगदाद में बैतुल-अल-हिक्मा नामक एक शोध केन्द्र की स्थापना में देखने को मिलता है जिसमें विदेशी साहित्य का अरबी भाषा में अनुवाद किया जाता था। इसी शोध केन्द्र में इब्राहिम-अल-फजारी नामक एक अरबी विद्वान ने भारतीय साहित्य के गणित-ज्योतिष के एक ग्रन्थ का अनुवाद "अस-सिन्द हिन्द" के नाम से किया जिससे अरब ज्योतिष के मूलभूत सिद्धान्तों में ही एक क्रान्ति हो गई। इस ग्रन्थ के द्वारा भारतीय अंक प्रणाली का भी अरब लोगों को सर्वप्रथम ज्ञान हुआ और अरबों के द्वारा यह अंक प्रणाली संसार में फैली।

इसी प्रकार की एक ज्ञान संस्था या ऐकेडेमी "इख्वान-अस-सफा" के नाम से ईसा की १ वीं शताब्दी में बसरा और बगदाद में एक विश्व-कोष, शब्द-कोष तथा

महान पुरुषों के जीवन-चरित्र तैयार करने के लिए वहाँ के विद्वानों ने स्थापित की थी। इस संस्था का काम करीब पाँच सदियों तक चलता रहा।

इसी प्रकार की एक ज्ञान संस्था की स्थापना २८ जनवरी सन् १९०२ को अमेरिका के वाशिंगटन नगर में कार्नेगी इन्स्टीट्यूशन नाम से हुई। इसके लिए अमेरिकन धन कुबेर कार्नेगी ने दो करोड़ पचास लाख डालर दिये थे। इस संस्था का अध्यक्ष अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वानों में से चुना जाता है। साहित्य, विज्ञान, कलाकौशल इत्यादि अनेक क्षेत्रों में अनुसन्धान और अन्वेषण की गति को बढ़ाना इस संस्था मूल उद्देश्य है। इसी संस्था की ओर से कैलीफोर्निया के विल्सन पर्वत के ऊपर ५८८६ फीट की ऊँचाई पर एक विशाल वेध शाला की स्थापना की गई है। इस वेध शाला के द्वारा आकाश के ग्रहों की खोज के सम्बन्ध में समय समय पर कई महत्वपूर्ण अनुसन्धान हुए हैं।

इसी प्रकार और भी कुछ विद्या-प्रेमी नरेशों-सम्राटों के समय में इस प्रकार की ज्ञान पोषक संस्थाओं की स्थापना हुई थी और अब तो यह शब्द सारे संसार में प्रचलित हो गया है और संसार के प्रायः सभी उन्नत देशों में ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, इतिहास सभी प्रकार के क्षेत्रों में ज्ञान की खोज करने लिए भिन्न-भिन्न एकेडेमियों की स्थापना हो चुकी है।

ऐगोर सिकोरस्की

हैलीकोप्टर वायुयान के प्रथम निर्माता ऐगोर सिकोरस्की जिनका जन्म सन् १८८९ में कीव में हुआ था।

प्रथम हैलीकोप्टर के निर्माता इगोर सिकोरस्की थे। अपने पहले परीक्षण में सिकोरस्की ने एक ऐसे यन्त्र का निर्माण किया था जो भूमि से उड़ान करने में असमर्थ रहा। इस पर सिकोरस्की ने अपना ध्यान वायुयानों (परम्परागत विमानों) के सुधार में लगा दिया। सिकोरस्की ने ही उस पहली मोटर का निर्माण किया था, जिसके सहारे लुई ब्लेरियो ने पहले वायुयान द्वारा इंगलिश चैनल को पार किया था।

अपने छठे विमान में ७० मील प्रति घंटे की चाल से उड़ान कर सिकोरस्की ने संसार के तत्कालीन तेज चाल के रिकार्ड को तोड़ डाला था। बाद में उन्होंने चार इंजनों वाला वायुयान बनाया। इसमें उन्होंने पहली बार चालक के लिए एक सुरक्षित कक्ष बनाया।

रूसी क्रांति के बाद सिकोरस्की संयुक्त राज्य अमेरिका चले गए। वहाँ पर उन्होंने जो पहला विमान बनाया, वह पहली ही उड़ान में ध्वस्त हो गया। सदा की तरह इन दुर्घटनाओं से अविचलित रहने वाले सिकोरस्की ने तब ४ इंजन के वायुयान बनाए। उनके द्वारा निर्मित वायुयानों में बैठ कर यात्रियों ने पहली बार समुद्रों को पार किया।

सन् १९३८ में अपने वित्तीय सहायकों को यह विश्वास दिला कर कि हैलीकोप्टर जैसे उड्डयन यन्त्र को बड़े हवाई अड्डों की जरूरत नहीं है, सिकोरस्की ने हैलीकोप्टर के निर्माण में अपनी शक्ति केंद्रित की। इस समय हैलीकोप्टर एक उपयोगी तथा सामान्य प्रयोग में आने वाला विमान है। इसके द्वारा जो व्यावसायिक और सैनिक कार्य सम्भव है, वे किसी भी दूसरे उड्डयन यन्त्र से सम्भव नहीं है।

समुद्र के विस्तीर्ण क्षेत्रों में मृत्यु से संघर्ष कर रहे हजारों उड़ाकों को उन्होंने जीवनदान दिया है। हैलीकोप्टर 'उड़ने वाले एम्बुलैंस' सिद्ध हुए हैं। उन्होंने युगम युद्ध क्षेत्रों से हजारों घायलों को बचा कर अस्पतालों तक पहुँचाया है। संयुक्त राज्य अमेरिका और यूरोप के सभी बड़े हवाई अड्डों से नगरों के केन्द्रों तक यात्रियों को लाने ले जाने का कार्य ये हैलीकोप्टर करते हैं। ये होटलों तथा दूसरे मकानों की उन छतों पर टिकाना बना लेते हैं, जहाँ से दूसरा कोई भी वायुयान उतर या चढ़ नहीं सकता। इनके माध्यम से माल की ढुलाई तथा यात्रियों का आवागमन सुविधाजनक हो गया है।

इस समय हैलीकोप्टर ९० मील प्रति घंटे की चाल से उड़ सकते हैं और उनकी गति निरन्तर बढ़ती ही जा रही है।

ऐञ्जल्स (फ्रेडरिक ऐंगल्स)

कम्युनिस्ट सिद्धान्त के चार प्रमुख व्याख्याताओं में से दूसरे नंबर का महान व्याख्याता जिसका जन्म जर्मनी में हुआ था और जो जीवन भर कार्लमार्क्स के कन्धे से कन्धा मिलाकर अपने सिद्धान्तों का प्रचार करता रहा।

कम्युनिस्ट सिद्धान्त के व्याख्याताओं में चार व्यक्ति सबसे महान माने जाते हैं। (१) कार्ल-मार्क्स (२) फ्रेडरिक-ऐंगल्स (३) लेनिन और (४) स्टालिन। इन चारों व्याख्याताओं में फ्रेडरिक ऐंगल्स कार्ल मार्क्स का दाहिना हाथ था। जीवन भर उसने कार्ल मार्क्स के साथ रहकर अपने सिद्धान्तों के प्रचार का कार्य किया। सबसे पहले ऐंगल्स की मुलाकात कार्लमार्क्स के साथ पेरिस में हुई और तभी से दोनों गहरे दोस्त और साथी हो गये। उनका सहयोग इतना गहरा था कि जो पुस्तकें उन्होंने प्रकाशित कीं उनमें से बराबर दोनों की सम्मिलित लिखी हुई थीं।

सन् १८४८ में फ्रेडरिक ऐंगल्स और कार्लमार्क्स ने "कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो या साम्यवादी घोषणा पत्र" के नाम से एक सम्मिलित घोषणापत्र प्रकाशित किया जो सारे संसार में प्रसिद्ध हो गया। जिसमें इन लोगों ने उन विचारों की निरर्थकता की जो फ्रांस की राज्यक्रान्ति और सन् १८४८ के विद्रोह की जड़ में थे। उन्होंने बतलाया कि वे विचार न तो वास्तविक परिस्थितियों के लिए काफी थे और न उनसे मेल खाते थे। उन्होंने उस समय की स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृभाव की लोकप्रचलित पुकारों की आलोचना की और यह दिखाया कि जनता के लिए इनसे कोई लाभ नहीं हो सकता। इस घोषणा पत्र का अन्त इन शब्दों के साथ होता है—

"संसार के मजदूरो! एक हो जाओ। तुम्हें खोना कुछ नहीं है सिवाय अपनी गुलामी की जंजीरों के और पाने को तुम्हारे लिए संसार पड़ा हुआ है।"

फ्रेडरिक एञ्जल्स ने उपनिवेशवादियों के द्वारा उपनिवेशों पर किये जाने वाले अत्याचारों का पर्दाफाश करने के लिए भी एक सुन्दर लेख माला लिखी थी जिसमें उपनिवेशवाद के वर्तमान और भविष्य का गम्भीर भाषा में वर्णन किया गया है और भी उसके कई उपयोगी और कम्युनिस्ट सिद्धान्तों के प्रतिपादन करने वाले प्रकाशन हो चुके हैं।

ऐंग्रेजा ऑगस्ट

फ्रान्स का एक प्रसिद्ध चित्रकार जिसका जन्म सन् १७८० में और मृत्यु सन् १८६७ में हुई।

ऐंग्रेजा एक जन्मजात कलाकार था। सोलह वर्ष की उम्र से ही उसमें चित्रकारी कला का विकास होने लगा और केवल इक्कीस वर्ष की उम्र में उसका यह प्रसिद्ध चित्र तैयार हो गया जिस पर उस समय का सर्वोच्च फ्रेंच पुरस्कार "प्रि डी रोम" उसे प्राप्त हुआ। यह चित्र "एकीलीज के दरबार में आगामेम्नन का राजदूत" इस घटना पर आधारित था। यह एक विशिष्ट प्रतिभा का कलाकार था और इसी कारण यह फ्रेंच इन्स्टीट्यूट का सदस्य और रोम के "स्कोल द फ्रांस" का निर्देशक बनाया गया। ८७ वर्ष की आयु में इस महान् कलाकार का देहान्त हुआ। इसकी कला-कृतियों में "वोन ऑफ आर्क" "मदर ओडालिस्क" इत्यादि कृतियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं।

ऐंग्लिकन चर्च

ईसाई धर्म का एक महत्वपूर्ण सम्प्रदाय। जिसकी स्थापना इंग्लैण्ड में हुई और जो रोमनकैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट इन दोनों शाखाओं के मध्यवर्ती सिद्धान्तों का अनुगमन करता है।

ईसा की सोलहवीं सदी में जब जर्मनी में मार्टिनलूथर ने प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय की स्थापना की उस समय सभी ओर से उसका प्रबल विरोध और संघर्ष होने लगा।

उस समय इंग्लैण्ड की गद्दी पर हेनरी अष्टम आसीन था। उसने भी प्रोटेस्टेण्ट धर्म के विरुद्ध एक पुस्तक लिखकर रोमन चर्च के पोप के ईश्वर-प्रदत्त अधिकारों का समर्थन किया। मगर जब हेनरी अष्टम ने अपनी पहली पत्नी कैथेराइन को तलाक देकर एनी बोलेन नामक दूसरी लड़की से विवाह करने की व्यवस्था पोप से माँगी और पोप ने यह व्यवस्था देने से इन्कार किया तो उसने पोप से

क्रुद्ध होकर इंग्लैण्ड की पार्लमेण्ट से 'ऐक्ट ऑफ सुप्रीमेसी" सन् १५३१ में पास करवाकर इंग्लैण्ड चर्च पर से पोप के अधिकारों को करीब-करीब समाप्त कर दिया और केण्टरबरी के एक बड़े पादरी से व्यवस्था लेकर पत्नी बोलन से विवाह कर लिया तथा ईसाई मठों की (monasteries) सब सम्पत्ति को जब्त कर राजकीय खजाने में मिला लिया। तभी से रोमन कैथॉलिक चर्च से अलग होकर यह चर्च ऑफ इंग्लैण्ड के नाम से प्रसिद्ध हो गया और सत्रहवीं सदी से इसका नाम ऐंग्लिकन चर्च पड़ गया।

उसके पश्चात् महारानी एलिजाबेथ ने चर्च ऑफ इंग्लैण्ड को पूर्ण स्वतन्त्र तथा राष्ट्रीय चर्च घोषित कर दिया। तब से इस चर्च पर प्रोटेस्टेण्ट प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगा।

इसी समय अर्थात् सम्राज्ञी एलिजाबेथ के समय में ही ईसाई धर्म में प्यूरिटन शाखा का उदय हुआ। इस शाखा के लोग इंगलिश चर्च को प्रोटेस्टेण्ट धर्म के और निकट लाना चाहते थे। प्यूरिटन लोगों के प्रयत्नों से सन् १६४२ में पार्लमेंट ने बिशप की पदवी को समाप्त कर दिया।

इसके कुछ समय पश्चात् सन् १७०१ में पार्लमेंट में एक्ट आफ सक्सेशन पास हुआ जिसके अनुसार इंग्लैण्ड के भावी राजाओं के लिए ऐंग्लिकन धर्म का अनुयायी होना अनिवार्य ठहराया गया।

ऐंग्लिकन सम्प्रदाय तीन प्रकार की विचारधारा के लोगों का समन्वय है। एक विचार धारा प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को अधिक महत्त्व देती है। इस विचार धारा वालों को एवेंजेलिकल कहते हैं। इस विचारधारा के लोग धार्मिक संस्कार और पादरियों के प्रभाव को कम करने के पक्ष में हैं।

दूसरी विचारधारा रोमन कैथोलिक विचार धारा से प्रभावित है। इस विचारधारा के लोगों का यह प्रयत्न रहा कि ऐंग्लिकन विचारधारा रोमन कैथोलिक सिद्धान्त और पूजा पद्धति से दूर न जाने पाये। इस सम्प्रदाय के लोग सामूहिक रूप से रोमन कैथोलिक गिरजे में सम्मिलित होने का प्रयत्न करते रहते हैं वे लोग ऐंग्लिकन चर्च को रोमन चर्च की एक शाखा की ही तरह समझते हैं।

तीसरी विचारधारा लिबरल लोगों की है जो कैथोलिक और ऐंग्लोकैथोलिकन सिद्धान्तों में समन्वय का प्रयत्न करते हैं।

आधुनिक युग के अनुकूल अपने सिद्धान्तों के कारण ऐंग्लिकन धर्म केवल इंग्लैंड तक ही सीमित नहीं रहा। आयर्लैण्ड और स्कॉटलैण्ड में भी इसका प्रचार हुआ। तथा इंग्लैण्ड की ईसाई मिशनरियों के द्वारा संसार के अन्य देशों में भी इसका बहुत प्रचार हुआ। ईसाई मशीनरियों की एस पी सी (सोसायटी फार प्रोमोटिंग क्रिश्चियन नौलेज) एस पी जी (सोसायटी फार दि प्रोपेगेशन ऑफ दि गास्पेल) और सी० एम एस (चर्च मिशनरी सोसायटी) नामक संस्थाओं ने इस धर्म के प्रचार में बड़ा व्यापक भाग लिया।

इस समय इंगलैण्ड, आयर्लैण्ड, स्कॉटलैण्ड, अमेरिका, भारतवर्ष, लंका, पाकिस्तान, कनाडा, दक्षिण अफ्रीका इत्यादि देशों में इस सम्प्रदाय के लाखों अनुयायी रहते हैं। संसार भरमें करीब पाँच करोड़ व्यक्ति ऐंग्लिकन सम्प्रदाय के अनुयायी हैं।

ऐजीना देवी का मन्दिर

प्राचीन यूनान का एक सुप्रसिद्ध मन्दिर। इस मन्दिर में ग्रीस के कई देवी देवताओं की मूर्तियाँ थीं। इन मूर्तियों में एथीना देवी की प्रतिमा का निर्माण प्राचीन यूनान के महान् कलाकार "फिडियास" के निरीक्षण में हुआ था कहा जाता है कि इस मूर्ति की लम्बाई २८ फीट के लगभग थी और यह सारी मूर्ति हाथी दाँत और सोने से बनाई गई थी। यह मूर्ति उस युग का महान आश्चर्य मानी जाती थी।

ऐंजर्स

पश्चिमी फ्रान्स का एक नगर जो फ्रान्स के सुन्दर नगरों में गिना जाता है। प्राचीन काल में इस नगर का नाम "ज्यूलियोमगस" था इसकी जनसंख्या १ ११४२ है। इस नगर में गिरजोंकी बहुलता है

ऐरिटयम

प्राचीन रोम साम्राज्य का एक नगर जो आजकल ऐंजिया के नाम से प्रसिद्ध है। प्राचीन रोम के सम्राट् नीरो की यह जन्मभूमि है। प्राचीन काल में यह नगर शौकीन रोमनवासियों का लीला निकेतन था। उस समय इसमें बड़ी २ सुन्दर इमारतें और आमोद प्रमोद के स्थान बने हुए थे। मुसलमानों के आक्रमण से यह नगर नष्ट भ्रष्ट हो गया था।

ऐजमारा

उत्तर पूर्वी अफ्रीका के इरीट्रिया राज्य की राजधानी, जिसकी जनसंख्या सन् १९५४ में १४   थी।

यह एक अत्यन्त प्राचीन नगर है। प्राचीन काल में यह अत्यन्त समृद्धिशाली था। सन् १९   में इरीट्रिया की राजधानी मासावा से बदलकर एजमारा आ गई, तभी से इसकी प्रगति जारी है।

ऐटा

उत्तर प्रदेश का एक जिला तथा उस जिले का एक प्रधान नगर।

ऐटा जिला काली नदी की उपत्यका में बसा हुआ है। इसकी दक्षिणी सीमा पर गंगा नदी बहती है। इस जिले का इतिहास काफी पुराना है। पाँचवीं और सातवीं सदी के चीनी यात्रियों ने भी अपनी यात्रा के वर्णन में इस क्षेत्र का उल्लेख किया है। ऐसा समझा जाता है कि छठी शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक इस क्षेत्र पर अहीरों और भरों का राज्य रहा। फिर यह राजपूतों के अधिकार में आया।

१२वीं शताब्दी से यह नगर मुसलमानों के अधिकार में आ गया। सम्राट अकबर ने इसे अपने कन्नौज और बदायूँ के जिलों में मिलाया था। उसके बाद यह क्षेत्र लखनऊ के नवाब के अधिकार में रहा। नवाब ने सन् १८०१-२ में इसे अंग्रेजों के हाथ में सौंपा।

सन् १८५७ के विद्रोह के समय यह क्षेत्र विद्रोह का प्रमुख केन्द्र था। ऐटा के राजा डामर सिंह ने विद्रोह का साथ दिया। मगर १५ दिसम्बर को अंग्रेजों की फौज ने विद्रोहियों पर आक्रमण कर उन्हें कासगंज से मार भगाया।

सन् १८५६ ई० तक इस जिले का हेड क्वार्टर पटियाली ग्राम में था। इसी वर्ष यह हेड क्वार्टर वहाँ से उठा कर ऐटा नगर में लाया गया। इस जिले का प्रमुख व्यवसायिक केन्द्र कासगंज है।

ऐटा नगर में दिलसुख राय का मन्दिर बहुत ऊँचा और शानदार बना हुआ है। नगर से उत्तर में संग्राम सिंह चौहान का किला बना हुआ है। संग्राम सिंह के वंशज पहले राजा कहलाते थे और जिले के आसपास शासन करते थे, किन्तु सिपाही विद्रोह के समय इस वंश के वंशज राजा डामर सिंह के विद्रोही हो जाने पर सरकार ने उनकी सारी मिल्कियत छीन ली और उन्हें यहाँ से निकाल दिया।

सन् १९५१ की मनुष्य गणना के अनुसार ऐटा जिले की जन संख्या ११९४१५१ और ऐटा नगर की जन-संख्या १८२१४ थी।

ऐन्टाल-काइडस

ई० सन् पूर्व ३९४ में स्पार्टा संघ और ईरान के बीच में हुई सन्धि में स्पार्टा की ओर से वकालत करने वाला स्पार्टा का राजदूत।

ई० सन् पूर्व ३९४ में एथेन्स को परास्त कर स्पार्टा वालों ने ईरान से युद्ध प्रारम्भ किया। ईरान के एक क्षत्रप फर्नीबाजस ने स्पार्टा के जहाजी बेड़े को पूरी तरह से पराजित कर दिया। परिणाम स्वरूप स्पार्टा के राजदूत एण्टाल काइडस ने ईरान के सम्राट के साथ सूसा में एक संधि की। इस संधि में ईरान के सम्राट ने यूनान की घरेलू स्वतन्त्रता स्वीकार करली। स्पार्टा से लेमनास, इम्ब्रोस स्कीरोस लेकर उसने एथेन्स वालों को दे दिये।

ऐदद निरारी

प्राचीन असीरियाका एक प्रतापी राजा जिसका समय ई० पू० ६११ से ई० पू० ८८४ तक माना जाता है।

असीरिया के प्रसिद्ध शासक तिगलथ पिलेसेर के दो शताब्दी पश्चात् यह शासक असीरिया में बड़ा प्रतापी हुआ। असीरिया के पश्चिम में बसे हुए नगर राज्यों को जीतकर इसने अपने राज्य की सीमा का काफी विस्तार कर लिया। तथा अपने राज्य की व्यापार-व्यवस्था और समाज व्यवस्था में कई महत्व पूर्ण परिवर्तन करके उनमें सुधार किया।

ऐनू-शी-काउ (सीकाउ)

ईरान के पार्थिया वंश का राजकुमार, जिसने राजगद्दी छोड़कर बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की। इसका समय १४८ ई० है।

एन-शी-काउ ने बौद्ध धर्म की दीक्षा लेने के पश्चात् चीन जाकर श्वेत-विहार में रहना प्रारम्भ किया। इस धर्म प्रचारक ने अपने जीवन के बीस बरस चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार करने में लगाये। पार्थिया के इस राजकुमार को ही विशेष रूप से चीन में बौद्धधर्म का संस्थापक माना जाता है। इसने ९५ बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया जिनमें से ५५ अभी भी उपलब्ध है।

ऐनफील्ड

इंग्लैंड के मिडिल सेक्स प्रदेश में बसा हुआ एक व्यापारिक नगर जो लन्दन से ९ मील उत्तर-पूर्व में बसा हुआ है।

ऐन-फील्ड में राइफल और बन्दूक बनाने का सरकारी कारखाना है। यहाँ पर समस्त ब्रिटिश सेनाओं के लिए राइफलें तैयार की जाती हैं।

ऐर्नाकुलम

भारतीय गणराज्य में नवीन स्थापित केरल राज्य में ऐर्नाकुलम राज्य का प्रमुख नगर।

पहले यह कोचीन राज्य की राजधानी थी। यह नगर इस समय बड़ा प्रगतिशील हो रहा है। यहाँ के प्रतिशत ४ निवासी उद्योग एवं व्यापार से, ४ प्रतिशत अन्य सेवाओं तथा विविध साधनों से तथा २ प्रतिशत खेती आदि से जीविकोपार्जन करते हैं। इस नगर का व्यापार प्रधानतया कोंकण जाति एवं यहूदियों के हाथ में है। यहाँ की जनसंख्या सन् १९५१ में ६२२८३ थी।

ऐपीरस

प्राचीन यूनान का एक जिला जो आजकल अल्बेनिया के दक्षिणी भाग में अवस्थित है।

सिकन्दर महान की माता ओलम्पिया जो मकदूनियाँ के राजा फिलिप द्वितीय को ब्याही थी एपीरस की राजकुमारी थी। एपीरस का राजा ऐलेक्जेंडर भारत के सम्राट अशोक का समकालीन था।

यूनान के पतन के साथ ही एपीरस का भी पतन हो गया और यह रोम साम्राज्य का अंग बन गया।

ऐपोलोडोरस

रोम के सुप्रसिद्ध सम्राट "ट्राजान" के समय का एक प्रसिद्ध मूर्तिकार जो सम्राट ट्राजन के साथ उसकी युद्ध यात्राओं में भी गया था।

डेमस्कस के इस प्रसिद्ध कलाकार ने सम्राट ट्राजान की विजय यात्राओं के उपलक्ष में एक स्मारक स्तम्भ का निर्माण करवाया था। ट्राजान की वीरता का प्रदर्शन ही इस स्मारक का प्रधान उद्देश्य था। इस स्मारक में सम्राट ट्राजन की वीरता के अत्यन्त प्रभावशाली चित्र निर्मित किये गये थे।

ऐमिलसिलाम्पा

सन् १९३९ के नोबल पुरस्कार-विजेता फिनलैंड के प्रसिद्ध उपन्यासकार एमिल सिलाम्पा, जिनका जन्म सन् १८८८ में हुआ।

एमिल सिलाम्पा फिनलैंड के एक किसान के पुत्र थे। उनके उपन्यास पश्चिमी फिनलैंड के ग्राम्य-जीवन की पृष्ठभूमि पर ही आधारित हैं।

इनके उपन्यासों में "मिलप्रेस" (Meek Heritage) बचपन में निद्रामग्न (Fallen Asleep while Young) और मेन्स वे (Man's way) विशेष प्रसिद्ध हैं। इनका "दी मेन्डलिका" नामक उपन्यास भी बहुत प्रसिद्ध हुआ। इन उपन्यासों के अतिरिक्त इन्होंने कई निबन्ध और कहानियाँ भी लिखीं।

ऐट्रियम

रोमन साम्राज्य की प्राचीन "पाम्पीआई" नामक भवन निर्माणकला में बनाई जाने वाली प्रवेशद्वार कक्ष को "एट्रियम" कहा जाता था।

एट्रियम की छतदार कक्ष में आसमान की ओर एक खुला वातायन रहता था। जिसको "इम्प्लूवियम" कहा जाता था। इसकी दीवार काफी ऊँची तक संगमरमर से जड़ी हुई रहती थी—इस प्रकार के एट्रियम रोम की "पाम्पियाई" शैली के अन्तर्गत बनाये जाते थे।

ऐण्टोनियस

रोम के प्रसिद्ध सम्राट हेड्रियान का कृपा पात्र मित्र जो अपनी सुन्दरता और दुखान्त के कारण प्रसिद्ध था।

सम्राट हेड्रियान सुन्दर वस्तुओं का बड़ा प्रेमी था। स्थापत्यकला, मिट्टी के पात्र, घोड़े और सुन्दर मनुष्यों की परख में वह बड़ा प्रवीण था। उसीने एण्टोनियस नामक एक बिथानियन युवक को लेकर अपने यहाँ रक्खा था। सम्राट ने आज्ञा दी थी कि यह सुन्दर नवयुवक अब देवता के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाय। मगर कुछ ही समय बाद सम्राट का यह प्रियपात्र रहस्यमय ढंग से नील नदी में डूबकर मर गया। हेड्रियन ने अपने इस युवा मित्र की स्मृति में मिस्र में एक 'नवीन नगर का निर्माण करने की आज्ञा दी। इस युवक की मूर्ति का निर्माण करने में वहाँ के मूर्तिकारों ने एक नवीन कलात्मक शैली का निर्माण किया। जो पुरातत्त्वकला की अन्तिम शैली कही जा सकती है। एण्टोनियस की कई मूर्तियाँ कई ढंग से बनाई गयी हैं मगर इन सब मूर्तियों में पौरुष के साथ स्त्रैण विलासिता का मिश्रण दिखाई पड़ता है।

(विश्व सभ्यता का विकास)

ऐन्तु

बेबिलोनियन सभ्यता के मन्दिरों की देव पत्नियाँ जो "ऐन्तु" के नाम से परिचित थीं।

*भारतवर्ष के दक्षिण के मन्दिरों की तरह प्राचीन बेबी*लोनियन सभ्यता के मन्दिरों में भी देवदासियाँ और देव पत्नियाँ रक्खी जाती थीं। देवदासियों से देव पत्नियों का स्थान ऊँचा माना जाता था।

एन्तु कहलाने वाली ये देव पत्नियाँ बड़ी सुन्दर प्रभावशाली और पूजनीय मानी जाती थीं। बेबीलोन के प्रसिद्ध शासक सारगन का जन्म एक देव पत्नी के गर्भ से ही हुआ था। देवपत्नी बनाने के लिए बड़े बड़े राजा और धनी लोग अपनी लड़कियों को देवता के अर्पण करने मंदिरों में लाते थे।

बेबीलोनियन संस्कृति के देवता एक पत्नीव्रती नहीं माने जाते थे। इसलिए उनके एक मुख्य पत्नी और कई उप पत्नियाँ हुआ करती थीं। मुख्य पत्नी देव पत्नी और उपपत्नियाँ देवदासी कहलाती थीं। देवपत्नी अपनी पसन्दगी के किसी भी पुरुष से शादी कर सकती थीं, मगर उस शादी द्वारा पुरुष से सन्तान उत्पन्न करना उनके लिए वर्जित था। इसलिए शादी के पहले ही उन्हें सन्तति निरोध की कुछ औषधियाँ पिला दी जाती थीं।

देवपत्नियों और देवदासियों की वजह से मन्दिरों में व्यभिचार का बाजार गर्म रहता था। धर्म की ओट में बहुत सी बुराइयाँ और कुप्रथाएँ अपना अड्डा जमाया करती थीं और बहुत से सम्पन्न पुरुष इस कार्य के लिए बड़े-बड़े दान देते रहते थे।

ग्रीक इतिहासकार हेरोडोटस ने अपने इतिहास में लिखा है कि "प्रत्येक बेबिलोनियन स्त्री का यह प्रथम कर्तव्य माना जाता था कि वह एकबार "माइलिट्टा" के मन्दिर में जाकर किसी अपरिचित पुरुष से सहवास करे। बिना ऐसा किये वह मन्दिर से वापस नहीं आ सकती थी।

ऐतरेय ब्राह्मण

ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेदीय ब्राह्मणों में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस ब्राह्मण में ज्योतिष्टोम, अग्निष्टोम, इष्टि, सोमयाग, अग्नियाग, अतिरात्रियाग, ऋगुविधि, यूप प्रहरण-विधि, पुरोडाश विधान इत्यादि अनेक विषयों का विवेचन किया गया है।

इस ग्रन्थ में कुल ४ अध्याय और २८५ कण्डिकाएँ हैं। यह ब्राह्मण होत्र-कर्म से सम्बन्धित विषयों पर विशद विवेचन प्रस्तुत करता है।

यह ग्रन्थ 'रायल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता के द्वारा सन् १८७१ में श्री राजेन्द्रलाल मित्र के द्वारा सम्पादित हो कर प्रकाशित हो चुका है। राजेन्द्रलाल मित्र के अनुमान से ब्राह्मण-ग्रन्थों का रचनाकाल ईस्वी सन् से दो हजार वर्ष पूर्व होना चाहिए और इसके आरण्यक ईसा से १४ सदी पूर्व से लेकर ७ सदी पूर्व तक रचे हुए होना चाहिए।

विदेशी विद्वानों में डा० मार्टिन हॉग ने ऐतरेय ब्राह्मण का परिश्रम पूर्वक अध्ययन करके इसका सम्पादन किया है। उनके मत से ऐतरेय ब्राह्मण की रचना का काल ईसा से पूर्व तीन हजार वर्ष से लेकर दो हजार वर्ष तक होना चाहिए।

ऐतरेय आरण्यकम्—यह ऐतरेय ब्राह्मण का एक अंश है। यह ५ आरण्यकों में विभाजित है। प्रथम आरण्यक में ५ अध्याय, द्वितीय आरण्यक में ७ अध्याय तीसरे में २ अध्याय चौथे में १ अध्याय और पाँचवें आरण्यक में ३ अध्याय हैं। इन आरण्यकों में प्रथम तीन के रचयिता ऐतरेय और चतुर्थ के आश्वलायन और पञ्चम के रचयिता शौनक माने जाते हैं। ऐतरेय शाखा के प्रवर्तक महीदास ऐतरेय माने जाते हैं।

ऐतरेय आरण्यक के प्रथम आरण्यक में महाव्रत के होत्र-कर्म का विवेचन दूसरे में परम पुरुषार्थ साधक मार्गोपदेश, तीसरे में संहितोपासन-विधि चौथे में महानाम्नी ऋचाकथन और पञ्चम आरण्यक में निष्केवल्य शास्त्र का वर्णन किया गया है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद

कार्ल मार्क्स के द्वारा मानव-इतिहास का अध्ययन करने के पश्चात् निश्चित किया हुआ एक नूतन सिद्धांत जिसके आधार पर कम्युनिज्म या साम्यवाद और समाजवाद की विचारधाराओं का निर्माण हुआ। इसका विशेष विवेचन समाजवाद शब्द के अन्तर्गत आगामी भागों में किया जायगा।

ऐम्मेट-रावर

आयर्लैण्ड का प्रसिद्ध विद्रोही, जिसका जन्म सन् १७७८ में और मृत्यु सन् १८०१ में हुई।

जिस समय ऐम्मेट-रावर का जन्म हुआ, उस समय आयर्लैण्ड में ब्रिटेन के खिलाफ विद्रोह की भावना और जोर से चल रही थी। यह नवयुवक जो विश्व-विद्यालय का अत्यन्त मेधावी छात्र था, देश प्रेम की भावनाओं से प्रेरित होकर क्रान्तिकारी गुप्त संस्थाओं का सदस्य हो गया। गिरफ्तारी का वारंट निकलने पर वह भागकर फ्रांस चला गया और वहाँ पर 'युनाइटेड आयरिशमेन' नाम की गुप्त संस्था का संचालक बन गया। आयरलैंड में विद्रोह की तैयारी हो जाने पर विद्रोह का झंडा खड़ा करने के लिए यह डबलिन पहुँचा, मगर दुर्भाग्य से विद्रोह का भंडाफोड़ हो गया और उसको फाँसी दे दी गई।

ऐमरी लियोपोल्ड

सन् १९४० और १९४५ के बीच इंग्लैंड की पार्लियामेंट में भारत-सचिव।

ऐमरी लियोपोल्ड का जन्म सन् १८७३ में भारत के गोरखपुर स्थान में हुआ था। शुरू-शुरू में यह 'लन्दन टाइम्स' नामक पत्र के सम्पादक बने और सन् १९११ में बर्मिंघम से पार्लियामेंट के मेंबर चुने गये। सन् १९४० में भारत और बर्मा के राज्य-सचिव बनाये गये।

ऐम्सटर्डम

हॉलैंड का एक प्रमुख नगर जिसकी जन-संख्या सन् १९५ में ८५१११७ थी। इस नगर के भीतर ४ नहरें समानान्तर रूप से बहती हैं। इन नहरों को काटने वाली छोटी-छोटी नहरें भी इस नगर को प्रत्येक दिशा में काटती हैं। इन नहरों के कारण से यह नगर ९० विभागों में विभाजित हो गया है जिन पर तीन सौ पुल बने हुए हैं जिससे सारा नगर अत्यन्त सुन्दर और रमणीक दिखायी पड़ता है। यहाँ एक एक विशाल महल बना हुआ है जो १३६५९ खंभों पर खड़ा किया गया है और उस पर १८९ फीट ऊँची बुर्ज है। इस नगर का मध्य केन्द्र जनाखार दर तथा धर्मोत्सार विशाल बाँध के बीच में है। यहाँ पर १४वीं शताब्दी में एम्स्टर्डम नगर बसा था।

ऐरीजोना

संयुक्त राज्य अमेरिका का एक प्रमुख राज्य जो मेक्सिको के उत्तर में बसा हुआ है।

इस राज्य में ताँबा सीसा जस्ता और सोने की खानें हैं। ये खनिज द्रव्य इस राज्य के म्योप, पिरोम मिकाप पिनली इत्यादि जिलों में पाये जाते हैं।

सन् १८४८ की लड़ाई में यह मेक्सिको से छीन कर न्यु मैक्सिको राज्य में मिला दिया गया था। सोने की खान का पता लगने पर इसे अलग राज्य बनाने का आन्दोलन शुरू हुआ। उसके पश्चात् सन् १९१२ में यह संयुक्त राज्य अमेरिका का ४८वाँ राज्य बना। इस राज्य की जनसंख्या सन् १९४ में पाँच लाख के करीब थी। इस राज्य की राजधानी फिनिक्स नगर में है।

ऐलीजा-एम्पी

वॉरेन-हेस्टिंग्स के जमाने में कलकत्ता के मुख्य न्यायाधीश सर ऐलीजा-एम्पी जिन्होंने महाराज नन्दकुमार के मुकदमे में उनको फाँसी का आदेश दिया था तथा अवध की बेगमों के मुकदमे का भी इन्होंने फैसला दिया था जिसके अनुसार उनकी सारी जायदाद छीन ली गई थी।

ऐल्बर-फील्ड

जर्मनी का एक प्रसिद्ध औद्योगिक नगर, जिसका आधुनिक नाम बुपरटल है।

यह नगर जर्मनी के कपड़ा-उद्योग का एक प्रसिद्ध केन्द्र है। यहाँ पर कागज, काँच रबर चमड़े के उद्योग और रंग बनाने के कारखाने बने हुए हैं। दूसरे महायुद्ध के समय बम वर्षा से यह नगर बहुत कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो गया था मगर अब यह फिर अपनी पूर्वावस्था पर आ रहा है।

ऐलक्विन

मध्यकालीन युग में यूरोप का एक प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री जिसका समय ई॰ सन् ७४२ से ८०४ तक माना जाता है।

ऐलक्विन उन दिनों में हुआ जब यूरोप में चार्ल्स महान् का शासन चल रहा था। चार्ल्स महान् शिक्षा का बड़ा प्रेमी था और उसने ऐलक्विन को अपना शिक्षा-सलाहकार नियुक्त कर दिया था। सन् ७८२ में चार्ल्स महान् ने उसे पैलेस-स्कूल का आचार्य बना दिया। इस स्कूल में राजघरानों के विद्यार्थी शिक्षा पाते थे।

ऐलक्विन यूरोप में मध्य युग का एक महत्वपूर्ण शिक्षाशास्त्री माना जाता है।

ऐलतेरेस

तुर्क जाति का एक सरदार जिसका समय ६९२ ई॰ से ६९३ ई॰ तक है।

जिस समय एलतेरेस हुआ उस समय तुर्क जाति की दशा बहुत पतनावस्था को पहुँच गई थी। तोंगा वंश के अन्तिम सम्राट तु-पेई का शासन नाममात्र को रह गया था। उस समय के ओरोना नदी घाटी के समय का एक शिलालेख मिलता है जिसमें तुर्कों की भर्त्सना की गई है उसका अभिप्राय इस प्रकार है—

"ऐसा हो गया है हमारा जातीय-संघ और ऐसी दिखाई देती है हमारी शक्ति। ओ तुर्की बेगो और जनता! सुनो, तुम्हें ऊपर के आकाश ने क्यों नहीं दाब दिया, नीचे

की जमीन तुम्हारे लिए फूट क्यों नहीं गई। श्री तुरुक लोगों। जिसने तुम्हारे शासन कानून को नष्ट किया। तुमने स्वयं अपराध किया। ""र जनता! तू पूर्व गई, पश्चिम गई, जहाँ भी गई तेरा क्या भला हुआ! तेरा खून पानी की तरह बहा, तेरी हड्डियों से पहाड़ बन गये। तेरे सामन्त दास बन गये और तेरी कुलीन-स्त्रियाँ बांदियाँ बन गई और तेरी बेसमझी से मेरा चाचा भी बो खाकान मारा गया"।

तुरुक जाति की ऐसी गिरी हुई हालत में एलतेरेस नामक व्यक्ति गू-तु-लू के नाम से खान बना। इसने अपनी बहादुरी और लूट मार से तुरुक जाति की गिरी हुई प्रतिष्ठा को बचा लिया। इसने खान बनते ही चारों तरफ लूट मार करना शुरू कर दिया। चीन की साम्राज्ञी 'वू' ने इसका दमन करने के लिए ११ सेना भेजी मगर एलतेरेस ने उसे हरा कर उसका सफाया कर दिया। पर कुछ समय बाद पश्चिमी तुर्कों की एक शाखा "तुरगिस' से लड़ते हुए यह मारा गया।

ऐलगिन

भारतवर्ष में ब्रिटिश-साम्राज्य के गवर्नर जेनरल, जिनका जन्म सन् १८११ में लन्दन नगर में और मृत्यु १८६१ ई में हिमालय की एक धर्मशाला में हुई।

लार्ड ऐलगिन सन् १८४२ ई में सबसे पहले जेमेका के गवर्नर बनकर गये। कहा जाता है कि वहाँ के लोग इनकी कार्य-दक्षता से बड़े खुश थे। इसके परिणाम-स्वरूप थोड़े दिनों के बाद लार्ड ऐलगिन को कनाडा का गवर्नर जनरल बनाया गया। इन्हीं के समय में सबसे पहले कनाडा में स्वायत्त-शासन प्रणाली का पहला मसविदा तैयार हुआ। सन् १८५७ में चीन साम्राज्य' के कैंटन नगर में अंग्रेजों और चीनियों के बीच जो युद्ध छिड़ा हुआ था, उसमें कैंटन के अंग्रेजों की सहायता करने के लिए लार्ड ऐलगिन सेना-सहित सम्पूर्ण क्षमता प्राप्त दूत की तरह चले, मगर रास्ते में ही इन्हें भारतवर्ष के सिपाही-विद्रोह का समाचार मिला। तब इन्होंने लार्ड कैनिंग की सहायता के लिए अपनी सेना भेज दी। सिपाही विद्रोह मिटने पर लार्ड ऐलगिन चीन पहुँचे और चीनियों को हरा कर 'तिनत्सिन' नामक स्थान पर चीन के साथ सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार अंग्रेजों को निर्विवाद चीन में वाणिज्य-व्यापार करने के अधिकार मिल गये।

सन् १८६१ में लार्ड ऐलगिन लार्ड कैनिंग के स्थान पर गवर्नर जनरल बनकर भारतवर्ष आये और वहीं पर सन् १८६१ में उनकी मृत्यु हो गयी।

ऐलाम

प्राचीन मेसोपोटेमिया का एक नगरराज्य जो दजला नदी के पूर्वी भाग के ऊँचे पठारों पर फैला हुआ था।

ऐलाम नगर राज्य की राजधानी सूसा थी। यह राज्य ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी से ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी तक बड़े उत्कर्ष पर था। इसमें प्रोटो-इलमाइट जाति के लोग बसते थे। इतिहासकारों के अनुसार सुमेरियन सभ्यता प्रोटो इलमाइट सभ्यता का ही विकसित रूप था।

कुछ इतिहासकार प्रोटो इलमाइट शाखा को आर्य-जाति की ही एक शाखा मानते हैं। इन प्रोटो इलमाइट राजाओं के समय के ईसा से पूर्व पन्द्रहवीं शताब्दी के कुछ सन्धि-पत्र बाघखोई (Baghakhoi) नामक स्थान पर प्राप्त हुए हैं। इन सन्धिपत्रों के प्रारम्भ में वरुण, इन्द्र, मित्र इत्यादि भारतीय देवताओं की वन्दना की गई है जिससे मालूम होता है ये लोग भारतीय आर्य्य थे। मत्स्य पुराण इत्यादि पुराणों में भी इस देश का उल्लेख मिलता है और कहा जाता है कि मनुपुत्री "इला" के नाम पर ही इस प्रान्त का नाम "इलाम" पड़ा।

ईस्वी सन् से ६४६ वर्ष पहले असीरियन सम्राट असुर बनिपाल ने ऐलाम पर आक्रमण किया और ऐलाम की राजधानी 'सूसा' को लूट खसोट कर तहस-नहस कर दिया। वहाँ की भूमि में नमक डलवाकर उसमें हल चलवाकर कृषि के अयोग्य बना दिया। एलाम के राजा का सिर काट कर इसने अपनी राजधानी "निनवे" के सिंहद्वार पर लटका दिया और उसके सेनापति 'दिनान" का सिर काटकर अपने सामने उसकी खाल खिंचवाई और इस प्रकार "ऐलाम" नगरराज्य को हमेशा के लिए इतिहास के पन्ने से मिटा दिया।

ऐलिजाबेथ बिलिंगटन

इंग्लैण्ड की एक सुप्रसिद्ध गायिका, जिसका समय सन् १७६८ से १८१८ तक था।

एलिजाबेथ बिलिंगटन एक मशहूर गायिका थी। उसके संगीत में एक अद्भुत आकर्षण था। मगर एक बार उसका यही मोहक संगीत उसके लिए महान् विपत्ति का कारण हो गया।

१ मई सन् १७९४ के दिन उसने इटली के नेपल्स नगर के एक रेस्टरां में एक संगीत का कार्यक्रम किया। यह गीत ज्वालामुखी विस्फोट से पूर्व था और इसे स्वयं गायिका ने ही तैयार किया था।

दैवयोग से कुछ दिन बाद ही विसुवियस ज्वाला मुखी में भयङ्कर विस्फोट हुआ और वहाँ के लोगों ने इस विस्फोट का पूर्ण आरोप एलिजाबेथ बिलिंगटन के गीत पर लगाया। उत्तेजना इतनी बढ़ गई कि अगर एलिजाबेथ बिलिंगटन भाग नहीं जाती तो शायद मार डाली जाती।

ऐलिजाबेथ-टेलर

विश्वविख्यात क्लियोपेट्रा फिल्म की प्रधान अभिनेत्री एलिजाबेथ-टेलर जिसका जन्म २७ फरवरी १९३२ को लन्दन में हुआ।

एलिजाबेथ-टेलर की गणना संसार की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरियों और अभिनेत्रियों में की जाती है। उसकी माँ एक फिल्म अभिनेत्री थी इसलिए टेलर का झुकाव भी इसी क्षेत्र की तरफ हुआ। आठ वर्ष की उम्र से ही उसने फिल्मों में प्रवेश पा लिया।

उसकी पहली प्रमुख भूमिका मैट्रो द्वारा निर्मित "लैसीकम होम" नामक फिल्म में हुई। उसके पश्चात् "नेशनल वेलवेट' नामक फिल्म में वह बहुत आगे बढ़ गई। और "ए प्लेस" में काम करने के बाद वर्ष की सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री के रूप में उसे "आस्कर पुरस्कार प्राप्त हुआ।

इसके पश्चात् उसकी सर्वाधिक कीर्ति "क्लियोपेट्रा" और "वी आई पी" नामक फिल्मों में हुई। इन दोनों फिल्मों में काम करने के लिए उसने हर एक से पचास पचास लाख रुपये लिए। इतनी बड़ी रकम आज तक किसी भी अभिनेता या अभिनेत्री को एक फिल्म में काम करने के लिए नहीं मिली है।

टेलर के अभिनय के सम्बन्ध में प्रसिद्ध फिल्म निर्देशक एन्थनी एस्क्विथ का कथन है कि "वह सही माने में एक स्वाभाविक अभिनेत्री है और अभिनय करते वक्त काल्पनिक चरित्र को सजीवता प्रदान करती है और ऐसा लगता है जैसे उसके रोम रोम में वह चरित्र रम गया हो।"

मगर उसका अभिनेत्री जीवन जितना सफल है उतना ही उसका प्रेम-जीवन असफल है।

एलिजाबेथ ने अभीतक अपने चार पति बनाये हैं और अब पाँचवाँ पति बनाने की तैयारी में है। उसके जीवन में "ए राउण्ड दी वर्ल्ड इन एट्टी डेज' का निर्माता "माइक टॉड" ही ऐसे पति के रूप में आया जिसने उसे पूर्ण सन्तोष प्रदान किया। मगर दैवयोग से "कम्पोजिट" की विमान-दुर्घटना में वह मारा गया। इस समय प्रसिद्ध अभिनेता "रिचर्ड बर्टन" से उसके रोमान्स की कथा बड़ी दिलचस्पी से पढ़ी जाती है।

एलिस हेनरी-हेवलाक

यूरोप के प्रसिद्ध समाजशास्त्री और यौन विज्ञान के विद्वान जिनका जन्म सन् १८५९ में और मृत्यु सन् १९३९ में हुई।

इन्होंने चिकित्सा-विज्ञान की शिक्षा लन्दन के सेण्ट टॉमस अस्पताल से प्राप्त कर डिग्री प्राप्त की। इसके पश्चात् स्त्री और पुरुष के मनोविज्ञान और यौन सम्बन्धों पर अध्ययन करके इन्होंने "मैन एण्ड वूमैन और 'स्टडीज इन साइकालाजी ऑफ सेक्स नामक दो रचनाएँ प्रकाशित कीं।

ये रचनाएँ प्रचलित लोक विचारों के विरुद्ध और क्रान्तिकारी थीं। इसलिए समाज के एक वर्ग में इनके विरुद्ध आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। फिर भी जानकार लोगों और विद्वानों ने इनकी रचनाओं का सम्मान किया।

इसके पश्चात् इन्होंने शरीर शास्त्र, समाजशास्त्र, नीति शास्त्र तथा यौन-विज्ञान पर कई रचनाएँ लिखीं जो अत्यन्त महत्व पूर्ण मानी जाती है।

ऐलिफंटा

बम्बई बन्दरगाह का एक द्वीप जो बम्बई से ६ मील की दूरी पर एक पर्वतीय उपत्यका में अवस्थित है। इसका जिला, थाना और तहसील पनवेल है।

पोर्चुगीज लोगों ने जहाज से उतरते समय इस स्थान पर १३ फीट २ इन्च लंबा और ७ फीट ४ इन्च ऊँचा एक पत्थर का हाथी देखकर इसका नाम 'एलीफेंटा' रख दिया। सन् १८६४ ई में इस हाथी को उठाकर बम्बई के विक्टोरिया गार्डेन में रख दिया गया।

अजन्ता और ऐलोरा की तरह ऐलिफंटा की गुफाएँ भी भारतीय कलाकृति के सुन्दर नमूने हैं। यहाँ का सुप्रसिद्ध गुफा-मन्दिर लावा चट्टान को काटकर बनाया गया है। इस प्रधान मन्दिर में पहले २६ स्तंभ और ६ उपस्तंभ लगे हुए थे, जिनमें से ८ टूट गये। मन्दिर में स्थापित त्रिमूर्ति की भव्यमूर्ति अत्यन्त दर्शनीय है। कुछलोगों के मत से इसमें शंकर को ब्रह्मा, विष्णु और शिव के रूप में दिखाया गया है। इसकी ऊँचाई १७ फीट १ इन्च है। मूर्ति के मस्तक ४-५ फीट लंबे और बड़े कलापूर्ण ढग से बनाये गये हैं। इस त्रिमूर्ति के पास ही अर्द्ध नारीश्वर की १६ फुट ऊँची मूर्ति है। इस मूर्ति की बाईं ओर विष्णु भगवान और दाहिनी ओर चतुर्मुख ब्रह्मा की मूर्ति बनी हुई है।

इसके साथ की दूसरी गुफा का द्वार उत्तर-पूर्व की ओर है। इसकी ऊंचाई ११ फीट है, जिसमें अष्टभुज शंकर की ताण्डव-नृत्य करती हुई मूर्ति सबसे विशाल है।

पोर्चुगीजों के आक्रमण के समय में यहाँ की बहुत सी मूर्तियाँ टूट-फूट गईं। फिर भी जो कुछ बची हैं वह मध्य युग काल की गौरवपूर्ण मूर्तिकला का सुन्दर उदाहरण है।

लगभग ८वीं सदी में बनी हुई शिव की त्रिमूर्ति मूर्तिकला की उत्कृष्ट कृति है। इस मूर्ति की एक ओर अघोर भैरव, संहार के संहारकर्ता के रूप में बतलाये गये हैं। दूसरी ओर पार्वती का सुन्दर चेहरा और दोनों के बीच में अत्यन्त सुन्दरता के साथ बनाया हुआ कल्याणकारी शंकर का मस्तक बना हुआ है।

एल्स्टन वाशिंगटन

अमेरिका के एक प्रसिद्ध चित्रकार जिनका जन्म सन् १७७९ में और मृत्यु १८४३ में हुई।

एल्स्टन धार्मिक कथाओं पर चित्र बनाने वाले चित्रकार थे। इनकी शैली वेनिस की शैली पर आधारित थी इनके चित्रों में "सेंट पीटर की मुक्ति" "जेकोब का स्वप्न" इत्यादि कलाकृतियाँ प्रसिद्ध हैं। उस युग के ये सर्व श्रेष्ठ कलाकार माने जाते हैं।

ऐलोपैथी (पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धति)

पश्चिमीय चिकित्सा प्रणालियों में एक सुनियोजित और वैज्ञानिक चिकित्सापद्धति, जिसका जन्मदाता प्राचीन यूनान का प्रसिद्ध विद्वान हिपोक्रेटस माना जाता है। यह पद्धति विशेषकर कीटाणु-सिद्धांत पर आधारित है।

इस पद्धति की स्थापना का मूलजनक हिपाक्रेटस माना जाता है, जिसने इस पद्धति के कुछ मूलभूत सिद्धान्तों की व्याख्या की। उसके पश्चात् ईसाई धर्म के युग में यह पद्धति साधारण रूप से अपना काम करती रही।

मगर ईसा की सोलहवीं शताब्दी के पश्चात् समस्त यूरोप में रेनेंसा या पुनर्जागरण के युग का प्रारम्भ हुआ जिससे वहाँ एक अनोखा प्रकाश छा गया। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वैज्ञानिक आधारों पर नवीन-नवीन खोजें होने लगीं और हजारों वैज्ञानिक, लेबोरेटरियों में तरह तरह के अन्वेषण करने में जुट गये।

ऐलोपैथी चिकित्सा का क्षेत्र भी इस प्रकाश से वंचित नहीं रहा। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में चिकित्सा के सैकड़ों विद्यार्थी इस क्षेत्र के अनुसन्धान में जुट गये जिनके परिणाम स्वरूप क्या सर्जरी और क्या चिकित्सा दोनों ही क्षेत्रों में दिन प्रति दिन नये नये अनुसंधान होने लगे।

मलेरिया पर विजय

सोलहवीं शताब्दी तक यूरोप में मलेरिया के बड़े-बड़े प्रकोप होते थे जिनसे हजारों मनुष्यों की जानें चली जाती थीं। मगर सन् १६१६ में डैमी लिम्बन ने पेरू में रहते हुए सिनकोना की छाल को मलेरिया नाशक औषधि के रूप में ढूँढ़ निकाला और उन्हीं के नाम से यह वनस्पति 'सिनकोना' के नाम पर प्रसिद्ध हुई।

सिनकोना और उससे निकाला हुआ 'कुनैन' नामक तत्व मलेरिया रोग पर इतने प्रभावशाली सिद्ध हुए कि सारे संसार में इसकी ख्याति फैल गयी और आज भी मलेरिया के कीटाणुओं को नष्ट करने में कुनैन सबसे ज्यादा प्रभावशाली मानी जाती है। इस प्रकार इस पद्धति ने कुनैन द्वारा मलेरिया पर विजय प्राप्त की।

चेचक पर विजय

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में सन् १७९६ में एडवर्ड जेनर नामक वैज्ञानिक ने चेचक के टीके का सफल प्रयोग करके चेचक की भयङ्कर व्याधि पर विजय प्राप्त की जिसके फलस्वरूप हजारों लाखों की संख्या में मरने वाले चेचक के रोगियों की संख्या बहुत कम हो गयी है। यह टीका भी इतना लोकप्रिय हुआ कि इस समय संसार के एक छोर से दूसरे छोर तक उसका प्रचार है।

उपदंश पर विजय

जर्मनी के पॉल ऐर्लिक नामक वैज्ञानिक ने जिसका जन्म सन् १८५४ में हुआ था सन् १९०६ में उपदंश की भयङ्कर व्याधि के लिए 'सिक्स हण्ड्रेड सिक्स' नामक दवा का निर्माण किया जो आगे चलकर "साल्वार्सन" नाम से प्रसिद्ध हुआ।

उपदंश के इस टीके का निर्माण हो जाने से समूचे संसार में उपदंश से मरने और विकलांग हो जाने वाले हजारों लाखों मनुष्यों को बड़ी राहत और शान्ति मिली और इस रोग की भयङ्करता कम हो गई और इसका प्रचार भी सारे संसार में हो गया।

निमोनिया पर विजय

कुछ वर्षों पूर्व निमोनिया या फुफ्फुस प्रदाह भी एक भयङ्कर प्राणनाशक व्याधि समझी जाती थी और इससे भी संसार में हजारों जानें जाती थीं। मगर सल्फा ड्रग्स के आविष्कार ने इस रोग पर भी विजय प्राप्त की।

कॉलेरा (विशूचिका)

कुछ ही समय पूर्व कॉलेरा से बचने के लिए भी एक टीके का आविष्कार हो गया है, जिसको लगवा लेने पर साल भर तक कॉलेरा के आक्रमण का भय नहीं रहता। कॉलेरा के आक्रमण के समय यह टीका भी प्रतिवर्ष लाखों व्यक्तियों को लगाया जाता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि इस बीमारी के फैलने पर प्रतिवर्ष जो लाखों मौतें हो जाती थीं उनसे मनुष्य जाति की रक्षा हो गई है।

सुई चिकित्सा पद्धति

थोड़े वर्षों पहले तक रोग की चिकित्सा किसी भी औषधि को मुँह के द्वारा लिया कर ही की जाती थी। उसका परिणाम यह होता था कि औषधि का कुछ भाग पाचन क्रिया शक्ति के द्वारा नष्ट हो जाता था और औषधि को रक्त में पहुँचकर क्रिया करने में काफी समय भी लगता था। इंजेक्शन प्रणाली का आविष्कार हो जाने से औषधियाँ इन्जक्शन के द्वारा सीधी रक्त में पहुँचायी जाती हैं जिससे पाचन क्रिया प्रणाली की दूसरी बाधाओं का उन्हें सामना नहीं करना पड़ता और रक्त में पहुँचते ही वे सीधे रोग के केन्द्र पर आक्रमण कर उसे नेस्तनाबूद करने में शीघ्रता के साथ सफल होती हैं। इस पद्धति का आविष्कार हो जाने के कारण चिकित्साक्षेत्र में एक क्रांति हो गई और हर एक रोग पर शीघ्र काबू पाने में इस चिकित्सा-प्रणाली को महत्वपूर्ण सफलता मिल गई।

विटामीनों का आविष्कार

अब तक ऐलोपैथिक चिकित्सा पद्धति विशेषकर नैगेटिव (निषेधात्मक) सिद्धान्तों पर ही चल रही थी। कीटाणु सिद्धान्तों के अनुसार जिस रोग के कीटाणुओं की शरीर में वृद्धि होती थी उन कीटाणुओं के विनाशक औषधि का इन्जेक्शन देकर रोगी का अच्छा कर दिया जाता था।

मगर विटामिनों के आविष्कार के द्वारा इस चिकित्सा पद्धति में पाजेटिव (रचनात्मक) सिद्धान्तों का विशेष रूप से प्रवेश हुआ।

१९वीं सदी के अन्त में हालैंड में आर्इकमेन नामक एक डाक्टर हुआ, इसने 'बेरी-बेरी' नामक रोग के रोगियों पर प्रयोग करते हुए यह बतलाया कि खाद्य-पदार्थों में कुछ विशेष प्रकार के तत्वों का अभाव होने से यह रोग पैदा होता है। आर्इकमेन ने देखा कि मैशीन से तैयार किये हुए पालिशदार चावलों का सेवन करने वाले मनुष्यों और मुर्गियों में बेरी-बेरी और लकवे का रोग हो जाता है। मगर उन्हीं मुर्गियों को जब हाथ के कुटे हुए चावल, जिनमें अंकुर और भूसी भी मिली हुई थी—खाने को दिये गये तो वे मुर्गियाँ रोग-मुक्त होकर स्वस्थ हो गयीं। इसका कारण आर्इकमेन ने बतलाया कि मैशीन के कुटे हुए चावलों में 'विटामिन' नामक जीवन-तत्व नष्ट हो जाता है, जबकि हाथ के कुटे हुए चावलों में वह मौजूद रहता है।

विटामिन तत्व की इस नई खोज के उपलक्ष में डाक्टर आर्इकमेन को सन् १९२९ में 'नोबुल-प्राइज़' प्राप्त हुआ।

इसके पश्चात् डाक्टर फेडीगोर-फंक नामक एक पोलिश डाक्टर ने लन्दन की प्रयोगशाला में विटामिन तत्व पर अनेक प्रकार की नवीन खोजें कीं। उन्होंने मुर्गियों को मशीन के चावल खिलाकर आर्इकमेन के प्रयोगों को दुहराया और विटामिन के तत्वों से लकवा पीड़ित मुर्गियों को दुरस्त करके लन्दन के डाक्टरों को अचम्भे में डाल दिया। डा॰ फंक की कल्पना बड़ी सजीव थी और उन्होंने अत्यन्त उत्साह के साथ इस बात को प्रतिपादित किया कि मनुष्य शरीर में होने वाले अधिकांश रोग विटामिनों की कमी से होते हैं और अगर वह कमी पूरी कर दी जाय तो मनुष्य रोगमुक्त हो जाता है।

इस प्रकार विटामिन सिद्धान्त के आविष्कार में आने के पश्चात् वैज्ञानिक डाक्टरों के द्वारा तरह तरह के विटामिनों की खोज होने लगी। इन खोजों के परिणाम स्वरूप बाईसों प्रकार के विटामिन डाक्टरों को प्राप्त हुए जिनमें (१) विटामिन ए, (२) विटामिन 'बी' बारह प्रकार के (१४) विटामिन सी, (१५) विटामिन डी (१६) विटामिन ई, (१७) विटामिन एफ (१८) विटामिन जी (१९) विटामिन एच (२) विटामिन आई (२१) विटामिन जे, (२२) विटामिन के।

एण्टी बायोटिक औषधियों का निर्माण

मगर एलोपैथिक चिकित्सा पद्धति में सम्पूर्ण क्रान्ति और संसार में इसकी दिग्विजय की घोषणा बीसवीं सदी में एण्टी-बायोटिक औषधियों का आविष्कार होने के बाद हुई।

अलेक्जेण्डर फ्लेमिंग नामक एक वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में सूक्ष्म यंत्र के द्वारा बैक्ट्रियल-कल्चर या जीवाणु संवर्द्धन के प्लेट को देख रहा था। इस प्लेट पर कुछ विषैले कीटाणु पाले जा रहे थे। संयोगवश इस प्लेट पर किसी कारण से फफून्द लग गई, फ्लेमिंग के सहायक ने उनको कहा कि यह प्लेट खराब हो गई है, मगर जब फ्लेमिंग ने ध्यान से उस प्लेट को देखा तो उन्हें यह देख कर आश्चर्य हुआ कि उस फफून्द से वे सब विषैले कीटाणु नष्ट हो गये हैं। उन्हें यह जान कर बड़ी खुशी हुई कि जिन विषैले कीटाणुओं की औषधि की वे खोज कर रहे थे, वह अचानक ही उन्हें मिल गई। इसी फफून्द से उन्होंने पेनिसिलिन का आविष्कार किया।

पेनिसिलीन के आविष्कार ने सम्पूर्ण ऐलोपैथिक चिकित्सा-जगत् में एक अभूतपूर्व क्रान्ति पैदा कर दी। अनेक ऐसे रोग जिन्हें अभी तक असाध्य समझा जाता था, चिकित्सा की परिधि में आ गये। रोगों को देखते-देखते तत्काल नष्ट कर देने की शक्ति भी पेनिसिलीन ने इस पद्धति को प्रदान की।

पेनिसिलीन के अनुकरण पर एण्टी-बायोटिक औषधियों के निर्माण में एक बाढ़ आ गई। क्लोरोमाइसीन के द्वारा टाइफाइड पर, स्टेप्टोमाइसीन के द्वारा क्षयरोग पर तथा और अनेकानेक रोगों पर कई प्रकार की एण्टी-बायोटिक औषधियों का निर्माण होने लगा।

मगर एण्टी-बायोटिक औषधियों की तीव्र प्रतिक्रिया और फलस्वरूप भी अनेक दुर्घटनाओं के बाद डाक्टरों की समझ में आई और वे अब महसूस करने लगे हैं कि एण्टी बायोटिक औषधियाँ जितना लाभ पहुँचाती हैं उसके बराबर ही वे नुकसान भी पहुँचाती हैं।

फिर भी मौत के मुँह में जाने वाले रोगी को मौत के या भयंकर बीमारी के पंजे से बचा लेने का गुण तो इनमें मानना ही पड़ेगा।

शरीर विज्ञान और सर्जरी या शल्य चिकित्सा के क्षेत्र में

ऐलोपथिक चिकित्सा विज्ञान ने उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में चिकित्सा के क्षेत्र में एक के बाद एक ऐसी लम्बी-लम्बी छलांगें मारी हैं। सर्जरी के क्षेत्र में उससे भी ज्यादा तूफानी गति इस पद्धति की रही है।

शरीरविज्ञान (Anotomy) और शरीर-क्रिया-विज्ञान (Phydiology) के सम्बन्ध में इस पद्धति के वैज्ञानिकों ने अत्यन्त सूक्ष्म अनुसन्धान किये हैं। ऐलोपैथिक चिकित्सा-पद्धति में शरीर-क्रिया-विज्ञान का पिता या मूल आचार्य इरेसिस्ट्रेटस (Erasistratus) नामक यूनानी विद्वान माना जाता है। पर चिकित्सा-पद्धति की तरह इस विज्ञान का भी तूफानी विकास उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में ही हुआ है।

शरीर-विज्ञान का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होने पर ऑपरेशन के क्षेत्र में स्थान-स्थान पर इस पद्धति को पूर्ण सफलता मिली। अभी करीब चालीस-पचास वर्ष पहले ही पेट के अपेन्डिसाइटीज के ऑपरेशन में सौ में से अस्सी ऑपरेशन असफल हो जाया करते थे, मगर आज सौ में से पंचानबे ऑपरेशन सफलता के साथ कर दिये जाते हैं। इसी प्रकार पेट के दूसरे ऑपरेशन, मूत्ररोग सम्बन्धी ऑपरेशन, पथरी के ऑपरेशन, हार्निया के ऑपरेशन, मस्तिष्क के ऑपरेशन—सभी क्षेत्रों में इस चिकित्सा-पद्धति ने आश्चर्यजनक प्रगति की है। यद्यपि मस्तिष्क और हृदय सम्बन्धित ऑपरेशन अभी भी खतरनाक समझे जाते हैं, पर जिस तेजी से इनकी प्रगति हो रही है उससे आशा है कि इस क्षेत्र में भी यह पद्धति बहुत शीघ्र विजय प्राप्त कर लेगी।

कैन्सर रोग के ऑपरेशन और चिकित्सा में अभी तक इस पद्धति को सफलता नहीं मिली है मगर इस क्षेत्र में भी कैन्सर के हास्पिटल, ऑपरेशन के द्वारा रोगी की उम्र को तो किसी सीमा तक बढ़ा ही देते हैं। रूस और अमेरिका में कैन्सर रोग पर विजय प्राप्त करने के लिए बड़ी-बड़ी संस्थाएँ बनी हुई हैं जिनमें सैकड़ों प्रतिभाशाली डाक्टर इस रोग पर विजय प्राप्त करने के लिए युद्धस्तर पर प्रयत्न कर रहे हैं।

नेत्रों और दाँतों की सर्जरी

आँखों के आपरेशन के सम्बन्ध में भी इस चिकित्सा-पद्धति ने आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की है। इस सर्जरी के प्रभाव से हजारों-लाखों नेत्र-रोगियों को अन्धेरे संसार में नवीन दृष्टि प्राप्त होती है। इस क्षेत्र में तिल्ला (मोतियाबिन्द) के नेत्र चिकित्साओं ने भी बड़ा नाम कमाया है। मोतियाबिन्द, काचबिन्दु (Glocoma) इत्यादि नेत्रों के कई प्रकार के रोग—इस सर्जरी के द्वारा आराम किये जाते हैं। दाँतों के क्षेत्र में भी काफी प्रगति हो रही है।

निदान (Dignosis)

निदान या रोग परीक्षा के क्षेत्र में इस चिकित्सा-पद्धति में आश्चर्यजनक यन्त्रों का आविष्कार हो चुका है। एक जमाना था जब डाक्टर केवल स्टेथस्कोप और थर्मामीटर की सहायता से रोग-परीक्षा करते थे।

अब मल मूत्र रक्त की परीक्षा के लिए कई तरह के यंत्रों का आविष्कार हो चुका है। शरीर के भीतरी भागों का निरीक्षण करने और उनके फोटो लेने के लिए सन् १८९५ में जर्मन वैज्ञानिक विलियम कोनराड-राण्टजन ने 'एक्स रे' मशीन का आविष्कार कर दिया। इस मशीन के आविष्कार से निदान-प्रणाली को एक नवीन जीवन मिल गया है।

इस मशीन की सहायता से शरीर के समस्त भीतरी भाग का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। किस जगह की हड्डी टूट गई है, पेट में किस स्थान पर फोड़ा या जख्म है फेफड़े के किस भाग में ट्यूबर-क्यूलोसिस सक्रिय है मस्तक में किस स्थान पर ट्यूमर है। इत्यादि हर बात की जानकारी इस मशीन के द्वारा मिल जाती है। इसी प्रकार ब्लड प्रेशर का अनुमान करने के लिए भी मशीन का निर्माण हो चुका है। मतलब यह कि निदान के क्षेत्र में प्रत्येक रोग का निदान करने के लिए कई छोटे और बड़े यंत्र उपलब्ध हैं।

और यह कितने आश्चर्य की बात है कि उन्नति का यह सारा ढेला केवल एक या डेढ़ शताब्दी में तैयार हुआ है। इसके पहले यह चिकित्सा-पद्धति एक पिछड़ी हुई

पद्धति थी, मगर थोड़े ही समय में मलेरिया चेचक उपदंश, कालेरा, निमोनिया इत्यादि रोगों पर विजय प्राप्त कर, इनके द्वारा होनेवाली प्रतिवर्ष लाखों मौतों से इस पद्धति ने मनुष्य-जाति को बचा लिया है जिससे मानव समाज की औसत मृत्यु संख्या बहुत कम हो गई है और उसके साथ ही आबादी भी तेजी से बढ़ती होने लगी है। जिसके परिणाम स्वरूप मनुष्य का ध्यान मृत्यु-संख्या की तरफ से हटकर आबादी की समस्यापर केन्द्रीभूत हो गया है और सब दूर परिवार-नियोजन की समस्या पर विचार हो रहा है।

ऐलोपैथी का सिद्धान्त

ऐलोपैथी चिकित्सा-पद्धति विशेषतः कीटाणु-सिद्धान्त पर आधारित है। इस पद्धति का विश्वास है कि अधिकांश रोग किसी विशेष प्रकार के कीटाणु पर आधारित रहते हैं और उस रोग के कीटाणु जब मानव रक्त में प्रवेश कर बढ़ने लगते हैं तब मनुष्य उस रोग से ग्रसित हो जाता है और उन कीटाणुओं को नष्ट करने वाली औषधि देने पर वह रोग विमुक्त हो जाता है।

इस पद्धति के डाक्टरों ने ऐसे कई प्रकार के रोगों के कीटाणुओं की खोज कर उनकी प्रक्रिया की जानकारी भी प्राप्त कर ली है।

मगर इसके साथ ही इस पद्धति ने नव सिद्धान्त को भी मान लिया है कि मनुष्य के रक्त में जीवनी शक्ति (Vitelity) और रोग निवारक शक्ति (Immunity) दो प्रकार की शक्तियाँ रहती हैं। पहली शक्ति पाजेटिव है और दूसरी नेगेटिव है। पहली शक्ति मानव शरीर में ओज, कान्ति और बल पैदा करती है और दूसरी शक्ति रोग-कीटाणुओं के आक्रमण से उसकी रक्षा करती है।

जब तक मनुष्य-रक्त में ये दोनों शक्तियाँ क्रियाशील रहती हैं तब तक रोग-कीटाणु उसके रक्त में पहुँचते ही नष्ट हो जाते हैं। मगर जब मनुष्य के रक्त की रोग निवारक शक्ति कमजोर हो जाती है तब विटेलिटी के अच्छा रहने पर और स्वस्थ दिखाई पड़ने पर भी मनुष्य रोगों का शिकार हो जाता है। इसी प्रकार कमजोर विटेलिटी वाला दुबला-पतला और कमजोर व्यक्ति भी अगर उसकी रोग-निवारक शक्ति बलिष्ठ हो तो रोगों के आक्रमण से बचा रहता है।

इन दोनों शक्तियों को सक्षम रखने के लिए मानव रक्त में उचित प्रमाण में विटामिनों का रहना आवश्यक है। उसका खान पान, रहन सहन ऐसा होना चाहिए जिससे उसे शरीर-पोषण के लिए उचित मात्रा में विटामिन प्राप्त होते रहें।

अगर किसी विटामिन की कमी हो जाय तो औषधि के द्वारा या सुई के द्वारा उसे रक्त में पहुँचा कर उसकी पूर्ति कर लेना चाहिए।

इसी प्रकार के सिद्धान्तों के द्वारा यह चिकित्सा-पद्धति क्रमशः गतिवान हो रही है।

ऐलोरा

भारतवर्ष के महाराष्ट्र प्रान्त में औरंगाबाद जिले के अन्तर्गत औरंगाबाद शहर से १६ मील उत्तर-पश्चिम में ऐलोरा के सुप्रसिद्ध गुफा मन्दिर अवस्थित हैं। इस स्थान पर पत्थरों को खोद-खोद कर बौद्ध, जैन और हिन्दू लोगों ने बड़े सुन्दर और आश्चर्यजनक गुफा-मन्दिरों का निर्माण किया है।

भारतवर्ष में और भी अनेक स्थानों पर गुफा-मन्दिर बने हुए हैं, किन्तु इन सब में ऐलोरा के गुफा-मन्दिर ही अधिक विस्तृत और कलापूर्ण हैं। अर्धचन्द्राकार पर्वत की दक्षिणी गुफा पर बौद्ध मन्दिर, उत्तरी गुफा पर इन्द्र सभा और जैन-मन्दिर और मध्य स्थल पर हिन्दू देवी देवताओं के मन्दिर बने हुए हैं।

ऐसा समझा जाता है कि दक्षिण भाग की गुफाएँ सबसे प्राचीन हैं। कुछ इतिहासकारों के अनुमान से इनका निर्माण सन् ६५ से लेकर ५५ ई के बीच में होना सम्भव है। इस भाग को यहाँ के लोग "तिरवाडा" कहते हैं। इनमें से प्रथम गुफा एक बौद्ध-विहार है। इसमें ८ बड़े बड़े घर बने हुए हैं। दूसरी गुफा नाट्य मन्दिर की तरह है जो लोगों के उपासना करने का स्थान मालूम होता है। इसके बरामदे में बहुत सी बौद्ध-मूर्तियाँ बनी हुई हैं। तीसरी गुफा इन दोनों गुफाओं से अधिक प्राचीन मालूम होती है। शेष ६ गुफाएँ बिल्कुल नंबर की तरह बनी हुई हैं जिनमें से एक में विशाल लोकेश्वर की मूर्ति प्रतिष्ठित है।

इन गुफाओं को लाँघ कर कुछ ऊपर चढ़ने से 'महार वाड़ा' नामक गुफा मिलती है यह एक विस्तीर्ण बौद्ध विहार है। यह गुफा प्राय ११७ फीट गहरी और ५८॥ फीट चौड़ी है। इसका कमरा २४ खंभों पर खड़ा हुआ है। इसके प्रवेश द्वार पर ध्यानावस्था में पद्मासनीय बौद्ध मूर्ति विराजमान है। इससे दक्षिण में दूसरा बौद्ध मन्दिर है। इस मन्दिर के बाद अनेक विहार और जलाशय देख पड़ते हैं। इस गुफा से आगे कुछ ऊपर जाने पर विश्वकर्मा की प्रसिद्ध गुफा मिलती है। इसमें विश्वकर्मा रूपी बौद्ध मूर्ति प्रतिष्ठित है। इस मूर्ति की पूजा के लिए कई स्थानों के मिस्त्री लोग यहाँ आया करते हैं। इस गुफा का निर्माण ईसा की छठी शताब्दी में हुआ माना जाता है।

इस गुफा से आगे कुछ ऊपर दोतल नामक एक गुफा है। पहले इसका एक तल बीच पड़ता था जो मिट्टी से भरा हुआ था। सन् १८७६ ई० में मिट्टी खोदते खोदते इसका दूसरा तल निकल पड़ा। इस दूसरे तल में बुद्धदेव पद्मपाणि वज्रपाणि बोधि-सत्व तथा दूसरी अनेक मूर्तियाँ विद्यमान हैं।

इसके बाद तिनतल-गुफा दिखाई देती है जिसकी कारीगरी बहुत उच्च कोटि की है। इस गुफा में करीब ८ हाथ ऊँची बुद्ध-मूर्ति सिंहासन पर बैठी हुई है जिसे देखते ही ऐसा मालूम पड़ता है मानो पत्थर में भी भावों का संचार हो गया हो। यह गुफा बौद्धों के महायान-सम्प्रदाय के द्वारा बनाई गई ज्ञात होती है।

पर्वत के मध्य स्थल पर तिनतल गुफा के पास से हिन्दू देवों के गुफा-मन्दिर आरंभ होते हैं। बौद्ध-निर्मित गुफाओं की तरह इन मन्दिरों में भी उत्कृष्ट शिल्प-नैपुण्य और असाधारण भास्कर्य-कला का परिचय मिलता है। इन गुफा मन्दिरों में दशावतार कैलास रामेश्वर नीलकण्ठ, कुम्भारवाड़ा, जनवास और योगी-मन्दिर की गुफाएँ प्रधान हैं।

दशावतार गुफा के चारों ओर मठिका बनी हुई है। मन्दिर के मध्य में महिष-मर्दिनी, हर-पार्वती शिवताण्डव, रावण के द्वारा कैलाश उठाने का दृश्य ऐरावत हाथी पर विराजित इन्द्राणी इत्यादि बड़ी सुन्दर मूर्तियाँ बनी हुई हैं।

एलोरा के कैलाश या रंग महल में वास्तु-कला का चरम-विकास दिखलाई पड़ता है। इसे देखने से मालूम पड़ता है कि प्राचीन भारत के शिल्पियों ने किस असाधारण क्षमता से कैलास का परिचय दिया है। इस निर्जन पहाड़ी स्थान के कैलाश भवन में पहुँचने पर साक्षात् महादेव के कैलास में पहुँचने जैसा आनन्द आता है। महादेव का यह दो मंजिला मन्दिर पर्वत की ठोस चट्टानों को काट कर बनाया गया है और ऐसा अनुमान किया जाता है कि प्राय २ लाख टन पत्थर उसमें से काट कर निकाल लिया गया है। कैलास के इस परिवेश में सारा ताजमहल अपने आँगन के सहित समा सकता है। प्राचीन शिल्पियों ने पहाड़ी सरिता की धारा को मोड़ कर कैलाश के निकट कुछ ऐसे तरीके से घुमाया है कि उसका जल बूँद-बूँद करके १२ सदियों से शिवलिंग पर बराबर टपक रहा है। कैलास के इस मन्दिर में भैरव की मूर्ति पर आतंक की पार्वती की मूर्ति पर स्नेहशीलता की और शिव के ताण्डव-नृत्य में रौद्र रस की जो भावनाएँ अंकित की गई हैं—वे अद्भुत हैं। प्राचीन भारतीय शिल्पकला का उत्कृष्ट नमूना इसमें देखने को मिलता है। इस कैलाश मन्दिर का निर्माण राठौर नरेश दन्तिदुर्ग के द्वारा ईसा की ७वीं सदी में हुआ, माना जाता है।

कैलास के सिवा रामेश्वर नीलकण्ठ, सीता की नहानी इत्यादि गुफाएँ भी अत्यन्त दर्शनीय हैं।

एलोरा पर्वत की उत्तर गुफा के मन्दिर का नाम पार्श्वनाथ है। यह जमीन से ४८ हाथ ऊँचा है। इसमें पार्श्वनाथ की ६॥ हाथ ऊँची दिगम्बर मूर्ति ध्यानावस्थित स्थिति में विराजमान है।

पार्श्वनाथ मन्दिरके दक्षिण में इन्द्रसभा है। यह तीन गुफाओं में विभक्त है। पहली ४ हाथ लंबी और ९ हाथ चौड़ी है। इसमें १६ खंभे और १२ कोठे हैं। प्राचीर के चारों ओर जैन देवी देवों की मूर्तियाँ अंकित हैं। इनका शिल्प-कौशल भी अत्यन्त उत्कृष्ट है। दूसरी गुफा के मध्य में मण्डप-गर्भ-गृह बना हुआ है जिसमें पार्श्वनाथ महावीर इत्यादि जैन-तीर्थंकरों तथा जैन देवियों की मूर्तियाँ बनी हुई हैं। तीसरी गुफा के गर्भ-गृह में कुछ दूर तीर्थंकरों और गणधरों की मूर्तियाँ बनी हुई हैं।

कुछ लोगों के मत से कुबपत्नी इला के नाम पर इन गुफाओं का नाम ऐलोरा या इलोरा हुआ और कुछ लोगों के मत से ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी में एलिचपुर में 'इलू' नामक एक राजा राज्य करते थे, उन्होंने ही एक भयंकर व्याधि से मुक्त होने के उपलक्ष में इस पर्वत को खुदवाकर इनमें से कुछ गुफाओं का निर्माण करवाया और उन्हीं के नाम पर ये गुफाएँ 'ऐलोरा या 'इलोरा' के नाम से मशहूर हुईं।

ऐलन्स्टन वाशिंगटन

अमेरिका का एक प्रसिद्ध चित्रकार जिसका जन्म सन् १७७९ में और मृत्यु सन् १८४३ ई० में हुई।

ऐलन्स्टन प्रसिद्ध चित्रकार ग्रोरक्को के शिष्य थे। इनकी अधिकांश चित्रकला कृतियाँ बाइबिल की कथाओं के ऊपर आधारित हैं। इनकी शैली वेनिस की चित्र-कला से बहुत कुछ मिलती जुलती है। इनकी कलाकृतियों में देवदूत के द्वारा सेंटपीटर की मुक्ति, जेकोब का स्वप्न इत्यादि कृतियाँ विशेष प्रसिद्ध हैं।

ऐल्सेस लॉरेन

जर्मनी का ५६ सौ वर्गमील का एक क्षेत्र जिसकी पश्चिमी सीमा पर फ्रांस पूर्वी सीमा पर बाडेन तथा दक्षिणी सीमा पर स्विट्जरलैंड है। इस क्षेत्र में लोहा तथा कोयला बहुत अधिक पैदा होता है जो औद्योगिक और सामरिक दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। यह क्षेत्र सैकड़ों वर्षों से यूरोपीय राजनीति में हमेशा झगड़े की जड़ रहा है। फ्रांस और जर्मनी के बीच इस क्षेत्र के लिए हमेशा प्रतिस्पर्धा चलती रही है और शक्ति संतुलन के अनुसार कभी यह फ्रांस के अधिकार में और कभी जर्मनी के अधिकार में आता-जाता रहा है। इस क्षेत्र की जन संख्या १९ लाख से ऊपर है जिसमें ८ प्रतिशत जर्मन और शेष अन्य राष्ट्रीयता के लोग हैं।

ऐल्यूमीनियम

सफेद रंग की एक धातु, जो बरतन बनाने, मकानों के निर्माण करने, हवाई जहाजों और मोटरों के निर्माण करने तथा बिजली के कलपुर्जों के बनाने में उपयोग में ली जाती है।

१९वीं शताब्दी के मध्यकाल तक इस धातु से लोगों का परिचय नहीं था। सन् १८५४ में डेविल (Deville) नामक वैज्ञानिक ने सोडियम और सोडियम क्लोराइड का प्रयोग करके ऐल्यूमिनियम धातु को थोड़ी मात्रा में तैयार की।

मगर इस धातु ने विशेष महत्व तब पकड़ा जब सन् १८८६ में अमेरिका में मार्टिन-हाल ने गले हुए क्रायोलाइट में ऐल्यूमीना घोलकर विद्युत-शक्ति के द्वारा ऐल्यूमीनियम धातु को पृथक किया। इसी वर्ष हेरो (Heroult) नामक वैज्ञानिक ने यूरोप में भी स्वतंत्र रूप से इसी प्रकार की धातु तैयार की। इन्हीं दोनों वैज्ञानिकों के द्वारा अनुसन्धान की हुई प्रणाली हाल-हेरो प्रणाली के नाम से प्रसिद्ध है और इसी विधि से इस समय ऐल्यूमीनियम तैयार किया जाता है।

ऐल्यूमीनियम के अस्तित्व में आने के पश्चात् वजन में हल्की और कीमत में सस्ती होने के कारण इस धातु का प्रचार बड़ी तेजी से विश्वव्यापी हो गया। बर्तनों के सिवाय हवाई जहाजों, मोटरों, मकानों और बिजली के कंडक्टरों में भी इस धातु का बड़ी तेजी से उपयोग होने लगा। अकेले अमेरिका में सन् १९५८ में आवासी इमारतों के निर्माण में २,२१ • टन ऐल्यूमीनियम का उपयोग किया गया था। इसी सफेद, हल्की और चमकदार धातु से अमेरिकन लोग नावों पर मकान बनाते हैं जिसे वे 'बोटहाउस' कहते हैं। नावों पर ये पूरे घर ऐल्यूमीनियम से बनाये जाते हैं और इनका उपयोग नदियों और झीलों पर तैरते हुए होटलों के समान होता है।

भारतवर्ष में भी ऐल्यूमीनियम के कई कारखाने हैं। सबसे बड़ा कारखाना उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में रिहन्द बाँध के नजदीक अमेरिका के प्रसिद्ध उद्योगपति कैसर और भारत के प्रसिद्ध उद्योगपति बिड़ला-बन्धु के सहयोग से "हिन्दुस्तान ऐल्यूमीनियम कारपोरेशन लिमिटेड" के

नाम से खोला गया है। इस कारखाने की प्रारम्भिक उत्पादन क्षमता ऐल्यूमीनियम के २ हजार टन इनगोट प्रतिवर्ष तैयार करने की है।

ऐल्यूमीनियम धातु तैयार करने के लिए दो खनिज पदार्थों की विशेषरूप से आवश्यकता होती है। एक बोक्साइट और दूसरा क्रायोलाइट। बोक्साइट खनिज पदार्थ की खान अमरकण्टक की पहाड़ियों में तथा बालाघाट, जबलपुर राँची बेलगाम कोल्हापुर इत्यादि जिलों में पायी जाती हैं। पहले यहाँ से प्राप्त होने वाला बोक्साइट भारत से ब्रिटेन को भेजा जाता था और वहाँ से उसका ऐल्यूमीनियम तैयार होकर आता था मगर उसके बाद यहाँ पर भी ऐल्यूमीनियम के कारखाने आसनसोल तथा अलवायनगर में खोले गये। मिर्जापुर का कारखाना स्थापित होने के पहले भारत में ऐल्यूमीनियम के इन कारखानों की उत्पादन क्षमता १८ हजार टन वार्षिक थी जब कि यहाँ का खर्च ३० हजार टन वार्षिक था। इस प्रकार उस समय १२ हजार टन ऐल्यूमीनियम विदेशों से मँगाया जाता था।

ऐसस

ईरान का एक शहर जहाँ पर ईरानी सेना की सिकन्दर की सेना से दूसरी टक्कर हुई। दो मील चौड़ी एक घाटी में बसे हुए इस शहर के दक्षिण पश्चिम में इस्कन्दरान की खाड़ी है एक ओर पहाड़ है और दूसरी ओर नदी बहती है। सम्राट दारा तृतीय ने छः लाख सेना लेकर सिकन्दर को दूसरी बार इस नदी पर रोका। छः लाख सेना के अलावा दारा के पास २ हजार सुरक्षित सेना भी थी।

सिकन्दर ने नदी की दाहिनी ओर पहुँच कर नदी पार करना प्रारम्भ किया। ईरानी सेना ने नदी पार करती हुई यूनानी सेना पर आक्रमण किया लेकिन सिकन्दर की सेना नदी पार करने में सफल हो गई। नदी पार होते ही दारा बिना युद्ध के परिणाम की प्रतीक्षा किये ही भाग खड़ा हुआ जिससे सेना की हिम्मत टूट गई। सिकन्दर की बढ़ती हुई सेना ने शिविर में आकर दारा की रानी उसकी माता और उसकी दो कन्याओं को गिरफ्तार कर लिया। इसके कुछ दिनों पश्चात् दारा की पत्नी का सिकन्दर के पड़ाव में ही देहान्त हो गया। सिकन्दर ने सम्मान पूर्वक उसकी अन्त्येष्टि कर दी तथा उसकी एक कन्या को तो सम्मान पूर्वक वापस भेज दिया और बड़ी कन्या स्टेटीरा से शादी कर ली।

ऐसीदन सिरपोल

प्राचीन असीरिया का एक क्रूर राजा जिसका समय ई० पू० ८८४ से ई० पू० ८५९ तक माना जाता है।

यह राजा एदन्दानिरारी का पुत्र था। इसने अपनी सैनिक शक्ति का पुनर्निर्माण कर कई नगर-राज्यों का नाश कर असीरिया की सीमा को अपने पिता से भी अधिक भूमध्य सागर तक बढ़ा लिया। यह राजा बड़ा क्रूर था जिस राजा को जीतता था उसकी आँखें उसके पहले निकलवा लेता था और उसकी रानियों को भी लूट के माल के साथ ले जाता था।

ऐसेनी

यहूदी धर्म का एक साधु-सम्प्रदाय जिसकी स्थापना ईसा की दूसरी शताब्दी के लगभग हुई।

भारत के जैन मुनियों की तरह ऐसेनी-सम्प्रदाय के साधु भी पहाड़ों जंगलों और नदियों के किनारे अपने आश्रम या छोटी छोटी बस्तियाँ बसा कर रहते थे। इस श्रेणी के साधु जीवन भर अविवाहित रहकर तपस्या करते रहते थे। इनकी तपस्या का रूप उग्र होता था। मांस मदिरा और भोगोपभोग की वस्तुओं को छूना भी इनके लिए वर्जित रहता था ये लोग अपना निजी पैसा भी नहीं रख सकते थे। जो भी पैसा आता उस पर समाज का सामूहिक अधिकार होता था और समाज के द्वारा ही इनके खाने पीने और वस्त्र वगैरह की व्यवस्था होती थी।

ऐसेनी सूर्य की उपासना करते थे और वे ईश्वर की दिव्य ज्योति का प्रतिनिधि सूर्य को मानते थे। उपासना के समय हमेशा वे सूर्य की तरफ अपना मुंह रखते थे। सूर्योदय के समय वे समूहबद्ध इकट्ठे होकर सूर्य के सामने मुँह करके यहूदियों के पवित्र मंत्र 'शेमा' का गान करते थे। अपने उच्च चरित्र और त्याग के कारण वे आज तक की दुनिया में बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं।

ईसाई-धर्म के प्रचार के साथ ही इस सम्प्रदाय का धीरे-धीरे अन्त हो गया।

एस्कि

टर्की का एक प्रसिद्ध शहर, जो प्राचीन काल से गंधक मिश्रित गरम जल के झरनों के कारण प्रसिद्ध है।

चर्म रोगों के अनेक रोगी अति प्राचीनकाल से इन स्रोतों में स्नान करके रोगमुक्त होते आये हैं। जलवायु की सुखदता के लिए भी यह नगर मशहूर है इसकी जनसंख्या ८ है।

ऐस्टेर

प्राचीन युग की एक यहूदी सुन्दरी जिसका विवाह ईरान के सम्राट क्षयार्ष प्रथम के साथ हुआ था जिसका शासन-काल ई० पूर्व ४८५ से ४६५ तक था।

ईरान के सम्राट क्षयर्ष प्रथम ने एस्टेर की सुन्दरता पर मोहित हो अपनी पत्नी वास्ती को तलाक देकर एस्टेर से विवाह किया था। इस रमणी का यहूदी नाम हदासाह" था।

बादशाह का वजीर हामान यहूदियों का बड़ा शत्रु था। एक बार उसने समस्त ईरानी सल्तनत में यहूदियों का वध करने की राजाज्ञा निकाल दी। इस पर एस्टेर ने सम्राट से कहा कि "मैं भी यहूदी हूँ क्या मेरा भी वध होगा" इस पर सम्राट ने उस आज्ञा को रद्द करके हामान को प्राणदण्ड दिया।

इस घटना की स्मृति में यहूदी लोग पुरीम नामक त्योहार उसी तारीख को मनाते हैं जिस दिन यहूदियों के वध की राजाज्ञा रद्द की गई थी।

ऐस्टे राजवंश

इटली का एक प्रसिद्ध और प्राचीन राजवंश जिसका शासन ईसा की ग्यारहवीं सदी से अठारहवीं सदी तक था।

इटली के पुनर्जागरण के इतिहास में ऐस्टे-राजवंश का बड़ा प्रमुख स्थान है। करीब दो शताब्दियों तक इस राजवंश का सितारा अत्यन्त गौरवपूर्ण रहा। इस वंश का पहला राजा "आजिट्सोह" था जिसने मार्क्विस की उपाधि ग्रहण की।

इस वंश का प्रतापी राजा तीसरा निकोलस था जिसने कई दूसरे स्थानों पर विजय प्राप्त करके अपने राज्य की सीमाओं को बढ़ाया। इसका समय सन् १३८४ से १४४१ तक था। इसके पश्चात् योर्सो नामक राजा इसकी गद्दी पर बैठा। यह राजा स्वयं विद्याप्रेमी विद्वानों का आदर करने वाला और उदार था। अपने राज्य की औद्योगिक उन्नति में भी इसने बड़ा भाग लिया। इसका राज्यकाल सन् १४७१ तक रहा।

सन् १४७१ से १५०५ तक इस गद्दी का अधिकारी एरकोल प्रथम रहा। इस राजा का मंत्री महाकवि बोइआर्डो था। इसकी रानी बीट्रिस ने इटली के पुनर्जागरण युग में बहुत कीर्ति सम्पादित की।

अलफ़ान्सो प्रथम भी इसी वंश का था जो अपने कलाकौशल सम्बन्धी ज्ञान के कारण प्रसिद्ध था। इसका राज्यकाल सन् १५३४ तक रहा। उसके पश्चात् अल्फ़ान्सो द्वितीय के समय में इस राजवंश का प्रभाव समाप्त हो गया।

ऐस्सेना

एक प्राचीन हूण कबीला जिसमें चीनी-मान्यों के अनुसार तुर्क जाति की उत्पत्ति हुई।

इस कबीले का ऐस्सेना नाम पड़ने का कारण सम्भवतः यह है कि इस कबीले के लोग लोहे के हथियार शान पर चढ़ाने का काम करते थे। सम्भवतः ये मध्य-एशिया के लुहार थे। उस समय ये लोग अल्ताई पर्वत के दक्षिणी भाग में रहते थे और मुडी नी टोपी पहनते थे। इसी से इन्हें तुरुक कहा जाता था तुरुक शब्द ही आगे जाकर "तुर्क" नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इस कबीले के सरदार तूमिन ने जो पहले अवार जाति के आधीन था—अवारों की शक्ति को निर्बल होते देख सन् ५४६ में अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया और इलखान की उपाधि धारण कर राजा बन बैठा। इसी कबीले से तुर्क जाति की उत्पत्ति हुई।

ऐलाबामा

संयुक्त राज्य अमेरिका का एक दक्षिणी राज्य। इस राज्य की जनसंख्या ३१' १२ है।

यह एक कृषिप्रधान राज्य है। यहाँ की प्रधान पैदावार कपास मकई, आलू, मटर और गन्ना है। औद्योगिक क्षेत्र में इस राज्य के अन्तर्गत सूती कपड़ा तथा इस्पात के उद्योग काफी प्रगति पर हैं। इस राज्य के प्रधान नगर बर्मिंघम तथा मांटगोमरी हैं।

ऐस्टेट्स जनरल

फ्रांस में मध्ययुग की एक राज्य सभा जिसकी स्थापना आठवीं सदी में हुई थी और जिसका अधिवेशन १७५ वर्ष बाद फ्रांस की राज्यक्रान्ति के समय ५ मई सन् १७८९ को बुलाया गया था।

सन् १७८८ में जब लैमोन ब्रेसवें लुई का प्रधान मंत्री था उस समय राजकोष की अपार फजूलखर्ची से राज्य का खजाना खाली हो गया था और प्रति वर्ष बारह करोड़ रुपये का घाटा हो रहा था। राज्य पर करोड़ों रुपयों का कर्ज हो रहा था और नया कर्ज मिल नहीं रहा था। इस परिस्थिति पर काबू पाने के लिए सम्राट ने स्वयं दो नये प्रकार के टैक्स जनता पर लगाने का निश्चय किया। हमेशा की तरह इन नये टैक्सों को दर्ज करने के लिए पेरिस के न्यायालय पार्लमा में भेजा गया।

मगर न्यायालय ने इन टैक्सों को दर्ज करने से इन्कार करते हुए स्पष्ट रूप से कहा कि किसी भी नये "स्थिर टैक्स" को लगाने का अधिकार "एस्टेट्स जनरल" नामक जनता की सभा को ही है। दूसरे किसी को नहीं, इसलिए इन टैक्सों को स्वीकृति देने के लिए एस्टेट्स जनरल का अधिवेशन बुलाया जाय।

न्यायालय की इस धृष्टता को देखकर सम्राट ने न्यायालय को बर्खास्त कर दिया और नये न्यायालय की स्थापना कर दी मगर अब परिस्थिति इतनी खराब हो गई थी कि सम्राट का उस पर वश नहीं रहा। अन्त में उसे मजबूर होकर "एस्टेट्स जनरल" का अधिवेशन बुलाना पड़ा।

एस्टेट्स जनरल का यह अधिवेशन ही फ्रांस की राज्यक्रान्ति का श्रीगणेश था। इसके पहले कोई नहीं जानता था कि एस्टेट्स जनरल क्या चीज है और उसकी स्थापना कब हुई थी। क्योंकि १७५ वर्षों से उसका कोई अधिवेशन नहीं बुलाया गया था। अन्त में जब खोज हुई तो पता लगा कि जिस समय फ्रांस में फ्यूडल या सामन्तशाही प्रथा चल रही थी, उस समय अर्थात् आठवीं-नौवीं शताब्दी से ही इस सभा की स्थापना हुई थी और समय समय पर इसके अधिवेशन हुआ करते थे। इस सभा के तीन विभाग थे। पहला विभाग पादरियों का, दूसरा सामन्त और कुलीन लोगों का और तीसरा साधारण जनता का। तीनों श्रेणियों के सदस्यों की संख्या बराबर हुआ करती थी और एक विभाग का एक वोट समझा जाता था। किसी भी विषय का निर्णय बहुमत से होता था। कहना न होगा कि अक्सर उस समय की परिस्थिति के अनुसार पादरियों और कुलीन लोगों का एक मत होने से इस सभा के निर्णय प्रायः उन्हीं के पक्ष में हुआ करते थे।

मगर इस समय अर्थात् सन् १७८८ में जमाना बहुत बदल चुका था। लोगों की माँग थी कि पादरियों और कुलीन लोगों से हम लोगों की संख्या बहुत अधिक है। इसलिए हमारे वोट भी अधिक होना चाहिए। तब इस सभा में पुरोहित और कुलीन दोनों श्रेणियों के सम्मिलित प्रतिनिधियों की संख्या के बराबर साधारण जनता के भी ६ प्रतिनिधि स्वीकृत किये गये, मगर फिर भी वास्तविक समस्या का हल नहीं हुआ। क्योंकि सदस्यों की संख्या बढ़ जाने पर भी हरएक सदन का एक ही वोट गिना जाता था और जिधर दो वोट पड़ जावें उधर ही निर्णय होता था। इस प्रकार पादरी और कुलीन लोगों के दो वोट के मुकाबिले जनता के सदन का एक ही वोट माना जाता था। इसके लिए भी जनता ने आन्दोलन किया मगर प्रधान मंत्री नेकर ने उसे स्वीकार नहीं किया।

इसके साथ ही जनता को यह भी अधिकार दिया गया कि पुराने रिवाज के अनुसार सरकार और शासन से उसे जो भी शिकायत हो उसे लिखकर भेजे। ऐसी शिकायतों को फ्रेञ्च भाषा में काहियर (Cahiers) कहा जाता था। उस समय के लोगों ने इस अवसर का पूर्ण लाभ उठाया जिसके परिणामस्वरूप पहुँचे हुए शिकायती

पत्रों में से १०० पत्र अभी भी सुरक्षित हैं जिन से उस समय की जनता की मनोभावनाओं का पता लगता है।

मगर एस्टेटस जनरल का यह अधिवेशन भी सम्राट की सरकार और जनता के बीच की खाई को न पाट सका। यह प्रतिदिन चौड़ी होती गई और अन्त में उसका विस्फोट फ्रांस की भीषण राज्यक्रान्ति के रूप में हुआ जिसमें सम्राट, सम्राज्ञी, हजारों राजवंश के कुलीन पुरुष और साधारण जनता का भी भयंकर मार्स नाश हुआ।

(ओ-औ)

ओकलैण्ड

संयुक्त राज्य अमेरिका के कैलिफोर्निया राज्य का एक नगर जहाँ की जनसंख्या चार लाख के करीब है। ओकवृक्षों का आधिक्य होने से इसका नाम ओकलैण्ड पड़ा।

ओकलैण्ड रेलवे, हवाई जहाज तथा जलयानों का एक बड़ा केन्द्र है। यह एक औद्योगिक नगर है। यहाँ पर मोटर, रासायनिक सामग्री बिजली की मशीनें इत्यादि कई प्रकार के उद्योग चलते हैं। द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् इस नगर ने बहुत उन्नति की।

ओकाम्पो विक्टोरिया*

महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर की उत्तर जीवन की प्रेमिका जो दक्षिण अमेरिका के अर्जेन्टाइना प्रान्त की निवासिनी थी। महाकवि ने बाद में इसका नाम "विजया-विक्टोरिया" रक्खा और अपना "पूरबी" नामक काव्य इसी प्रेमिका के नाम पर समर्पित किया।

ओकाम्पो विक्टोरिया का जन्म अर्जेन्टाइना के एक अभिजात-वंश में हुआ था। ओकाम्पो विक्टोरिया बहुत सुन्दर, विदुषी और कोमलहृदया थी। वह कई भाषाओं की जानकार थी और स्पेनिश भाषा की एक प्रसिद्ध पत्रिका की सम्पादिका थी।

रवीन्द्रनाथ के साथ उनका साक्षात्कार जैसा आकस्मिक था वैसा ही रोमांचकर भी था। श्रीमती ओकाम्पो रवीन्द्रनाथ की काव्य प्रतिभा से विशेषकर गीतांजलि काव्य के फ्रेंच और स्पेनिश अनुवादों से अत्यन्त प्रभावित हुई थी और बिना देखे जनजाने ही उनका मन महाकवि के व्यक्तित्व के प्रति आकृष्ट हो गया था।

दैवयोग से सन् १६२४ में महाकवि रवीन्द्रनाथ स्वतंत्रता प्राप्ति के शताब्दी समारोह के अवसर पर पेरू की सरकार के द्वारा आमन्त्रित किये गये और वे उसी उत्सव में सम्मिलित होने के लिए पेरू जा रहे थे। व्यवस्था इस प्रकार की गई थी कि Buonos Aircs (ब्यूनोस एरिस) बन्दरगाह पर उनका जहाज कुछ समय तक रुकेगा। यह सुनकर ओकाम्पो अत्यन्त आनन्दित हुई और उनकी हृदय तंत्री के तार प्रेम के आवेग से झंकृत हो उठे।

सन् १६२४ की छः नवम्बर को रवीन्द्रनाथ का जहाज ब्यूनोस एरिस बन्दरगाह पर पहुँचा और होनहार की लीला, रवीन्द्रनाथ वहीं पर अस्वस्थ पड़ गये और डाक्टरों ने उन्हें पेरू की यात्रा करने से मना कर दिया।

उसी समय श्रीमती ओकाम्पो ने वहाँ पर पहुँचकर कवि की सुरक्षा का सारा भार अपने ऊपर ले लिया और शहर से बाहर सानइसिड्रो नामक सुन्दर स्थान पर मिरालारियो नामक शानदार महल में रवीन्द्रनाथ को ठहरा दिया। महल का निर्जन वातावरण कवि के स्वास्थ्य के लिए बहुत अनुकूल था। महल के चारों ओर रमणीय पुष्प-वाटिका थी। इस रम्य मण्डप के मोहक वातावरण में ओकाम्पो की देखभाल सेवा और मधुर वार्तालाप से कवि को अर्धवर्णीय विश्राम मिला।

वृद्धावस्था की दहलीज पर पैर रख देने पर भी कवि का काव्यरस परिपूर्ण हृदय इस अनुरागिनी मानसी को पाकर एक बार फिर नवीन यौवनरस से भर उठा। जीवन की गोधूलि-वेला में इस प्रणयिनी ने "शेष पुजारिणी" के रूप में उनके जीवन में प्रवेश किया तो कवि विरमित नहीं हुए।

* श्रीमती लावण्य प्रभा राय के एक लेख के आधार पर।

विधाता का अनुपम आशीर्वाद समझकर कवि फिर एक बार यौवनरस से भरपूर हो उठे। उनका यौवनराग इस नारी के प्रेमदान से अनुप्राणित हो गया।

आयु की दृष्टि से महाकवि ओकाम्पो से काफी बड़े थे परन्तु और सभी बातों में ये दोनों आत्माएँ समान धर्मी थीं। आयु की बाधा को उपेक्षा कर दोनों एक दूसरे के प्रेम सूत्र में बँध गये। कवि ने अपनी प्रेमिका का नाम "विजया विक्टोरिया" रखा और अपना पूरबी नामक काव्य उसको समर्पित किया।

ओंकार मान्धाता

मध्य प्रदेश में नीमाड़ जिले के अन्तर्गत नर्मदा नदी का मध्यवर्ती एक द्वीप जो बड़वाह स्टेशन से दस मील की दूरी पर पड़ता है। यहाँ पर भगवान् शङ्कर का ज्योतिर्मय रूप ओंकार के रूप में स्थित है।

ओङ्कार-लिंग बहुत प्राचीन है। शिवपुराण पद्म पुराण लिंगपुराण इत्यादि कई पुराणों में इसका उल्लेख मिलता है।

शिवपुराण में इस लिंग की स्थापना का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "एकबार महर्षि नारद गोकर्णतीर्थ से विन्ध्य-पर्वत पर आये थे। विन्ध्य ने उनकी बड़ी भक्ति के साथ पूजा की। नारद ने प्रसन्न होकर कहा कि विन्ध्य तुम्हारे पास और तो सब कुछ है पर देवता का वास तुम्हारे पर नहीं है मेरु पर्वत तुम्हारी अपेक्षा ज्यादा भाग्यवान् है क्योंकि उस पर देवताओं का वास है।"

यह सुनकर "विन्ध्य को बड़ा दुःख हुआ और वह शिव की तपस्या करने उसी स्थान पर आया जहाँ इस समय ओंकार का मन्दिर बना हुआ है। यहाँ पर उसने मिट्टी की एक शिव की मूर्ति बनाई और छः महीने तक एकाग्र भाव से कठोर तपस्या की। इस पर शंकर प्रसन्न हुए और विन्ध्य से इच्छानुसार वर माँगने को कहा। विन्ध्य ने कहा हे भगवान्! आप अपने ज्योतिर्मय ओङ्कार रूप में मुझे दर्शन दें।" जब भगवान् शिव ने अपना ज्योतिर्मय ओंकाररूप धारण किया तो उसी समय देवों और ऋषियों ने वहाँ आकर उनका पूजन किया और उनसे उसी रूप में वहीं रहने की प्रार्थना की।

इस प्रकार भगवान शंकर ओंकाररूप में यहाँ स्थापित हुए। उनका एक रूप ओंकाररूप में और दूसरा पार्थिव लिंग के रूप में विभक्त हुआ। ओंकारमूर्ति का नाम सदाशिव और पार्थिव लिंग का नाम अमरेश्वर है। आजकल द्वीप के मध्यभाग में ओंकार लिंग का और नदी के दक्षिण भाग में अमरेश्वर का मन्दिर है। यहाँ के पुजारी ओंकार को आदिलिंग कहते हैं। वेदान्तसार में भी ओंकार को आदिदेव बतलाया गया है।

तीर्थयात्री प्रायः ज्योतिर्लिंगों के दर्शन करने की इच्छा से आकर पहले ओंकार-मान्धाता और पीछे शिव के पार्थिवलिंग अमरेश्वर के दर्शन करते हैं। पश्चिमी भारत के शास्त्रज्ञ पण्डित इसी ओङ्कार मूर्ति को ईश्वर का प्रकृत लिंग मानते हैं।

पौराणिक परम्परा के अनुसार राजा मान्धाता ने यहीं पर भगवान् ओंकारेश्वर से प्रार्थना कर "मान्धाता" का विरुद ग्रहण किया, परन्तु उनका नाम "वैदूर्य शैल" था।

इस मान्धाता द्वीप में प्रायः सभी शिव मन्दिर हैं। मगर इससे थोड़ी दूर उत्तर नर्मदा के किनारे अनेक विष्णु और जैन-मन्दिर भी बने हुए हैं।

पहले यह स्थान भील राजाओं के अधिकार में था। उसके बाद यह चौहान राजाओं के अधिकार में आया। कहा जाता है कि इन चौहानों का आदिपुरुष "भारत सिंह" नामक एक राजा था। सन् ११६५ में उसने यहाँ के राजा नाथ भील को हराकर इस क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। बाद में नाथू भील की कन्या से उसने विवाह भी कर लिया। आज भी ओंकारेश्वर से थोड़ी दूर पहाड़ के ऊपर में कई प्राचीन मन्दिर नाथ भील के वंशधरों के अधीन हैं। आधुनिक काल में यह मन्दिर पहले इन्दौर-राज्य के अन्तर्गत था तथा अब मध्यप्रदेश में है।

ओंकारनाथ ठाकुर (*संगीत मार्तण्ड*)

भारतीय संगीत के एक सुप्रसिद्ध संगीतकार। इनका जन्म २४ जून सन् १८९७ ई० को बड़ौदा रियासत के जहाजग्राम नामक स्थान पर हुआ।

पंडित ओंकारनाथ के पितामह का नाम पं० महाशंकर ठाकुर था, जिन्होंने सन् १८५७ की आज़ादी की लड़ाई में नाना साहब पेशवा के साथ अग्रगण्य भाग लिया था और संकटकाल उपस्थित होने पर नाना साहब के परिवार को नेपाल पहुँचाने का भार भी उन्हीं को सौंपा गया था।

पं० ओंकारनाथ के पिता पं० गौरीशंकर ठाकुर शुरू-शुरू में बड़ौदा रियासत में २ सौ घुड़सवारों के सरदार रहे मगर उसके बाद उनको योगाभ्यास की धुन लग गई और अन्त समय में गृहस्थी के ताने-बाने को छोड़कर परम योगी के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

पं० ओंकारनाथ की संगीत सम्बन्धी शिक्षा-दीक्षा भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध संगीत साधक पं० विष्णुदिगम्बर पलुस्कर के संरक्षण में बंबई के 'गान्धर्व महाविद्यालय' में प्रारंभ हुई। अपनी रुचि के अनुकूल क्षेत्र मिल जाने के कारण उनकी संगीत प्रतिभा का तेज़ी के साथ विकास होने लगा। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण शक्ति से दिन भर में १८-१८ घंटे तक संगीत की अनवरत साधना की।

सन् १९१८ में जालन्धर के 'हरवल्लभ' के मेले में भारत के प्रसिद्ध संगीताचार्य पं० भास्करराव बखले के साथ चार दिन तक पं० ओंकारनाथ की संगीत-प्रतियोगिता चली। पं० ओंकारनाथ की साधना को देखकर स्वयं आचार्य बखले बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि अब मैं तुम्हारे ऊपर बैठकर नहीं गाऊँगा।

सन् १९२२ में पं० ओंकारनाथ का श्रीमती इन्दिरा भट्ट के साथ विवाह हुआ और उसके साथ ही उन्हें गृहस्थाश्रम की आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

नेपाल-यात्रा

उन दिनों महाराजा चन्द्र शमशेरजंग बहादुर राणा के राज्यकाल में नेपाल विविध प्रकार की कला-कृतियों का केन्द्र बना हुआ था। पं० ओंकारनाथ भी अपनी आर्थिक दशा के सुधारने के उद्देश्य से बड़ौदा के दीवान सर मनुभाई मेहता से नेपाल के राणा के नाम पर एक पत्र लेकर अनेक कठिनाइयों को झेलते हुए नेपाल जा पहुँचे। नेपाल के दरबार में पं० ओंकारनाथ ने अपनी संगीत-कला का जो अद्भुत प्रदर्शन किया, उससे सारा दरबार मंत्रमुग्ध हो गया और नेपाल के राणा ने प्रसन्न होकर ५ हज़ार रुपयों का एक मञ्च बनवा कर उस पर पं० ओंकारनाथ को बिठाकर वह धनराशि उनको प्रदान की।

सन् १९३ में भीम शमशेरजंग बहादुर राणा के यहाँ विवाहोत्सव का निमन्त्रण पाकर पं० ओंकारनाथ ने दूसरी बार नेपाल की यात्रा की। इसी यात्रा के समय उनके गुरु पं० विष्णुदिगम्बर भी नेपाल आये हुए थे। इस यात्रा में नेपाल के दरबारी संगीतकार पं० बालाप्रसाद के साथ पं० ओंकारनाथ की ज़बर्दस्त प्रतियोगिता हुई। उसमें पं० ओंकारनाथ को पूर्ण विजयी घोषित किया गया और महाराजा ने स्वयं अपने हाथों से उनके गले में विजय माला पहनायी।

योरोप-यात्रा

सन् १९३३ ई० में पं० ओंकार नाथ ने पहली बार योरोप-यात्रा करके इटली के फ्लोरेंस नगर में होने वाली 'इंटर नेशनल म्युज़िक कान्फ्रेंस' में अत्यन्त सफलता के साथ भारतीय संगीत का प्रतिनिधित्व किया और अन्तर्राष्ट्रीय कला के क्षेत्र में सम्माननीय स्थान प्राप्त किया।

इटली के तत्कालीन कर्णधार मुसोलिनी के सामने भी पं० ओंकारनाथ का संगीत हुआ और उन्होंने इनके स्वर चमत्कारों को सुनकर उन्हें स्वरलिपि में उतार लेने के लिए रोम की 'रायल एकेडेमी ऑफ म्युज़िक' के प्रिंसिपल को आदेश दिया था।

इसके बाद जर्मनी, हालैंड, बेल्जियम, फ्रांस, स्विटज़रलैंड और इंगलैंड सभी स्थानों पर भारतीय संगीत की उच्चता और महत्ता का इन्होंने प्रदर्शन किया।

योरोप से वापस लौटकर उन्होंने बंबई में 'संगीत निकेतन' नामक एक विद्यालय की स्थापना की और समस्त भारतवर्ष में साल भर में करीब ४ हज़ार मील की यात्राएँ करके स्थान-स्थान पर भारतीय संगीत की प्रतिष्ठा स्थापित की।

सन् १९५० में पं. ओंकारनाथ ठाकुर काशी-हिन्दू विश्वविद्यालय में 'कला-संगीत-भारती' नामक संगीत-महाविद्यालय के अध्यक्ष बने। इस संस्था की स्थापना से उत्तर भारत के संगीत—क्षेत्र में एक नवीन अध्याय का प्रारंभ हुआ। क्योंकि किसी विश्वविद्यालय में एक पूरे कालेज के रूप में संगीत की शिक्षा को स्थान मिलने का यह पहला अवसर था। संगीत में स्वतन्त्र रूप से स्नातक तथा स्नातकोत्तर उपाधियों के लिए तथा अनुसन्धान-कार्यों के लिए इससे पूर्व किसी विश्वविद्यालय में स्थान न था।

अपने इस शिक्षण-कार्य में पं. ओंकारनाथ को बहुत बड़ी सफलता मिली और उनके द्वारा शिक्षित किये हुए सैकड़ों स्नातक समस्त भारतवर्ष में प्राय: प्राचीन भारतीय संगीत का प्रचार कर रहे हैं।

इसके पश्चात् भारत के आजाद होने पर इन्होंने सन् १९५२-५३ तथा ५४ में विदेशों की यात्राएँ कीं।

पं. ओंकारनाथ की संगीत कला गुरु-परंपरा से ग्वालियर के भारतप्रसिद्ध संगीतकार खाँ साहब हद्दूहस्सू खाँ के घराने से संबन्ध रखती है। पं. ओंकारनाथ के दादागुरु पं. बालकृष्ण बुवा इस भारतविख्यात गायकी को महाप्रयास से महाराष्ट्र में लाने वाले पहले व्यक्ति थे। उनके शिष्य पं. विष्णुदिगम्बर से इस गायकी की शिक्षा पं. ओंकारनाथ ने प्राप्त की। ख्याल-गायकी ही इस परंपरा की विशेषता है। किन्तु स्वर की स्थिरता और लय की विविधता की साधना के लिए ध्रुपद-अंग की शिक्षा भी इसमें आवश्यक मानी गई है।

पं. ओंकारनाथ मुख्यतः ख्याल गायक होते हुए भी ध्रुपद अंग और ठुमरी अंग का उत्तम प्रदर्शन कर सकते हैं। पं. विष्णुदिगम्बर ने भजन गान की जो नई शास्त्रीय परंपरा चलाई थी, उसे ही आगे बढ़ाकर पं. ओंकारनाथ ने अपनी एक ऐसी व्यक्तिगत शैली का विकास किया जिसने उन्हें इस क्षेत्र में अद्वितीय बना दिया। उनके 'जोगी मत जा मत जा मत जा', 'मैया मोरी, मैं नहिं माखन खायो', 'कन्हैया याद करो मोरी बार' इत्यादि एक एक भजन अकेले ही उनकी कीर्ति को अमर बना देने में पर्याप्त हैं। 'वन्दे मातरम्' गान के अन्दर भी पं. ओंकारनाथ ने अपनी दिव्य स्वर-योजना के द्वारा नवीन ओज और प्रगाढ़ देशभक्ति की भावना को भरकर उसे द्विगुणित अमर बना दिया।

इस प्रकार पं. ओंकारनाथ ने अपने विलक्षण व्यक्तित्व के प्रभाव से भारतीय संगीतकला को एक नया मोड़ देने में पूर्ण सफलता प्राप्त की।

सन् १९५७ ई. में पं. ओंकारनाथ हिन्दू-विश्वविद्यालय से रिटायर्ड (सेवा-निवृत्त) हुए और सन् १९६१ ई० को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के द्वारा उन्हें डाक्टरेट की ऑनरेरी उपाधि प्राप्त हुई।

पं. ओंकारनाथ ने भारतीय शास्त्रीय संगीत विद्या के कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। इन ग्रन्थों में 'संगीतांजलि' और 'प्रणव भारती' नामक दो ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं। संगीतांजलि के अब तक ६ भाग प्रकाशित हो चुके हैं। कुल १ भागों में समाप्त होने की इसकी योजना है और प्रणव भारती का पहला खण्ड प्रकाशित हो चुका है और दो खंड और भी प्रकाशित होने की आशा है।

ओकूनी

जापान के शिन्तो मन्दिर की प्रसिद्ध नर्तकी जो काबुकी नामक ऐतिहासिक नाटकों में अभिनय करती थी। इसका पहला अभिनय सन् १६०३ में क्योटो में हुआ था।

ओखा

भारतवर्ष के सौराष्ट्र भाग का एक बन्दरगाह और प्रदेश जिसके उत्तर में कच्छ की खाड़ी, पश्चिम में अरब समुद्र और पूर्व तथा दक्षिण में एक दलदली-क्षेत्र है जो इसे नवानगर से अलग करता है।

ओखा एक द्वीप की तरह है जिसका क्षेत्रफल २१ वर्ग मील है।

यह क्षेत्र पहले दूसरी शताब्दी से छठी शताब्दी तक हेरोल राजपूतों—जिन्हें चावड़े भी कहते थे—के अधिकार में रहा। छठी शताब्दी में वाढेल राजपूतों ने इसे जीतकर हेरोलों को यहाँ से निकाल दिया। वाढेल वंश का पहला राजा अभयसेन था। इसी वंश में आगे चलकर कनक

सेन नामक जैन राजा हुआ जिसने कनकपुरी नामक नगरी बसाई जो बाद में कसाई के नाम से प्रसिद्ध हुई। यह नगरी पहले ओसा-मलमल के व्यवसाय की केन्द्र थी। अब तो यह एक छोटे गाँव के रूप में है। कनकसेन के बनाये हुए कई जैन-मन्दिर अब खण्डहर की स्थिति में पड़े हुए हैं।

चावड़ों के पश्चात् यहाँ पर राठौर-वंशीय वेराजजी का शासन प्रारम्भ हुआ। इस वंश की नौ पुश्तों ने करीब १२ वर्ष तक यहाँ राज्य किया। राज्य के साथ-साथ ये लोग यात्रियों के जहाजों को लूटने का भी काम करते थे। इससे अहमदाबाद के मुसलमान सुल्तान इनसे नाराज रहते थे। कई बार मुसलमानी फौजों से इनकी टक्कर भी हुई। राठौरों के पश्चात् इस क्षेत्र पर वाघेरों का अधिकार हुआ।

इसके बाद अंगरेजों और वाघेरों में टक्कर होती रही। सन् १८५७ के विद्रोह के समय भी वाघेरों ने उपद्रव किया था। अन्त में सन् १८६७ ई. में मेजर रेनाल्ड्स ने अन्तिम बार उन्हें परास्त किया। इसके बाद इन लोगों ने कभी सिर नहीं उठाया।

सन् १९४२ में भारत के प्रसिद्ध उद्योगपति बिड़ला बदर्स ने ओखामण्डल में 'हिन्दुस्तानमोटर्स' के नाम से विलायत से आने वाले मोटर के पुरजों को जोड़ कर मोटरें तैयार करने की एक फैक्टरी खोली थी। मगर बाद में इस फैक्टरी का विस्तार कर मोटरों के प्रायः सभी पुर्जे यहीं तैयार करने के लिए उन्होंने कलकत्ता में एक विशाल प्रतिष्ठान चालू किया।

—

ओगोताई

सुप्रसिद्ध विजेता चंगेज खाँ का पुत्र चीन में मंगोल राज्य का संस्थापक, जिसका समय सन् १२२९ से सन् १२४१ तक है।

चंगेज खाँ की मृत्यु के पश्चात् सन् १२२९ में नये 'खगान' (सरदार) को चुनने के लिए मंगोलों की 'कुरिल-ताई' नामक महापरिषद् की बैठक हुई और उसने सर्व सम्मति से 'ओगोताई' को अपना 'खगान' चुन लिया।

उस समय चीन में 'किन' राजवंश का शासन चल रहा था। मगर मंगोलों के रात-दिन होने वाले आक्रमणों से यह साम्राज्य बहुत कमजोर हो गया था और इसके सम्राट् मंगोलों से सुलह करना चाहते थे, मगर मंगोल एक ही समय में दो सम्राट मानने के खिलाफ थे। इसलिए उन्होंने किन-राजवंश पर आक्रमण करके सन् १२३४ ई. में इस वंश को खतम कर दिया।

उसके पश्चात् दक्षिणी चीन में सुंग-राजवंश का शासन चल रहा था। मंगोल लोग इस राजवंश को भी समाप्त करना चाहते थे। सन् १२३६ ई० में मंगोलों ने सुंग राज्य पर आक्रमण करके उनकी प्रधान नगरी 'सियांग यांग' पर अधिकार कर लिया।

सन् १२३६ ई. में अपनी राजधानी 'काराकोरम' में ओगोताई ने पहले पहल एक विशाल महल का निर्माण करवाया जिसके निर्माण में बहुत परिश्रम किया गया। चीनी कलाकारों ने उसे मूर्तियों और चित्रों से अलंकृत किया। उसके चारों ओर बगीचे लगे हुए थे और चारों दिशाओं में चार बड़े-बड़े दरवाजे थे जिनमें से एक दरवाजा सम्राट् के लिए, दूसरा राजकुमारों के लिए, तीसरा रानियों के लिए और चौथा साधारण जनता के लिए था।

अपने राज्य के ११ वें वर्ष में ओगोताई के सेनापति 'बातू' की सेना ने कियेफ नामक प्रसिद्ध नगर का संहार कर वहाँ की सारी कला को नष्ट कर दिया।

सन् १२४१ ई. में मंगोल-सेना यूरोप की ओर बढ़ती हुई आ रही थी। 'लिगनित्ज' नामक नगर के पास ड्यूक हेनरी द्वितीय अपनी २ हजार सेना के साथ उनका मुकाबला करने के लिए तैयार था। ९ अप्रैल सन् १२४१ को यह लड़ाई हुई जिसने यूरोप के भाग्य का फैसला कर दिया। मंगोल लोग इस लड़ाई में हार गये और उन्हें वापस जाना पड़ा।

फिर भी ओगोताई के शासन-काल में मंगोल-साम्राज्य 'एड्रियाटिक समुद्र' और 'ओडेर नदी' के तट तक फैल चुका था।

११ दिसंबर सन् १२४१ में ओगोताई की मृत्यु हो गई।

—

ओटो महान्

जर्मनी का एक प्रतापी सम्राट् जिसका राज्यकाल सन् ९३६ से प्रारम्भ हुआ।

प्रतापी सम्राट् शार्लमेन महान्' की मृत्यु के पश्चात् उसका विस्तृत साम्राज्य पूर्वी (जर्मनी) और पश्चिमी (फ्रान्स) दो भागों में विभक्त हो गया। उसके पश्चात् जर्मनी राज्य पर कोई प्रभावशाली राजा न होने से जर्मन राज्य कई छोटी-छोटी डचियों, रियासतों में विभक्त हो गया।

सन् ९३६ में जर्मनी की गद्दी पर ओटो प्रथम आसीन हुआ। यूरोप के इतिहास में यह भी एक प्रतापी सम्राट हुआ। यद्यपि इसने जर्मनी की भिन्न-भिन्न रियासतों (डचियों) को खतम नहीं किया पर उन सब रियासतों का अधिकारी अपने भाई-भतीजों को बना दिया। उसका भाई हेनरी बवेरिया का ड्यूक बन गया। दूसरा भाई लोरेन का ड्यूक बन गया। इस प्रकार चारों ओर होने वाले विद्रोह को उसने शान्त कर दिया।

जर्मनी की उत्तर पूर्वी सीमा पर बसने वाली स्लाव-जातियों ने अभी तक ईसाई धर्म अंगीकार नहीं किया था और वे बराबर जर्मनी पर आक्रमण करती रहती थीं। ओटो ने इन्हें युद्ध में भी परास्त किया और धर्म केन्द्रों की स्थापना कर इन्हें ईसाई भी बनाया।

लाग्मफर्ड की लड़ाई में ओटो ने हंगेरियन लोगों को परास्त किया और उन्हें जर्मनी की सीमा के बाहर मार भगाया। इसी समय बवेरिया डची का एक अंश अलग बनाया गया। इसीसे आगे चलकर आस्ट्रियन साम्राज्य की उत्पत्ति हुई।

जिस समय ओटो गद्दी पर बैठा उस समय इटली और पोप की दशा बड़ी शोचनीय हो रही थी। उत्तर दिशा से सैनिक सरदार आकर समय समय पर इटली के राजा बन बैठते थे। इसके साथ ही इटली पर मुसलमानों के आक्रमण भी प्रारम्भ हो गये थे जिससे चारों ओर अराजकता फैली हुई थी। यह दशा देख कर "ओटो ने इटली के मामले में हस्तक्षेप करने का निश्चय किया और सन् ९५१ में वह इटली गया। वहाँ के किसी राजा की विधवा से उसने अपनी शादी की और वहाँ के विद्रोह का दमन किया जिससे यह इटली का राजा माना जाने लगा। हालांकि अभी तक इटली की गद्दी पर इसका बाकायदा राज्याभिषेक नहीं हुआ था।

दस वर्ष पश्चात् पोप ने शत्रुओं से रक्षा करने के लिए इसे फिर बुलाया। ओटो ने वहाँ जाकर सब शत्रुओं का दमन किया। इस बार अर्थात् सन् ९६२ में इटली की राज्यगद्दी पर इसका बाकायदा राज्याभिषेक हुआ।

यूरोप के तत्कालीन इतिहास में यह एक महान् घटना मानी जाती है। ओटो इतना प्रतापी और समर्थ था कि उसने इन सारी जिम्मेदारियों को बड़ी कुशलता के साथ निभाया, मगर आगे उसके उत्तराधिकारी इस भार को नहीं सँभाल सके और ओटो के थोड़े समय बाद ही इटली और पोप फिर से स्वतंत्र हो गये।

ओटो आफ्जविक

तेरहवीं शताब्दी में जर्मनी का गेल्फ् वंशीय सम्राट जिसको पोप इन्नोसेंट तृतीय ने सन् १२ १ सम्राट् की पदवी से विभूषित किया।

उन दिनों जर्मनी में होहेन्स्टाफेन और गेल्फ-वंश की बड़ी प्रतिस्पर्द्धा चलती थी।

संसार भर में अपने साम्राज्य की स्थापना का स्वप्न देखने वाला महत्वाकांक्षी होहेन्स्टाफेन-वंश का राजा हेनरी षष्ठ जब केवल बत्तीस वर्ष की अवस्था में मर गया तो होहेन्स्टाफेन-वंश के उत्तराधिकारियों में फ्रेडरिक द्वितीय नामक सिर्फ एक बालक रह गया।

इधर गेल्फ-वंश का सिंह हेनरी का लड़का ओटो आफ्ज-विक भी सम्राट बनने का उम्मीदवार था। कोलोन के आर्क-बिशप ने एक सभा करके ओटो आफ्जविक को सम्राट् घोषित कर दिया। तब दोनों सम्राटों ने पोप इन्नोसेंट तृतीय से इस विवाद को हल करने में सहायता माँगी। पोप ने "ओटो आफ्जविक" को ही सम्राट् स्वीकार कर लिया।

इसी समय जर्मनी में गृहयुद्ध छिड़ गया जो बहुत दिनों तक चलता रहा। इसी बीच ओटो-आफ्जविक के सब समर्थक उसके विरुद्ध हो गये। पोप इन्नोसेंट भी उसके विरुद्ध हो गया। फलस्वरूप "ओटो आफ्जविक" को गद्दी

जर्मनी पर्यो और सन् १२१२ में होहेन्स्टफेन-वंश का फ्रेडरिक द्वितीय, पुन जर्मनी की राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ।

ओटो

इटली का एक प्रसिद्ध इतिहासकार जो तेरहवीं शताब्दी में हुआ। इस इतिहासकार ने उस समय के जर्मन-सम्राट होहेन्स्टफेन वंशीय फ्रेडरिक प्रथम की जीवनी ऐसे ढंग से लिखी जिसमें तत्कालीन संसार के इतिहास का विवरण बड़े मनोरंजक ढंग से मिलता है।

इस ग्रन्थ से तेरहवीं शताब्दी के मध्यकालिक यूरोप की स्थिति का पूरा-पूरा पता चलता है।

ओटावा

कनाडा देश की राजधानी और वहाँ का प्रसिद्ध नगर जो सन् १८५८ तक "बाइटाउन" के नाम से प्रसिद्ध था और उसी वर्ष कैनाडा की राजधानी चुने जाने से ओटावा नदी के किनारे पर अवस्थित होने से इसका नाम "ओटावा" रक्खा गया। तब से इस नगर की रौनक दिन-दिन बढ़ती जा रही है।

ओटावा नगर कैनाडा में रेलों का एक प्रमुख रेलवे जंक्शन है। कनाडा के बड़े बड़े रेल-पथ जैसे कैनाडियन नेशनल रेलवे, कैनाडियन पैसेफिक रेलवे, न्यूयार्क सेन्ट्रल रेलवे की लाईनें यहीं से होकर गुजरती हैं। बिजली की शक्ति से चलने वाली रेलें भी इस नगर को अन्य कई महत्व पूर्ण केन्द्रों से जोड़ती हैं।

ओटावा कागज और लकड़ी से सम्बन्धित उद्योगों का एक बड़ा केन्द्र है। राजधानी होने से कई बड़ी-बड़ी सरकारी इमारतों, पार्लमेंट हाउस गिरजाघर तथा युनिवर्सिटी के भवनों से यह शहर सुशोभनीय है। इसकी जन संख्या सन् १९३१ में १२६८७२ थी।

ओडो

ईस्वी सन् ८८८ में पश्चिमी फ्रांक (फ्रांस) का राजा जिसको फ्रांक लोगों ने मोटे चार्ल्स को हटाकर पश्चिमी फ्रांस की गद्दी पर बिठाया।

'ओडो' पेरिस का काउन्ट और एक प्रभावशाली जमींदार था। यह बहुत पराक्रमी और बड़ी लम्बी-चौड़ी स्टेट का मालिक था। फिर भी दक्षिण में उसके शासन को कोई नहीं मानता था। उत्तर में भी उसे बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। कुछ समय पश्चात् उसके विरोधियों ने उसको गद्दी से हटाकर गंजे चार्ल्स के पुत्र सीधे चार्ल्स को गद्दी पर बिठा दिया।

इसके पश्चात् करीब दो वर्ष तक चार्ल्स और ओडो के वंशधरों में गद्दी के लिए प्रतिस्पर्धा चलती रही।

ओडेसर

ईसा की पाँचवीं शताब्दी में जर्मन (गाथ) सेना का एक सरदार जिसने सन् ४७६ में पश्चिमीय रोम के सम्राट को अपदस्थ करके वहाँ के राजदण्ड और छत्र को पूर्वीय रोम सम्राट के पास कान्स्टेंटिनोपल भेज दिया।

सन् ४७६ पश्चिमीय रोम साम्राज्य के पतन का वर्ष माना जाता है और इसी वर्ष से वहाँ पर मध्ययुग का प्रारम्भ माना जाता है। गाथ-जाति के सरदार ओडेसर ने रोम के पश्चिमीय सम्राट को हराकर वहाँ के राजदण्ड, छत्र इत्यादि प्रतिनिधि वस्तुओं को कुस्तुन्तुनिया के पूर्वी रोम सम्राट के पास भेज दी और उनसे आज्ञा माँगी कि "मुझे अपना प्रतिनिधि समझकर राज काम करने की इजाजत प्रदान करें।" वह जानता था कि नाममात्र के सम्राट बनाये रखने से सम्राट की आड़ में वह वास्तविक सत्ता का उपभोग आसानी से कर सकेगा। उसने अपने दूत द्वारा पूर्वीय सम्राट के पास भेजकर कहलाया कि आप इतने समर्थ हैं कि साम्राज्य के दो विभाग करने की आवश्यकता नहीं है। आप अकेले इस विशाल साम्राज्य का शासन कर सकते हैं। पर यदि आप आज्ञा दें तो मैं आपके प्रतिनिधि की तरह पश्चिमी साम्राज्य की देख-रेख कर सकता हूँ।

श्रोटो महान्

जर्मनी का एक प्रतापी सम्राट् जिसका राज्यकाल सन् ६३६ से प्रारम्भ हुआ।

प्रतापी सम्राट् शार्लमेन महान्' की मृत्यु के पश्चात् उसका विस्तृत साम्राज्य पूर्वी (जर्मनी) और पश्चिमी (फ्रान्स) दो भागों में विभक्त हो गया। उसके पश्चात् जर्मनी-राज्य पर कोई प्रभावशाली राजा न होने से जर्मन राज्य कई छोटी-छोटी डचियों, रियासतों में विभक्त हो गया।

सन् ६३६ में जर्मनी की गद्दी पर ओटो प्रथम आसीन हुआ। यूरोप के इतिहास में यह भी एक प्रतापी सम्राट हुआ। यद्यपि इसने जर्मनी की भिन्न-भिन्न रियासतों (डचियों) को खत्म नहीं किया पर उन सब रियासतों का अधिकारी अपने भाई-भतीजों को बना दिया। उसका भाई हेनरी बवेरिया का ड्यूक बन गया। दूसरा भाई लोरेन का ड्यूक बन गया। इस प्रकार चारों ओर होने वाले विद्रोह को उसने शान्त कर दिया।

जर्मनी की उत्तर पूर्वी सीमा पर बसने वाली स्लाव-जातियों ने अभी तक ईसाई धर्म अंगीकार नहीं किया था और वे बराबर जर्मनी पर आक्रमण करती रहती थीं। ओटो ने इन्हें युद्ध में भी परास्त किया और धर्म-केन्द्रों की स्थापना कर इन्हें ईसाई भी बनाया।

लाम्फर्ली की लड़ाई में ओटो ने हंगेरियन लोगों को परास्त किया और उन्हें जर्मनी की सीमा के बाहर मार भगाया। इसी समय बवेरिया-डची का एक अंश अलग बनाया गया। इसीसे आगे चलकर आस्ट्रियन साम्राज्य की उत्पत्ति हुई।

जिस समय ओटो गद्दी पर बैठा उस समय इटली और पोप की दशा बड़ी शोचनीय हो रही थी। उत्तर दिशा से सैनिक सरदार आकर समय समय पर इटली के राजा बन बैठते थे। इसके साथ ही इटली पर मुसलमानों के आक्रमण भी प्रारम्भ हो गये थे जिससे चारों ओर अराजकता फैली हुई थी। यह दशा देख कर "ओटो" ने इटली के मामले में हस्तक्षेप करने का निश्चय किया और सन् ६५१ में वह इटली गया। वहाँ के किसी राजा की विधवा से उसने अपनी शादी की और वहाँ के विद्रोह का दमन किया जिससे वह इटली का राजा माना जाने लगा। हालांकि अभी तक इटली की गद्दी पर इसका बाकायदा राज्याभिषेक नहीं हुआ था।

इस वर्ष पश्चात् पोप ने शत्रुओं से रक्षा करने के लिये फिर बुलाया। ओटो ने वहाँ जाकर शत्रु दमन किया। इस बार अर्थात् सन् ६६२ में [illegible] राजगद्दी पर इसका बाकायदा राज्याभिषेक हुआ।

यूरोप के तत्कालीन इतिहास में यह एक महा[illegible] मानी जाती है। ओटो इतना प्रतापी और समर्थ उसने इन सारी जिम्मेदारियों को बड़ी कुशलता निभाया, मगर आगे उसके उत्तराधिकारी इस भार [illegible] सँभाल सके और ओटो के थोड़े समय बाद ही [illegible] पोप फिर से स्वतंत्र हो गये।

ओटो ब्राञ्जविक

तेरहवीं शताब्दी में जर्मनी का [illegible] जिसको पोप इन्नोसेंट तृतीय ने सन् १२ [illegible] १ सम्राट से विभूषित किया।

उन दिनों जर्मनी में होहेन्स्टाफन और [illegible] बड़ी प्रतिस्पर्धा चलती थी।

संसार भर में अपने साम्राज्य की स्थापना देखने वाला महत्वाकांक्षी, होहेन्स्टाफन-वंश हेनरी षष्ठ जब केवल बत्तीस वर्ष की अवस्था [illegible] तो होहेन्स्टाफेन वंश के उत्तराधिकारियों [illegible] द्वितीय नामक सिर्फ एक बालक रह गया।

इधर गैल्फ-वंश का सिंह हेनरी का लड़का [illegible]रिक भी सम्राट बनने का उम्मीदवार था। आर्कबिशप ने एक सभा करके ओटो ब्राञ्जविक घोषित कर दिया। तब दोनों सम्राटों ने पोप [illegible] से इस विवाद को हल करने में सहायता माँ[illegible] "ओटो ब्राञ्जविक" को ही सम्राट् स्वीकार कर[illegible]

इसी समय जर्मनी में गृहयुद्ध छिड़ गया तक चलता रहा। [illegible]सी बीच ओटो-ब्राञ्ज[illegible] समर्थक उसके विरुद्ध हो गये। पोप इन्नोसे[illegible] विरुद्ध हो गया। फलस्वरूप "ओटो ब्राञ्जविक

को प्रेमस्मृति में दिया हुआ रूमाल किसी कौशल से मँगवा लेता है और उसे कैसियो के कमरे में रखवा देता है।

यह रूमाल किसी भी प्रकार ओथेलो की नजर में आता है। इस प्रकार डेस्डेमोना के प्रति ओथेलो के सन्देह को यह पक्का कर देता है।

ओथेलो भयंकर ईर्ष्या के वश होकर डेस्डेमोना का अपमान करना प्रारंभ करता है।

चौथा अंक—चौथे अंक में रोडरिगो डेस्डेमोना के प्रति निराश होकर विपुल धन और जवाहरात की ठगी का आरोप इयागो पर लगाता है। तब इयागो कौशल के द्वारा रोडरिगो को कैसियो से लड़ा देने का षड्यंत्र करता है जिससे एक ही निशाने में उसके दोनों शत्रु समाप्त हो जायँ।

पाँचवाँ अंक—पाँचवें अंक में जिस समय कैसियो अपनी रखैल बियांका के घर से खाना खाकर आता है, उस समय अँधेरे में रोडरिगो उसपर तलवार का वार करता है, मगर कैसियो के शरीर पर कवच होने के कारण यह वार असफल हो जाता है। तब कैसियो दूसरा वार कर के रोडरिगो को मार डालता है। इसी बीच इयागो पीछे से आकर कैसियो पर भयंकर वार करके उसकी टाँग को तोड़ देता है और भाग जाता है।

उसके बाद ओथेलो भयंकर ईर्ष्या के वश होकर डेस्डमोना की शय्या के पास जाता है और क्रोध में उसपर व्यभिचार का आरोप लगाकर उसका गला घोंट देता है।

इसी समय इयागो की स्त्री इमीलिया वहाँ प्रवेश करती है और वह डेस्डेमोना की पवित्रता और विश्वास की गारंटी देती है और सारे भेद को खोल देती है।

इस पर ओथेलो भयंकर पश्चाताप की अग्नि में दग्ध होता हुआ बिस्तर पर गिर जाता है और बाद में इयागो को उसकी शैतानियत के लिए तलवार से घायल कर स्वयं भी आत्महत्या कर लेता है। इस प्रकार अत्यन्त दुःख और वेदना के वातावरण में नाटक समाप्त होता है।

सारे नाटक को देखने पर मालूम होता है कि शुरू से अन्त तक इस पर इयागो का व्यक्तित्व छाया हुआ दिखाई पड़ता है। इयागो को एक अत्यन्त कुटिल, विश्वासघाती, स्वार्थी और शैतान के रूप में अंकित किया गया है। इस चरित्र का वास्तविक चित्रण करने में शेक्सपीयर की कला का पूर्ण विकास हुआ है।

नाटक के प्रारम्भ में वह अपने चरित्र का विश्लेषण करते हुए रोडरिगो से कहता है—

"तुमने बहुत से कर्तव्यरत सेवक देखे होंगे, जो अपने स्वामियों के लिए सिर्फ रोटी और वेतन के बदले में अपने जीवन को खपा देते हैं। गधे की तरह बुढ़ापे तक खटते हैं और अन्त में अशक्त हो जाने पर निकाल दिये जाते हैं। ऐसे ईमानदार नीच लोगों को तो कोड़े लगाने चाहिये। मगर कुछ नौकर ऐसे होते हैं जो कर्तव्यरत ईमानदार दिखलाई देने पर भी अपने स्वार्थ के पक्के होते हैं। सेवा का दिखावा करके मालिक को प्रसन्न रखकर अपना घर भरते हैं और मजा लूटते हैं। मैं भी उन्हीं में से एक हूँ। ईश्वर साक्षी है कि ओथेलो की सेवा में कर्तव्य और प्रेम के वश नहीं अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए करता हूँ। मगर मैं इतना भूल हो जाऊँ कि मेरे बाह्य व्यवहार से ही मेरे मन की बात का पता चल जाय तो मैं संसार में उपहास का पात्र हो जाऊँगा। जिसका भीतर और बाहर एक सरीखा होता है—उस मूर्ख के बराबर संसार में उपहास का पात्र कोई दूसरा नहीं।"

आगे चलकर जब रोडरिगो डेस्डेमोना के प्रति निराशा के भाव व्यक्त करता है और जीवन से निराश हो जाता है। तब इयागो कहता है—

"तुम्हारी इच्छाशक्ति की लगाम टूट गई है और उन्मत्त वासना ही तुम में ऐसी निराशा का भाव उत्पन्न कर रही है। गंभीर बनो और आत्मसंयम रखो। डूब मरना कुत्ते और बिल्लियों का काम है। अपने बटए को खूब धन से भरलो और मेरे साथ युद्ध के मैदान में चलो, वहाँ पर जरूर डेस्डमोना तुम्हें मिलेगी और तुम उसका उपभोग करोगे।"

एक स्थान पर इयागो कहता है—

"कौन कहेगा कि वह सब करने के कारण मैं नीच हूँ कुटिल हूँ नरक का देवता हूँ। जब शैतान मनुष्य को भयानक पाप करने को प्रेरित करता है तब वह सदैव साधु वेश धर कर उन्हें आकर्षित करता है। यही तो मैं भी

पर अपने चाचा की सम्पत्ति का मालिक बन कर वह देहात में चला जाता है। वहाँ पर उसका एक ऐसे परिवार से परिचय होता है जिसमें "तातियाना" और "ओल्गा" नामक दो कुमारी कन्याएँ रहती हैं।

"तातियाना" बड़ी बहन है, वह रूसी नारी का प्रतीक है। वह 'ओनेगिन' से प्रेम करने लगती है। उस प्रेम को अभिव्यक्त करने में वह जिस भाषा का प्रयोग करती है, वह मानो किसी कविता के जादूगर की भाषा है। प्रणय, समर्पण, रोमान्स और करुणा के जीवित स्रोत जैसे उस प्रेम प्रदर्शन में सहस्रमुखी धारा से बह रहे हैं। काव्य-मर्मज्ञों का कथन है कि संसार के साहित्य में ऐसी हृदयग्राही आत्माभिव्यक्ति शायद ही किसी दूसरी जगह उपलब्ध हो। मगर ओनेगिन उसकी प्रणय प्रार्थना को ठुकरा देता है और छोटी बहन ओल्गा की तरफ आकृष्ट हो उसके प्रणयी को एक द्वन्द्व में मारकर भाग जाता है।

प्रणय निराश तातियाना तब सेण्ट पीटर्सबर्ग के एक धनी व्यक्ति से विवाह कर लेती है। थोड़े दिनों के बाद ओनेगिन फिर वहाँ आता है और तातियाना की ओर आकृष्ट होता है मगर तातियाना साफ कह देती है कि उसके प्रति आकृष्ट होते हुए भी अब वह कर्तव्यनिष्ठा की रक्षा के लिए अपने पति के साथ विश्वासघात नहीं कर सकती। इस प्रकार इस काव्यमय में लिखे हुए हृदयग्राही उपन्यास का अन्त हो जाता है।

ओपेरा

एक प्रकार का संगीतपूर्ण नाटक जिसका प्रारम्भ इटली में ई० सन् १५९४ के आसपास हुआ। मगर प्राचीन काल में चीन के अन्तर्गत भी 'ओपेरा' कला का काफी विकास हुआ था। चीनी ओपेरा अनेक बातों में अपनी मौलिक विशेषता रखता था।

ओपेरा दृश्यकाव्य में पात्रों का सारा वार्तालाप कविता की भाषा में संगीतमय रूप में होता है। इस संगीतपूर्ण दृश्यकाव्य का जन्म सबसे पहले इटली में हुआ। जब कि सबसे पहले सन् १५९४ ई० में वहाँ के फ्लोरेन्स नामक नगर में "ला डाफ्ने" नामक ओपेरा का प्रदर्शन हुआ।

ओपेरा के प्लाट भी नाटकों की तरह धार्मिक कथा वस्तु या वीरगाथाओं पर अवलम्बित रहा करते थे। इटली के साथ-साथ फ्रान्स तथा जर्मनी के कलाकारों ने भी "ओपेरा" के प्रदर्शन में अपनी प्रतिभा का उपयोग किया। हालाँकि इटालियन-कला में और इन देशों की कला में में कुछ भिन्नताएँ भी रहती थीं। इटालियन ओपेरा पाँच अङ्कों में समाप्त होता था जब कि फ्रांस और जर्मनी के ओपेरा तीन अङ्कों में ही समाप्त हो जाते थे।

दूसरे गद्य नाटकों की तरह ओपेरा भी सुखान्त और (Comedy) और दुःखान्त (Tragedy) दोनों प्रकार के हुआ करते थे। शृंगार, हास्य और वीर रस की इनमें काफी पुट हुआ करती थी।

ओपेरा में अभिनय का रंगमंच बड़ा भव्य, साज सज्जाओं से युक्त और आँखों में चकाचौंध पैदा करने वाला होता था। वेनिस और पेरिस के ओपेरा हाउस १८ वीं और उन्नीसवीं सदियों में अत्यन्त दर्शनीय माने जाते थे। इटली में फ्लोरेंस और वेनिस नगर अपने ओपेरा हाउसों के के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। सन् १६३७ में वेनिस में सबसे पहले एक सार्वजनिक ओपेरा हाउस की स्थापना हुई। इसके साथ ही वेनिस ओपेरा का यूरोप में सबसे बड़ा केन्द्र बन गया। दूर-दूर के लोग इन ओपेराओं को देखने के लिए वेनिस आते थे। कई सदियों तक इटली के कलाकारों का प्राधान्य सारे यूरोप के ओपेरा-हाउसों में रहा। वेनिस का संगीत वहाँ की सजावट और वहाँ का अभिनय ही सारे यूरोप के ओपेरा हाउसों में प्रमाणभूत माने जाते थे।

इटली के साथ ही, फ्रान्स, जर्मनी और आस्ट्रिया में भी इस प्रकार के नाटकों का प्रचलन काफी लोकप्रिय हुआ। हालाँकि इन देशों में अधिक कलाकार इटालियन ही हुआ करते थे। फ्रान्स के ओपेरा-कलाकारों में "लोमिको" का नाम विशेष प्रसिद्ध है। जो फ्रेंच न होते हुए भी एक माना हुआ संगीतज्ञ और कलाकार था।

जर्मनी में ग्लक नामक कलाकार को ओपेरा के प्रदर्शन में कई प्रकार के सुधार करने का श्रेय प्राप्त है। ओपेरा के कलात्मक पक्ष में 'मोजार्ट' का नाम भी बहुत प्रसिद्ध है। इसका जन्म सन् १७५६ में हुआ था। सन् १७८२ में इसने "इडोमेनियो" नामक ओपेरा की रचना की। ओपेरा के

इतिहास में मोत्सार्ट अमर है यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं हो सकती। जर्मन ओपेराकार वेगनर और रिचर्ड वैग्नर के नाम भी ओपेरा क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। वैग्नर ने जब देखा कि उसके भावों को वहाँ के ओपेरा हाउस ठीक ठीक अभिनीत नहीं कर पाते हैं तो उसने बेरूथ नामक एक ग्राम में अपना निजी ओपेरा हाउस खोला जो आगे चलकर बड़ा प्रसिद्ध हो गया। वेबर के "फ्री शूटर" और वैग्नर के "पारसिफल" नामक ओपेरा ने बहुत ख्याति प्राप्त की। इस समय सोवियत रूस और युगोस्लाविया में भी ओपेरा नाट्यकला का काफी विकास हो रहा है। युगोस्लाविया के ब्रामसगर की प्रसिद्ध ओपेरा-गायिका मिरियाना राडेव ने अपनी कला से संसारव्यापी ख्याति प्राप्त कर ली है।

श्रोबू सिम्पबेल

मिस्र का प्राचीन गुफा-मन्दिर जिसे "स्फिनोब" कहते हैं। इस गुफा मन्दिर का निर्माण मिस्र के प्राचीन उन्नीसवें राजवंश के प्रसिद्ध राजा "रामसेस" द्वितीय ने नीग्रो-जातियों पर की गई विजय की स्मृति में करवाया था रामसेस द्वितीय का समय ईसा से १२ वर्ष पूर्व से लेकर ईसा से १२ ६ वर्ष पूर्व तक माना जाता है।

इस गुफामन्दिर के मुख्य द्वार पर साठ साठ फुट ऊँची दो मूर्तियाँ बनी हुई हैं जो एक एक चबूतरे पर स्थापित की हुई हैं "अमोन-रा" नामक देवता की पूजा करते हुए सम्राट की उभरी हुई मूर्ति भी इस मन्दिर में बनी हुई है।

श्रोमहोतेप

मिस्र के प्रथम राजकुल में उत्पन्न जोसेर नामक राजा का राजमंत्री ओमहोतेप। जिसका समय ईसा से ३११५ वर्ष पूर्व माना जाता है।

राजा जोसेर वैद्य विज्ञान तथा स्थापत्य-कला का अच्छा जानकार था। इसलिए सारे मिस्र में वह बड़ा लोकप्रिय हो गया। इसी के राजकाल में मिस्र में चिकित्सा प्रणाली का प्रचार हुआ और सम्भवतः मिस्र में पत्थर का पहला मकान भी इसी राजा के राज्यकाल में बना।

इस प्रसिद्ध राजा का मंत्री ओमहोतेप भी पत्थर कला का विशेषज्ञ था। उसी ने सुन्दर सरासदार पत्थर के खम्भों, उभरी हुई चित्रकारी और रंगीन मिट्टी की चीजें बनाने का आविष्कार किया।

जब राजा जोसेर मरा तो उसे सक्कर में दफनाया गया और इसकी कब्र पर सीढ़ीदार एक मकान बनाया गया। जिसे देखकर अगले राजाओं ने भी बड़े बड़े पिरामिड बनाना प्रारम्भ किये।

श्रोमेनहोतेप

मिस्र के अठारहवें राजवंश के राज्यकाल में ओमेन होतेप नामक तीन राजा हुए। जिनका समय ईसा के पूर्व पन्द्रह शताब्दी में माना जाता है।

ओमेन होतेप प्रथम—इस राजा ने अपने राज्य की सीमाएँ मेसोपोटेमिया की फरात नदी के प्रदेश तक बढ़ा लीं।

ओमेनहोतेप तृतीय—मिस्र के अठारहवें राजवंश के राजा थटमोज का पौत्र। यह बड़ा बहादुर और साहसी राजा था। इसने सीरिया के विद्रोह को बुरी तरह दबा कर इतना दमन किया कि वे कई बरसों तक स्वतंत्रता का नाम न ले सके। इसने बेबीलोन के राजकुल से अपने वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये। इस राजा ने छत्तीस वर्ष तक राज्य किया।

ओमेन होतेप चतुर्थ—मिस्र के अठारहवें राजवंश में ओमेनहोतेप तृतीय की मृत्यु के पश्चात् ओमेन होतेप चतुर्थ गद्दी पर बैठा। इस राजा ने बड़े बड़े धार्मिक परिवर्तन किये। इसने अनेक देवी देवताओं की पूजा को बन्द कर केवल एक ईश्वर "आतीन" और एक देवता "रा" (सूर्य) की पूजा का आदेश दिया। "आतोन" के सिवा सब देवताओं के मंदिरों का निर्माण बन्द करवा दिया गया और मन्दिरों में अंकित किये हुए अपने पूर्वजों के नामों को भी मिटा दिया। थीबीजनगर की विलासिता से क्रुद्ध होकर इसने "अखेतातीन" नामक नगर बसाया और वहीं अपनी राजधानी कायम की।

पुजारियों के व्यभिचार, देवदासी प्रथा और नर-बलि को बन्द करके इसने पुजारियों की सम्पत्ति को जब्त कर लिया। इन धार्मिक उपेक्षुनों के कारण प्रजा ने और पुजारियों ने इसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया जिसके परिणामस्वरूप केवल तीस वर्ष की उम्र में ही यह राजा राज्य छोड़कर संन्यासी हो गया।

ओमिताम-सम्प्रदाय

बौद्धमत की एकशाखा जिसकी स्थापना ई० सन् ११४ और १२२ के बीच सुप्रसिद्ध चीनीबौद्ध भिक्षु "वउ-माना शिपव सुन-सुफन" ने चीन में स्थापित की थी।

ओम्प्रकाश शर्मा

हिन्दीभाषा में वैज्ञानिक विषयों के लेखक और सम्पादक जिनका जन्म सन् १६२४ में हुआ।

श्री ओम्प्रकाश शर्मा विज्ञान-प्रगति 'सेनानी', 'सर्वोदय', 'कामधेनु' 'संस्कृति' इत्यादि कई पत्र पत्रिकाओं के सम्पादक रह चुके हैं। इनकी रचनाओं में "मंगल-धारा" "मुस्लिम-सत्य" तथा सर्वोदय माला सीरीज में लिखी ९५ पुस्तकें विशेष महत्वपूर्ण हैं। इनकी कुछ रचनाओं पर यूनेस्को के द्वारा तथा भारत सरकार और उत्तरप्रदेश सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा पुरस्कार मिल चुके हैं। इनका निवास हरिमार्ग-देहली में है।

ओम्बड्स-मेन

आधुनिक युग में प्रशासन में फैले हुए भ्रष्टाचार को रोकने के लिए स्थापित एक विशेष अधिकार सम्पन्न पदाधिकारी। इसके अधिकार प्रधान-मंत्री के बराबर माने जाते हैं।

'ओम्बड्स मेन' के पद की स्थापना सबसे पहले स्वीडन में हुई। ओम्बड्स मेन किसी भी दल विशेष का न होकर बिलकुल निष्पक्ष व्यक्ति होता है और उसकी नियुक्ति सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा की जाती है। प्रशासन में होनेवाले भ्रष्टाचार के विरोध में जनता की शिकायतों को सुनना ओम्बड्समेन का काम होता है और इसके द्वारा किए हुए निर्णय करीब-करीब शत प्रतिशत सरकार द्वारा स्वीकार कर लिये जाते हैं। ओम्बड्स मेन का शासकीय दर्जा प्रधानमंत्री के बराबर माना जाता है।

स्वीडन के ही अनुकरण पर रूस इत्यादि अन्य देशों ने भी इस पद्धति को स्वीकार किया। ऐसा माना जाता है कि भ्रष्टाचार का नाश करने में ओम्बड्समेन की प्रणाली काफी सफल हुई है।

ओमेलू

प्राचीन बेबीलोनियन सभ्यता में समाज के लोगों की उच्च श्रेणी को 'ओमेलू' कहा जाता था।

जिस प्रकार भारतीय सभ्यता में ब्राह्मणवर्ग प्रथम श्रेणी का वर्ग माना जाता है उसी प्रकार बेबिलोनियन सभ्यता में "ओमेलू" वर्ग माना जाता था। इस वर्ग में विशेष कर राज्य-परिवार के लोग, बुद्धिवर्गी लोग और धनी लोग सम्मिलित रहते थे।

ओमेलू लोगों का अपमान करने वाले या उनका अपराध करने वाले लोगों को कड़ा दण्ड दिया जाता था। इसी प्रकार ओमेलू लोग भी यदि कोई अपराध करते थे तो उन्हें भी कठोर दण्ड मिलता था।

ओरगाना

मंगोल-सम्राट चंगेज खाँ के पौत्र 'ओतूगान' के लड़के 'कराहलागू' की पत्नी 'ओरगाना' जिसका समय १३ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में था।

ओरगाना अपने सौन्दर्य प्रताप और कोमलता में अपने समय की तीन अद्वितीय सुन्दर मंगोल-राजकुमारियों में से एक थी जिनके बारे में कहा जाता था कि दुनिया का कोई चित्रकार उनके रूप को अपनी तूलिका से चित्रित नहीं कर सका।

अपने पति 'कराहलागू' की मृत्यु के पश्चात् उसकी रानी ओरगाना ने उसकी राजगद्दी सँभाली। अपने वज़ीर हबश अमीर और अपने पुत्र नासिरुद्दीन की सहायता से १० साल तक 'समरकन्द' और 'बुखारा' पर उसने शांतिपूर्ण

शासन किया। उसके बाद 'भलगू' नामक दूसरे सरदार ने उसके राज्य पर अधिकार कर उसे वहाँ से भगा दिया।

ओरगाना बौद्ध-धर्म की अनुयायिनी थी।

ओरछा

प्राचीन बुन्देलखण्ड की राजधानी। इतिहास प्रसिद्ध राजा छत्रसाल की वीरभूमि।

ओरछा का इतिहास काफी प्राचीनकाल से प्रारम्भ होता है। सम्राट हर्षवर्द्धन के पश्चात् यह स्थान 'चन्देल' राजपूतों के अधिकार में आया। काफी समय तक चन्देलों के अधिकार में रहने के बाद यह 'परिहार' राजपूतों के अधिकार में रहा। सन् १ ४८ में 'गहरवार' राजपूत वंश के हेमकरण नामक सरदार ने पंचम बुन्देला-राजवंश की नींव डाली। इसके पश्चात् हेमकरण के वंशज सोहनपाल ने सन् ११११ में झांसी से १ मील उत्तरपूर्व गढ़ कुण्डार को अपनी राजधानी बनाया। इसी वंश में आगे चलकर राजा रुद्रप्रताप ने सन् १५३१ में ओरछा में राजमहल और दुर्ग का निर्माण प्रारम्भ किया। सन् १५३९ में ओरछा का राजमहल और किला बनकर तैयार हुआ और सन् १५५४ तक राजा भारतीचन्द ने ओरछा पर शासन किया।

भारतीचन्द के पश्चात् उनके पुत्र मधुकर शाह ओरछा के राजा हुए। इनकी पत्नी ने अयोध्या के सरयूतट की जमीन में से रामचन्द्र की मूर्ति प्राप्त कर उसे ओरछा में राजाराम का मन्दिर बनवा कर उसमें प्रतिष्ठित करवाई। आज भी ओरछा में राजाराम का मन्दिर बहुत प्रसिद्ध है।

मधुकर शाह के पश्चात् ओरछा के इतिहास में वीरसिंह देव का नाम विशेष प्रसिद्ध है। वीरसिंहदेव एक बहादुर और साहसी राजा था। उसने अपने भाई इन्द्रजीत और प्रताप सिंह के साथ मिलकर मुगलों के बहुत से किले जीत लिये। विद्रोही शाहजादा सलीम का पक्ष लेकर उसने अकबर के एक प्रसिद्ध सेनापति को मार दिया। सन् १६ ५ में शाहजादा सलीम ने बादशाह बनने पर वीरसिंह देव को ओरछा की गद्दी पर बिठाया। वीरसिंह ने पश्चिमी बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया। इसने ओरछा में बड़े-बड़े महल और मन्दिरों का निर्माण करवाया। चतुर्भुज का विशाल मन्दिर उसीका बनवाया हुआ है। ओरछा के फूल बाग और दतिया के नौ मंजिले प्राचीन महल का निर्माण भी उसीने करवाया। सन् १६२७ में इसकी मृत्यु हुई। राजा वीरसिंह देवकी राजनर्तकी 'राय प्रवीण' बहुत अच्छी गायिका और कवियित्री थी। इसका महल भी ओरछा में बना हुआ है।

वीरसिंह देव के पश्चात् उनके बड़े पुत्र जुझारसिंह गद्दी पर बैठे और छोटे पुत्र हरदौल प्रधान मंत्री हुए। जुझारसिंह की रानी हरदौल पर बड़ा स्नेह रखती थी। इससे राजा जुझारसिंह को अपनी रानी के सतीत्व पर सन्देह हो गया और उसने रानी से कहा कि यदि तुम पतिव्रता हो तो हरदौल को अपने हाथ से जहर खिलाओ। इस आज्ञा से रानी पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा मगर हरदौल ने रानी के मान की रक्षा के लिए उसका विषमिश्रित भोजन हँसते-हँसते खा लिया, जिससे हरदौल की मृत्यु होगई मगर इस घटना से हरदौल की कीर्ति अमर होगई। आज भी राजाराम के मन्दिर में 'हरदौल' के चबूतरे की देवी देवताओं की तरह पूजा होती है और जगह-जगह उनकी स्मृति में चबूतरे बने हुए हैं।

इस घटना से क्रुद्ध होकर मुगल सम्राट् शाहजहाँ ने जुझारसिंह को सजा देने के लिए सेनापति महाबत खाँ को भेजा। जुझारसिंह के भाई भतीजे भी उसके विरुद्ध हो गये जिससे जुझारसिंह को राज्य छोड़कर भागना पड़ा और ओरछा का शासन सन् १६३४ में उसके भतीजे देवीसिंह के हाथ में आया।

ओरछा' प्राचीननगर है और इसमें प्राचीन काल के अनेक प्रसिद्ध मन्दिर और महल बने हुए हैं। जिनमें राजाराम का मन्दिर, चतुर्भुज-मन्दिर, लक्ष्मी का मन्दिर, राजमहल, जहांगीर महल, फूल बाग इत्यादि स्थान अभी भी जीर्ण-शीर्ण हालत में उसकी गौरव गाथा कह रहे हैं।

इसके पश्चात् ओरछा और बुन्देलखण्ड के इतिहास में चम्पतराय बुन्देले के चौथे पुत्र छत्रसाल का नाम बड़ा प्रसिद्ध है जिसका जन्म सन् १६४ में हुआ था। यह बड़ा बहादुर और साहसी व्यक्ति

था। इसने करीब आधी शताब्दी तक सम्राट औरंगजेब की सेनाओं का सफलता पूर्वक मुकाबला किया और बुन्देल खण्ड में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर उसकी राजधानी 'पन्ना' में बनाई।

ओरोडीस

प्राचीन ईरान का पार्थियन सम्राट जो अपने पिता फ्रातिस तृतीय की हत्याकर गद्दी पर बैठा। इसका समय ई० पू० ५ से लेकर ई० पू० ३७ तक है।

ईरान के पार्थियन सम्राट फ्रातिस की हत्या के पश्चात् पहले तो उसका लड़का मिथरदत्त गद्दी पर बैठा मगर उसके अयोग्य होने के कारण जनता ने उसे हटाकर ओरोडीस को राजा बना दिया।

मगर सीरिया में रोमन-साम्राज्य के गवर्नर मार्कस कारसस को ओरोडीस का गद्दी पर बैठना पसन्द नहीं आया और उसने आर्मेनिया के राजा की सहायता से ओरोडीस पर आक्रमण कर दिया। आर्मेनिया की सेना को पहले हरा कर ओरोडीस ने वहाँ के शासक की बहन से शादी करली और वहाँ से निपट कर रोमन-सेनापति कारसस के साथ ई० पू० सन् ५३ में कैरी नामक स्थान पर युद्ध किया। ओरोडीस की सेना का सेनापति 'सुरेना' बड़ा युद्धसंचालक और बहादुर व्यक्ति था। इसने अपनी व्यूहरचना में रोमन-सेना को फँसा कर करारी हार दी और उसके सेनापति प्रोक्रिसस को मार डाला।

उसके बाद सेनापति "सुरेना" ने सन्धि का पैगाम भेजकर क्रासिस को अपने यहाँ बुलाया और वहीं उसका सिर काट लिया और फिर रोमन-सेना पर आक्रमण करके उसका सर्वनाश कर दिया।

इस प्रकार बहादुर सुरेना ने रोमन-सेनापर विजय प्राप्त कर ली, मगर उसकी इस वीरता को देखकर पार्थियन सम्राट स्वयं डर गया कि कहीं यही राजा न बन जाय और उसने धोखे से सुरेना की हत्या करवा दी।

इसके बाद ओरोडीस ने सीरिया पर भी आक्रमण करके उस पर अधिकार कर लिया। मगर ई० पू० सन् ३८ में मार्क एन्टोनी के सेनापतित्व में एक विशाल रोमन सेना ने सीरिया पर आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया। इस लड़ाई में पार्थिया का सेनापति पैकोरस और ओरोडीस का एक पुत्र मारा गया।

इसके पश्चात् ओरोडीस का लड़का फ्रातिस चतुर्थ अपने पिता की हत्या कर गद्दी पर बैठा।

ओर्मेना का मन्दिर

मिस्र देश के प्राचीन युग का गौरवशाली मन्दिर जिसकी रचना का प्रारम्भ मिस्र के ग्यारहवें राजवंश के अधिष्ठाता रामसेस प्रथम ने किया और जिसके उत्तरार्द्ध की रचना सेती प्रथम तथा रामसेस द्वितीय ने पूरा की।

मिस्र के ग्यारहवें राजवंश का समय ईसा से ३१६ वर्ष पूर्व से लेकर ईसा के २० वर्ष पूर्व तक माना जाता है। इस राजवंश के प्रथम राजा नेमपथ ने मिस्र की राजधानी मेंम्फीस से बदल कर थीबीज में स्थापित की।

थीबीज का यह युग मिस्र के प्राचीन इतिहास में गौरवशाली युग माना जाता है। इस युग में जितने मन्दिर बनाये गये, वे बड़े विशाल और उच्च कोटि की स्थापत्य कला से परिपूर्ण थे। अर्मेना का मन्दिर भी ऐसा ही एक विशाल मन्दिर था। यूनान के प्राचीन इतिहासकार हैरोडोटस और स्ट्रबो ने इन मन्दिरों की कलात्मक रचना की बड़ी प्रशंसा की है।

इसी प्रकार सेती-युग में बने हुए अबीडास के मन्दिरों की दीवारें जो खण्डहर के रूप में खड़ी हैं अभी भी अपनी इस अनोखी मूर्तिकला के कारण दर्शकों का ध्यान बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं। अबीडास के एक मन्दिर की दीवार पर सेकमेत नामक देवता की पूजा करते हुए सम्राट सेती दिखाई देता है जिसे देखकर यह अनुमान करना कठिन होता है कि ये तीन चार हजार वर्ष पुराने बने हुए हैं। समय के भीषण प्रहारों का उपहास करते हुए आज भी वे उस अमर कला का परिचय दे रहे हैं।

ओरद्द

प्राचीन बेबीलोनियन सभ्यता का गुलाम वर्ग। जो लोग लड़ाई में पकड़े जाते थे अपहरण किये जाते थे, या परम्परागत गुलाम-वंश के होते थे उन सबको बेबीलोन में ओरद्द कहा जाता था।

और इन लोगों पर उनके मालिकों का कब्जा उसी प्रकार रहता था जिस प्रकार गाय, बैल आदि पशुओं पर रहता है। मालिक उनसे घर का सारा काम काज करवाते, उनको सेना में भरती करवा कर लड़ाई में भेजते, मजदूरी करवाते, उनकी सारी आमदनी लूट ले जाते, उनकी स्त्रियों से अपनी विषय वासना को तृप्त करते और अधिक संख्या होजाने पर या स्वयं कर्जदार हो जाने पर उस कर्ज अदायगी में इन गुलामों को बेच भी सकते थे।

गुलामों के शरीर पर गोदना गोदकर निशान बना दिये जाते थे अथवा उन्हें मिट्टी की बनी हुई गुलामी की एक निशानी अपने साथ रखना पड़ती थी।

ओर्नरबेरी

अमेरिका का सुप्रसिद्ध जवाहिरातों का चोर जो बीसवीं शताब्दी के करीब दूसरे तीसरे दशाब्द में अमेरिका के सम्पन्न व्यक्तियों में अपनी हीरे जवाहिरात की चोरी के लिए प्रसिद्ध रहा। यह केवल जवाहिरातों का चोर ही नहीं, उनका योग्य पारखी भी था। एक बार जहाँ पर यह चोरी के लिए गया उसे ५ मोतियों के हार एक सी चमक दमक के मिले जिनमें चार नकली और एक असली था। उसने अपनी सहज बुद्धि से असली को छाँट लिया और नकली को वहीं छोड़ दिया।

आचरणी में चोरी करने की भातक बुराई के बावजूद कुछ विशिष्ट गुण भी थे जिनकी वजह से अमेरिका के इतिहास में इसकी गणना साधारण कोटि के डाकुओं में नहीं की जाती। ऐसा कहा जाता है कि यह केवल जवाहिरात और उनके केसरों की ही चोरी करता था। दूसरी चीजों को छोड़ देता था। जवाहिरात के केसों में भी अगर कोई प्रणय चिन्ह या प्रेमस्मृति में मिले हुए जेवर होते और मालिक उनको छोड़ देने की प्रार्थना करता तो उसे भी यह सम्मानपूर्वक वापस छोड़ देता था फिर चाहे उसका मूल्य कितना ही अधिक क्यों न हो। उसने दो लाख रुपये के मूल्य के जेवर ऐसी प्रार्थनाओं पर छोड़ दिये थे।

एक बार इङ्गलैंड के सम्राट एडवर्ड अष्टम जो उस समय प्रिन्स ऑफ वेल्स के रूप में थे, आर्नरबेरी के चक्कर में बुरी तरह फँस गए थे। एक बनी पार्टी में उनकी प्रिंस से भेंट हुई और यहीं उसने अपने व्यवहार-कौशल से उनको बातों ही बातों में मुग्ध कर लिया और तुरन्त ही उनकी घनिष्ठता को प्राप्त कर लिया। मगर इसके कुछ दिनों बाद प्रिन्स ऑफ वेल्स के महल से भी लाख रुपये के जवाहिरात चोरी हो गये। पुलिस ने छानी-खोजी का पसीना एक कर दिया पर वह उस चोरी का पता न लगा सकी। अगर आर्नरबेरी ने स्वयं इसका रहस्योद्घाटन न किया होता तो अभी यह रहस्य ही बनी रहती।

आर्नरबेरी को एक बार चोरी के अपराध में २५ वर्ष की सजा हुई थी मगर बीच ही में यह जेल तोड़कर भाग निकला दूसरी बार फिर उसे १७ बरस की सजा हुई। जिसे भुगत कर अब वह शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा है।

अपनी सफलता के युग में आर्नरबेरी की आमदनी १ लाख पौंड प्रतिवर्ष थी। मगर आज अपने रिटायर्ड लाइफ में उसके पास कुछ भी नहीं बचा है और भारी कर्जभार से यह लदा हुआ है।

ओरीजेन

ईसाई-धर्म का एक सुप्रसिद्ध धर्माचार्य जिसका जन्म सन् १८५ में और मृत्यु सन् २५ में हुई।

ओरीजन का जन्म अलेक्जेंड्रिया नगर के एक ईसाई परिवार में हुआ था। जब ओरीजैन के अवस्था केवल १७ वर्ष की थी उसी समय उसके पिता को ईसाई होने के अपराध में मायदण्ड दे दिया गया और उसके परिवार की सारी सम्पत्ति जब्त कर ली गई। संकटकाल में किसी प्रकार अध्यापन कार्य्य से अपने परिवार का गुजारा करते हुए ओरीजन बाइबिल का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने लगे। इसके पश्चात् बाइबिल का वैज्ञानिक अध्ययन कराने के लिए इन्होंने एक शिक्षा संस्था खोली, जिसने क्रमशः विश्व-विद्यालय का रूप ग्रहण कर लिया। इस संस्था के माध्यम से इनकी कीर्ति समस्त ईसाई-जगत में फैल गई। इनके व्याख्यानों और ग्रन्थों का भी ईसाई जगत् में बड़ा सम्मान हुआ। स्वयं रोम-सम्राट अलेक्जेण्डर सेवेरस की माता ने ईसाई धर्म की जानकारी प्राप्त करने के लिए इन्हें आमंत्रित किया था।

सन् २४७ में रोम सम्राट डेसियस ने ईसाई-धर्म के विरुद्ध बड़ा अभियान किया। इस अभियान में सन् २५० में ओरीजेन को भी कष्ट-यातनाएं सहन करनी पड़ीं और सन् २५४ में उनका स्वर्गवास हुआ।

ईसाई-धर्म की प्रारम्भिक शताब्दियों में ओरीजेन का नाम बड़ा आदरणीय माना जाता है। इनकी रचनाओं की संख्या हजारों में मानी जाती है। "पेरी आरकोन" नामक इनकी रचना बहुत प्रसिद्ध है जिसमें सबसे पहले ईसाई-धर्म के धार्मिक विश्वासों का वैज्ञानिक ढङ्ग से प्रतिपादन किया गया है।

ओलिव ब्राञ्च पिटीशन

अमेरिकन युद्ध शुरू होने के पहले अमेरिकन कौंटिनेन्टल कांग्रेस के छियालीस सदस्यों द्वारा इंग्लैण्ड के बादशाह की सेवा में भेजा जाने वाला शान्ति-पत्र।

ओलेग

मध्य एशिया में रूसी साम्राज्य का प्रथम संस्थापक, जिसका समय ९ वीं सदी के प्रारंभ में सन् ६११ के करीब माना जाता है।

'ओलेग' वरंगी नामक जाति के सरदार रूरिक का पुत्र था। ९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में वह नवोगोरद के स्लाव जाति के लोगों पर शासन करता था मगर बाद में वह दुनिपे पर उत्तरका पर चला गया और स्मोलेंस्क कीविची को जीतकर उस पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार ओलेग नवोगोरद और कियेव दोनों का स्वामी बन जाने के बाद दनियपर वणिक-पथ का भी स्वामी हो गया। धीरे-धीरे उसने कितने ही छोटे छोटे राजुओं को अपने अधीन कर अपने इस राज्य का नाम 'रूस' रख दिया और रूस का महाराजुल बन कर दूसरे राजुओं पर शासन करने लगा।

यह कहना कठिन है कि रूस किस भाषा का शब्द है। जो भी हो ९ वीं सदी के प्रारम में बहुत से स्लाव कबीलों को, जो कि एक शासक के अधीन एकत्रित हुए थे, उनको यही नाम दिया गया और इतिहास में उन्हें 'रूस' कहा जाने लगा।

ओलेग का शासन काफी ऊँचा था। अपने ४० साल के शासन-काल में उसने रूस को एक विस्तृत राज्य बनाने का ऐतिहासिक काम पूरा किया। उसके काम का कितना महत्व है, यह इसी से मालूम होगा कि कार्लमार्क्स ने १८ वीं सदी में अपने 'गुप्त कूटनीति' नामक ग्रन्थ के पूर्वे अध्याय में ओलेग का वर्णन करते हुए लिखा है—

"रूस के प्राचीन नक्शे हमारे सामने उससे कहीं अधिक विशाल योरोपीय क्षेत्र को प्रदर्शित करते हैं जिसका कि वह आज गर्व कर सकता है। ६वीं शताब्दी से ११वीं शताब्दी तक उसका लगातार बढ़ाव इसी बात की ओर संकेत करता है। हम ओलेग के समान साहसी, राजपुरुष को अस्सी हजार आदमियों के साथ बिजन्तीन (पूर्वी रोम) पर आक्रमण करके और कांस्टेन्टीनोपल राजधानी के फाटक पर विजय चिह्न के तौर पर अपनी ढाल स्थापित करते हुए और पूर्वी रोम साम्राज्य को सम्मानहीन सन्धि करने को मजबूर करते हुए देखते हैं।"

सन् ६११ के करीब ओलेग की मृत्यु हुई।

ओलेम्पिक-खेल

प्राचीन यूनान के प्रसिद्ध नगर ओलेम्पिया से प्रारम्भ होने वाले ओलम्पिक खेल। जिनका प्रारम्भ ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी से माना जाता है।

ईसा से पूर्व आठवीं सदी से लेकर ईसासे पूर्व चौथी सदी तक हर चौथे वर्ष ओलेम्पिया में तरह २ के खेलों का आयोजन किया जाता था। तभी से ये खेल 'ओलेम्पिक' खेलों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन खेलों में केवल यूनानी नागरिक ही भाग ले सकते थे और स्त्रियों के लिए इन खेलों में भाग लेने की सख्त मनाही थी।

ई० सन् ३९४ में जब यूनान रोम के अधीन हो गया रोम के सम्राट थियोडोसियस ने इन खेलों को बन्द कर दिया।

इसके करीब पन्द्रह सौ वर्षों के पश्चात् फ्रांस के बैरन पियर डी-कुबरटिन ने बड़ी लगन और मेहनत से सन् १८९६ में यूनान के एथेन्स नगर में फिर से ओलेम्पिक खेलों को नवीन व्यवस्था के साथ प्रारम्भ किया। क्रमशः धीरे-धीरे

इन खेलों ने अन्तर्राष्ट्रीय महत्व ग्रहण कर लिया और सारे संसार के अनेकों देशों के खिलाड़ियों ने इन खेलों में भाग लेना प्रारम्भ किया। पहले वर्ष अर्थात् सन् १८९६ में जहाँ केवल तेरह राष्ट्रों के २८५ खिलाड़ियों ने इसमें भाग लिया था वहाँ सन् १९५६ में ६० राष्ट्रों के ४,५१९ खिलाड़ी इन खेलों में मेलबोर्न में सम्मिलित हुए थे। जिनमें ३१ स्त्रियाँ थीं। खिलाड़ियों के अतिरिक्त दर्शकों की संख्या लाखों रहती है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि इन दिनों संसार में इन खेलों की लोकप्रियता कितनी बढ़ गई है। हरएक समाचार पत्र और रेडियो में इन खेलों के समाचार आवश्यक अंग के रूप में दिये जाते हैं।

ये सब खेल लगातार १६ दिन तक चलते हैं। इन खेलों में हॉकी फुटबाल क्रिकेट, लम्बी दौड़ ऊँची कूद, लम्बी कूद हॉप स्टेप जम्प पोलवाल्ट, गोलाफेंक, हथौड़ा फेंक इत्यादि कई प्रकार के खेलों का आयोजन रहता है। सन् १९२४ से इन खेलों में बर्फ के खेलों को भी मिलाया गया है।

सन् १९३२ में लास एंजल्स में ओलेम्पिक खेलों की आयोजना में "ओलेम्पिक नगर" बनाना प्रारम्भ किया गया। इस नगर में सब खिलाड़ियों को एक ही स्थान पर ठहराने का प्रबन्ध किया जाता है। १९३६ में जब बर्लिन में इन खेलों का आयोजन किया गया तो ओलेम्पिया-नगर की स्मृतिरक्षा के लिए वहाँ से एक मशाल जलाकर बर्लिन के खेल मैदान में लाई गई और स्थापित की गई और यह खेलों की अवधि तक बराबर जलती रही। इन खेलों में सब खिलाड़ियों को मार्च करते हुए एक स्थान पर इकट्ठा होना पड़ता है। इस मार्च में अपने ऐतिहासिक गौरव के कारण यूनानी टीम सबसे आगे रहती है और उसके पीछे दूसरे देशों की टीमें क्रमानुसार आयोजक होता है और सबके पीछे प्रबन्धक देश की टीम रहती है।

ओलेम्पिक खेलों के अन्तर्गत हॉकी के खेल में भारतवर्ष की हॉकी टीम सन् १९२८ से लेकर १९५६ तक बराबर विजयी होती रही।

ओविडियस

प्राचीन काल में रोम का सुप्रसिद्ध कवि जिसका समय ई॰ पू॰ ४३ से लेकर ई॰ सन् १७ तक माना जाता है।

यह युग ऑगस्टस सीजर का युग था जिसमें रोम का वैभव चरम उत्कर्ष पर जा पहुँचा था। साहित्य के पुरातन महारथी 'वर्जिल, होरेस' 'प्रोपर्शियस' तथा 'ओविडियस' इतिहास को उसी युग की देन हैं।

ओविडियस या ओविद लैटिन में पद्यों या मर्सिया लिखने वाला प्रसिद्ध कवि था। इसका जन्म सुल्मो नामक नगर में हुआ था। ई॰ सन् पूर्व १४ में इसकी पहली रचना "एमोरस" तैयार हुई। इसमें अपनी प्रेमिका कोरिन्ना के प्रति अपनी भावनाओं की पुष्पांजलि कवि ने बड़ी हृदयग्राही भाषा में अर्पित की है। इस पहली रचना से ही इस कवि की ख्याति सारे रोम में फैल गई।

इसकी एक रचना "मेटामार फोसेज" में सृष्टि के प्रारम्भ से ऑगस्टस सीजर के युग तक सृष्टि का इतिहास पौराणिक दृष्टिकोण पर दिया हुआ है। यह १ [illegible] में है और इसमें इस महाकवि की मृदुल भावनाएं सर्वत्र छलकती हैं।

मगर उसका सबसे प्रसिद्ध काव्य "आर्स अमातोरिया" प्रणय की कला पर आधारित है। इस काव्य में कवि ने लिखा है कि "प्रेम की देवी वीनस ने कवि को प्रेम की कला का दीक्षागुरु नियुक्त किया है। उसी के आदेश से इस काव्य की रचना की जा रही है" इस काव्य की उद्दाम और अश्लील भावनाओं से रोम का सम्राट ऑगस्टस सीजर जो वहाँ की भोगविलास जनता का नैतिक सुधार करना चाहता था बहुत क्रोधित हो गया और उसने इस कवि को देश निकाला दे दिया। देश निकाले की स्थिति में इसने अपनी पत्नी और पुत्री को जो पत्र लिखे वे "ट्रिस्टिया" के नाम से संग्रहित किये गये। इन पत्रों में वेदना और करुण रस की एक अविरल धारा बहती हुई दिखलाई देती है।

ओविद के काव्य और उसकी कविताओं पर अश्लीलता और उद्दाम वासना के प्रदर्शन का आरोप लगाया जाता है। ऐसी भी किम्वदन्ती है कि उनकी इन कविताओं से आकर्षित होकर सम्राट ऑगस्टस की दोहिती छोटी जूलिया

का इससे प्रेम हो गया था और इसी अपराध में कवि का भी निर्वासन हुआ और करीब-करीब इसी समय जूलिया को भी निर्वासन-दण्ड भोगना पड़ा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह कवि प्रेम और शृंगाररस का कवि था और इस प्रकार के काव्यों में अश्लीलता की झलक किसी मात्रा में आ ही जाती है। फिर अश्लीलता का मापदण्ड भी हर एक युग में अलग-अलग रहता है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि प्राचीन काल के इस कवि की कविता में ओज है, माधुर्य है और निर्झर का प्रवाह भी है। कवि की अन्य रचनाओं में "हेरोइडेस' नामक प्रेम-पत्रों का संग्रह और "फास्टी" का नाम भी उल्लेखनीय है।

ओवेन रावर्ट

कार्लमार्क्स का अभिन्न साथी, "सोशलिज्म' शब्द का प्रथम पुरस्कर्त्ता, इंग्लैण्ड का उद्योगपति जिसका जन्म सन् १७७१ में और मृत्यु सन् १८५८ में हुई।

सबसे पहले सन् १७६९ में 'ओवेन' मैन्चेस्टर की एक सूती मिल के प्रबन्धक नियुक्त किये गये। मिल में काम करने वाले मजदूरों की दुरावस्था और उद्योगपतियों द्वारा उनके शोषण की प्रक्रिया को देखकर उनके मन में मजदूरों के प्रति सहानुभूति की भावनाएँ उत्पन्न हुईं।

उसके पश्चात् जब वे न्यूलेनार्क मिल में साझीदार हो गये तब उन्हें अपने विचारों को क्रियात्मक रूप देने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ। उन्होंने मजदूरों की सुख सुविधा उनके बच्चों की शिक्षा और चिकित्सा के लिए अपने मिल में पूर्ण सुविधाएँ उपलब्ध कीं। इतना होने पर भी व्याव-सायिक दृष्टि से वह मिल दूसरी मिलों से अधिक समुन्नत रही। इस प्रकार ओवेन ने सबसे पहले औद्योगिक क्रान्ति से पीड़ित ब्रिटेन में सामाजिक न्याय और मनुष्यत्व की भावनाओं का एक व्यवहारिक आदर्श सामने रक्खा जिसकी उस युग को बड़ी आवश्यकता थी।

उन्हीं दिनों कम्यूनिज्म सिद्धान्त के पुरस्कर्त्ता महान् विचारक कार्लमार्क्स लन्दन में बैठकर अपनी नवीन विचार धारा का प्रचार कर रहे थे। ओवेन और मार्क्स का पारस्परिक विचार साम्य होने से दोनों का परिचय और घनिष्ठता शीघ्र ही हो गई और दोनों एक दूसरे के पूरक बन गये।

अपने विचारों का प्रतिपादन ओवेन ने अपने ग्रन्थ A View of Society (ए व्यू आफ सोसायटी) तथा Principal of the formation of the Human Society नामक ग्रन्थों में किया है। ओवेन के मतानुसार सामाजिक कलह और अशान्ति का मूल कारण मशीनों के साथ मानवीय श्रम की प्रतियोगिता है। अतएव उसने एक ऐसी समाज रचना की उपयोगिता बतलाई जिसमें मशीनों का प्रयोग मानव-कल्याण पर आधारित हो। ओवेन धर्मसंस्था की रूढ़िवादिता और उसके अनुयायियों के अन्ध विश्वास के बहुत खिलाफ था।

अपनी विचारधारा को क्रियात्मक रूप देने के लिए उन्होंने अमेरिका के इण्डियाना नामक स्थान पर एक छोटे से संस्थान की स्थापना अपने निजी व्यय से की जिसका नाम "न्यू हारमनी" रक्खा गया। उनका विचार था कि संसार ऐसे छोटे छोटे संस्थानों में विभाजित होकर शान्ति पूर्वक रह सकता है।

मगर उस समय की तत्कालीन परिस्थितियों और समाज-संगठन की विषमताओं के कारण उनकी योजनाएँ सफलता प्राप्त न कर सकीं। लेकिन आगे चलकर उसके सहयोगी कार्लमार्क्स के प्रयत्नों से संसार में जिस महान् क्रान्ति का आविर्भाव हुआ उसका मूल्यांकन करते समय भी रावर्ट ओवेन की सेवाओं को नहीं भुलाया जा सकता।

ओसाका

जापान का एक प्रमुख औद्योगिक नगर और रेलों का प्रमुख जंक्शन।

ओसाका जापान का एक प्रमुख औद्योगिक नगर है। यह तीन तरफ पहाड़ों से घिरा हुआ है और इसके चौथी ओर ओसाका की खाड़ी है। सन् १६४ में इस नगर की आबादी बत्तीस लाख तक पहुँच गई थी। मगर दूसरे महायुद्ध की समाप्ति पर इसकी आबादी घट कर केवल १६ लाख रह गई।

ओस्लो

नार्वे देश की राजधानी और उस देश का सबसे बड़ा और सुन्दर *नगर।*

ओस्लो का प्राचीन नाम "क्रिस्तानिया" था जो नार्वे के राजा क्रिश्चियन चतुर्थ के नाम पर सन् १६२४ में रक्खा गया था। १९२५ में इसका नाम बदल कर "ओस्लो" रक्खा गया। यह नगर रेलों का बहुत बड़ा जंक्शन है और एक बड़ा औद्योगिक केन्द्र भी है। यहाँ पर जहाज बनाने भिन्न-भिन्न प्रकार के सूती, रेशमी, ऊनी कपड़े बनाने, एल्यूमिनियम तैयार करने, लोहा गलाने इत्यादि कई प्रकार के उद्योगों के कारखाने बने हुए हैं।

ओस्टवाल्ड

सन् १९०९ में रसायन-शास्त्र पर नोबेल पुरस्कार विजेता विलियम ओस्टवाल्ड जिनका जन्म सन् १८५३ में और मृत्यु सन् १९३२ में हुई।

विलियम ओस्टवाल्ड लिपजिग कॉलेज में प्रोफेसर थे। भौतिक रसायनशास्त्र पर उन्होंने कई महत्वपूर्ण अनुसन्धान किये। इससे वैज्ञानिक क्षेत्र में उनकी अच्छी ख्याति हो गई। रसायनशास्त्र सम्बन्धी क्रियाओं की गति और संतुलन अर्थात् कैटालिसिस और इक्वीलिब्रियम पर अनुसन्धान करने पर उन्हें १९०९ का नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ।

ओसवाल

भारतवर्ष की, विशेषतया राजस्थान की एक प्रमुख जाति जिसकी उत्पत्ति राजस्थान की "ओसियाँ" नामक नगरी से मानी जाती है।

ओसवाल-जाति की उत्पत्ति कब और कैसे हुई इसका कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। फिर भी इस जाति के भाट, भोजक और यतियों के पास जो दन्त और किंवदन्तियाँ उपलब्ध हैं, वह इस प्रकार है—

१—विक्रम संवत् ११९१ में लिखे हुए, उपकेश गच्छ चरित्र, *नामक ग्रन्थ के अनुसार विक्रम संवत् से चार* सौ वर्ष पूर्व उपलदेव नामक व्यक्ति ने उपकेशपुर या ओसियाँ नगरी की स्थापना कर वहाँ पर अपना राज्य स्थापित किया। इसी राजा उपलदेव को भगवान् पार्श्वनाथ के सातवें पट्टधर आचार्य रत्न प्रभसूरि ने जैनधर्म की दीक्षा देकर जैन बनाया। कहा जाता है कि राजा की कुलदेवी ओसियाँ ने भी इन आचार्य्य से जैनधर्म की दीक्षा ली और अपने मन्दिर में किसी प्रकार के बलिदान या हिंसा का निषेध कर दिया। तब से आज तक इस मन्दिर में यही परम्परा चल रही है। राजा के साथ ही उस नगरी के सब नागरिकों ने भी जैन धर्म की दीक्षा ली और वे सब *"ओसवाल" नाम से प्रसिद्ध हुए।*

२—ओसवालों के भाट और भोजकों के मतानुसार *ओसवाल जाति की उत्पत्ति का घटनाक्रम बिलकुल उपरोक्त* ढङ्ग का ही है। सिर्फ वे लोग उपलदेव, रत्नप्रभ सूरि और ओसियाँ नगर की स्थापना का समय विक्रम संवत् २२२ मानते हैं। घटनाएँ और किंवदन्तियाँ ज्यों की त्यों हैं।

३—तीसरा मत आधुनिक इतिहासकारों का है। इस मत के लोग भी ओसियाँ नगरी का स्थापक उपलदेव परमार को ही मानते हैं जो किसी कारणवश अपना देश छोड़कर मण्डोवर के पड़िहार राजा की शरण में आया था। मगर इस राजा के समय के सम्बन्ध में आधुनिक इतिहासकार प्राचीन किंवदन्तियों को प्रामाणिक नहीं मानते। भीनमाल और आबू में मिले हुए शिलालेखों के आधार पर वे इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि आबू के परमारों का मूल पुरुष "धूमराज" माना जाता है मगर आबू के शिलालेख में परमारों का वंशवृक्ष "उत्पलराज" से शुरू किया जाता है। इस उत्पलराज या उपलदेव का *समय विक्रम की दसवीं शताब्दी के मध्य में माना* जाता है और यही समय ओसियाँ नगरी के बसने का और ओसवाल जाति की स्थापना का हो सकता है, मगर साथ ही यह प्रश्न भी विचारणीय होता है कि जैनाचार्य्य वप्पभट्ट सूरि जो कि आठवीं सदी में हुए थे उनके समय में ओसवालों के अठारह मूल गोत्रों की स्थापना हो चुकी थी और उन्होंने स्वयं भी कुछ गोत्रों की स्थापना की थी। इससे ओसवाल जाति की उत्पत्ति का समय विक्रम की आठवीं सदी से पहले का ही माना जा सकता है।

जो भी हो, मगर इतना निश्चित है कि आचार्य्य रत्नप्रभ सूरि ने राजा उत्पलदेव पर प्रभाव डालकर ओसियाँ नगरी में जितने भी नागरिक थे सबको जैनधर्म की दीक्षा देकर "ओसवाल" नाम से घोषित किया।

शुरू-शुरू में इस जाति के १८ मूल गोत्रों की स्थापना हुई जिनके नाम (१) तातेड़ (२) बाफणा (३) करणावट (४) बलाहा (५) मोरख (६) कुलहट (७) विरहट (८) श्री श्रीमाल (९) श्रेष्ठि (१) संचेती (११) आदित्य नाग (१२) भूरि (१३) भद्र (१४) चिंचट (१५) कुमट (१६) डिडू (१७) कन्नौजिया (१८) लघुश्रेष्ठि।

इन अठारह गोत्रों के पश्चात् इनकी शाखाएँ और उपशाखाएँ भिन्न-भिन्न जैनाचार्यों ने स्थापित कीं। इन शाखा उपशाखाओं की संख्या १४८४ मानी जाती है।

आचार्य्य रत्नप्रभ सूरि के पश्चात् आगे के जैनाचार्यों ने भी लोगों को उपदेश दे देकर इस जाति के अन्दर मिलाना बड़े उत्साह से प्रारम्भ किया। इन आचार्यों में जयभट्टसूरि (संवत् ८) राख कोठारी गोत्र के स्थापक आचार्य्य नेमचन्द्र सूरि (संवत् ९५) बरड़िया गोत्र के स्थापक, वर्द्धमान सूरि (संवत् १ ४५) संचेती, लोढा और पीपाड़ा गोत्र के स्थापक जिनेश्वर सूरि (सं १ ९१) भण्डारी और दूगड़ गोत्र के स्थापक, अभयदेव सूरि (सं १ ७२) खेतसी, पगारिया और मेड़तवाल गोत्र के संस्थापक, मलधारी हेमचन्द्रसूरि [illegible] सुराणा सिंघवी [illegible] शाखा पूनमियाँ इत्यादि गोत्रों के स्थापक जिनवल्लभ सूरि (संवत् ११४) कांकरिया चोपड़ा, बब्बर, कोठिया ललवानी बरमेचा हरकावत मल्लावत शाह सोलंकी इत्यादि गोत्रों के स्थापक जिनदत्त सूरि (संवत् ११३२) पारेख कोठारी धाड़ीवाल दूगड़ श्रीश्रीमाल [illegible] [illegible] पूगलिया रांका सेठिया बोथरा डाकलिया लूणिया बच्छावत भण्डशालिया इत्यादि अनेक गोत्रों के स्थापक, श्री जिन चन्द्र सूरि (संवत् ११९७) बापारिया [illegible], [illegible], [illegible] दूगड़ सेठावत [illegible] पालावत इत्यादि अनेक गोत्रों के स्थापक जिन कुशल सूरि (संवत् १३३) बांठिया, बम्बिया डागा इत्यादि ११ गोत्रों के स्थापक, इसी प्रकार १८ गोत्र के संस्थापक जिन चन्द्र सूरि, भण्डारी गोत्र के संस्थापक श्री भद्र सूरि (१४७८) गेलड़ा गोत्र के संस्थापक श्री जिन हंस सूरि (१५५२) इत्यादि आचार्य्यों के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस जाति की संस्थापना के पश्चात् इस जाति के अनेक तेजस्वी लोगों ने राजनैतिक, व्यापारिक और धार्मिक सभी क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा का पूर्ण परिचय देना प्रारम्भ किया।

जोधपुर उदयपुर, बीकानेर इत्यादि रियासतों के इतिहास को देखने से पता चलता है कि सोलहवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं सदी के प्रथम चरणार्द्ध तक इन रियासतों के शासन-संचालन में ओसवाल मुत्सद्दियों का काफी हाथ रहा है। जोधपुर स्टेट के इतिहास में साढ़े चार सौ वर्षों में करीब सौ दीवान ओसवाल रहे। जिनमें मुहणोत नैणसी, सिंघी इन्द्रराज, भण्डारी गंगाराम इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। मेवाड़ के इतिहास में ओसवाल जाति के भामा शाह ने देशरक्षा के लिए अपनी लाखों रुपये की समस्त सम्पत्ति महाराणा प्रताप को भेंट कर अपना नाम अमर कर दिया। इसी प्रकार बीकानेर के इतिहास में कर्मचन्द बच्छावत का नाम भी अत्यन्त उल्लेखनीय है।

धार्मिक क्षेत्र में ओसवाल जाति के पुरुषों द्वारा बड़े-बड़े इतिहास प्रसिद्ध कार्य सम्पन्न हुए। इनमें पाली ताना, जैसलमेर राणापुर इत्यादि के मन्दिर बहुत प्रसिद्ध हैं।

व्यापारिक क्षेत्र में भी ओसवाल जाति के लोगों ने अपनी प्रतिभा का पूरा परिचय दिया। जिस समय देश में रेल मोटर तार टेलीफोन इत्यादि संचार साधनों का बिलकुल अस्तित्व न था और रास्ते चोर डाकुओं से भरे रहते थे उस युग में भी इस जाति के लोगों ने आसाम, बंगाल कलकत्ता मुर्शिदाबाद मद्रास बम्बई इत्यादि सुदूरवर्ती क्षेत्रों में जाकर अपने व्यापार को चमकाया था और समस्त भारत के व्यापारिक क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया था।

इनमें जगत्सेठ माणिकचन्द्र का नाम इतिहास में बहुत प्रसिद्ध है। सेठ माणिकचन्द्र के पिता सेठ हीरानन्द राजस्थान में नागोर के रहने वाले एक मामूली गृहस्थ थे किसी यति से मुहूर्त लेकर वे यात्रा को निकले और मुर्शिदा

बाद में बस गये। यहीं पर इनके पुत्र जगत्‌सेठ माणिकचन्द्र हुए। जिनके अटूट वैभव का वर्णन करते हुए तत्कालीन मुसलमान इतिहास-लेखकों ने लिखा है कि जगत् सेठ के यहाँ इतना सोना चाँदी और जवाहरात थे कि अगर वह चाहता तो गंगाजी के ऊपर सोने-चाँदी का पुल बना सकता था। मुताखरीन नामक ग्रन्थ में लिखा है कि उस समय सारे भारतवर्ष में जगत् सेठ के बराबर कोई दूसरा सेठ न था। बंगाल में चलने वाले सारे सिक्के जगत सेठ की टकसाल में ढलते थे बंगाल की राजनीति पर भी जगत्‌सेठ का गहरा प्रभाव था।

इस समय भी ओसवाल जाति के लोग सारे भारतवर्ष में फैले हुए हैं। हालांकि व्यापारिक और औद्योगिक क्षेत्र में दूसरे महायुद्ध के पश्चात् इस जाति का प्रभाव कम पड़ गया है। फिर भी व्यावसायिक क्षेत्र में अभी भी इस जाति का काफी प्रभाव है।

ओसवाल जाति के लोग वैसे तो सारे भारत में हैं पर प्रान्तीयता की दृष्टि से वे मारवाड़ी गुजराती और पंजाबी इन ३ भागों में विभक्त हैं। राजस्थानी और पंजाबी ओसवालों में प्रायः शादी सम्बन्ध प्रचलित हैं। पर गुजरात और राजस्थान के ओसवालों में अभी शादी सम्बन्ध प्रचलित नहीं है।

धर्म की दृष्टि से ओसवाल प्रायः जैन धर्म के अनुयायी हैं। फिर भी इस जाति के लोगों में हर व्यक्ति को इस बात की स्वतन्त्रता है कि वह भारतीय संस्कृति में प्रचलित किसी भी मत का अनुसरण कर सकता है। इससे उसको जातीय प्रतिष्ठा या शादी विवाह में कोई अड़चन नहीं पड़ती। यही कारण है कि मध्ययुग में राज दरबार में रहने वाले ओसवाल मुत्सद्दियोंने राज्यधर्म या वैष्णव धर्म को ग्रहण कर लिया उन लोगों के वंशज आज भी उसी धर्म का पालन कर रहे हैं। इसीलिए ओसवाल जाति में वैष्णव राम स्नेही वल्लभ पंथी जैन मन्दिर आम्नाय जैन स्थानक वासी जैन तेरापंथी इत्यादि सभी मतमतान्तरों के लोग पाये जाते हैं। इस समय सारे देश में ओसवालों की संख्या पाँच लाख से अधिक है।

ओसार-हद्दो

प्राचीन असीरिया का एक उदार और दयालु-शासक जिसका समय ई पू ६८१ से ई पू ६६९ तक माना जाता है।

ओसारहद्दो राजा सेन्नाचिरिब का पुत्र था। यह उदार हृदय का दयालु शासक था। अधिकार प्राप्ति के साथ ही इसने अपने राज्य को व्यवस्थित कर बेबीलोनिया को स्वतन्त्र कर दिया। उस समय ऐलाम नगरराज्य में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा हुआ था इस राजा ने वहाँ के अकाल ग्रस्त लोगों को भरपूर सहायता देकर उनकी रक्षा की। इस प्रकार यह राजा उस युग में बड़ा लोक प्रिय हो गया था।

ई पू ६७१ में इसने मिश्र पर विजय प्राप्त कर मिश्र के नगर मेम्फीस को अपनी औपनिवेशिक राजधानी बनाया। ई पू ६६९ में इसकी मृत्यु हो गई।

औदीच्य

गुजराती ब्राह्मणों की एक शाखा।

औदीच्य ब्राह्मण ११ प्रकार के होते हैं। १—सिद्धपुरी २—सिहोरी ३—टोलकी ४—कुनबिया ५—मोढिया ६—दर्भिया ७—गम्भीरी ८—खेडिया, ९—मारवाड़ी, १०—कच्छी और ११—रागदिया।

यह जाति विशेष कर के कच्छ, गुजरात और खम्भात की खाड़ी के उपकूल में रहते हैं। इस जाति के अधिकांश लोग पुरोहिताई का काम करते हैं। आजकल के पढ़े-लिखे लोग सरकारी नौकरी और व्यवसाय भी करते हैं।

औद्योगिक-क्रांति और मशीन युग

अठारहवीं सदी में यूरोप के अन्दर होनेवाली एक महान् औद्योगिक क्रान्ति।

सम्पूर्ण विश्व इतिहास में, अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में मशीन युग का प्रारम्भ और उसके परिणाम-स्वरूप औद्योगिक क्रांति का विकास, अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना है, जिसने मानव समाज के हजारों वर्षों से चले आते ढाँचे को मनुष्य के सोचने समझने के तरीकों को और सैकड़ों वर्षों से चली आई उसकी सामाजिक और धार्मिक धारणाओं को आमूल से परिवर्तित कर दिया।

मशीन की उत्पत्ति

मशीन की उत्पत्ति का इतिहास बड़ा रोचक और मनोरंजक है। कहा जाता है कि सोलहवीं सदी के अन्तर्गत किसी जर्मन मिस्त्री ने कपड़ा बुनने के लिए एक साधारण शीघ्रगामी करघे का निर्माण किया। इस पर डैन्जिग की नगर-सभा ने इस डर से कि इस आविष्कार से सैकड़ों कारीगर दर दर के भिखारी बन जायेंगे उस मशीन को नष्ट कर दिया और उसके बनाने वाले मिस्त्री को पानी में डुबोकर मार डाला।

इससे पता चलता है कि उस युग में लोगों के हृदय में मशीनों के प्रति सख्त नफरत के भाव थे क्योंकि उनका विश्वास था कि इस प्रकार की मशीनों के निर्माण से सैकड़ों कारीगरों के बेकार हो जाने का भय रहता है। इसी भावना के परिणामस्वरूप सत्रहवीं शताब्दी में जब इसी प्रकार की मशीन फिर प्रकट हुई तो उसके विरोध में सारे यूरोप में दंगे-फिसाद शुरू हो गये और मशीन तोड़ने वालों का एक संगठन तैयार हो गया। मशीन का उपयोग रोकने के लिए कई जगह कानून बनाये गये और कहीं कहीं तो बीच बाजार में सबके सामने इसमें आग लगाई गई।

पर इतने विरोधों के बावजूद मशीन का आगमन रुका नहीं और अनेक दंगे-फसादों के होते हुए भी इंग्लैण्ड में मशीनों की सत्ता स्थापित हो गई।

सन् १७८५ में जेम्सवाट ने भाप के इंजिन का सफलता पूर्वक आविष्कार कर लिया। इसके पहले ही सन् १७६४ में हारग्रीव्ज सूत कातने की मशीन का आविष्कार कर चुका था। इन दोनों आविष्कारों के सहयोग से इंग्लैण्ड में सूत कातने और कपड़ा बुनने के बड़े-बड़े कारखानों का निर्माण होने लगा और सन् १८ तक इंग्लैण्ड में कई बड़े बड़े कारखाने दिखलाई देने लगे।

इसका परिणाम यह हुआ कि पहले जो मजदूर छोटे पैमाने पर उत्पादन करते थे उनकी उत्पादन प्रणाली इस मशीन-युग से एक दम कमजोर पड़ने लगी। मशीनों के द्वारा चीजें बनकर बाजार में इतनी सस्ती आती थी कि उस भाव में पुराने औजारों से घर पर बनाकर बेचना उनके लिए सम्भव न था। परिणाम स्वरूप इस प्रतिस्पर्धा में उन्हें अपने छोटे-छोटे कारखाने बन्द करने पड़े और मजबूरन उनको उन बड़े-बड़े कारखानों में जाकर मजदूरी के लिए मोहताज होना पड़ा। उद्योग पतियों ने उनको बहुत साधारण मजदूरी की दर पर काम करने के लिए रखना प्रारम्भ किया। इन मजदूरों से नाम मात्र की मजदूरी पर पन्द्रह पन्द्रह घण्टे कमतोड़ काम लिया जाता था और मुनाफे की सारी रकम इन उद्योग पतियों की जेब में चली जाती थी।

शोषण की जो प्रक्रिया पहले सामन्तवादी राजपुरुषों के द्वारा की जाती थी अब इन पूँजीवादी उद्योग-पतियों के द्वारा की जाने लगी। मशीनों की सहायता से एक आदमी २ या उससे भी अधिक आदमियों के बराबर उत्पादन कर लेता था मगर उद्योगपति उसको एक आदमी की मजदूरी देकर बाकी उन्नीस आदमियों की मजदूरी स्वयं हड़प जाते थे।

इस प्रकार इस मशीन युग के प्रभाव का पहला असर पूँजी-पतियों और मजदूरों के बीच में धीरे-धीरे संघर्ष के रूप में पैदा हुआ।

मशीन युग का दूसरा घातक परिणाम यह हुआ कि तेजी के साथ बढ़ते हुए उत्पादन को खपाने के लिए इन उत्पादक देशों को नई नई मण्डियों की आवश्यकता हुई और साथ ही इस माल को बनाने के लिए कच्चे माल की भी आवश्यकता पैदा हुई। इसके परिणाम-स्वरूप उपनिवेशवाद की जड़ दिन प्रतिदिन गहरी होने लगी। इंगलैंड, फ्रांस इत्यादि देशों ने अपनी औद्योगिक स्थिति को मजबूत बनाये रखने के लिए इन उपनिवेशों को हर तरह से लूटना खसोटना शुरू किया। अपने कारखानों के बने हुए मालों से इन उपनिवेशों के बाजारों को पाट कर वहाँ के हस्त-उद्योग और कारीगरी को इन लोगों ने नष्ट भ्रष्ट कर दिया।

वास्तव में अंग्रेज इन उपनिवेशवादियों में सबसे अधिक भाग्यशाली थे जिनके सौभाग्य से मशीन-युग का पहला प्रारंभ भी उन्हीं के देश में हुआ जिससे इस युग का असली फायदा उन्होंने ही उठाया और फिर मंडी के रूप में उन्हें भारत के समान विशाल देश प्राप्त हो गया, जिससे उन्हें अपने उत्पादन को खपाने की कोई चिन्ता न रही।

मगर इन सब बातों के बावजूद मशीन युग के जो अनिवार्य परिणाम थे उनसे कोई देश न बच सका। इस युग के परिणाम-स्वरूप जो महान् औद्योगिक क्रान्ति संसार में हुई, उसने सम्पूर्ण मानव इतिहास की धारा को बदल दिया।

जिस समय फ्रांस में क्रांति की आँधी देश के एक छोर से दूसरे छोर तक चल रही थी उसी समय इंगलैंड में एक अपेक्षाकृत अधिक शान्त मगर महत्त्वपूर्ण क्रान्ति सम्पन्न हो रही थी। इसका वर्णन करते हुए फ्रेडरिक एंगल्स नामक समाजवाद का आचार्य एक स्थान पर लिखता है—

"इंग्लैंड में भाप से चलने वाली नई मशीनें उत्पादन को आधुनिक उद्योग में रूपान्तरित किए जा रही हैं और इस प्रकार पूँजीवादी समाज के पूरे मूलाधार में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर रही हैं। इन मशीनों के फलस्वरूप पहले अति मन्द गति से होने वाला उत्पादन तूफानी प्रगति से बढ़ गया है जिसके परिणामस्वरूप समाज तेजी के साथ सम्पन्न पूँजीपति और सम्पत्तिविहीन मजदूर—इन दो वर्गों में विभाजित होता चला जा रहा है। इस तूफानी उत्पादन प्रणाली से भयंकर सामाजिक बुराइयाँ पैदा हो रही हैं। बड़े शहरों के सबसे गन्दे मुहल्लों में एक बेघरबार आबादी भेड़-बकरियों की तरह भर गई है। सभी परम्परागत नैतिक बन्धन पितृसत्तात्मक अधीनता तथा पारिवारिक नाते-रिश्ते ढीले पड़ गये हैं। मजदूरों से खासतौर से स्त्रियों और बच्चों से लोमहर्षक हद तक अत्यधिक श्रम कराया जाता है। सहसा बिल्कुल नई परिस्थितियों में लाकर पटक दिये जाने के फलस्वरूप मजदूर वर्ग का नैतिकबल—मनोबल एकदम टूट गया है।"

ऐसी स्थिति में इस क्रिया की प्रतिक्रिया होना अवश्यंभावी थी। नैतिक बल के टूट जाने पर भी मजदूरों के हृदय में अपनी असहाय अवस्था के प्रति असन्तोष और पूँजीपतियों की शोषण-क्रिया के खिलाफ घृणा के भाव तो बढ़ते ही जा रहे थे।

ऐसे ही समय में 'राबर्ट ओवेन' नामक २८ वर्ष का एक नवयुवक पैगम्बर की तरह मजदूरों के बीच प्रकट हुआ। यह स्वयं एक उद्योगपति था परन्तु इसके स्वभाव में मजदूरों के प्रति हर दर्जे की सहानुभूति भरी हुई थी। सन् १८०० से सन् १८२९ ई० तक ओवेन स्कॉटलैंड की न्यूलैनार्क नामक एक बड़ी रुई मिल का मैनेजिंग पार्टनर था। इसने अपनी मिल का संचालन मजदूरों के प्रति अधिक उदार दृष्टि रखते हुए अपनी स्वतंत्र बुद्धि से किया। इस कार्य में उसको इतनी बड़ी सफलता मिली कि वह सारे यूरोप में प्रसिद्ध हो गया। अपनी मिल की एक ऐसी आबादी को जिसमें तरह तरह के दुराचारी और भ्रष्ट लोग आकर रहने लग गये थे और जिनकी संख्या धीरे धीरे २५०० तक पहुँच गई थी, राबर्ट ओवेन ने एक ऐसी आदर्श बस्ती के रूप में बदल दिया जिसमें शराबखोरी, पुलिस, मैजिस्ट्रेट, दान गरीबों की सहायता के कानून जैसी चीजों को कोई जानता तक न था और यह सब उसने केवल मनुष्यों को मनुष्योचित परिस्थितियों में रखकर और विशेषकर नई पीढ़ी का ध्यानपूर्वक लालन-पालन करके किया था।

जब कि दूसरे कारखानों में कारखानेदार मजदूरों से प्रतिदिन १३ १४ घण्टे काम लिया करते थे तब न्यूलैनार्क में प्रतिदिन १० ॥ घण्टे काम लिया जाता था। इसके बावजूद भी इस मिल का मुनाफा दूसरी मिलों की अपेक्षा बहुत अधिक था। ओवेन का कथन था कि—

"२५ सौ व्यक्तियों की इस आबादी का काम करने वाला भाग समाज के लिए उतना वास्तविक धन पैदा कर देता है जितना धन पैदा करने के लिए मशीन-युग के पूर्व छः लाख की आबादी के काम करने वाले भाग की आवश्यकता होती। अब प्रश्न होता है कि २५ सौ व्यक्ति जितना धन खर्च करते हैं और ६ लाख व्यक्ति जितना धन खर्च करते उसका अन्तर कहाँ चला गया। उत्तर स्पष्ट है कि वह कारखाने के मालिकों की जेबों में चला गया। १ लाख पौंड से अधिक अलग मुनाफा उनकी लगाई हुई पूँजी पर इस्तेमाल होता था जिस पर वास्तव में उनका कोई अधिकार नहीं है जिस पर वास्तविक अधिकार मजदूरों का है। इस नवीन विराट उत्पादक शक्ति के अन्तर्गत ओवेन को समाज के पुनर्निर्माण का आधार मिल गया। उसका कहना था कि भविष्य में इस सारे उत्पादन को सामूहिक सम्पत्ति के रूप में सबकी भलाई के लिए काम

में लाया जायगा। इस प्रकार ओवेन ने 'साम्यवाद' शब्द का और उसकी प्रारम्भिक दिशा का सूत्रपात किया।

जब ओवेन साम्यवाद की दिशा में बढ़ा तो उसके पूरे जीवन में एक नवीन मोड़ आ गया। अब तक जब कारखानेदार और राजवंशीय तथा सम्मानित लोग ओवेन को एक परोपकारी, दानवीर और उदार व्यक्ति समझ कर जहाँ उसकी इज्जत और सम्मान करते थे, वहाँ उसकी साम्यवादी दलीलों को सुनकर उन सब के कान खड़े हो गये।

जब ओवेन ने कहा कि निजी सम्पत्ति, धर्म तथा विवाह का वर्तमान स्वरूप—ये तीन बड़ी रुकावटें समाज सुधार का रास्ता रोके हुए हैं तो सारे समाज में उसके खिलाफ विरोध की आँधी उठी हो गई। उसको समाज से निर्वासित कर दिया गया। आर्थिक रूप से भी वह तबाह हो गया। तब उसने सीधे मजदूर-वर्ग से सम्बन्ध स्थापित किया और मजदूरों के हित के लिए काम करने लगा। इंग्लैंड की तमाम ट्रेड-यूनियनों ने जिस पहली कांग्रेस में अपना एक महान् संयुक्त रूप बनाया था उस कांग्रेस का ओवेन अध्यक्ष था।

फिर भी यह तो निश्चित है कि उस वातावरण में ओवेन की क्रान्तिकारी विचारधारा को सफलता नहीं मिली और उस अवसर असफलता का सामना करना पड़ा। फिर भी आगे जो क्रान्ति आने वाली थी उसके लिए इस महान् व्यक्ति ने एक सुदृढ़ धरातल अवश्य तैयार कर दिया।

इसी समय एक प्रतिभाशाली और तेजस्वी व्यक्तित्व इस क्षेत्र में अवतीर्ण होता है। वह सारे संसार के लिए एक नवीन समाज व्यवस्था जीवन के नये सिद्धान्त और मानवीय इतिहास का एक नवीन ढंग का अध्ययन लेकर पुरानी समाज-व्यवस्था को चुनौती देता है। उसकी लेखनी में बल था उसकी वाणी में तेज था उसके अध्ययन में गम्भीरता थी।

वह व्यक्ति कार्लमार्क्स था। उसने समग्र मानवीय इतिहास का अध्ययन कर "ऐतिहासिक भौतिकवाद" के सिद्धांत का निरूपण किया। इसने बतलाया कि समग्र मानवीय इतिहास में समाज-रचना का आधार धर्म और दर्शनशास्त्र पर नहीं बल्कि अर्थशास्त्र और उत्पादन तथा वितरण की प्रथाओं पर आधारित रहता है।

उसने समाजवाद और साम्यवाद पर और भी पूरे सिद्धांतों का निरूपण कर, वर्तमान मशीन-युग में वितरण की जो अव्यवस्था फैल रही है और उत्पादन की सारी मलाई और सारभूत तत्व पूँजीपति निगल जाते हैं और सर्वहारा मजदूर वर्ग को कुछ नहीं मिलता, इस अव्यवस्था को दूर करने के लिए सन् १८४८ में एक कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो सारे संसार के मजदूर वर्ग के नाम पर प्रकाशित किया। जिसमें तीन बातों पर विशेष जोर दिया गया।

१—संसार का इतिहास हमेशा आर्थिक संघर्ष का इतिहास रहा है। अभी तक प्रचलित सभी व्यवस्थाओं में एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण करता रहा है। इसलिए इस संघर्ष को हमेशा के लिए मिटा देने के लिए यह आवश्यक है कि समाज में केवल एक ही वर्ग रहे और वह वर्ग मजदूरों का हो, दूसरे वर्गों को समाज से मिटा दिया जाय।

२—उत्पादन की सभी सामग्री पर प्रथम अवस्था में राज्य का स्वामित्व रहे, और समाज में राज्य की व्यवस्था समाप्त होने पर उस पर समाज का स्वामित्व रहे और वही सब लोगों में उसका वितरण करे।

३—व्यक्तिगत और निजी सम्पत्ति का बिलकुल खातमा कर दिया जाय।

४—संसार के सारे मजदूर आन्दोलन का रूप अन्तर्राष्ट्रीय होना चाहिए वह किसी भी राष्ट्रीयता की सीमा में बंधा हुआ न रहे। मजदूर संगठन की सभी शाखाएँ विश्वव्यापी और पारस्परिक भ्रातृ भाव से परिपूर्ण होना चाहिए।

५—सामाजिक परिवर्तन का यह काम केवल क्रान्ति के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है, इसमें समझौतावाद की कोई गुंजाइश नहीं है।

मार्क्स के द्वारा उठाई हुई यह आवाज संसार के एक छोर से दूसरे छोर तक मजदूरों में प्रचारित हो गई और ऐसा मालूम होने लगा कि इस आवाज से समग्र मानव वर्ग जैसे एक जबरदस्त करवट ले रहा है।

इस आवाज की शक्ति को देखकर सरकार और उद्योगपतियों के कान खड़े हो गये। वह बात व समझने लग गये थे कि इस औद्योगिक युग में उत्पादन और वितरण में मजदूरों के साथ भयंकर अन्याय हो रहा

है और यदि यह असन्तोष दूर नहीं किया गया तो भविष्य उसके एक बम विस्फोट बनेगा।

तब इस वर्ग ने एक समझौतावादी रुख अंगीकार किया और मजदूरों के लिए अधिकाधिक सुविधाएँ देना प्रारम्भ किया और सरकार भी उनके हित में सुविधाजनक नये-नये कानून बनाने लगी। कई विचारशील और ख्याति प्राप्त लेखकों और विद्वानों ने भी इस समझौतावाद के पक्ष में पूँजीपतियों और मजदूरों के बीच की खाईं को पाटने के लिए लिखना और बोलना प्रारम्भ किया। मजदूरों के समझौतावादी संगठन भी बनाये जाने लगे जिनमें पहला संगठन I L O (International Labour Organisation) सन् १९१९ में स्थापित किया गया। मजदूरों के झगड़ों के भुगतान के लिए औद्योगिक न्यायालयों की उनकी शिक्षा के लिए विद्यालयों की और चिकित्सा के लिए अस्पतालों को खोलने की योजनायें बनीं। इस क्षेत्र में इङ्गलैंड अमेरिका जर्मनी और जापान सबसे आगे थे।

मगर प्रथम महायुद्ध के समाप्त होते न होते कार्ल-मार्क्स की विचारधारा ने लेनिन के नेतृत्व में रूस में अपूर्व एक महान् विजय प्राप्त कर ली। यह विशेष आश्चर्य की बात है कि कार्लमार्क्स ने जीवन भर इङ्गलैंड और अमेरिका के जिन औद्योगिक क्षेत्र में काम किया वहाँ पर उनकी विचारधारा ने मूलरूप धारण नहीं किया और जहाँ जाकर वह मूर्त हुई वहाँ अभी तक औद्योगिक क्रांति का प्रथम चरण ही प्रारम्भ हुआ था।

बात यह थी कि जारशाही के अत्याचारों और युद्ध की विभीषिकाओं से रूस की जनता अत्यन्त त्रस्त हो रही थी और वहाँ का धरातल इस नवीन पौधे के पनपने-फूलने के लिए ज्यादा अनुकूल था।

इस प्रकार प्रथम महायुद्ध के बाद क्रांतिकारी और समझौतावादी—इन दोनों विचारधाराओं की होड़ प्रारम्भ हो गई। इङ्गलैंड अमेरिका जापान तथा दूसरे कई औद्योगिक राष्ट्रों में समझौतावादी विचारधारा के और रूस में समाजवादी विचारधारा के प्रयोग बड़ी तेजी से होने लगे। दोनों ही विचारधाराएँ एक दूसरे को परस्पर सन्देह और अविश्वास की दृष्टि से देखते हुए आगे बढ़ने लगीं।

दूसरे महायुद्ध में रूस के द्वारा जर्मनी को बुरी तरह पछाड़ दिये जाने के कारण रूस की शक्ति बहुत बढ़ गई। इङ्गलैंड और फ्रांस दूसरी श्रेणी के राष्ट्र हो गये और रूस तथा अमेरिका प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों में आ गये। इसी समय संसार के जनसंख्या की दृष्टि से सबसे बड़े राष्ट्र चीन ने भी मार्क्सवाद को ग्रहण कर लिया जिससे कम्यूनिज्म की शक्ति बढ़ गई।

रूस और अमेरिका धुआँधार गति से वैज्ञानिक उन्नति करने लगे। संसार को स्पष्ट मालूम होने लगा कि रूस वैज्ञानिक होड़ में अमेरिका को पीछे कर देगा। मगर कठिनाई यह थी कि केवल वैज्ञानिक उन्नति ही तो संसार में सब कुछ नहीं है। मनुष्य की और भी समस्याएँ हैं और वे सब समस्याएँ जब तक हल नहीं होतीं तब तक मनुष्य शान्तिपूर्वक नहीं रह सकता।

रूस की आन्तरिक समस्याएँ अपार वैज्ञानिक उन्नति के बावजूद भी बनी हुई थीं। अन्न तथा खाद्य वस्तुओं की समस्याएँ भी बढ़ने लगी थीं। उधर कई तरह की कमजोरियों और प्रचार के बावजूद भी प्रजातंत्रीय देश दबने को तैयार नहीं थे। रचना और विनाश दोनों ही क्षेत्र में वे पूर्ण सुसज्जित थे। जिसका प्रभावशाली प्रमाण रूस को क्यूबा के क्षेत्र में मिल गया।

इसी से अन्त में ऐसा मालूम होता है कि रूस के आधुनिक युग के नेता ख्रुश्चेव को भी यह अनुभव होने लगा कि, इस वर्तमान संसार में केवल क्रांति या संघर्ष के सिद्धान्तों पर जीवित नहीं रहा जा सकता। शान्ति के लिए आवश्यक है दोनों ही व्यवस्थाओं को चलने फूलने का अवसर मिलना चाहिए। जिस व्यवस्था में अधिक सुख होगी मनुष्य-जाति स्वयं उसे ग्रहण कर लेगी।

इसी रचनात्मक और समझौतावादी नीति से वे रूस की रचनात्मक उन्नति कर रहे हैं और सभी समझौतावादी देशों से वे समझौते के लिए हाथ बढ़ा रहे हैं।

मगर इस समझौतावादी नीति के दूसरा साम्यवादी देश चीन बिल्कुल विरुद्ध है, वह स्टालिन के मार्ग पर विश्व क्रांति के द्वारा कम्युनिज्म के प्रचार का पक्षपाती है और इससे इन दोनों देशों के बीच में सैद्धान्तिक मतभेद पैदा हो

गये हैं और अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म के बीच एक गहरी दरार पड़ती दिखलाई देती है।

इस प्रकार एक शताब्दी से अधिक समय से जो औद्योगिक क्रांति पैदा हुई वह इन दोनों विचार धाराओं के बीच चक्कर लगा रही है। अभी तक वह निर्णायक स्थिति पर नहीं पहुँची है और कुछ समय पूर्व तक जो यह समझा जा रहा था कि यहाँ निर्णायक स्थिति कम्युनिज्म के पक्ष में ही आयेगी, यह प्रश्न विवाद ग्रस्त हो गया है। समझौता वादी शक्तियाँ पूरी तरह से निर्माण के क्षेत्र में लगी हुई हैं और ख़ुश्चेव के समान महान् कम्युनिस्ट नेता का समझौता वादी होजाना भी इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना समझी जानी चाहिए।

औद्योगिक सभ्यता

मशीन युग के प्रारम्भ और औद्योगिक क्रांति के फल स्वरूप समस्त मानव-जाति में स्थापित एक नवीन सभ्यता, जो अठारहवीं सदी से इंग्लैण्ड में प्रारम्भ होकर समस्त विश्व में फैल गई।

मशीन युग के फलस्वरूप जिस औद्योगिक क्रांति का प्रादुर्भाव हुआ उसने समाज के बाह्य कलेवर की अपेक्षा विश्व मानव के मनोवैज्ञानिक स्तर पर अपना गहरा प्रभाव डाला। इस नवीन विचारधारा ने मनुष्य के अन्तर्जगत को बुरी तरह से झकझोर डाला और उसे पुरानी परम्पराओं के एकदम विरुद्ध बिलकुल मौलिक दृष्टि बिन्दु से चिन्तन करने को मजबूर कर दिया।

संसार के इतिहास और पुराणों में प्रतिष्ठित अब तक की तमाम सभ्यताएं धर्म और नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर आधारित थीं। देश और काल के भेद से उनके व्यवहार और कार्य प्रणालियों में भेद थे मगर धर्म और नीति के जिन मूलभूत तत्वों पर वे टहरी हुई थीं वे प्रायः सब एक समान थे। इन सभ्यताओं के अनुयायी ईश्वर और देवी देवताओं पर विश्वास करते थे। पुण्य और पाप के अच्छे और बुरे परिणामों को वे मान्यता देते थे। उनके सामाजिक और धार्मिक आचरणों की हर एक देश में नियमित संहिताएं बनी हुई थीं जिन्हें कहीं स्मृति और कहीं शरह कहा जाता था। मगर सिद्धान्त रूप में सब ठीक

९

होने पर भी मनुष्य की स्वाभ प्रवृत्ति, इसमें बखेड़े भी डालती रहती थी।

चालाक और बुद्धिमान लोग धर्म की आड़ में अर्थ, वैभव और सत्ता का मनमाना उपयोग भी करते थे। बलवानों के द्वारा दुर्बलों पर अत्याचार भी होते थे। पुरुषों के के द्वारा स्त्रियाँ और उच्च वर्णों के द्वारा शूद्रों को बुरी तरह दबाया भी जाता था फिर भी इस प्रकार के आचरण या तो बुरे समझे जाते थे या इन आचरणों पर धर्म और नीति का ऐसा पालिश कर दिया जाता था जिनसे ऐसी बुराइयाँ भी धर्म का अङ्ग बन जाती थीं। प्रायः में अर्थ, वैभव और सत्ता का दर्जा धर्म और नैतिक सिद्धान्तों के नीचे समझा जाता था और शास्त्रीय ग्रन्थों में मनुष्य की भोग प्रवृत्ति की जुककर निन्दा की जाती थी। ब्राह्मणों, मौलवियों और पादरियों का राज्य और वैभव की शक्तियों पर प्रबल अंकुश रहता था।

कालान्तर में पश्चिमीय देशों में इन धर्मनेताओं की शक्ति बहुत अधिक बढ़ गई। राज्य और समाज इन लोगों के हाथ के खिलौने हो गये। अपनी महान् शक्ति, वैभव और ऐशोआराम को सुरक्षित रखने के लिए इन्होंने तरह तरह के विधान बना डाले। अपने विरोधियों पर नास्तिकता के आरोप लगा कर उन्हें धर्म अदालतों के द्वारा नाना प्रकार के कष्ट देकर जिन्दा जला दिया जाना शुरू किया गया। रोमन-चर्च मध्य युग की एक सर्वशक्ति सम्पन्न संस्था बन गई। जिसके धार्मिक अत्याचारों से तंग आकर लोग त्राहि त्राहि करने लगे।

इन प्राचीन सभ्यताओं में कुछ एशियायी देशों को छोड़कर सारे संसार में दास प्रथा का भी बहुत विकास हुआ। इस दास प्रथा के नाम पर दुर्बल मानवता पर इतिहास में बड़े भयंकर अत्याचार हुए उनका वर्णन करना कठिन है। सामन्तवाद धर्म गुरुवाद और दास प्रथा इन प्राचीन सभ्यताओं के ऐसे अभिशाप थे जिनके परिणामों को हजारों वर्षों तक मानव जाति ने सहन किया और अब वह इनसे छुटकारा पाने के लिए तड़पता रही थी।

इतिहास की इसी पृष्ठभूमि पर प्रथम पहले इंग्लैंड में मशीनयुग का प्रारम्भ हुआ। इस युग के प्रारम्भ ने मनुष्य की सारी जीवन प्रणाली और पेशों में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया। धर्मसंस्था के प्रति मनुष्य के हृदय में

को किशोर की भावना थी उसे इस नवीन युग ने मूर्त स्वरूप दे दिया। जिसकी प्रतिक्रिया के स्वरूप सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन इस युग में यह किया कि धर्म और नीति की जिन आधार शिलाओं पर अब तक मानव सभ्यता खड़ी हुई थी उन मूल आधार शिलाओं को ही खतम कर इस नवीन सभ्यता की नींव विशुद्ध रूप से "अर्थ" की आधार शिला पर स्थापित की गई। इस युग के कई विचारकों ने समग्र मानवीय इतिहास को एकमात्र आर्थिक संघर्ष का इतिहास सिद्ध करने का प्रयत्न किया। विज्ञान की दिन दिन होने वाली उन्नति ने मनुष्य का ध्यान भयानक दुष्चक्रों में फँसे हुए अध्यात्मवाद से निकाल कर विशुद्ध भौतिकवाद की तरफ प्रवृत्त कर दिया। विज्ञान के द्वारा दिन प्रतिदिन अपनी सुख सुविधाओं में होने वाली वृद्धि को देखकर मनुष्य की सारी श्रद्धा भौतिक विज्ञान में सिमट गई। ईश्वर परलोक, धर्म गुरु और अध्यात्मवाद उसे उपहास की वस्तु नजर आने लगी।

इस सभ्यता ने धर्म संस्थाओं के जाल में फँसे हुये मानव-समाज की कुण्ठित बुद्धि को आजाद कर उसे स्वतंत्रता पूर्वक चिन्तन और मनन करने का अवसर दिया। मानव समाज के भयंकर कलंक स्वरूप विश्व के एक बड़े भाग में फैले हुए दास प्रथा के अभिशाप का देखते देखते मूलोच्छेदन कर दिया। सामाजिक दुरावस्था और परदा प्रथा में जकड़ी हुई नारी जाति के बन्धन एक ही झटके में तोड़ उन्हें समाज में बराबरी से रहने का अवसर प्रदान किया। हजारों वर्षों से चली आई सामन्ती प्रथा को धूल-धूसरित कर दिया। पूँजी के एकाधिकार को चुनौती देकर श्रम और श्रम जीवियों के जीवन को उन्नत बनाया।

रेल तार रेडियो टेलिविजन वायुयान इत्यादि अनेक प्रकार के साधनों द्वारा इसने सारी विशाल दुनिया को अत्यन्त समीप और छोटे दायरे में लाकर रख दिया जिससे दुनिया के एक कोने में होने वाली घटना का परिचय उस मिनिट में दुनिया के दूसरे कोने पर मिल जाता है। इससे मनुष्य का दृष्टिकोण साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीयता से ऊपर उठकर अन्तर्राष्ट्रीयता के क्षेत्र में पहुँच गया।

युद्ध और संहार के क्षेत्र में भी विज्ञान ने मानव को ऐसी अद्भुत शक्तिशाली वस्तुएँ प्रदान की हैं जो इतिहास के ज्ञात काल में पहले कभी उसे प्राप्त नहीं हुईं। जल, स्थल, वायु, और परमाणु के क्षेत्र में कई बड़े-बड़े देशों के पास अत्यन्त सुसंगठित और आधुनिक यंत्र सज्जा से सज्जित अत्यन्त शक्तिशाली सेनाएँ हैं और वे चाहें तो चार घण्टे में सारे विश्व में अनन्त विनाश का कुहराम मचा सकते हैं।

समानता, समाजवाद और साम्यवाद भी इस सभ्यता का लोकप्रिय नारा है। यह नारा यद्यपि समस्त संसार में अपना प्रभाव जमाने में पूर्णरूप से सफल नहीं हुआ। फिर भी बड़ी बड़ी क्रान्तियों के द्वारा इसने रूस और चीन के समान बड़े देशों को और दूसरे कई छोटे-छोटे देशों को अपने अपने प्रभाव क्षेत्र में ले ही लिया है।

शुरू-शुरू में इस युग का लाभ उठाकर कई यूरोपियन जातियों ने सारे संसार में अपने साम्राज्यवाद का जाल बिछाकर समस्त मानवजाति को करीब डेढ़ शताब्दी तक गुलामी की जंजीरों में जकड़कर रक्खा। मगर इस साम्राज्यवाद को नष्ट करनेवाले प्रभावशाली तत्त्व भी इसी सभ्यता की अन्तरंग में विद्यमान थे जो दूसरे महायुद्ध के पश्चात् एकाएक प्रकट हुए और उन्होंने एक ही झटके में सारे संसार में फैले हुए विशाल साम्राज्यवाद के तानेबाने बिखेर दिये।

इस प्रकार अपने डेढ़ सौ बरस के थोड़े से समय में इस नवीन सभ्यता ने जिस महान् इतिहास का निर्माण किया वह शायद मानवीय इतिहास के प्रारम्भ से अबतक कभी न हुआ होगा।

प्रश्नवाचक चिन्ह ?

इतना सब कुछ होने पर भी यह प्रश्नवाचक चिन्ह (?) अभी तक ज्यों का त्यों कायम है कि इतने महान् परिश्रमों के बावजूद यह नवीन सभ्यता क्या विश्वव्यापी मानवीय समस्याओं को हल करने में समर्थ हुई है? क्या उसे मानव समाज में समन्वित दैवी सम्पद् का विकास करने में कोई महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। क्या मनुष्य की युद्ध लिप्सा और उसकी हिंसात्मक प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने में इसने कोई विशेष योगदान दिया है और क्या यह समस्त विश्व मानव में व्यापक शान्ति स्थापित करने की गारण्टी कर सकती है?

चाहता है मगर उसके बदले में कम से कम मेहनत करना चाहता है।

इस सभ्यता में नारी समाज की स्थिति बड़ी विचित्र हो गई है। सभी प्रकार के सामाजिक बन्धनों से वे मुक्त हो गई है। ज्ञान और विज्ञान के सभी क्षेत्र उनके लिए खुले हुए हैं मगर इस भ्रामक वातावरण की नारी साज सज्जा, शृंगार प्रसाधन वेशभूषा और केशकलाप को नये नये तरीकों से सजाकर पुरुष की भोग्य सामग्री बनने में ही अपनी चरम सफलता समझ रही है। उसके सामने जीवन के कोई गम्भीर आदर्श नहीं है। न वह आदर्श माता बनना चाहती है न आदर्श गृहिणी। अलबत्ता भोग और विलास ही उसके जीवन का लक्ष्य बन गया है।

प्राचीन सभ्यता का सादाजीवन और उच्चविचार (Simple Living & High thinking) का उपासक मनुष्य आज "खाओ पिओ और मौज करो (Eat Drink & Be marry) के सिद्धान्त का उपासक हो गया है। उसकी आवश्यकताएँ दिन दिन बढ़ती जा रही हैं इन बढ़ती हुई आवश्यकताओं को आज रहन सहन स्तर को ऊँचा उठाने का नाम दिया जाता है और इस स्टैंडर्ड ऑफ लाइफ को ऊँचा उठाने में मनुष्य को कितना भ्रष्टाचार रिश्वतखोरी और पाप करना पड़ता है इसका कोई अन्त नहीं है।

मतलब यह कि इस नवीन सभ्यता के उदय ने एक ओर जहाँ मनुष्य को एक संकीर्ण दृष्टिकोण से हटाकर एक विशाल और व्यापक दृष्टिकोण के सम्मुख उपस्थित कर दिया है, जहाँ उसने मनुष्य को सृष्टि के वैज्ञानिक रहस्यों को खोलकर प्राकृतिक शक्तियों के अनन्त भण्डार का दर्शन करा दिया है, जहाँ उसने चिकित्सा विज्ञान में अद्भुत खोजें करके मानव को स्वस्थरूप से जीने की सुविधाएँ प्रदान की हैं जहाँ उसने हजारों लाखों विद्या के केन्द्र खोलकर मनुष्य की अनन्त ज्ञान पिपासा को शान्त करने का प्रयत्न किया है और जहाँ उसने मानवता के मूल अधिकारों की घोषणाकर दुर्बल अधिकृत और शोषित मानव-समाज का कल्याण किया है वहाँ उसने समाज की मूलभूत व्यवस्था के धार्मिक और नैतिक आधारों को हटाकर उसे केवल आर्थिक आधारों पर स्थापित कर मानव की शैतान प्रवृत्ति को फलने-फूलने का पूरा अवसर दिया है। उसने मनुष्य की त्यागवृत्ति की उपेक्षाकर उसकी भोगवृत्ति को महत्ता देने का जो प्रयत्न किया है उससे संसार में एक ऐसी भयङ्कर अव्यवस्था पैदा हो गई है जिसका निराकरण मिलना कठिन हो जायगा। उसने मनुष्य की कर्तव्य भावना की उपेक्षा कर उसमें केवल अधिकारों की भावना पैदाकर समाज का महान् अकल्याण किया है, उसने सहयोग के स्थानपर संघर्ष की भावनाओं को महत्व देकर मनुष्य की युद्ध लिप्सा को अत्यन्त तीव्र कर दिया है जिससे केवल पचीस वर्षों में दो महायुद्ध हो चुके हैं और तीसरा भी समय-समय पर भड़कता रहता है।

औरंगजेब

भारत का सुप्रसिद्ध मुगल सम्राट, सम्राट् शाहजहाँ का तीसरा पुत्र और सातवीं सन्तान जिसका जन्म २४ अक्टूबर सन् १६१८ को बम्बई राज्य के दोहद स्थान में हुआ और मृत्यु ३ फरवरी सन् १७०७ को अहमद नगर में हुई।

औरंगजेब की माता शाहजहाँ की प्रिय बेगम मुमताज-महल थी जिसके स्मारक में आगरे में सुप्रसिद्ध 'ताजमहल' बना हुआ है।

बाल्यकाल से ही औरंगजेब बड़ा वीर और साहसी था। उसके साहस का पहला उदाहरण उस समय मिला जब २८ मई सन् १६३३ के दिन बादशाह शाहजहाँ ने आगरा के अन्तर्गत 'सुधाकर' और 'सूरत-सुन्दर' नामक दो हाथियों की लड़ाई का आयोजन किया था। १४ वर्ष का बालक औरंगजेब भी घोड़े पर बैठकर इस लड़ाई को देखने के लिए आया था। थोड़ी देर के पश्चात् 'सुधाकर' नामक हाथी ने अपने प्रतिद्वन्द्वी सूरत सुन्दर को सामने न पाकर औरंगजेब पर हमला कर दिया, मगर औरंगजेब साहसपूर्वक अपने घोड़े को सम्हाले हुए डटा रहा और उसने हाथी के सिर पर भाला फेंका। जब हाथी ने अपने बड़े दाँतों

की टक्कर मारकर औरंगज़ेब के घोड़े को धरती पर गिरा दिया, मगर औरंगज़ेब तुरन्त उठकर खड़ा हो गया और उसने बड़े बड़े उस हाथी का सामना किया। तब तक उसके भाई शुजा और राजा जयसिंह ने वहाँ पहुँच कर उस हाथी को घायल किया और औरंगज़ेब की जान बची।

युवराज अवस्था और सूबेदारियाँ

१४ जुलाई सन् १६३४ को सम्राट् शाहजहाँ ने औरंगज़ेब को दक्षिण का सूबेदार बनाकर भेजा। औरंगज़ेब ने औरंगाबाद में अपनी राजधानी बना कर वहाँ से ८ वर्ष तक इस सूबे का बड़ी योग्यता से शासन किया। उसके बाद वह गुजरात का सूबेदार बनाया गया। और सन् १६४५ में 'बलख और बदख्शाँ' का सूबेदार और सेनापति बनाकर सीमाप्रान्त पर भेजा गया। बलख और बदख्शाँ के प्रांत 'हिन्दूकुश' पर्वत के उस पार काबुल के उत्तर में बुखारा-राज्य के आश्रित थे। वहाँ का सुल्तान नजर मुहम्मद खाँ एक कमजोर और अयोग्य शासक था, मगर उसका लड़का अब्दुल अजीज खाँ एक योग्य तथा शूरवीर सेनापति था। बुखारा राज्य की रक्षा के लिए उसने उजबेक लोगों की सहायता से औरंगज़ेब की सेनाओं का बड़ी बहादुरी के साथ मुकाबला किया। औरंगज़ेब की सेना में खाने की सामग्री और पीने के पानी की कमी से बड़ी हाय हाय मच रही थी मगर इतने कष्ट और कठिनाइयों के बीच में भी औरंगज़ेब के धीरज, दृढ़ता और नियमन ने फौज में किसी प्रकार की अव्यवस्था तथा शिथिलता न आने दी।

एक बार जब भयंकर युद्ध चल रहा था उस समय भी नमाज का टाइम हो जाने पर औरंगज़ेब युद्ध-क्षेत्र के बीच में ही सब शस्त्रों को दूर फेंक कर चादर बिछाकर घुटने टेककर नमाज पढ़ने बैठ गया। उसका यह साहस देखकर उसके प्रतिद्वन्दी अब्दुल अजीज के दिल में उसके प्रति अत्यन्त आदर और श्रद्धा की भावनाएँ पैदा हो गई और उसने लड़ाई बन्द कर औरंगज़ेब से सुलह कर ली।

सन् १६५२ में जब औरंगज़ेब दूसरी बार दक्षिण का सूबेदार बनाकर भेजा गया, उस समय दक्षिण की आर्थिक स्थिति और किसानों की हालत बहुत खराब हो रही थी और मालगुजारी की वसूली बहुत कम हो रही थी। औरंगज़ेब ने यहाँ आते ही अपने दीवान मुर्शिदकुली खाँ के सहयोग से स्थायी मालगुजारी की व्यवस्था की। टोडर मल की सुप्रसिद्ध मालगुजारी की स्थायी व्यवस्था को दक्षिण में प्रचलित कर सुधार का आयोजन किया और किसानों को हर तरह की सुविधा देकर उन्हें बचाया। इस व्यवस्था से उसकी सूबेदारी दक्षिण में बहुत लोकप्रिय हो गई।

इसी सूबेदारी के समय में ही उसने बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्यों पर सफल आक्रमण किये।

राजगद्दी के लिए भाइयों से संघर्ष

६ सितंबर सन् १६५७ को मुगल सम्राट् शाहजहाँ एकाएक बीमार पड़ गया। उसकी बड़ी इच्छा थी कि उसके बाद उसका बड़ा लड़का 'दारा' ही साम्राज्य का उत्तराधिकारी बने।

मगर शुजा, औरंगज़ेब और मुराद भी शाहजहाँ के पश्चात् बादशाह होने का स्वप्न देख रहे थे। शाहजहाँ की बीमारी की खबर सुनते ही शुजा ने बंगाल में और मुराद ने गुजरात में अपने को भारत का बादशाह घोषित कर दिया।

औरंगज़ेब भी पूरी तरह सावधान था। उसने शुरू-शुरू में मुराद से मिलकर दारा को परास्त करके मरवा डाला और उसके बाद ५ जून सन् १६५८ को उस ने मुराद को भोजन का निमंत्रण देकर उसे गहरी शराब में बदहवास करके गिरफ्तार कर लिया और ग्वालियर के किले में कैद करके भेज दिया जहाँ ४ दिसम्बर सन् १६६१ को वह कत्ल कर दिया गया।

इसके बाद खजवाँ, टाण्डा और बंगाल की तीन लड़ाइयों में उसकी सेनाओं ने शुजा को परास्त किया। इससे परेशान होकर शुजा १२ मई सन् १६६ को भारतवर्ष छोड़कर अराकान भाग गया जहाँ व माघ-जाति के लोगों ने उसका कत्ल कर दिया। शाहजहाँ के विरोध करने पर उसने उसको भी कैदखाने में डाल दिया।

इस प्रकार अपने रास्ते की सब बाधाओं को दूर कर अपने शासन के दूसरे वर्ष ११ मई सन् १६५९ को औरंगजेब बड़ी धूम-धाम के साथ दिल्ली के सिंहासन पर बैठा और अपनी विजय के उपलक्ष में बहुत बड़ा जलसा किया।

इसके पश्चात् इस सम्राट् ने सन् १७०७ तक अर्थात् पूरे ५० वर्ष तक राज्य किया।

औरंगजेब का शासन

औरंगजेब का पूरा शासनकाल पूर्वार्ध और उत्तरार्ध—ऐसे दो भागों में विभाजित था।

पूर्वार्ध के २३ वर्ष उसके महान् वैभव और उत्कर्ष के वर्ष थे जो उसने दिल्ली और उत्तरी भारत में बिताये। इन वर्षों में उसने अपने साम्राज्य की नीति में कई मौलिक परिवर्तन किये। अनाज के आवागमन की सुविधा के लिए अपने राज्यारोहण के दूसरे जलसे के बाद ही उसने अनाज पर लगने वाले 'पंडरी' और 'राहदारी' नामक टैक्सों को मुगल साम्राज्य के खालसा इलाकों में माफ कर दिये, जिससे अनाज की कीमतें बहुत कम हो गई। इसी समय उसने शराब और नशीली चीजों के व्यवहार बन्द करने के फरमान निकाले।

बादशाह को चान्द्रवर्ष और सौर वर्ष की दो जन्म तिथियों पर सोने और चाँदी से तौलने का रिवाज चला आ रहा था। औरंगजेब ने इस प्रथा को बन्द कर दिया और सन् १६७० ईस्वी से उसने अपने जन्म-दिवस के अवसर पर होने वाले सारे उत्सवों का मनाना भी बन्द कर दिया।

इसके साथ ही उसने अपने साम्राज्य के विस्तार का सिलसिला जारी रखा और उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त होनेवाले हमेशा के विद्रोहों को दबाया। सन् १६६१ में बंगाल के सूबेदार मीरजुमला ने कूच बिहार और आसाम को जीतकर मुगल साम्राज्य में मिला लिया। और सन् १६६५-६६ में नवाब शायस्ता खाँ के लड़के उम्मेद खाँ ने अराकान प्रदेश पर जल और थल दोनों मार्गों से हमला कर चटगाँव पर कब्जा कर लिया।

इसके बाद उसने दक्षिण में गोलकुंडा और बीजापुर के राज्यों पर भी निगाह डाली और अन्त में कई हार जीतों के बाद इन दोनों रियासतों को मुगल साम्राज्य में मिला लिया।

इस प्रकार उसको चारोंओर अपने साम्राज्य का विस्तार करने में पूरी सफलता प्राप्त हुई।

इस्लाम का प्रचार

साम्राज्य-विस्तार के साथ-ही साथ इस्लाम के प्रचार की तरफ भी उसका पूरा ध्यान रहा। यह प्रवृत्ति जन्म से ही उसके अन्दर थी। साम्राज्य-प्राप्ति के पहले ही हिन्दुओं से यह बड़ा द्वेष-भाव रखता था। सन् १६४४ में जब यह गुजरात का सूबेदार था तब उसने अहमदाबाद में तत्काल ही बने हुए चिन्तामणि के हिन्दू-मन्दिर में गौ हत्या करवा कर उसे अपवित्र कर दिया और बाद में उस मन्दिर को मस्जिद में बदलवा दिया।

९ अप्रैल सन् १६६९ को उसने एक आम हुक्म निकाल कर घोषित किया कि काफिरों के सभी मन्दिर और मदरसे गिरा दिये जायँ और उनकी धार्मिक प्रथाओं को दबाया जाय। उसके इस आदेश का असर सोमनाथ के दूसरे मन्दिर, बनारस के विश्वनाथ मन्दिर और मथुरा के केशवराय-मन्दिर पर भी पड़ा। जिन्हें समस्त भारत की हिन्दू जनता बड़े आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखती थी। सन् १६८० ई. में उसने आमेर राज्य के भी सारे मन्दिर तुड़वा दिये। २ अप्रैल सन् १६७९ को औरंगजेब ने साम्राज्य के सब भागों में गैर मुसलिम लोगों पर फिर से 'जजिया' कर लगा दिया।

हिन्दुओं के साथ लगातार इस अपमानपूर्ण नीति के कारण उनके धर्म-स्थानों पर होनेवाले अत्याचारों के कारण और साम्राज्य भर में हिन्दू और मुसलमानों के बीच बरती जानेवाली भेद-पूर्ण नीति के कारण हिन्दू जनता में असन्तोष का बढ़ना स्वाभाविक था। इस असन्तोष का विस्फोट पंजाब में सिक्ख शक्ति के उदय के रूप में और दक्षिण में मराठा-शक्ति के उदय के रूप में प्रकट हुआ। ऐसे और भी कई छोटे-मोटे विद्रोह हुए

जिनमें 'तिलपट' के जाट गोकुल के नेतृत्व में होनेवाला जाट-विद्रोह विशेष उल्लेखनीय था।

सिक्खों के गुरुगोविन्द सिंह का विद्रोह बहुत प्रबल और संगठित विद्रोह था। काफी समय तक उन्होंने सम्राट् औरंगजेब को चैन न लेने दिया।

मराठा-शक्ति का उदय

मगर औरंगजेब के शासन को पस्त और ढीला करने वाली सबसे बड़ी घटना दक्षिणी भारत में मराठा-शक्ति के उदय के रूप में हुई। इस शक्ति ने औरंगजेब के जीवन के अन्तिम वर्षों को अत्यन्त बेचैन कर दिया और स्वयं सम्राट को २५ वर्षों तक इस शक्ति का दमन करने के लिए दक्षिण में आकर रहना पड़ा। बड़ी-बड़ी मुसीबतें उठानी पड़ीं। साम्राज्य का खजाना खाली हो गया मगर मराठा शक्ति का दमन न हो सका। आखिर यही शक्ति सारे मुगल साम्राज्य को ले डूबी।

मराठा-शक्ति के प्रथम नेता छत्रपति शिवाजी का संघर्ष सन् १६६ ई से प्रारंभ हुआ जो सन् १६८ तक कई हार-जीतों के बीच बराबर चलता रहा। इस संघर्ष को करते हुए शिवाजी ने दक्षिण में एक छोटे से साम्राज्य की स्थापना करली। इस साम्राज्य में नासिक, पूना सतारा कोल्हापुर इत्यादि परगनों के बहुत से हिस्से शामिल थे। मद्रास प्रान्त के बेजारी परगने के सामने वाले तुङ्गभद्रा के तट पर फैले हुए कर्नाटक अथवा कन्नड देश के हिस्से भी शिवाजी के अधीन हो गये थे। सन् १६८ ई छत्रपति शिवाजी का देहान्त हो गया।

शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् मराठा शक्ति का दमन करने के लिए स्वयं सम्राट औरंगजेब सन् १६८१ में दक्षिण गया। ७-८ वर्ष के संघर्ष के पश्चात् उसने शिवाजी के पुत्र शंभू जी को पकड़कर मरवा डाला मगर मराठा शक्ति पर इस घटना का कोई दीर्घकालिन असर नहीं हुआ। सन् १६९ के बाद मराठों ने फिर सिर उठाया और उनके उपद्रव असंगठित रूप से तेजी के साथ बढ़ने लगे। औरंगजेब के जीवन के अन्तिम वर्ष भयंकर पराजयों और असफलताओं के वर्ष रहे। उसे अपनी आँखों के सामने अपने साम्राज्य की ऊँची इमारत गिरती हुई नजर आने लगी। निरन्तर चलने वाले दक्षिण के इन युद्धों ने शाही खजाने को खाली कर दिया। दक्षिण भारत की चिनगारियाँ उत्तरी तथा मध्यभारत के भी कई स्थानों पर पहुँच गई और चारों ओर घोर अराजकता का दौर दौरा हो गया।

लगभग २ वर्ष तक चलने वाले इस संघर्ष में मुगल सेना के प्रतिवर्ष करीब एक लाख सैनिक और इतने ही हाथी घोड़े बैल आदि भी मारे जाते थे। शाही पड़ाव में महामारी हमेशा बनी रहती थी।

इस प्रकार जब सारे साम्राज्य पर संकट की घटाएँ घिर रही थीं, उस समय औरंगजेब के लड़के मुहम्मद आजम कामबख्श इत्यादि में साम्राज्य के उत्तराधिकार के लिए झगड़े शुरू हुए, तब औरंगजेब ने उनको समझा बुझाकर, कामबख्श को हैदराबाद का और मुहम्मद आजम को मालवे का सूबेदार बना कर भेज दिया।

उसके बाद ही सम्राट को बुखार हो गया और ६ फरवरी सन् १७ ७ ई शुक्रवार के प्रातःकाल सुबह की नमाज पढ़ने के बाद यह प्रतापी मुगल सम्राट इस संसार से बिदा हो गया।

औरंगजेब का परिवार

औरंगजेब की ४ पत्नियाँ थीं। पहली दिलरसबानू, जो फारस के शाह इस्माइल सफावी के छोटे पुत्र के प्रपौत्र शाहनवाज खाँ की पुत्री थी। यह शाहजादा अकबर की माता थी। दूसरी रहमत उन्नीसा एक पहाड़ी राजा की लड़की थी। यह शाहजादा मोअज्जम और मुहम्मद सुल्तान की माता थी। तीसरी औरंगाबादी-महल थी और चौथी उदयपुरी महल शाहजादा कामबख्श की माँ थी और पहले दारा शिकोह के हरम में रहने वाली जार्जिया देश की दासी थी। अत्यन्त सुन्दर और शोख होने के कारण वृद्धावस्था तक सम्राट् पर इसका प्रभाव रहा।

इसके अतिरिक्त हीराबाई नामक स्त्री से भी—जो जैनाबादी नाम से प्रसिद्ध है—औरंगजेब का प्रेम था।

औरंगजेब की सन्तानों में ५ पुत्र और ५ पुत्रियाँ थे जिनके नाम मुहम्मद आजम मुहम्मद अकबर, मुहम्मद सुल्तान मुहम्मद मुअज्जम और मुहम्मद काम

पक्ष है। लड़कियों के नाम जेबुन्निसा, जीनत उन्निसा, बदरुन्निसा, मेहरुन्निसा और मेहरुन्निसा था।

औरंगजेब का चरित्र और शासन

भारतवर्ष के इतिहास में औरंगजेब का शासनकाल कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रसिद्ध इतिहासकार सर यदुनाथ सरकार लिखते हैं—

"ब्रिटिश साम्राज्य के स्थापित होने से पहले भारत में औरंगजेब का साम्राज्य जितना विस्तृत हो गया था, उतना इससे पहले कभी नहीं हुआ था। गजनी से लेकर चटगाँव तक और कश्मीर से लेकर कर्नाटक तक यह सारा भारत महादेश एक ही शासक के अधीन था। इस्लाम ने भारत में अपना आखिरी कदम इसी शासन-काल में बढ़ाया। विस्तार में अभूतपूर्व होते हुए भी इस विशाल साम्राज्य की राजनैतिक एकता अभूतपूर्व थी। इस साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तों का प्रबन्ध छोटे राजाओं के हाथ में न रह कर सीधे बादशाह द्वारा नियुक्त अधिकारियों के द्वारा ही होता था। इस विशेषता के कारण औरंगजेब का भारतीय साम्राज्य अशोक, समुद्रगुप्त या हर्ष के साम्राज्य से अधिक विशाल और परिपूर्ण था।

मगर यह कितने बड़े आश्चर्य की बात है कि जिस बादशाह औरंगजेब के शासन के पूर्वार्द्ध में यह साम्राज्य इतना विस्तृत और संगठित हुआ उसी औरंगजेब के शासन-काल के उत्तरार्द्ध में उसी सम्राट् के द्वारा इसके पतन का बीज भी रख दिया गया और देखते ही देखते औरंगजेब के द्वारा बनाया हुआ यह विशाल साम्राज्य बालू के ढेर की तरह जड़-बुनियाद से ऐसा खिसकने लगा कि फिर किसी के सँभाले न सँभला। अब पतन का यह विभत्स दृश्य स्वयं सम्राट् की आँखों के आगे अभिनीत होने लगा और यह शक्तिशाली सम्राट् इस महान पतन को बेबसी के साथ देखता रहा।

भारतीय इतिहास की यह एक ऐसी महान् घटना है जिसने इतिहास के इन पृष्ठों को अत्यन्त महत्वपूर्ण बना दिया।

व्यक्तिगत चरित्र और राजनैतिक बुद्धि का अभाव है, क्योंकि औरंगजेब के व्यक्तित्व में किसी प्रकार की कमी नहीं दिखलाई देती। वह निर्दयी और क्रूर होने पर भी एक अत्यन्त संयमी, सादा जीवन व्यतीत करनेवाला, पढ़ा-लिखा विद्वान् और उत्कृष्ट राजनीति का जानकार था। वह बड़ी चतुराई और क्रूरता के साथ अपने तीन भाइयों को अपने रास्ते से हटाकर अपनी राजनैतिक बुद्धि से भारत का एक छत्र सम्राट् बन गया। उसने अपने मार्ग से अपने अन्य शत्रुओं को भी हटा दिये। भारत का विशाल साम्राज्य उसकी आज्ञाओं के आगे नतमस्तक था। उसके दृढ़ और उसके शासन के परिणामस्वरूप देश का धन और वैभव भी बढ़ रहा था। ऐसे सुदृढ़ साम्राज्य का इतना भयंकर पतन किस प्रकार हुआ, इतिहास के विद्यार्थी के लिए यह प्रश्न बड़ा महत्वपूर्ण है।

और इस प्रश्न का उत्तर औरंगजेब की धार्मिक नीति को खोजने पर ही उसमें मिलता है। औरंगजेब ने अपने पूर्वजों के द्वारा ग्रहण की हुई उदार नीति को छोड़कर हिन्दुओं के विरुद्ध एक जबर्दस्त अभियान प्रारम्भ करके इस बात का फिर से बड़ा प्रयत्न किया कि हिन्दू धर्म और हिन्दू-सभ्यता का अन्त होकर यह सारा देश फिर से इस्लाम के झंडे के नीचे आ जाय। उसने स्थान स्थान पर बने हुए बहुत से मन्दिरों को आदेश देकर गिरवाया और पुराने मन्दिरों की मरम्मत करने और नये मन्दिरों के बनवाने की इजाजत देना भी बन्द कर दिया।

९ अप्रैल सन् १६६९ को उसने एक आम हुक्म दिया कि काफिरों के सब विद्यालय और मन्दिर गिरा दिये जायँ और उनकी धार्मिक प्रथाओं को दबाया जाय। अब उसकी यह विनाशकारी कुदाल सोमनाथ के दूसरे मन्दिर बनारस के विश्वनाथ-मन्दिर और मथुरा के केशवराय-मन्दिर के समान बड़े मन्दिरों पर भी चली जिन्हें सारे भारत की समस्त हिन्दू जनता बड़े आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखती थी।

औरंगजेब की इस धर्मनीति के कारण हिन्दुओं के अन्दर विद्रोह की प्रबल भावनाओं का उद्रेक हुआ। इन भावनाओं ने दक्षिण में मराठों के रूप में और उत्तर में सिक्खों के रूप में भयंकर उग्र रूप धारण किया। इन्हीं मराठों के विद्रोह को दबाने के लिए अपने जीवन

के अन्तिम २५ वर्ष उसे दक्षिण में बिताने पड़े और उसी अशान्तिपूर्ण जीवन में उसका अन्त हुआ। फिर भी हजारों प्रयत्नों के बावजूद वह अपने विशाल साम्राज्य की रक्षा नहीं कर सका। उसके देखते-देखते मुगल साम्राज्य की जड़ें भीतर ही भीतर खोखली हो गईं, खजाना खाली हो गया—मुगल सेनाएँ जगह-जगह पर पराजित और अपमानित होने लगीं और देश में अलग-अलग स्वतन्त्र राज्य स्थापित होने लगे।

उत्थान और पतन के इस घटना चक्र में परिलक्षित होनेवाला औरंगजेब का जीवन इतिहास के हरएक विद्यार्थी के लिए बड़े अध्ययन की वस्तु है।

औरंगजेब का वसीयतनामा

हामिद उद्दीन खान बहादुर कृत 'अहकाम-ई-आलम' में औरंगजेब का किया हुआ एक वसीयत नामा दिया गया है—उसके कुछ अंश का अनुवाद इस प्रकार है :—

(१) अन्याय में डूबे हुए इस पापी की ओर से हसन की—परमात्मा उन्हें शान्ति प्रदान करे—पवित्र कब्र को (वहाँ चढ़ाये गये कपड़े से) ढाँक दें। क्योंकि पाप के सागर में डूबे हुओं के लिए दया और क्षमा के उस स्रोत का सहारा लेने के अतिरिक्त रक्षा का कोई दूसरा उपाय नहीं। इस पुण्य कार्य को पूरा करने के साधन मेरे पुत्र शाहजादा आजम के पास हैं। वे उनसे प्राप्त किये जायें।

(२) मेरी सी हुई टोपियों की कीमत से जो आमदनी हुई, उसमें से बचे हुए चार रुपये और दो आने महालदार लालाबेग के पास जमा हैं, उनसे वह रकम लेकर इस रकम से इस असहाय प्राणी का कफन खरीदा जाय। कुरान की नकल के द्वारा कमाये गये तीन सौ पाँच रुपये मेरे व्यक्तिगत व्यय के लिए मेरे बटुने में रखे हैं, उन्हें मेरी मृत्यु के दिन फकीरों में बाँट दिये जायें।

(३) अन्य आवश्यक वस्तुएँ शाहजादे आलीजाह के कमचारी से ले लेना। क्योंकि मेरे पुत्रों में वही मेरा निकटतम उत्तराधिकारी है और दफनाने की क्रिया का सारा उत्तरदायित्व वही है।

(४) सच्चे मार्ग से भटककर दूर पथभ्रष्टों की घाटी में भटकने वाले इस पापी को खुले सिर गाड़ देना। क्योंकि जो कोई भी बरबाद पापी अल्लाह-ताला के सामने खुले सिर पहुँचता है वह अवश्य ही उसकी दया का पात्र बन जाता है।

(५) मेरी अर्थी पर के कफन को गाढ़ी नामक सफेद मोटे कपड़े से ढकना। उस पर कोई चंदवा न किया जाय।

(६) मेरे उत्तराधिकारी के लिए यह उचित होगा कि साम्राज्य के जो सेवक मारवाड़ और दक्षिण के उजाड़ जंगलों में मारे-मारे फिरते रहे हैं उनके प्रति दया और उदारतापूर्ण व्यवहार करे।

(७) राजनैतिक कामों के लिए या मुत्सद्दी गिरी के लिए ईरानी लोग सबसे बढ़कर होते हैं। युद्धक्षेत्र से मुँह मोड़ने की भी इनकी आदत नहीं होती। वे लोग स्वामी की आज्ञा का उल्लंघन और विश्वासघात भी कभी नहीं करते, मगर वे लोग आदर के बड़े भूखे होते हैं। इसलिए इनका निरादर न हो—ऐसी चतुराई से तुम्हें सदा काम लेना चाहिए।

(८) तूरानी लोग सदैव से सैनिक ही रहे हैं—आक्रमण करने धावा मारने, रात के समय छापा मारने और शत्रु को पकड़ने में वे बहुत चतुर होते हैं। युद्ध करते करते पीछे हट जाने में भी वे कोई आशंका निराशा या लज्जा का अनुभव नहीं करते। युद्ध में अपने स्थान से न हटकर अपना सिर कटा देने की हिन्दुस्तानियों की मोर जड़ता से वे सैकड़ों कोस दूर हैं। इस जाति के प्रति तुम्हें हर तरह की कृपा दिखानी चाहिए।

(९) बारहा के सैय्यद पूज्य हैं। कुरान की आयत के अनुसार उनका आदर करने और उनके प्रति कृपा दिखाने में कभी ढिलाई मत करना। फिर भी बारहा के इन सय्यदों के साथ अपने व्यवहार में पूरी पूरी सावधानी रखना। हृदय में उनके प्रति पूरा पूरा प्रेम रखते हुए भी उन्हें कभी ऊँचा पद मत देना। क्योंकि एक बार शासन में पूर्ण शक्ति प्राप्त कर लेने के बाद हर एक को सम्राट बनने की इच्छा होने लगती है।

(१०) जहाँ तक सम्भव हो, एक साम्राज्य के शासक को इधर-उधर घूमते रहने से कदापि घबराना न चाहिए। किसी एक ही स्थान पर उसे अधिक काल तक न ठहरना चाहिए। यद्यपि एक स्थान पर ठहरने से उसे ऊपरी तौर पर विश्राम मिलेगा, किन्तु वास्तव में हजारों आपदाएँ उसके सिर पर आ पड़ेंगी।

(११) कभी अपने पुत्रों पर विश्वास न करो और न अपने जीवनकाल में उनके साथ घनिष्ठता का बर्ताव करो। क्योंकि यदि सम्राट ने दारा शिकोह के साथ ऐसा बर्ताव न किया होता तो उसका यह दुःखदायी अन्त न होता। सदैव इस कहावत को ध्यान में रखो कि सम्राट के शब्द हमेशा निष्फल ही रहते हैं।

(१२) साम्राज्य के सारे समाचारों की जानकारी रखना ही शासन का प्रधान आधार स्तम्भ है। एक क्षण की असावधानी के फलस्वरूप बरसों तक पश्चात्ताप करना पड़ता है। मेरी ही लापरवाही से यह नराधम 'शिवा' निकल भागा और उसका नतीजा यह हुआ कि मुझे अपने जीवन के अन्त तक मराठों के विरुद्ध कड़ी मेहनत करनी पड़ी।

उपदेशों में बारह यह पवित्र संख्या है अतएव मैंने भी इसे १२ ही आदेशों में समाप्त किया है। यदि तुम इस शिक्षा को ग्रहण करोगे तो मैं तुम्हारी बुद्धि को प्यार करूँगा। यदि तुमने इसकी अवहेलना की तो अफसोस! सद अफसोस!

औरंगाबाद

स्वाधीनता-प्राप्ति के पूर्व हैदराबाद (निज़ाम-स्टेट) का तथा इस समय महाराष्ट्र प्रान्त का एक प्रमुख नगर, जिसकी जनसंख्या ७ हजार से अधिक है।

औरंगाबाद सेंट्रल रेलवे के मनमाड़ स्टेशन से हैदराबाद को जाने वाली छोटी लाइन पर बसा हुआ एक प्रमुख नगर है। सन् १६१ में फतेहनगर के नाम से यह नगर बसाया गया था। उसके बाद जब शाहजादा औरंगजेब दक्षिण का सूबेदार होकर यहाँ आया तब उसने इसका नाम बदलकर 'औरंगाबाद' रख दिया और यहीं पर अपनी राजधानी बनाई।

औरंगाबाद के आसपास एलोरा और अजंता के सुप्रसिद्ध गुफा-मन्दिर बने हुए हैं। इन गुफा-मन्दिरों की वजह से इस नगर की प्रसिद्धि भी बहुत अधिक है। इन गुफा मन्दिरों को देखने के लिए आने वाले दूर-दूर के यात्री यहीं से होकर जाते हैं।

गुफा मन्दिरों के अतिरिक्त औरंगजेब के द्वारा, उसकी पत्नी दिलरस बानू के स्मारक में बनाया हुआ मकबरा जो दक्षिणी ताजमहल के नाम से प्रसिद्ध है—बड़ी दर्शनीय इमारत है।

औद्योगिक और शिक्षा सम्बन्धी गति-विधियों का भी यह एक अच्छा केन्द्र है। मराठा-वाड़ा युनिवर्सिटी का प्रधान कार्यालय भी इसी शहर में है।

(क)

कङ्क

बंगला-साहित्य में कालिका-मंगल के सबसे प्रथम लेखक जिनका समय १६वीं सदी के प्रारंभ में माना जाता है।

१६वीं शताब्दी में बंगाल के अन्दर 'कालिका-मंगल' स्तोत्रों को लिखने की प्रथा चल पड़ी थी। इस कालिका-मंगल की कथा कोई पौराणिक कथा नहीं, शुद्ध लौकिक प्रेम कथा है, जो बंगाल में १६वीं सदी में प्रचारित हो गई थी। यह कथा विद्या और सुन्दर की प्रेम-कथा के आधार पर निर्मित हुई है। सुन्दर, कालिका देवी की कृपा से एकान्त में विद्या से मिलता है—प्राणदण्ड से बच जाता है और विद्या को प्राप्त कर लेता है।

देवी की कृपा के पीछे विविध रूप दिखा कर इन स्तोत्रों में कालिका के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कराई गई है।

कालिका-मंगल के सबसे पहले लेखक 'कंक' माने जाते हैं। इनकी कालिका-मंगल की एक-दो प्रतियों का ही पता चला है। इन प्रतियों के उल्लेख से यह विदित होता है कि यह चैतन्य महाप्रभु के समकालीन थे। इनका

काव्य सरल और मधुर है। इसमें भक्ति-रस है, शृंगार रस नहीं।

कंक के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती यह भी प्रचलित है कि जन्म के समय ही ये माता-पिता से विहीन हो गये। दूसरा कोई कुटुम्बी न होने के कारण एक नायकाल दम्पति ने इनको पाला। कुछ बड़े होने पर इनको गर्ग नामक ब्राह्मण के यहाँ रखवाली पर रखा गया। वहाँ गर्ग की पुत्री लीला से इनका प्रेम हो गया। गर्ग-दम्पति ने बहुत चाहा कि प्रायश्चित्त करवा कर इनको पुनः ब्राह्मण समाज में मिला लिया जाय, मगर समाज ने इनको स्वीकार नहीं किया।

कछवाहा-राजवंश

राजपूतों का एक प्रसिद्ध राजवंश जिसके वंशज जयपुर और अलवर रियासतों के शासक रहे।

कछवाहा-राजवंश की उत्पत्ति सूर्यवंशी महाराज रामचन्द्र के पुत्र "कुश" से मानी जाती है। महाराज कुश के पुत्र का नाम "कूर्म" अथवा कछवा था। इसी से यह वंश कछवाहा नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह वंश कच्छपघात के नाम से भी इतिहास में जाना जाता है।

इस कच्छपघात या कछवाहा-वंश के कई मध्यकालीन शिलालेख इस समय उपलब्ध हैं। इनमें से दो लेख विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। एक लेख ग्वालियर के किले में सास-बहू के मन्दिर में मिला था और दूसरा ग्वालियर से ७६ मील की दूरी पर डुभकुण्ड के जैन-देवालय में प्राप्त हुआ था।

इन लेखों से पता लगता है कि कछवाहों का राज्य शुरू में ग्वालियर-राज्य के "नरवर" नामक स्थान पर था। यह प्रान्त पुराणप्रसिद्ध राजा नल का "निषध" देश कहलाता था।

इस राजवंश में वज्रदामन नामक राजा हुआ। इसने कन्नौज के प्रतिहार राजा विजयपाल परिहार से ग्वालियर का किला छीन लिया। ई० सन् ९७७ के लगभग इसने अपना राज्य ग्वालियर में स्थापित कर लिया। इस लेख में उसे 'महाराजाधिराज' लिखा है इसलिए यह स्वतंत्र रहा होगा मगर यह भी सम्भव है कि बाद में उसे बुन्देलखण्ड के चन्देलों का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा होगा। इसी से अलबेरूनी ने ग्वालियर और कालिंजर का किला चन्देलों के अधिकार में होने की बात लिखी है।

वज्रदामन का पुत्र मंगलराज हुआ। मंगलराज के छोटे पुत्र "सुमित्र" से ही जयपुर और अलवर के कछवाहों का राजवंश चला। ग्वालियर की गद्दी पर मंगलराज के बाद उसका पुत्र कीर्तिराज बैठा। ऐसा कहा जाता है कि इसने मालवा के तत्कालीन इतिहास प्रसिद्ध राजा 'भोज' को हराया। इसी के समय सन् १ २१ में मुहम्मद गजनवी ने ग्वालियर पर चढ़ाई की मगर कीर्तिराज ने ३ हाथी भेंट करके उससे सुलह कर ली और राज्य को विध्वंस होने से बचा लिया।

कीर्तिराज के बाद क्रम से मूलदेव, देवपाल पद्मपाल और महीपाल ग्वालियर की गद्दी पर बैठे। मूलदेव का दूसरा नाम त्रैलोक्यमल्ल और देवपाल का दूसरा नाम अपराजित भी था।

ग्वालियर के किले में जो सास-बहू का सुन्दर मन्दिर बना हुआ है वह इसी देवपाल के पुत्र पद्मपाल ने बनवाना शुरू किया और उसके पुत्र महीपालने जिसका नाम भुवनैकमल्ल भी था इस मन्दिर को पूरा करवाया और सारा वृत्तान्त शिलालेख में खुदवाकर उसे मन्दिर में लगवाया। यह मन्दिर भगवान् विष्णु का है और सन् ११०८ में इसका निर्माण पूरा हुआ।

महीपाल के पश्चात् इस राजवंश में क्रमशः त्रिभुवनपाल, (११ ४ ई०) विजयपाल (११३३ ई०) सूरपाल (११५५ ई०) और उसके बाद उसका पुत्र अनङ्गपाल गद्दी पर बैठा।

इसके पश्चात् इस राजवंश में "तेजस्करण" का नाम आता है। इसके समय में सन् ११९६ में शहाबुद्दीन गोरी ने घेरा डाला था। इसके बाद यह किला कुतुबुद्दीन ऐबक के हाथ में चला गया।

ग्वालियर गजेटियर में यह भी उल्लेख है कि सन् ११२९ में परिहारों ने कछवाहों से ग्वालियर का किला छीन लिया। यदि यह सच हो तो शहाबुद्दीन गोरी के

आक्रमण के समय यहाँ के राजा सोर्मेश्वराज को परिहार होना चाहिए।

इन्हीं कछवाहों की एक शाखा ने अपना राज्य आमेर में (आधुनिक जयपुर) और एक शाखा ने अपना राज्य अलवर में स्थापित किया।

मंगलराज के पुत्र सुमित्र से जयपुर वाली शाखा चली। सुमित्र के बाद उसके वंश में क्रमशः मधुब्रह्म कहान देवानीक और ईश्वरीसिंह हुए। ईश्वरी सिंह के पुत्र सोढदेव हुए। सोढदेव के पुत्र दूलहराय का विवाह मोरन के चौहान राजा की कन्या से हुआ। अपने श्वसुर की सहायता से दूलहराय ने दौसा का प्रान्त बड़ गूजरों के हाथ से छीन लिया। दौसा के आस पास का प्रान्त ढूंढार कहलाता है। इस प्रान्त में उस समय मीणा और राजपूत सरदारों का अधिकार था दूलहराय ने इन सबको पराजित करके अपने राज्य का विस्तार किया।

दूलहराय के बाद "काकिल" राजा हुआ। इसने आमेर का किला मीणा लोगों से छीनकर सन् १ १७ में अपने राज्य में मिला लिया और वहीं अपनी राजधानी स्थापित की।

काकिल के उत्तराधिकारियों में "पंजुन" का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह पृथ्वीराज चौहान की सेना का सेनापति था। इसने पेशावर के दर्रे में शाहबुद्दीन गौरी को पहली बार बुरी तरह हराया और बाद में सन् ११९२ में पृथ्वीराज के साथ ही कन्नौज के रणक्षेत्र में मारा गया।

पंजुन की सातवीं पुश्त में उदयकरण हुआ। इसकी पाँचवीं पुश्त में पृथ्वीराज उसके बाद बिहारीमल उसके बाद भगवानदास और उसके बाद इतिहास प्रसिद्ध मानसिंह हुए, जिन्होंने सम्राट अकबर की दिग्विजय में शुरु से अन्त तक उसका पूरा पूरा साथ दिया।

इसके बाद इस राजवंश में सवाई मिर्जा राजा जयसिंह बड़ा प्रतापी हुआ। इसीने भारतप्रसिद्ध सुन्दर जयपुर शहर का निर्माण करवा कर वहाँ अपनी राजधानी स्थापित की। इस नगर में नगरनिर्माण कला का उच्च आदर्श प्रकट होता है। सारे भारतवर्ष में कलापूर्ण दृष्टि से यह नगर अपने ढङ्ग का एक ही है।

सवाई जयसिंह को ज्योतिषशास्त्र से बड़ा प्रेम था इन्होंने ग्रहों का वेध लेने के लिए दिल्ली जयपुर उज्जैन, बनारस, मथुरा इत्यादि अनेक स्थानों पर वेधशालाओं (observatories) का निर्माण करवाया।

सवाई जयसिंह के बाद इस राजवंश में ईश्वरीसिंह, माधोसिंह, पृथ्वीसिंह द्वितीय, प्रतापसिंह जगतसिंह, जय सिंह तृतीय रामसिंह माधोसिंह द्वितीय और मानसिंह द्वितीय जयपुर की गद्दी पर बैठे।

महाराज मानसिंह द्वितीय के समय में स्वतंत्र भारतीय प्रजातंत्र में देश की समस्त रियासतों के साथ जयपुर रियासत का भी विलीनीकरण हो गया। जयपुर ही की तरह इसी कछवाहा वंश के राजा सुमित्र के एक वंशज के द्वारा अलवर राजवंश की स्थापना हुई।

कच्छ

भारत के पश्चिमी समुद्र तटपर कछुए के आकार का बसा हुआ एक प्रान्त जिसके उत्तर पूर्व और आग्नेय कोण में विस्तृत दलदली मैदान तथा दक्षिण और नैऋत्य कोण में समुद्र किनारा तथा पश्चिम और वायव्य कोण में दलदली मैदान और सिन्धु नदी की शाखा से घिरा हुआ कछुए के आकार का एक छोटा सा प्रान्त भारतवर्ष में अपना विशेष अस्तित्व रखता है। चारों तरफ पानी और दलदली मैदान होने से इसका विस्तार अधिक नहीं होने पाया।

इस प्रदेश की लम्बाई देढ सौ मील और चौड़ाई अधिक से अधिक पचास मील और कहीं-कहीं तो सिर्फ पन्द्रह मील है।

ऐसा कहा जाता है कि पहले कच्छ की भूमिका सम्बन्ध सिन्ध की भूमि के साथ था मगर १८ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में एक बड़े भूकम्प की वजह से सिन्ध के साथ इसका सम्बन्ध टूट गया।

ऐतिहासिक परिचय

कच्छ का राजकीय इतिहास आजकल जिसको इतिहास-काल कहा जाता है उससे भी बहुत पहले से प्रारम्भ होता है। परम्पराओं के अनुसार कच्छ का इतिहास 'आदि

नारायण' नामक राजा के समय से प्रारम्भ होता है। आदिनारायण की चौथी पुश्त में चन्द्र नामक राजा हुआ, जिसने चन्द्र-वंश की स्थापना की। कच्छ के 'जाड़ेजा' शासक इसी चन्द्र-वंश की सन्तान थे। यह भी कहा जाता है कि आदिनारायण की ५४ वीं पीढ़ी में श्रीकृष्ण हुए और श्रीकृष्ण की ७६ वीं पीढ़ी में देवेन्द्र नामक राजा हुआ। देवेन्द्र का लड़का नरपत और नरपत का लड़का साम्मत हुआ। साम्मत के वंशज ही आजकल समा क्षत्रिय के नाम से प्रसिद्ध हैं। समा की ६ वीं पीढ़ी में लाखियार भड़' नामक व्यक्ति हुआ जिसने सिन्ध में नगरठट्ठा नामक नगर बसाया।

लाख्यारभड़ का पुत्र 'लाखाधुरारा' हुआ लाखा धुरारा के पुत्र मोड़ ने कच्छ में अपने राज्य की स्थापना की। यह भी कहा जाता है कि इस के बाद कुछ समय तक कच्छ पर परिहार राजपूतों का अधिकार रहा।

दूसरी ओर मोड़ के भाई उनड़ ने सिन्ध में अपने राज्य की स्थापना की। उनड़ के वंश में 'जाम जाड़ा' नामक व्यक्ति हुआ, जिसके वंशज 'जाड़ेजा' कहलाये। इस जाड़ेजा-वंश के लाखा जाड़ेजा ने सिन्ध से आकर कच्छ पर कब्जा किया। उसी लाखा जाड़ेजा की सन्तान अभी तक कच्छ की गद्दी की अधिकारिणी रही। लाखा जाड़ेजा की १ वीं पीढ़ी में राव खेंगार हुए, जिनके शासन में कच्छ को वैधानिक रूप से संगठित किया गया। इनका शासन सन् १५६६ से प्रारम्भ होता है। खेंगार बड़े प्रतापी नरेश थे। इन्होंने सम्वत् १६ २ में अंजार १६ ५ म भुज और स १६१६ में मांडवी नगर बसाकर कच्छ के विस्तार और रौनक को बहुत बढ़ाया। बल्कि इतिहास कारों का तो यही मत है कि कच्छ का वास्तविक इतिहास 'राव खेंगार प्रथम से शुरू होता है।

राव खेंगार ने 'महम्मद बेगड़ा' नामक मुसलमान सुलतान को सिंह के पंजे में से बचाकर सिंह को मार दिया। इससे मोहम्मद बेगड़ा बहुत प्रसन्न हुआ। उसकी मदद से राव खेंगार ने कच्छ में अपनी सत्ता का विस्तार किया।

राव खेंगार के बाद राव भारमल कच्छ की गद्दी पर आये। इनको बादशाह जहाँगीर ने अपना सिक्का स्वयं चलाने का अधिकार दिया था। भारमल के पुत्र भोजमल और भोजमल के पुत्र लखपत हुए। इनको बादशाह आलम गीर ने मिर्जा की और काबुल के अमीर महाराजाधिराज की पदवी प्रदान की। इसी प्रकार इस घराने में क्रमिक राज्य के समय में भी बराबर राज्यकाज चलता रहा।

आधुनिक नरेशों में राव खेंगार तृतीय के पुत्र विजय राज का नाम उल्लेखनीय है।

कच्छ के प्रमुख नगर

अंजार—इस नगर को राव खेंगार प्रथम ने सं १६ २ में बसाया था। अंजार के प्रसिद्ध स्थानों में कच्छ की प्रसिद्ध प्रेम कथा के नायक 'जसल और तोरल' की समाधि प्रसिद्ध है। इसके सिवाय माधव राय मोहन राय का मन्दिर, अजय पाल का स्थानक और अम्बाजी तथा बहुचराजी का मन्दिर उसकी प्राचीनतम स्मृतियों के रूप में स्थित हैं। इसके अतिरिक्त इस नगर में वासुपूज्य तीर्थंकर का बहुत पुराना जैन मन्दिर भी बना हुआ है।

माण्डवी—कच्छ के सभी शहरों में माण्डवी नगर बहुत प्रसिद्ध है। स १६१६ में राव खेंगार प्रथम ने रामपुर बन्दर बसाया था। वही आज मांडवी के नाम से प्रसिद्ध है। यह लगभग २५ हजार से अधिक आबादी का किलेबन्द शहर है।

भुज—कच्छ की राजधानी और उसका मुख्य शहर है। कच्छ के ४ किलेबन्द किये हुए शहरों में से यह भी एक है। इसकी स्थापना सं १६०५ की मगसर सुदी छठ के दिन राव खेंगार प्रथम ने भुजंगनगर के नाम से की थी।

कच्छ के ऐतिहासिक स्थान

कच्छ के ऐतिहासिक स्थानों में पद्धरगढ़ कोटेश्वर महादेव, देवी आशापुरा कल्याणनाथ का मन्दिर, कन्थकोट का किला, करणदेव का मन्दिर वासुपूज्य स्वामी का मन्दिर मुक्तेश्वर धीरोधर इत्यादि स्थान बहुत प्रसिद्ध हैं।

कच्छ के विशिष्ट और ऐतिहासिक व्यक्तियों में जमादार फतेहमोहम्मद मेरजी सेठ, सुन्दर जी सौदागर और पं श्यामजी कृष्णवर्मा का नाम विशेष प्रसिद्ध है।

कज्जाक

रूस के अन्दर 'कजाकस्तान' नामक क्षेत्र में रहने वाली एक खानाबदोश जाति जो लड़ाई और घुड़सवारी में बहुत साहसी होती है।

कजाक जाति भौगोलिक दृष्टि से रूस के साइबेरिया किरगिज भूमि अल्ताई और तुर्किस्तान के भिन्न भिन्न भागों में बसती थी।

समझा जाता है कि मध्य पाषाणयुग में अर्थात् ईसा से चार हजार वर्ष पूर्व किसी समय 'सिनो द्रविड़' जाति रहती थी। जिसके अवशेष भारत में द्रविड़ तथा सोवियत में कोमी स्वायत्त गणराज्य और स्टेनियाँ तथा फिनलैंड के लोगों के रूप में अब भी मौजूद हैं।

ईसा से ८५ वर्ष पूर्व किरगिज भूमि और अल्ताई में सिनो-द्रविड़' जाति का स्थान उन्हीं के भाई बन्धु, शक लोग ले लेते हैं। ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी में कजाकिस्तान के पूर्वी भाग में 'वुसुन' लोग रहते थे। ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी में 'हून' हूण लोगों ने शक लोगों पर आक्रमण करके उन शकों को नष्ट कर दिया। इसी समय से शकों की आर्य शरीराकृति का स्थान हूणों की मंगोलियन शरीराकृति ने लेना प्रारम्भ किया।

ईसा की पाँचवीं सदी के पूर्वार्ध में किरगिज, तुर्किस्तान और अल्ताई की भूमि में रहने वाले हूण-वंशज मंगोलायड अपनी सामान होने वाली भाषियों के कारण 'मंगली' कहे जाते थे। यही मैंगली जाति के लोग उस प्रदेश में 'कज्जाक' किरगिज और 'तुर्कमान' नाम से प्रसिद्ध हैं।

सोलहवीं सदी के अन्त में कजाक लोगों के परिवारों की संख्या दो लाख के करीब थी यह जाति इमाम अबू-हनीफा के हनफी इस्लाम धर्म को माननेवाली थी। इस जाति के पास हजारों ऊँट रहते थे और यह अपने तम्बुओं को गाड़ियों पर लेकर चलती थी। मुसल्मान होने की वजह से इनका सम्बन्ध बुखारा से विशेष घनिष्ठ था। कजाकों के खान अबुलखैर ने सन् १७३५ में रूस के जार प्योत्र के पास अधीनता स्वीकार करने के लिए अपने दूत मास्को भेजे थे। सत्रहवीं सदी में कजाकों की शक्ति बहुत मजबूत थी। उस समय तुर्किस्तान पर भी उनका अधिकार था और उनका केन्द्र तुर्किस्तान और ताशकन्द के नगर थे। इसी शताब्दी के अन्त में खारेज्म और बोखारा पर उनका प्रभुत्व फैल गया था मगर कुछ ही समय बाद इनके प्रतिद्वन्दी कलमकों (जुंगरों) की शक्ति बढ़ी और इन्होंने कजाक की शक्ति को बहुत कमजोर कर दिया।

(मध्य एशिया का इतिहास)

२० वीं सदी के प्रारंभ तक कज्जाक लोग घुमन्तू कबीलों में रहने वाले पशुपाल थे। पहले इन्हें उजबेक या उजबेक-कजाक भी कहा जाता था। अरबी भाषा में 'कजाक' शब्द का अर्थ डाकू है, मगर कुछ लोगों ने इस शब्द का इस्तेमाल 'साहसी' लोगों के लिए किया है।

कजाक-कबीलों को आज के कजाकिस्तान के भिन्न भिन्न भागों में हम निम्न प्रकार से वितरित देखते हैं—

(१) महा-ओर्दू—इसके उसुन और खिलिम कबीले ताशकन्द के जिले में मिलते हैं। जानी, तेमिर, चीमिर और सिचन नाम के कबीले चमुन में रहते हैं। किरगिली उरकी ओतकची, कतीर और चसराब नामक कबीले तुर्किस्तान के पास एक उपत्यका में रहते हैं। कैबली लोगों का कबीला ताशकन्द के पास रहता है।

(२) मध्य-ओर्दू—इस ओर्दू का किपचक-कबीला ताशकन्द के पास रहता है। जुबराक, मस्तीमता, ओक-तनगुल, अगु न और मेमम नामक कबीले ताशकन्द के पास रहते हैं।

कजाकस्तान

सोवियत गणराज्य में जो भूमि 'कजाकस्तान' के नाम से प्रसिद्ध है उसमें साइबेरिया किरगिज भूमि अल्ताई और तुर्किस्तान के बहुत से भाग शामिल हैं। इस क्षेत्र को कजाकस्तान गणराज्य का नाम अप्रैल सन् १९११ ई० में दिया गया।

जिस समय रूस में जारशाही का साम्राज्य कजाकों पर था उस समय जारशाही सरकार की बराबर कोशिश रहती थी कि खेती के लिए उपजाऊ भूमि को कजाकों से छीन कर रूसियों को दे दी जाय। ९ नवंबर सन् १९०६ ई० को एक नया कानून बना कर कजाकों को उनकी भूमि से वंचित करने का भारी उपक्रम किया गया।

उस समय कजाक-जाति की सांस्कृतिक अवस्था बड़ी

हीन थी, इनमें निरक्षरता का अखण्ड राज्य था। इसी समय सन् १९१६ का यह अन्यायपूर्ण कानून जारी होने से गहरी नींद में सोये हुए कज़ाक लोग तिलमिला उठे। इसी समय रूस में १९०५-६ की प्रसिद्ध रूसी क्रान्ति भी प्रारंभ हो गई। इससे कज़ाकों के अन्दर भी कुछ चेतना जाग्रत हुई।

प्रथम विश्व युद्ध में कज़ाकों के ऊपर और भी भयंकर संकट आया। भारी संख्या में उनके घोड़े और ऊँट लड़ाई के लिए छीन लिए गये और २५ जून सन् १९१६ ई० को 'ज़ार निकोलाई' द्वितीय ने एक राजादेश निकाल कर १९ से लगाकर ४१ वर्ष तक के सभी कज़ाक पुरुषों को अनिवार्य रूप से सेना में भर्ती होने का आदेश दिया।

इन घटनाओं से कज़ाकजाति के अन्दर भीतर ही भीतर सुलगती हुई असन्तोष की आग एक विस्फोट में रूप में भड़क उठी और समनद तथा तुर्गाई के ज़िलों में सब जगह अशान्ति फैल गई। सन् १९१६ के सितंबर में 'अमन गेल्दी-इमानोफ' नामक एक गरीब युवक के नेतृत्व में तुर्गाई में विद्रोह का प्रारंभ हुआ। इस युवक ने अपनी वीरता और सूझ-बूझ से विद्रोहियों का इतना अच्छा नेतृत्व किया कि 'ज़ारशाही सरकार' बरसों तक उससे परेशान रही।

सन् १९१६ के अक्टूबर में कज़ाकों के हज़ारों विद्रोही जत्थे ज़ारशाही से टक्कर ले रहे थे। कभी कभी इन जत्थों में १५ हज़ार तक आदमी शामिल हो जाते थे। इस विद्रोह को दबाने के लिए रूस की सरकार ने जेनरल 'लावरेंत्येव' के अधीन सैनिक अभियान भेजा, मगर विद्रोह दबाने की जगह उस साल के नवम्बर महीने में सारे कज़ाकस्तान में फैल गया। इस विद्रोह ने गरीबों के विद्रोह का रूप धारण कर लिया। क्योंकि अमीर और धनी कज़ाक लोगों को इस विद्रोह से डर लगने लगा और वे इस विद्रोह को दबाने में ज़ारशाही की पूरी मदद करने लगे।

इसके पश्चात् रूसी सेना के प्रबल प्रहार के कारण अमनगेल्दी इमानोफ को तुर्गाई से भागकर बतपक-करा के इलाके में शरण लेनी पड़ी। सन् १९१७ की जनवरी में उसने इस विद्रोह को भड़काने का पुनः प्रयत्न किया मगर रूसी-सेना की करारी चोट के कारण उसको अपने साथियों सहित वहाँ से भी भागना पड़ा। विद्रोह का दमन करने में ज़ारशाही ने बड़ी क्रूरता का परिचय दिया। समनद के निवासियों में से तीन लाख स्त्री-पुरुष भागकर चीन के इलाके में चले गये। कितने ही गाँव के गाँव उजाड़ गये और १९१६ की यह क्रान्ति बड़ी निर्ममता के साथ दबा दी गयी। मगर इस दबी हुई क्रान्ति में से जो चिन गारियाँ फूट रही थीं उन्होंने दो-डाई वर्ष के बाद ही इतिहास प्रसिद्ध अक्टूबर-क्रान्ति के साथ साथ ज़ारशाही का जुआ अपने कन्धों से उतार कर फेंका। उनका नेता 'इमानोफ' भी समझ गया कि अब सभी गरीब और मज़दूरों की भलाई 'बोल्शेविक' क्रान्ति का साथ देने में है। वह अन्त में बोल्शेविक-पार्टी में शामिल हो, क्रान्ति के लिए लड़ा और कज़ाकस्तान के इतिहास में उसने अपना नाम अमर कर दिया।

इसके पश्चात् सन् १९१९ में बोल्शेविक-क्रान्ति का साथ देने के लिए 'कज़ाकस्तान में भी कई बड़े-बड़े युवक-संगठनों की स्थापना हुई। १९१८ से १९१९ की समाप्ति तक कज़ाकस्तान में भीषण गृह-युद्ध होता रहा। क्रान्ति-विरोधी कज़ाक और रूसी-दोनों ही नवजात सोवियट-सरकार को उखाड़ फेंकने के लिए हर तरह की कोशिश कर रहे थे। सन् १९१९ में क्रान्ति विरोधी जेनरल कोलचेक के साथ क्रान्तिकारियों की अन्तिम लड़ाई हुई जिसमें क्रान्तिकारियों ने पूर्ण विजय प्राप्त की।

४ अप्रैल सन् १९१२ ई० को कज़ाकस्तान के सोवियटों की कांग्रेस हुई जिसमें 'किरगिज़' लोगों के बारे में भी विचार किया गया। अभीतक किरगिज़ और कज़ाक दोनों एक ही गणराज्य में थे मगर अब जातियों के आत्मनिर्णय के अनुसार किरगिज़ों को भी अपना स्वतन्त्र गणराज्य कायम करने का अवसर मिला।

इस प्रकार बोल्शेविक-क्रान्ति ने सोवियट-संघ के अन्तर्गत क्षेत्रफल में दूसरे नंबर के सबसे बड़े गणराज्य 'कज़ाकस्तान की स्थापना की। कई पंचवर्षीय योजनाओं ने कज़ाकों के आर्थिक तथा सांस्कृतिक धरातल को बहुत ऊँचा कर दिया है। इरतिश-नदी के जल को मुखीय समुद्र से हटाकर दक्षिण की ओर मोड़ने की जो विशाल योजना बनाई जा रही है, उसके कारण तो मनुष्य अपनी

महान् शक्ति का प्रयोग करके इस भूमि को एक दूसरा ही रूप देने जा रहा है।

कंजर

खानाबदोश चोरी के धन्धे में निपुण प्रसिद्ध जाति जो विशेषकर मध्यप्रदेश, राजस्थान और उत्तरप्रदेश में फैली हुई है।

कंजर जाति सांसिया, साटिया, बनजारा, जोगी सँपेरा इत्यादि घुमक्कड़ कबीलों की तरह कबीला बनाकर रहती है।

परंपराओं के अनुसार कंजर-जाति उनके पूजनीय मूलपुरुष 'मानगुरु की सन्तान' मानी जाती है। 'मान अपनी पत्नी 'नथिया कंजरनी के साथ जंगल में रहता था। यह भी कहा जाता है कि उसने तत्कालीन दिल्ली सुल्तान के दरबार में शाही पहलवान को कुश्ती में हराया था।

कंजर-जाति के अन्दर भी कई गोत्र और उपगोत्र पाये जाते हैं। इन गोत्रों में हिन्दू और मुसलमान—दोनों प्रकार के गोत्र पाये जाते हैं। इनके मुख्य देवता 'जखमुखदी' और 'नरस्याल' माने जाते हैं। इनको प्रसन्न करने के लिए ये लोग बकरे और सुअर की बलि देते हैं। विवाह होने के पूर्व लड़कियों को 'यौन-स्वच्छन्दता' पर्याप्त मात्रा में रहती है। मगर विवाह के पश्चात् इस प्रकार के सम्बन्ध हेय समझे जाते हैं कुछ कंजर-स्त्रियाँ भीख माँगने के साथ साथ वेश्या वृत्ति भी करती हैं। चोरी करने की कला में कंजर जाति अन्य सभी खानाबदोश जातियों की अपेक्षा अधिक चतुर होती है। सेंध मारना भेष बदलना कठिन से कठिन दीवारों पर चढ़ जाना इत्यादि अनेक प्रकार की कलाओं में यह जाति अपनी जोड़ नहीं रखती।

ब्रिटिश शासन के जमाने में यहाँ की पुलिस ने इस कंजर जाति की चौर्य प्रवृत्ति को रोकने के लिए बहुत कोशिशें कीं, मगर पूरी सफलता फिर भी प्राप्त न हुई।

अब भारत-सरकार दूसरी खानाबदोश जातियों के साथ-साथ इस जाति के लोगों को भी खेती-बाड़ी, पशुपालन इत्यादि के स्थायी कामों में लगाने का प्रयत्न कर रही है जिससे इन लोगों की अपराध-वृत्ति का खातमा किया जा सके।

कंजर-जाति भी अब इस वास्तविकता को समझ गई है और धीरे-धीरे अपने अपराधी जीवन को छोड़कर नए रास्ते पर आने लगी है।

कञ्चनलता सब्बरवाल

"हिन्दी भाषा की एक प्रसिद्ध साहित्यकार जिन्होंने लखनऊ युनिवर्सिटी में डॉक्टर की उपाधि प्राप्त की। इनका जन्म सन् १९२८ में हुआ। महिला-विद्यालय लखनऊ की आचार्या हैं।

श्रीमती कंचनलता सब्बरवाल ने समाजशास्त्र, आचार शास्त्र, पशुविज्ञान बालमनोविज्ञान इत्यादि विषयों पर लिखा है। इनके उपन्यासों में मूक प्रश्न संकल्प, मूक तपस्वी, अनजान राहें तथा नाटकों में लक्ष्मीबाई, साहित्यसेन ग्रन्थ, मीठी पलकें इत्यादि रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। इनकी "संकल्प" और 'मूक तपस्वी" नामक रचनाओं पर 'सेकसरिया पुरस्कार' और उत्तरप्रदेश शिक्षा-विभाग से पुरस्कार मिल चुके हैं।

कटोच-राजवंश

चन्द्र वंशी राजपूतों की एक शाखा, जो महाभारत के काल में 'त्रिगर्त' देश अर्थात् पंजाब के जालन्धर और कोट काँगड़ा के क्षेत्र में राज्य करती थी।

महाभारत के युद्ध में जब सुशर्मा ने कौरवों की ओर से युद्ध किया था तब से यह राज्य चला आ रहा है। यही कटोच-राजवंश का आद्य पूर्वज है। इसके वंश के चौथे जारित महाराज सर जयचन्द जिला काँगड़ा के लम्बगाँव में रहते थे और पूर्व हिमालय के राजपूत लोगों पर इनका अच्छा प्रभाव था।

अभी तक यह निश्चय नहीं हो सका है कि मुहम्मद गजनवी के आक्रमण के समय यहाँ पर कौन सा राजा राज्य करता था। फिर भी इतना निश्चित है कि यह पंजाब के शाही राजा आनन्दपाल का मांडलिक रहा होगा।

सन् १   ९ में मुहम्मद गजनवी ने 'कोट काँगड़ा' के किले पर जो कि उस समय अजेय समझा जाता था और जिसमें अटूट सम्पत्ति भरी हुई थी—आक्रमण किया।

इतिहासकार ठल्बी के अनुसार मुहम्मद की प्रचण्ड सेना को देखकर किले के दुर्ग-रक्षकों ने आत्मसमर्पण कर दिया।

उसके पश्चात् ई० सन् १२४ से ४४ ई० के बीच कटोच राजा इन्द्रचन्द्र ने दिल्ली के राजाओं की सहायता से फिर इस किले को जीत लिया। उसके बाद यह किला कभी कटोच-राजाओं के हाथ में और कभी मुसलमान बादशाहों के हाथों में आता-जाता रहा।

इसके पश्चात् इस राजवंश में संसारचन्द्र प्रथम, धर्मचन्द्र, संसारचन्द्र द्वितीय, धर्मचन्द्र इत्यादि कई राजा हुए। राजा संसारचन्द्र ने ई० सन् १८०६ में यह किला राजा रणजीतसिंह को दे दिया। रणजीतसिंह के बाद यह किला अंग्रेजों के अधिकार में आया।

इस प्रकार कटोच-राजवंश के साथ इस किले का बहुत अधिक सम्बन्ध रहा।

कटक

उड़ीसा राज्य का एक प्रधान नगर जो कलकत्ता मद्रास रेलवे लाइन पर महानदी के किनारे पर बसा हुआ है और जिसकी जन-संख्या एक लाख से अधिक है।

कटक उड़ीसा में एक बहुत प्राचीन नगर है। कुछ लोगों के मत से ईसा की १०वीं शताब्दी में केसरी-वंश के किसी राजा के द्वारा इस नगर की स्थापना की गई थी मगर कुछ इतिहासकारों के मतानुसार 'कटक' का इतिहास इससे भी पुराना है। मगधुप्त नामक नरेश जिसने ६वीं सदी में राज्य किया था उसके अनुशासन-पत्र में भी कटक का उल्लेख मिलता है। इससे पता चलता है कि उस समय भी कटक विद्यमान था।

उड़ीसा की लोकोक्तियों के अनुसार इस नगर की स्थापना राजा जनमेजय ने नागदह के समय में की थी। कटक नगर से डेढ़ मील दूर पर 'कटक-चौदार' नामक एक ग्राम है। यह ग्राम किसी समय में बहुत ही समृद्धिशाली था। इसी प्राचीन नगर के पार्श्व पर 'कपालेश्वर' नामक दुर्ग है। उत्कलराज 'चोड़गंग' के समय में इस दुर्ग में एक बड़ा जलाशय खोदा गया था। अभी भी यह जलाशय चोड़गंग के पोखरे के नाम से प्रसिद्ध है। कटक नगर में १२वीं शताब्दी में राजा 'अनंग भीम' ने 'बड़बाटी' नामक एक किला बनाया था। सन् १७५० ई० में अहमद शाह के शासन-काल में इस दुर्ग के उत्तर पश्चिम में प्राचीरें बनाई गई थीं। आइने-अकबरी के मत से इस किले के अन्तर्गत राजा मुकुन्ददेव का नौ मंजिला मकान बना हुआ था, मगर अब तो वहाँ उसके निशान तक बाकी नहीं हैं। बड़बाटी का किला पुराने अवशेषों के रूप में महानदी के किनारे पर दिखलाई पड़ता है।

मुस्लिम-काल में कटक के अन्दर लालबाग नगर का निर्माण हुआ। कई सदियों तक यह लालबाग नगर भी राज्य की गतिविधियों का केन्द्र रहा। रेलवे लाइन के बन जाने पर कटक का विस्तार पूरब दिशा की तरफ बढ़ने लगा।

पहले यह नगर बहुत समय तक उड़ीसा की राजधानी रहा, मगर अब राजधानी भुवनेश्वर में चली जाने से इस शहर का राजनैतिक महत्व कम हो गया। फिर भी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से इसका महत्व ज्यों का त्यों है।

कटनी

इलाहाबाद और जबलपुर के बीच सेंट्रल रेलवे की लाइन पर मध्यप्रदेश में बसा हुआ एक औद्योगिक नगर और जंक्शन।

कटनी एक औद्योगिक नगर है। यहाँ पर चूना, सीमेंट इत्यादि के कई बड़े-बड़े कारखाने स्थापित हैं।

कटांगा

अफ्रीका के कांगो नामक प्रदेश के एलिजाबेथ विले के प्रान्त का एक जिला जिसका क्षेत्रफल ४६४१२ वर्ग मील है। इस जिले के दक्षिण-पश्चिम में उत्तरी रोडेशिया उत्तर-पश्चिम में टंगानिका और पूरब में लवालाबा नामक इसी प्रदेश का एक जिला है।

यह सारा जिला कटांग नामक पठार पर बसा हुआ है और इसी पठार से कांगो नामक प्रसिद्ध नदी निकल कर

'अटलांटिक' महासागर में गिरती है। यह शिला अपने खनिज पदार्थों के लिए सारे संसार में प्रसिद्ध है।

इस ज़िले तथा उत्तरी रोडेशिया के बीच में ताँबे की खदान का एक विस्तृत क्षेत्र लगा हुआ है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इस क्षेत्र में १२ करोड़ टन से भी अधिक ताँबे का भंडार भरा हुआ है। अभी यहाँ से प्रतिवर्ष २ लाख टन ताँबा निकाला जाता है।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् जब कि अफ्रीका के अनेक उपनिवेशों को आज़ादी प्राप्त हुई, उस समय से कटंगा के इस ज़िले ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक महत्त्व प्राप्त कर लिया था। इसी सिलसिले में बेल्जियम के द्वारा शासित कांगो प्रदेश ने भी अपनी गुलामी के बन्धन काट कर आज़ादी की करवट ली और स्वाधीन 'कांगो' के प्रधान मंत्री 'लुमुम्बा' बनाये गये।

उस समय कटंगा प्रदेश का शासक 'शोम्बे' नामक व्यक्ति था। ऐसा समझा जाता है कि यह व्यक्ति बेल्जियम वालों से मिला हुआ था। उत्तरी रोडेशिया भी इसकी मदद पर था। शोम्बे लुमुम्बा का शासन पसन्द नहीं करता था और यह कटंगा को एक स्वतंत्र प्रदेश के रूप में बनाना चाहता था। इसी सिलसिले में कांगो के अन्तर्गत भयंकर गृह-युद्ध का प्रारंभ हुआ जिसमें लुमुम्बा की हत्या कर दी गई। राष्ट्रसंघ कांगो के इस गृह युद्ध को जल्दी से-जल्दी दबाना चाहता था। इसके लिए उसने कई राष्ट्रों से सैनिक सहायता भी माँगी। भारत से भी ६ सेना इस गृहयुद्ध को दबाने के लिए गई थी।

राष्ट्रसंघ के महासचिव "डॉग हैमरशील्ड" भी इस समस्या के समाधान के लिए कांगो गये थे। मगर जब वे एक हवाई जहाज पर यात्रा करने वाले थे उस समय उस हवाई जहाज पर कुछ विस्फोटक पदार्थों को षड्यन्त्र के द्वारा रखवा कर उनकी भी हत्या कर दी गई।

हैमरशील्ड की इस हत्या से सारे संसार में एक सनसनी-सा मच गया मगर फिर भी बहुत समय तक शोम्बे अपनी मनमानी करता रहा। अन्त में राष्ट्रसंघ के साथ उसका एक समझौता हुआ और उसके बाद यहाँ पर शान्ति स्थापित हुई।

कठपुतली

लकड़ी से बनाई हुई पुतलियों को साज-शृंगार से सजाकर उनको तरह तरह के नाटकीय पात्रों का रूप देकर रंगमंच पर अभिनीत किया जाने वाला, एक विशेष प्रकार का खेल जो संसार के सभी सभ्य देशों में भिन्न भिन्न रूप में खेला जाता है।

कठपुतली खेल का इतिहास बहुत पुराना है। ऐसा समझा जाता है कि कठपुतलियों के खेल की परंपरा में से ही आगे जाकर नाट्य-कला का विकास हुआ है।

सबसे पहले कठपुतली के खेलों का प्रारंभ संसार के किस देश में हुआ यह विषय अभी विवादास्पद है। डॉ॰ पिशेल नामक विद्वान् के मत से कठपुतली के खेलों का मूल उत्पत्तिस्थान भारतवर्ष है। उनके मत से संस्कृत के नाटकों की उत्पत्ति कठपुतली के खेलों से ही हुई और यहीं से आगे जाकर वे सारे संसार में फैले।

कुछ विद्वानों के मतानुसार कठपुतली के खेलों का प्रारंभ योरोप में हुआ वहाँ से यह चीन में और चीन से अमेरिका में पहुँचा।

ग्रीक-सभ्यता के अन्तर्गत ईसा से ४ शताब्दी पूर्व कठपुतलियों के खेल के संकेत मिलते हैं। भारतवर्ष के आदिग्रन्थ ऋग्वेद में भी कठपुतलियों के खेलों में अभिनीत होने वाले संवादों की तरह के कुछ उदाहरण पाये जाते हैं। पुरुरवा और उर्वशी, यम और यमी, इन्द्र और शची इत्यादि के संवाद इसी प्रकार के खेलों की भूमिका प्रस्तुत करते हैं। संस्कृत के नाटकों के प्रारंभ में जिस सूत्रधार नामक पात्र का प्रयोग होता है, वह अवश्य ही शुरू शुरू में इन कठपुतलियों के खेल से सम्बन्धित रहा होगा। सूत्रधार सूत्र को पकड़ने वाले पात्र का नाम होता है और इसी सूत्र के द्वारा कठपुतलियों का संचालन किया जाता है। इसलिए आश्चर्य नहीं कि यदि यह 'सूत्रधार' शब्द कठपुतलियों के खेल से ही नाटक में पहुँचा हो।

जो कुछ भी हो और कहीं से भी इस कला का प्रारंभ हुआ हो मगर यह निश्चित है कि यह खेल भारतवर्ष की अपेक्षा योरोप और अमेरिका में भी अधिक लोकप्रिय हुआ।

योरोप में रोमन-साम्राज्य के काल में ही रोम के अन्तर्गत कठपुतलियों के लिए स्वतंत्र रंगमंच बनाये गये थे जो रोमन-साम्राज्य के पतन के पश्चात् भी कई सदियों तक चालू रहे। मध्यकाल के अन्तर्गत भी जब कि सब दूर रोमन-चर्च का बोलबाला था और विशेषकर धार्मिक नाटकों का ही अभिनय होता था, उस समय वे धार्मिक नाटक डोरियों के द्वारा सन्चालित कठपुतलियों के माध्यम से ही प्रचार किये जाते थे। इन कठपुतलियों को फ्रेंच भाषा में मारियानेट्स (Marionettes) कहते थे।

रेनैंसा या पुनर्जागरण के काल में कठपुतलियों का यह खेल फिर से लोकप्रिय हुआ और इन कठपुतलियों के खेल के लिए कथानक तैयार करने में बड़े बड़े प्रसिद्ध लेखकों ने अपने जौहर बतलाये। इंगलैंड में कठपुतली कला के लिए नाटक लिखने वाले बहुत से लेखक हुए। फ्रांस में कठपुतलियों के लिए स्थायी रंगमंच बनाये गये जिनमें कठपुतलियों के नाटक बड़ी सफलता के साथ खेले जाते हैं और उनमें दर्शकों की काफी भीड़ रहती है। जर्मनी के 'ड्रेसडन' नगर में कठपुतलियों का एक बड़ा म्युजियम (संग्रहालय) बना हुआ है और चैकोस्लाविया के प्राग-नगर में कठपुतलियों का प्रशिक्षण-केन्द्र भी है, जहाँ पर तीन वर्ष के कोर्स में कठपुतली-कला का प्रशिक्षण दिया जाता है।

अमेरिका में भी इस कठपुतली-कला का काफी विकास हुआ है और इस कला में वहाँ के बेयर्ड दम्पति—बिल और कोरा—को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई है। कथाकार बिल कठपुतली नचाने की कला में विश्व के सर्वश्रेष्ठ कलाकारों में माने जाते हैं और उनकी कठपुतलियों का तमाशा अमेरिका में 'टूडे' नामक प्रातःकालीन कार्यक्रम के अन्तर्गत टेलीविजन पर प्रस्तुत किया जाता है। बिल ने कठपुतलियों के मास्टर 'टोनीसार्ग' के निर्देशन में पाँच वर्ष तक इस कला का प्रशिक्षण प्राप्त किया। उसके पश्चात् उनका परिचय 'ऑयरे थियेटर' की युवा अभिनेत्री कोरा से हुआ। इस परिचय ने प्रेम का रूप धारण कर लिया जो आगे चलकर विवाह के रूप में परिणत हो गया।

बिल और कोरा के इस मिलन से कठपुतली-कला के अन्तर्गत एक नवीन जीवन का संचार हो गया जिसके परिणाम स्वरूप न्यूयार्क में ग्रीनविच ग्राम के मध्य एक छः मंजिली इमारत में 'फ़ायर हाउसमैन वर्कशाप' में लगभग एक हजार कठपुतलियाँ अपने संचालक के द्वारा जीवनदान की प्रतीक्षा करती रहती हैं। इन कठपुतलियों के द्वारा किये जाने वाले नाटकों में सबसे प्रसिद्ध नाटक 'डेवीजान्स लाकर' नाम का है। जिसमें समुद्र जलपरी समुद्री राक्षस इत्यादि अनेकों ऐसे कठिन दृश्य हैं, जिनका अभिनय स्टेज पर कठपुतलियों के द्वारा कराना अत्यन्त कठिन है मगर बेयर्ड दम्पति ने इन कठिन अभिनयों को बड़ी सफलता के साथ प्रस्तुत किया है, जिसे देखकर दर्शकों को इतना आनन्द आता है कि वे अपने-आप को भूल जाते हैं। समुद्र के गर्भ में होने वाले समुद्री राक्षस तथा जलपरी के संवाद, प्रेतात्माओं तथा जलपरियों के समुद्रगर्भ में होने वाले नृत्य, अतलगर्भ में जलपरियों का ताल-स्वर सहित नर्तन-गायन, रंगमंच के परदे के साथ पात्रों की वेश-भूषा का सामञ्जस्य तथा डेवीजा-लाकर की घटनाओं एवं पात्रों की विविध चेष्टाओं में यह समस्त ज्ञान मुखरित होता है।

सन् १९६२ में बेयर्ड दम्पति १५ कठपुतलियों के साथ कठपुतलियों की जन्मभूमि भारतवर्ष में भी आये थे। भारत में तीन महीने तक इनके प्रोग्राम हुए। यद्यपि इन पुतलियों की भाषा अमरीकी थी और ये पश्चिमी जीवन की एक झाँकी प्रस्तुत करती थीं, फिर भी भारतीय दर्शक इनके क्रियाकलापों को देखकर मुग्ध हो गये।

जावा के अन्दर चमड़े से मढ़ी हुई रँगी हुई तथा अलंकृत पुतलियों के द्वारा 'रामायण' और 'महाभारत' की घटनाओं पर आधारित खेल दिखाये जाते हैं जो कई रातों तक चलते हैं। इनके संगीत-वाद्यों में मृदङ्ग प्रमुख होता है।

भारतवर्ष में कठपुतली के खेलों का प्रधान केन्द्र राजस्थान रहा है। राजस्थान के पेशावर कठपुतली चालक विशेष सम्पन्न न होने के कारण रंगमंच के अभाव में खुले स्थानों पर ही इनका अभिनय करते हैं मगर इतना और सुलभ होने पर भी इन अभिनयों में कला का बहुमुखी प्रदर्शन होता है।

कठपुतलियों के प्रकार

कठपुतलियाँ प्रधान रूप से चार प्रकार की होती हैं।

एक प्रकार की कठपुतलियाँ रंगमंच पर डोरी के द्वारा संचालित की जाती हैं। नेपथ्य में बैठे हुए कठपुतली चालक पतली-पतली काली-काली डोरियों के द्वारा इन कठपुतलियों का संचालन करते हैं और कठिन से कठिन दृश्य और सूक्ष्म से सूक्ष्म मनोभावनाओं का उनके द्वारा ऐसा स्वाभाविक प्रदर्शन करवाते हैं, जैसे सजीव प्रतिमाएँ ही काम कर रही हों।

दूसरे प्रकार की कठपुतलियाँ भीतर से खोखली होती हैं और उनको हाथों में पहन कर नचाया जाता है।

तीसरी तरह की कठपुतलियाँ डोरी के बजाय सीखचों से नचाई जाती हैं।

और चौथे प्रकार की कठपुतलियाँ कार्डबोर्ड से बनाई जाती हैं। ये छाया-नाटकों के काम में आती हैं। इनका नाच एक सफेद पर्दे के पीछे होता है जिस पर पीछे से प्रकाश डाला जाता है और कठपुतलियों की छाया पर्दे पर पड़ती है। यह खेल भी बड़ा दिलचस्प होता है और इनके संवाद कथा की दृष्टि से उपयोगी भी होते हैं। पुर्जों के द्वारा अपने आप चलने-फिरने और नाचनेवाली कठपुतलियाँ भी यूरोप में तैयार हो गई हैं।

कठ-उपनिषद्

कठोपनिषद् सारे उपनिषद् साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। यह कृष्ण-यजुर्वेद की एक शाखा के अन्तर्गत है। इसमें नचिकेता और यम के सम्वाद के रूप में सृष्टि ईश्वर और पुनर्जन्म के रहस्यमय तत्वों का बड़ा ही उपयोगी और विशद वर्णन किया गया है। इसमें दो अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में तीन-तीन वल्लियाँ हैं।

कथानक में महर्षि अरुण के पुत्र उद्दालक ऋषि ने विश्वजित नामक एक महान् यज्ञ करना प्रारंभ किया। इस यज्ञ में यज्ञ करने वाले को अपने सर्वस्व का दान करना पड़ता है। उद्दालक ऋषि के पुत्र का नाम नचिकेता था।

इस यज्ञ में जो गौवें दान देने के लिए लाई गई थीं वे अत्यन्त बुड्ढी, मरियल और गर्भधारण करने में असमर्थ थीं।

बालक नचिकेता यह सब दृश्य देख रहा था। वह बड़ा बुद्धिमान और निर्मल अन्तःकरण का बालक था। इन गायों को देखकर वह सोचने लगा—"पिता जी ये कैसी गौवें यज्ञ की दक्षिणा में दे रहे हैं। अब न तो इनमें झुक कर जल पीने की शक्ति है और न घास चबाने के लिए मुख में दाँत ही रह गये हैं। ऐसी निरर्थक और मृत्यु के मुख में पहुँची हुई गायें, जिन ब्राह्मणों के घर जायेंगी, उनको दुःख के सिवाय और क्या देंगी। इस प्रकार के दान से तो दाता को नीच योनि और नरक प्राप्त होता है। पिताजी इस दान से क्या सुख पायेंगे। उन्होंने अच्छी-अच्छी और उपयोगी गौओं को तो मेरे नाम पर रख लिया है और इन बुड्ढी तथा मरियल गायों को सर्वस्व दान के रूप में ब्राह्मणों को दे रहे हैं। फिर उनके सर्वस्व में तो मैं भी हूँ। मुझको इन्होंने दान में क्यों नहीं दिया। इसलिए पुत्र के नाते पिताजी को इस अनिष्टकारी परिणाम से बचाने के लिए मैं अपना बलिदान कर दूँगा। यही मेरा धर्म है।

यह निश्चय करके उसने अपने पिता से कहा—"पिताजी! आपके सर्वस्व में मैं भी तो एक हूँ। आप मुझे किसको दान करते हैं?"

नचिकेता के इस प्रश्न का उसके पिता ने कोई जवाब नहीं दिया। तब दूसरी बार नचिकेता ने यही प्रश्न किया। फिर भी जवाब न मिलने पर जब नचिकेता ने तीसरी बार भी अपने पिता से यही प्रश्न किया तब ऋषि ने क्रोध में आकर कहा—"जा मैं तुझे यमराज को देता हूँ।"

पिता के इन वचनों को सुनकर नचिकेता ने उनसे यमराज के पास जाने की आज्ञा माँगी। नचिकेता की सत्यपरायणता को देखकर ऋषि ने उसे यमराज के पास भेज दिया। वहाँ जाने पर उसे मालूम हुआ कि यमराज कहीं बाहर गये हुए हैं। अतएव नचिकेता तीन दिन तक बिना अन्न-जल ग्रहण किये, उनके द्वार पर बैठा रहा। जब यमराज वापस आये तो उन्हें इस सूर्य समान बालक

को देखकर बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने तीन रात्रियों की भूख के बदले उसे तीन मनोवांछित वर माँगने को कहा—

नचिकेता ने पहला वर यह माँगा कि मेरे पिता जो क्रोध के वश में मुझे आपके पास भेज कर अशान्त और दुखी हो रहे हैं उनकी वह अशान्ति और दुःख दूर हो जाय और वह पहले की तरह मुझसे प्रेम करने लगें।

यमराज के 'तथास्तु' कहने पर नचिकेता ने दूसरा वर स्वर्ग-लोक की प्राप्ति के लिए 'अग्नि-विद्या' के रहस्य की जानकारी का माँगा। यमराज ने 'तथास्तु' कहकर अग्निविद्या की महत्ता और गोपनीयता बतलाकर स्वर्गलोक की कारणरूप अग्निविद्या का रहस्य नचिकेता को बतलाया।

दो वरों की प्राप्ति हो जानेपर तीसरा वर माँगते हुए नचिकेता ने कहा—'भगवन्! मृत मनुष्यों के सम्बन्ध में एक बड़ा सन्देह फैला हुआ है। कुछ लोग तो कहते हैं कि मृत्यु के बाद भी आत्मा का अस्तित्व रहता है और कुछ लोग कहते हैं कि नहीं रहता। इस विषय में आपका जो अनुभव हो, वह आप मुझे बतलाइये।"

नचिकेता के इस प्रश्न को सुनकर यमराज घबराये। उन्होंने कहा—"नचिकेता! यह आत्मतत्व अत्यन्त सूक्ष्म विषय है। इसका समझना सहज नहीं है। पहले देवताओं को भी इस विषय में सन्देह हुआ था। उनमें भी बहुत विचार-विनिमय हुआ, परन्तु वे भी इसे जान न पाये। अतएव तुम इस वर के बदले में कोई दूसरा वर माँग लो। प्रचुर धन सम्पत्ति, दीर्घ जीवन संसार का साम्राज्य या और अच्छी-से-अच्छी वस्तु तुम इसके बदले में माँग लो, मगर इस वर का हठ छोड़ दो।'

मगर नचिकेता अपने संकल्प पर दृढ़ रहा और संसार के सब भोगों की तुच्छता और अनित्यता को बतला कर 'ब्रह्मविद्या' की जानकारी प्राप्त करने के अपने निश्चय पर दृढ़ रहा।

इसी 'ब्रह्मविद्या' की जो जानकारी यमराज ने नचिकेता को बतलाई वह इस उपनिषद् के दूसरे भाग में वर्णित की गई है। ब्रह्मविद्या का इतना सुन्दर, सरल और संक्षिप्त विवेचन अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता।

कथकली नृत्य

एक सुप्रसिद्ध भारतीय नृत्य जिसका विकास भारत के केरल प्रान्त में हुआ।

कथकली नृत्य के सम्बन्ध में केरल में एक किंवदन्ती इस प्रकार प्रचलित है—

सत्रहवीं सदी में कालीकट में जमोरिन मानवेद नामक राजा राज्य करता था। एक दिन जमोरिन जब अपने महल में सो रहा था तो अचानक बंसी के मधुर स्वर से उसकी आँख खुल गई। उसको अनुभव हुआ कि एक दिव्य प्रकाश से उसका कमरा आलोकित है और स्वयं भगवान् कृष्ण बंसी बजाते हुए उसे दर्शन दे रहे हैं और उसे अपनी लीला करवाने का आदेश दे रहे हैं।

इस आदेश को पाकर दूसरे ही दिन जमोरिन ने कृष्णलीला का आयोजन किया। जगह-जगह से नृत्य और संगीत के कलाकारों को बुलाया गया। बड़े ठाठ-बाट से उसके महल में सफलता पूर्वक लीला सम्पन्न हुई। इस लीला का नाम रक्खा गया "कृष्णाट्टम"

इस लीला की प्रशंसा जब ट्रावनकोर की कोट्टारकारा रियासत के राजा के पास पहुँची तो उसने भी अपने यहाँ इसी प्रकार रामचन्द्र के जीवन के आधार पर एक लीला तैय्यार करवाई। कोट्टारकारा का राजा स्वयं एक उद्भट कवि और कला-पारखी था।

रामायण के उन अंशों को जो रंगमंच पर खेले जा सकते थे चुनकर उनको संस्कृत निष्ठ मलयालम भाषा की कविता के रूप में बदला गया और फिर कर्नाटकी संगीत पद्धति पर उन्हें कसा गया। इस लीला का नाम रक्खा गया "रामनाट्टम

लोकप्रिय भाषा में लिखे जाने के कारण यह लीला बहुत लोकप्रिय हुई और दूर-दूर के लोग इसे देखने आये।

इसी रामनाट्टम से कथकली की पूर्व परम्परा का जन्म हुआ। इसके अतिरिक्त केरल में "कालीयाट्टम" "तैयाट्टम" कुरतियाट्टम, मोहिनीआट्टम इत्यादि और भी कई नृत्यनाट्य प्रचलित हैं।

कथकली का इस प्रकार आरम्भ होने पर इसे शास्त्रीय रूप दिया जाने लगा। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र तथा

नन्दिकेश्वर के 'अभिनय-दर्पण' नामक ग्रन्थों के आधार पर इसे शास्त्रीय रूप दिया गया।

कथकली की कथावस्तु

कथकली नृत्य की कथावस्तु प्रधानरूप से कृष्णचरित, नलचरित, उषास्वयंवर, सुभद्राहरण, कीचकवध आदि अनेक प्रकार की पौराणिक कथाओं से तैयार की जाती है। मगर अब जब कि इस नृत्य ने अन्तर्राष्ट्रीय महत्व ग्रहण कर लिया है तो विदेशों में लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए इसके कलाकारों ने लोक-जीवन और उसकी समस्याओं से सम्बन्धित कुछ आधुनिक कथावस्तु भी तैयार कर लिये हैं।

कथकली नृत्य का अभ्यास करने वाले विद्यार्थी को संस्कृत की पुराण-कथायें संस्कृतमयी मलयालम-कविता और नाट्यशास्त्र का अभ्यास करना पड़ता है। कथकली का मुद्राकोष प्राचीन नाट्यशास्त्र के मुद्रालक्षणों से बहुत बढ़ गया है। विद्यार्थी को उन सब मुद्राओं का अभ्यास करना पड़ता है। गायकों के द्वारा कथावस्तु के चरण क्रिया में गाये जाते हैं। नर्तक उन चरणों के एक-एक शब्द को मुद्राओं में उतारता है।

कथकली के वाद्य

कथकली नृत्य के वाद्यों में "चेण्डा" "मद्दलम" "वीन" "बाँसुरी" और "मंजीर" प्रधान हैं।

चेण्डा—कथकली नृत्य का मूल आधार "ताण्डव नृत्य" पर आधारित है। इसलिए इसमें वीर और रौद्ररस का वातावरण अधिक रहता है। इन रसों के अनुकूल वातावरण गाढ़ा कर देने की शक्ति "चेण्डा" में बहुत अधिक रहती है। यह एक प्रकार का ढोल होता है जो वादक के गले में लटका रहता है। इसकी आवाज धरती को कम्पा देने वाली होती है। जिस प्रकार मारूबाजा सेना के सिपाहियों में जोश भर देता है उसी प्रकार "चेण्डा" की आवाज नर्तक के मन में जोश और उसके पैरों में गति पैदा कर देती है। "चेण्डा" वाद्य में मानो रौद्ररस की धारा बहा देता है। जिस समय कोई स्त्री पात्र अभिनय में आता है उस समय "चेण्डा" बन्द कर दिया जाता है। वैसे कथकली के अभिनय में स्त्रियाँ कम ही आती हैं। स्त्रियों का पाट भी प्रायः पुरुष ही करते हैं।

मद्दलम—यह मृदंग के आकार का वाद्य होता है। इसे हथेली तथा उँगलियों से बजाया जाता है। एक ही एक रस्सी से यह वादक की कमर में बँधा रहता है। इसका स्वर भी मृदंग की भाँति ही मधुर और कर्णप्रिय होता है। जब मद्दलम और चेण्डा दोनों जोर जोर से बज उठते हैं तब प्रलय के समान दृश्य उत्पन्न हो जाता है। इन वाद्यों के साथ-साथ कभी-कभी वीन, बाँसुरी और मंजीर भी बजते हैं।

कथकली का प्रारम्भ अक्सर "तोडयम्" नृत्य से होता है। यह एक प्रकार की नटेश्वर की प्रारम्भिक वन्दना होती है। इसमें वाद्य बड़ी मीठी आवाज में बजते हैं। और दो किशोर बालक लालित्यपूर्ण नृत्य करते हैं।

"तोडयम" के बाद "पुरप्पाड्" नृत्य का प्रारम्भ होता है। यह कथकली का परिचय-नृत्य होता है। इसके साथ गायक कथा के नायक के शौर्य तेज और उदारता की प्रशंसा करता है। तब उसके नायक और नायिका मंच पर अवतीर्ण होते हैं।

कथकली की मुद्राएँ

कथकली-नृत्य में अभिनय के तीन प्रधान अङ्ग होते हैं।

(१) आहार्य (२) वाचिक और (३) आङ्गिक

(१) आहार्य—इस अङ्ग में नायक के कपड़े, शृंगार वेशभूषा और अलंकारों का समावेश होता है। नर्तक चाहे अभिनय की कला में दक्ष हो ताल और लय को भी जानता हो मगर यदि उसका व्यक्तित्व और उसका शृंगार नायक की मर्यादा के अनुकूल न हो तो दर्शक आकर्षित नहीं हो सकते। इसलिए नायक और नर्तकी के व्यक्तित्व को सुन्दर और प्रभावशाली बनाने के लिए शृंगार और मेकअप की अनिवार्य आवश्यकता होती है।

(२) वाचिक—इस अंग में गायक के संवाद और गीत आते हैं। कथकली में यह कार्य गायकों की पृथक टोली सम्पन्न करती है। प्रत्येक गायक ढोल, मधु झंकार

करने वाले मंजीर, वीणा, मृदंग और किंकिणी-चरण के परिमोप माने जाते हैं।

(३) आंगिक—अंग, उपांग और प्रत्यांगों के द्वारा भावों का प्रदर्शन आंगिक अभिनय माना जाता है जो कत्थकली नृत्य का प्राण है।

इस आंगिक अभिनय और मुद्राओं का भरतमुनि के नाट्यशास्त्र और नन्दिकेश्वर के अभिनय दर्पण में विशद वर्णन किया गया है।

अभिनय दर्पण में मस्तक की सम, अधोमुख, आलोकित कम्पित आदि नौ प्रकार की मुद्राएँ मानी गई हैं। भरत मुनि ने मस्तक की चौबीस मुद्राएँ बतलाई हैं। इसी प्रकार मन के विचारों को आँखों के द्वारा प्रदर्शित करने में आँखों की आठ मुद्राओं का उल्लेख है जिनमें "सम" "आलोकित" "प्रलोकित" "निमीलित" "विभ्रान्त" "चलित" "कुञ्चित" इत्यादि मुद्राएँ हैं। इसी प्रकार हाथों की ६४ हस्तमुद्रायें मानी गई हैं जिनमें चौबीस असंयुक्त (एक हाथ की) तेरह संयुक्त (दोनों हाथों की) और १७ सहायक मुद्राएँ हैं।

कत्थकली का नर्तक पैरों द्वारा भावना या रस-विशेष को प्रकट करने में अत्यन्त दक्ष रहता है। जिस समय नर्तक शृंगार भावना का प्रदर्शन करता है उस समय उसके नेत्रों से रस छलकता सा लगता है। जिस समय मन की भावनाओं को वह नेत्रों के द्वारा प्रकट करता है उस समय ऐसा मालूम होता है जैसे उसके पैरों में सर्प आ गया है। नेत्रों द्वारा भावों का यह प्रदर्शन अत्यन्त कष्ट साध्य है और इसकी साधना में विद्यार्थी को बरसों लग जाते हैं।

कत्थकली नृत्य की मुद्राओं का क्षेत्र बहुत विशाल है। समस्त देवता विष्णु, शिव, प्राचीन भारत के प्रसिद्ध पुरुष घटनाएँ, नदियाँ वृक्ष, पशु, पक्षी सभी का बोध इन मुद्राओं के द्वारा ही कराया जाता है। यदि नर्तक के दोनों हाथों की मुद्रा त्रिपताका हो तो समझना चाहिए कि उसका अभिप्राय विष्णु से है। यदि उसके एक हाथ की मुद्रा शिखर और दूसरे की मृगशीर्ष हो तो उससे दम्पति का बोध होता है। सरस्वती के एक हाथ की मुद्रा अर्द्ध चन्द्र और दूसरे हाथ की सूचि होती है।

कत्थकली का आरम्भ प्रायः शृंगार रस के दृश्यों से होता है। शुरू-शुरू में नायक, नायिका उपवन में विहार करते हुए दिखाई देते हैं। फिर धीरे-धीरे नायक की गति बढ़ती है और इसका अन्त वीर या रौद्र रस में होता है। जिस समय रौद्र रस अपनी चरम सीमा पर पहुँचता है "चेण्डा" और "मद्दलम" जोर से चीत्कार करने लगते हैं और सारे वातावरण में रौद्ररस भर जाता है। ऐसा लगता है मानों पृथ्वी काँप रही है और पात्रों के नेत्रों से अग्निकणी होने लगती है। स्त्रियाँ बच्चों को गोद से चिपका लेती हैं। चारों ओर भय का वातावरण छा जाता है।

केरल-कला-मण्डलम्

कत्थकली नृत्य को पूर्ववत् शास्त्रीय रूप देने में और इस नृत्य के अनेक प्रसिद्ध कलाकारों को पैदा करने में मलबालम के महान् कवि वल्लतोल द्वारा स्थापित "केरल कलामण्डलम" का प्रमुख स्थान है। इसी शिक्षण संस्था में कत्थकली नृत्य की प्रसिद्ध अभिज्ञात्री शान्ता देवी ने शिक्षा पाई। कत्थकली के आचार्यों में कुञ्जुकुरुप तेतुरमन पिल्लई, रेम्नोमेनन, कवलप्पा, माधवन नायर, गोपीनाथ, कुञ्चन पणिकर आदि के नाम प्रसिद्ध हैं।

कणाद

वैशेषिक दर्शन के रचयिता परमाणु-सिद्धान्त के प्रथम प्रस्तावक भारतीय मुनि, जिनका समय अनुमानतः ईसा से पूर्व आठवीं सदी में माना जाता है।

कणाद मुनि के सम्बन्ध में कई प्रकार की किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। एक किंवदन्ती यह है कि वे खेतों में बिखरे हुए अन्न के कणों को बीन-बीन कर उनसे अपनी क्षुधा शान्त करते थे। इससे इनका नाम "कणाद" पड़ा। दूसरी किंवदन्ती के अनुसार वे दिन भर तो विद्याध्ययन और लिखने-पढ़ने का काम करते थे और रात को उदर पूर्ति के लिए भिक्षावृत्ति पर निकलते थे इससे लोग इन्हें "उलूक" नाम से भी सम्बोधित करते थे।

कणाद वैशेषिक दर्शन के आदि प्रवर्तक हैं। इन्होंने अपने दर्शन में "विशेष" नामक एक विशिष्ट पदार्थ को स्वीकृत किया, इसी से इनके दर्शन का नाम "वैशेषिक दर्शन" पड़ा।

कणाद के मत से सृष्टि की उत्पत्ति में छह भावतत्त्व और एक अभावतत्त्व रहता है। छह भावतत्त्वों के नाम द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय हैं। इन भावतत्त्वों में द्रव्य नौ प्रकार का, गुण चौबीस प्रकार का, कर्म पाँच प्रकार का, सामान्य दो प्रकार का, समवाय और विशेष एक एक प्रकार का और अभाव चार प्रकार का होता है।

इनमें से सामान्य तत्त्व दो वस्तुओं में समानता और विशेष तत्त्व वस्तुओं को पृथक्ता प्रदान करता है। विशेष तत्त्व नित्य और अनन्त है। दो वस्तुओं के अन्दर रहने वाले नित्य सम्बन्ध को समवाय कहते हैं।

कणाद पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि में रहने वाले परमाणुओं के संयोग से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं। उनका मत है कि परमाणु स्वयं शान्त और निष्क्रिय रहते हैं लेकिन प्राणियों की भाग्यानुकूलता या कर्मों से उनमें स्पन्दन होता है जिससे सृष्टि की उत्पत्ति होती है। अदृष्ट या कर्म ही प्राणियों के जन्म-मरण के चक्कर का मूल कारण है। इस अदृष्ट या कर्म का नाश होने पर ही प्राणी को मोक्ष की प्राप्ति होती है और वह संसार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

जिस परमाणु सिद्धान्त का कणाद ने अपने दर्शनशास्त्र में सूत्ररूप में उल्लेख किया है, वही परमाणु-सिद्धान्त आजकल पाश्चात्य वैज्ञानिकों के अध्ययन का मूल केन्द्र हो रहा है। इसी सिद्धान्त में से इन वैज्ञानिकों ने महान् भौतिक शक्तियों का अनुसन्धान कर लिया है।

परमाणु-सिद्धान्त का यूरोप में अनुसन्धान करने का श्रेय यूनान के प्रसिद्ध विद्वान् डिमोक्रेटस को दिया जाता है, जो ईसा से ४४ वर्ष पूर्व हुआ था। इसके पश्चात् एपीक्यूरियस ने भी परमाणु-सिद्धान्त पर विशेष विवेचन किया। मगर भारतवर्ष में तो इन सिद्धान्तों का विवेचन उससे भी बहुत पहले कणाद मुनि ने अपने वैशेषिक दर्शन में विशद रूप से किया है।

कणाद मुनि का वैशेषिक दर्शन ईश्वर को सृष्टि की उत्पत्ति में कारणभूत नहीं मानता। उनके दर्शन में ईश्वर का कहीं उल्लेख भी नहीं है। उनके मत से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इत्यादि पदार्थों के परमाणुओं के स्पन्दन से ही इस सृष्टि की उत्पत्ति होती है। जीवधारियों की कर्म-शृंखला या अदृष्ट ही इन शान्त और निश्चेष्ट परमाणुओं को गति देता है और उसी गति से यह सृष्टि होती है।

बाद के टीकाकारों ने इसी अदृष्ट को ही ईश्वर की इच्छा मानकर ईश्वर का निरूपण किया है।

वैशेषिक पर श्रीधर की कन्दली टीका तथा उस टीका पर जैन विद्वान् राजशेखर की टीका विशेष प्रसिद्ध है।

कदम्ब-राजवंश

दक्षिण-भारत का एक प्राचीन और सुप्रसिद्ध राजवंश जिसका शासन दक्षिण के कनारी प्रदेश में ईसा की दूसरी शताब्दी के लगभग स्थापित हुआ था और जिसकी राजधानी 'करहाटक' या 'करहद' नामक नगर में थी।

कदम्ब-राजवंश का संस्थापक 'कदम्ब' नामक व्यक्ति आन्ध्र शातवाहन राजाओं का मांडलिक था। ईसा की दूसरी शताब्दी के मध्य में उसने कनारी क्षेत्र में एक छोटे से राज्य की स्थापना की और 'करहद' नगर को अपनी राजधानी बनाया। कुछ लोगों के मत से इस वंश के पूजनीय वृक्ष 'कदम्ब' के नाम पर इस वंश का नाम कदम्ब राजवंश पड़ा।

कदम्ब-राजवंश के लोग अपने-आप को 'हारीत' ऋषि के वंशज और 'मानव्य गोत्रीय' ब्राह्मण मानते हैं। इनके कुलदेवता का नाम मधुकेश्वर है।

इसी वंश में तीसरी सदी के अन्त में 'मयूर शर्मन' नामक एक प्रतापी राजा हुआ। इसने अपनी राजधानी करहद से बदल कर 'वैजयन्ती' या 'बनवासी' में स्थापित की। कहा जाता है कि इसने पल्लव, आभीर, पारियात्र, शकस्थान और मौखरी इत्यादि राजाओं को युद्ध में पराजित कर अपने राज्य का विस्तार किया।

इसकी चौथी पुश्त में 'काकुस्थ वर्मन' नामक राजा हुआ। इस राजा ने गंग, गुप्त और वाकाटक-राजवंशों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके उनसे मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किया।

यह राजा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन था। काकुस्थ वर्मन का पुत्र 'शान्ति वर्मन' हुआ। इसने कदम्ब-राज्य के बनवासी, त्रिपर्वत और उच्छृंगी नामक तीनों भागों को संगठित करके मजबूत शासन की स्थापना की।

शान्ति वर्म्मन का पुत्र 'मृगेश वर्मन' हुआ। इसके समय में इसके चाचा 'कृष्ण वर्म्मन' प्रथम ने विद्रोह करके त्रिपर्वत प्रदेश पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार कदम्ब राजवंश की दो शाखाएँ हो गईं।

मृगेश वर्म्मन का पुत्र 'रवि वर्म्मन' हुआ। इसने कृष्ण वर्म्मन के द्वारा स्थापित की गई दूसरी शाखा को हराकर सारे राज्य को एक कर लिया। रवि वर्म्मन एक प्रतापी और सुयोग्य नरेश था।

इसका पुत्र 'हरि वर्म्मन' हुआ जिसका समय ईसवी सन् ५२ से ५४ तक माना जाता है।

कदम्ब-राजाओं के समय में उनका राजधर्म शैव होने पर भी जैन-धर्म का बड़ा प्रभाव था। कई बड़े बड़े जैनाचार्यों को इन राजाओं ने बहुत से दान दिये थे। राजा शान्ति वर्म्मन ने तो स्वयं अपनी द्वितीय राजधानी पलाशिका' में अपने पिता शान्ति वर्म्मन की स्मृति में एक भव्य जैन-मन्दिर का निर्माण करवाया था। इस राजा का 'हालमडी-अभिलेख' कन्नडभाषा के सबसे प्राचीन अभिलेखों में से एक है।

इसके पश्चात् इस राजवंश का परिचय १ वीं, ११वीं और १२वीं शताब्दी में भी पाया जाता है। बंबई गजेटियर जिल्द १ भाग २ पृष्ठ ५५८-५६१ पर 'फ्लीट' ने इनका जो वर्णन किया है वह इस प्रकार है—

कदम्ब-राजवंश मराठा-कुल का प्राचीन राजवंश था। इसकी दो शाखाएँ थीं—एक धारवाड़ प्रदेश के हनगल प्रदेश में और दूसरी गोवा में राज्य करती थी।

कदम्ब राजवंश का राजा द्वितीय कीर्तिवर्मन ई० सन् १ ५८ में राज्य कर रहा था। यह सोमेश्वर चालुक्य और छठे विक्रमादित्य का सामन्त था। इसके पश्चात् इसका लड़का शान्ति वर्म्मन सन् १ ८९ में छठे विक्रमादित्य के समय बनवासी और हनगल प्रदेश पर राज्य करता था। इसका पुत्र तैलप था। इसके कई शिलालेख हनगल ताल्लुका में मिले हैं जो सन् १ ९९ से ११९८ तक के हैं। इसको विष्णुवर्द्धन होयसल ने जीतकर अपने अधीन कर लिया था। इसके पुत्र मयूरवर्मन और मल्लिकार्जुन थे। ये सब राजा चालुक्य सम्राटों के मांडलिक थे।

इस कदम्बवंश की दूसरी शाखा गोवा में राज्य करती थी। इस शाखाने दक्षिण कोंकण के शिलाहार राजाओं से गोवा को जीतकर अपनी राजधानी बनाया था। इसके अतिरिक्त बेलगांव जिले के खानापुर ताल्लुका के अन्तर्गत घाट पर के प्रदेश को भी इन्होंने जीत लिया था। यह प्रदेश उस समय "पलसिगे" के नाम से प्रसिद्ध था। यह राजवंश 'सप्तकोटीश्वर' नामक शिवलिंग का उपासक था और अपने लेखों में कलियुगी संवत् का उल्लेख करता था, शालिवाहन शक का नहीं। इसके लेख भी कनाड़ी भाषा में नहीं संस्कृत भाषा में लिखे हुए मिलते हैं। इनका लांछन सिंह और झण्डे पर वानर का चिन्ह रहता था। ये अपना गोत्र मानव्य और वंश हारीत ऋषि से मानते हैं।

इस कदम्बकुल की वंशावली "गुहल" नामक व्यक्ति से शुरू होती है। गुहल का पुत्र षष्ठदेव अर्थात् छट्ट था। इस राजा का एक शिलालेख ई० सन् १ ७ का लिखा हुआ मिलता है। छट्ट का पुत्र जयकेशी अत्यन्त प्रतापी हुआ। गुडिकट्टि के एक शिलालेख में इसका विस्तृत वर्णन किया हुआ है। इसीने गोवा को जीतकर अपनी राजधानी बनाई। इसकी पुत्री मैनलदेवी का विवाह गुजरात के राजा कर्ण सोलंकी से हुआ था। इसका समय ई० सन् १ ५२ के लग भग था।

जयकेशी के बाद राजा विजयादित्य राजा हुआ इसके पुत्र द्वितीय जयकेशी का विवाह चालुक्य नरेश विक्रमादित्य की पुत्री से हुआ था। यह राजा अपने को कोंकण-चक्रवर्ती कहने लगा था और स्वाधीन होने की फिक्र में था। तब विक्रम के मांडलिक प्रथम आचुगी ने चढ़ाई करके इसे पराजित कर दिया। इसके दो पुत्र थे पेमार्डी और विजयादित्य द्वितीय। पेमार्डी शिव का उपासक था और विजयादित्य विष्णु का। विजयादित्य बड़ा विद्वान् था इसके नाम के साथ "वाग्विभूषण" की उपाधि का भी उल्लेख है। पेमार्डी की रानी सोमवंशोत्पन्न कमला देवी थी। इसने दो सुन्दर मन्दिर नारायण और लक्ष्मी के बनवाये थे। धारवाड़ जिले के देगांव ताल्लुका में ये विद्यमान हैं। पेमार्डी का समय ई० सन् ११४७ से प्रारम्भ माना जाता है। पेमार्डी ने अपने नाम के सिक्के भी ढलवाये थे। ई० सन् ११८२ में ढाली हुई इसकी एक स्वर्ण-मुद्रा भी प्राप्त हुई है।

विजयादित्य द्वितीय का पुत्र जयदेवी तृतीय हुआ। इसके सन् ११९९ और १२ १ के दो शिलालेख प्राप्त हुए हैं। इसका पुत्र त्रिभुवन मल्ल और उसका पुत्र यादवेन्द्र द्वितीय हुआ जो ई. सन् १२४५ में गद्दी पर बैठा था।

इस वंश का अन्त किस प्रकार हुआ इसके सम्बन्ध में कोई मजबूत प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

कनफ्यूशस

चीन के महान् दार्शनिक और धर्मनेता जिनका जन्म ई. पू. ५५१ में और मृत्यु ई. पू. ४७८ में हुई।

कनफ्यूशस प्राचीन चीन के महान् धर्मनेता और दर्शन शास्त्री थे। इनका जन्म ई. पू. ५५१ में चीन के लू राज्य के शुफ़ नामक स्थान पर हुआ। उन्नीस वर्ष की उम्र में इनकी शादी हुई और १९ वर्ष की अवस्था में ये अपनी पत्नी को तलाक देकर धर्मसाधना और तत्व-चिन्तन में लीन हो गये।

कनफ्यूशस ने अपने घर पर ही एक स्कूल खोला और बच्चों को शिक्षा देने लगे। धीरे-धीरे इनके स्कूल में विद्यार्थियों की संख्या ३ तक पहुँच गई। इस विद्यालय में ऐसे विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने आते थे जो सदाचार और राजनैतिक विषयों की शिक्षा ग्रहण करना चाहते थे। ई. पू. ५१७ में कनफ्यूशस अपने दो शिष्यों के साथ राजधानी में गये और वहाँ पर उन्होंने चीन के प्रसिद्ध समकालीन विचारक "लाओत्ज़े" से भेंट की तथा वहाँ के पुस्तकालय के अनेक ग्रन्थों का और इतिहास का अध्ययन किया।

ई. सन् पूर्व ५ १ में कनफ्यूशस लू-राज्य के चुंग-त्यू प्रदेश के मुख्य न्यायाधीश बनाये गये। उनके इस पद पर आते ही वहाँ के लोगों में आशा और विश्वास की लहर दौड़ गई और अराजकता और अव्यवस्था का अन्त हो गया। उसके पश्चात् वे अपराध विभाग के मंत्री बनाये गए। वहाँ पर भी उन्होंने बड़ी सफलता पूर्वक कार्य किया जिससे राज्य में अपराधों की संख्या एक दम कम हो गई। शासन का कायापलट हो गया और भ्रष्टाचार तथा बेईमानी का अन्त हो गया।

अराजकता और अपराधों में कमी आ जाने से लू राज्य सर्वांगीण उन्नति करने लगा और वह पड़ोस के सभी राज्यों से अधिक शक्तिशाली हो गया।

इस उन्नति से घबराकर पड़ोस के ची राज्य के शासक ने लू-राज्य के शासक का नैतिक पतन करने के लिए १ अतीव सुन्दरी नर्तकियाँ और १२ घोड़े लू-राज्य के शासक के पास भेंट में भेजे। इन सुन्दर और मदभरी युवतियों को देखकर लू-राज्य का शासक अपना आपा खो बैठा और इन सुन्दरियों के साथ रास रचने में मशगूल हो गया। उसके इस दुराचरण का असर जनता पर भी पड़ा। यह देखकर कनफ्यूशस बहुत दुखी हो गये और वह नौकरी छोड़कर चले गये। तेरह वर्ष तक इधर-उधर भ्रमण करने के पश्चात् लू-राज्य के दूसरे शासक "ची" के पास, जो इनका शिष्य भी था, परामर्शदाता के रूप में नियुक्त हो गये और अपने जीवन के अन्तिम पाँच वर्ष इन्होंने वहीं व्यतीत किये और वहीं ई. पू. ४७८ में ७२ वर्ष की अवस्था में इनका देहान्त हुआ। इनके अनुयायियों ने बड़ी धूम धाम से उनके शव को दफनाया। उनके कई शिष्य तीन वर्ष तक उनकी समाधि के पास बैठे रहे और उनका सबसे प्रिय शिष्य त्से-कुंग तो छः वर्ष तक वहीं जमा रहा।

इस दार्शनिक का अपने जीवन-काल में जनता ने इतना सम्मान नहीं किया मगर मृत्यु के पश्चात् यही दार्शनिक यहाँ की जनता के हृदय का सम्राट हो गया। कनफ्यूशस की मृत्यु के पश्चात् चीन की जनता ने अत्यन्त श्रद्धा के साथ कनफ्यूशस के विचारों का संग्रह करके उसे एक धर्म का रूप दिया जो कनफ्यूशस-धर्म कहलाया। आगे चलकर चीन में इसका बहुत प्रचार हुआ। लाखों व्यक्ति इसके अनुयायी हो गये और इसकी शिक्षा देने के लिए हजारों स्कूल खोले गये। दिन प्रति दिन इसके अनुयायियों की संख्या बढ़ती गई।

धार्मिक विचार-धारा

कनफ्यूशस की विचारधारा के अनुसार सदाचार और नैतिकता मनुष्य के लिए सबसे आवश्यक वस्तुएँ हैं। उनके मतानुसार आदर्श व्यक्ति वही है जिसमें दार्शनिक तथा

सदाचारी के गुणों का समन्वय हो। उनके मतानुसार सम्पूर्ण समाज का संगठन पाँच प्रकार के सम्बन्धों पर अवलम्बित है—

(१) राजा और प्रजा (२) पिता और पुत्र (३) पति और पत्नी (४) बड़े और छोटे भाई और (५) सम्बन्धी और इष्ट मित्र। इनमें से प्रथम चार वर्गों में एक वर्ग आदेश देने वाला और दूसरा उसका पालन करने वाला होता है। राजा आदेश देता है प्रजा उसका पालन करती है। पिता और पति आदेश देते हैं पुत्र और पत्नी उनका पालन करते हैं। मगर यदि आदेश देने वाला उच्छृंखल और स्वेच्छाचारी हो जाता है तो आदेश का पालन करने वाले भी विद्रोही हो जाते हैं और सारे समाज की व्यवस्था बिगड़ जाती है। सफल और अनुभवी शासक अपने चरित्र, उदारता और निरपेक्षिता का उदाहरण बतला कर जनता का सुधार कर सकता है और राज्य में दैवी सम्पत्, सुख और समृद्धि का योगक्षेम कर सकता है।

कन्फ्यूशस ने अपने आप में किसी दैवी-शक्ति या पैगम्बर-भावना का कभी दावा नहीं किया। देवी, देवता या भूतप्रेत सम्बन्धी विश्वासों का न तो उन्होंने कोई समर्थन किया न विरोध। उनका मत था कि प्रत्येक व्यक्ति यदि ईमानदारी और विवेक के साथ काम करता है तो समाज में शांति रहती है और देवी-देवता भी प्रसन्न रहते हैं। दृढ़ि, साहस और सद्भावना ये तीन मनुष्य के आवश्यक गुण हैं। जब कोई भी निशानेबाज निशाना चूक जाता है तो वह उसके कारण की खोज करता है। उसी प्रकार किसी भी गलती के समय विवेकशील मानव भी अपनी त्रुटियों को देखता है। दूसरों को दोष नहीं देता।

राजनैतिक विचारधारा

कन्फ्यूशस के राजनैतिक विचार भी बहुत मँजे हुए और गम्भीर अध्ययन पर आधारित हैं। उनके विचारों को पढ़ते हुए कभी-कभी तो ऐसा मालूम होने लगता है मानो ढाई हजार वर्ष पहले का वह महर्षि आज ही के युग को सम्बोधन करके बोल रहा हो।

कन्फ्यूशस का कथन है कि किसी भी प्रणाली का राज्य हो, उसमें जनता की सार्वभौमिकता एक अनिवार्य तत्व की तरह होती है।

अपने शिष्य चे-कुंग के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए कनफ्यूशस कहते हैं कि, सरकार की सफलता के लिए तीन चीजों की अनिवार्य आवश्यकता होती है (१) पर्याप्त खाद्य (२) पर्याप्त सैनिकबल और युद्ध-सामग्री और (३) जनता का विश्वास। इन तीन चीजों में से किसी एक की भी कमी होने से सरकार का अस्तित्व कठिन हो जाता है।

जब चे कुंग ने पूछा कि इन तीनों वस्तुओं में से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कौन सी वस्तु है? तो कनफ्यूशस ने कहा कि "जनता का विश्वास"। युद्ध सामग्री और खाद्य वस्तुओं की कमी में तो कुछ समय तक सरकार किसी भी तरह टिक सकती है मगर जनता का विश्वास खोकर वह जीवित नहीं रह सकती।

अगर राज्य का मंत्री पूर्ण व्यवस्थापक और दार्शनिक प्रवृत्ति का होता है तो शासन का कार्य उत्तम तरीके से चलता है, समाज में अपराधों की कमी होती है, दरबार की विलासिता और फजूलखर्ची मिटती है। ऐसा मंत्री लोगों को कम दण्ड देगा और ऊँचनीच की भावनाओं को कम करेगा।

राज्य के शासक का कर्तव्य होता है कि वह समाज में अनाथ, अपाहिज वृद्ध और विधवाओं के पालन की व्यवस्था करे, क्योंकि इनके पालन का भार राज्य के ऊपर है।

कनफ्यूशस की इस राजनैतिक विचार धारा के विरुद्ध वहाँ के सामन्तवादी लोगों ने एक "लीगेलिस्ट" नामक कानूनी सम्प्रदाय खड़ा किया। इन लोगों का मत था कि राज्य मनुष्य के विवेक की आधारशिला पर नहीं कानून की आधारशिला पर स्थापित होता है। कानून का शासन जनता पर अनिवार्य रूप से होना चाहिए और वह तब तक रहना चाहिए जब तक जनता इतनी समझदार नहीं होती कि अपना शासन आप कर सके।

इन दोनों विचारधाराओं में काफी समय तक ई० पू० २२१ से २११ तक भयंकर संघर्ष होता रहा। जिसमें कभी कनफ्यूशस के अनुयायी जोर पकड़ लेते थे और कभी "लीगेलिस्ट" लोग।

मगर अन्त में चीन के सम्राट ची-हुआंग ने अपने मंत्री ली-स् के प्रभाव में आकर कन्फ्यूशस के सब ग्रन्थों को इकट्ठा करके जलवा दिया मगर उसके कुछ अनुयायियों ने उसके ग्रन्थों को इधर-उधर छिपा दिया, जिससे वे बच गये।

इसके पश्चात् हानवंश का सम्राट वू-ती (ई. पू. १४ से ई. पू. ८७ तक) कन्फ्यूशस के मत का मानने वाला हुआ। इसने कन्फ्यूशस के सारे साहित्य की खोज करवा कर उसको फिर से व्यवस्थापूर्वक लिखवाया और शिक्षा के पाठ्य-क्रम में भी इन ग्रन्थों को रखवाया।

ईसवी सन् ५९ में मिंगवंश के सम्राट मान-ई-सुम ने कन्फ्यूशस के धर्म को महत्त्व देकर सारे देश में कन्फ्यूशस के मन्दिर बनाने की आज्ञा दी। इस प्रकार करीब १२ वर्षों तक चीन में कन्फ्यूशस धर्म का काफी प्रभाव रहा और जापान के अन्दर भी बौद्धधर्म के साथ-साथ इस धर्म ने काफी प्रगति की।

कन्फ्यूशस की रचनाओं में पांच-चींग और चार-शू ये दो प्रकार की रचनाएँ विशेष प्रसिद्ध हैं। पांच चींग के (१) शी-की (२) इ-किंग (३) शी किंग (४) चुन-चिन्न और (५) शू किंग ऐसे पांच खण्ड हैं। इन पांच खण्डों में धार्मिक विधिविधान, समाज व्यवस्था, चरित्र निर्माण, संसार की सब मधुरता की व्याख्या तथा पांचवें खण्ड में सम्पूर्ण चीन के इतिहास का वर्णन है। चार-शू में दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन है इसके (१) लुन-यू (२) ता-सुए (३) चुंग-युंग और (४) मेंग-त्सू ऐसे चार खण्ड हैं।

मृत्यु के समय इस महान् दार्शनिक के कहे हुए शब्दों का अर्थ इस प्रकार है—

बड़े से बड़ा पहाड़ भी टूटेगा
मजबूत से मजबूत लोहा भी टूटेगा
और बड़े से बड़ा बुद्धिमान पुरुष भी
मौत के आघात से फूल की तरह कुम्हला जायगा।

कनिष्क

(कुषाणवंशीय सम्राट)

भारतीय इतिहास में शकयुग की स्थापना करने वाला कुषाण-वंश का एक महान् सम्राट जिसका समय कुछ मत-भेदों के साथ ई. सन् ७८ से १ १ तक माना जाता है।

कुषाण लोगों का कबीला यक जाति के कबीलों में से ही एक था। भारत में प्रवेश करने से पूर्व पांच यक कबीले गान्धार और कपिशा के उत्तरी पहाड़ों में रहते थे। इनमें कुषाण कबीला भी एक था। इस कबीले का नेता "कुजुल" नामक एक व्यक्ति था जिसने सबसे पहले भारत की सीमाओं में प्रवेश किया। कुजुल का समय ई. सन् २५ से ५ तक माना जाता है।

कुजुल के भारत प्रवेश के समय कपिशा पर ग्रीक राजा हर्मेयस का शासन था। कुजुल ने इसको हराकर इसे अपना साथी या राज्य प्रतिनिधि बना लिया था। उस समय के यहाँ पाये जाने वाले सिक्कों पर कुजुल और हर्मेयस दोनों के नाम हैं।

कुजुल के पश्चात् विमकदफिस नामक व्यक्ति उसका उत्तराधिकारी हुआ और विमकदफिस का उत्तराधिकारी कनिष्क को माना जाता है। मगर कई इतिहासकारों का इस वंशावली से काफी मतभेद है। उनके मत से विमकदफिस का कनिष्क से कोई सम्बन्ध नहीं था और न यह उसकी गद्दी का उत्तराधिकारी हुआ।

गद्दी पर बैठते ही पहले तीन वर्षों में इस महान् सम्राट् ने पेशावर से लेकर पाटलिपुत्र तक सारे उत्तरी भारत पर विजय प्राप्त की और खरपल्लान तथा वनस्पर को उस प्रदेश में महाक्षत्रप और क्षत्रप के नाम से शासक नियुक्त किये।

इसके पश्चात् इसने मध्य एशिया के खोतान, कपिशा तथा और भी कई प्रान्तों पर अधिकार कर लिया। काश्मीर पर भी इस सम्राट ने विजय प्राप्त कर वहाँ पर कनिष्कपुर नामक नगर बसाया जिसका उल्लेख 'कल्हण' की राजतरंगिणी में भी पाया जाता है। यारकन्द की मरुभूमि में भी खुदाई के अन्दर कनिष्क के समय के नगर मिले हैं। इससे पता चलता है कि मध्य एशिया में भी कनिष्क के साम्राज्य का काफी विस्तार हो गया था।

कनिष्क के समय के शिलालेख, मथुरा साँची, पेशावर, रावलपिंडी सारनाथ, कौशाम्बी इत्यादि अनेक स्थानों पर पाये गये हैं। इस सम्राट के कई मन सिक्के उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले में भी मिले हैं। सन् १८४९ में व्हारेकम में हब्शियों के द्वारा जो खुदाई की गई उसमें तीसरी शताब्दी के महत्त्वपूर्ण भित्तिचित्र और कुशल कारीगरों के बनाये हुए दस्तावेजों का संग्रह भी मिला है। कनिष्क के सिक्के के आगे के हिस्से पर लम्बकोष कुलीसी टोपी, मुंहमें तक बड़ा और माला और अंकुश लिए कनिष्क की मूर्ति बनाई हुई है और ग्रीक लिपि में "बैसी लिओस बैसिलियोन शाओनानो शाओ कनिष्को कुशाणो" ये शब्द अंकित हैं। इस सिक्के के पिछले के भाग पर ग्रीक देवी देवताओं की तसवीरें तथा सूर्य के चित्र बनाये हुए हैं।

कनिष्क की राजधानी आधुनिक पेशावर—जो उस समय पुष्पपुर के नाम से प्रसिद्ध था—में थी। कनिष्क के समय में इस राजधानी का वैभव पाटलिपुत्र से भी अधिक हो गया था। क्योंकि सिक्यांग की पूर्वी सीमा से लेकर ईरान की सीमा तक का चीन का सारा रेशम पथ कनिष्क के कब्जे में था। फर्गाना और सोग्द के समरकन्द इत्यादि वैभवशाली नगर भी उसके हाथ में थे।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि एक बार सम्राट कनिष्क ने चीन की एक सुन्दर राजकुमारी से विवाह करने का प्रस्ताव एक दूत के द्वारा चीन-सम्राट के पास भेजा था। इस प्रस्ताव से नाराज होकर हानवंश के सम्राट ने कनिष्क के दूत को जेल में डाल दिया। इस पर कनिष्क ने पामीर और हिमालय के मार्ग से सेना ले जाकर चीन पर आक्रमण कर दिया। पहली बार वह इस युद्ध में हार गया पर दूसरी बार फिर पूरी शक्ति से आक्रमण कर उसने चीनी सेनाओं को परास्त कर दिया और चीन के कई राज्यों पर अधिकार कर लिया तथा कई चीनी राजकुमारों को पकड़कर बन्धक की तरह ले आया। उन राजकुमारों के रहने के लिए उसने चोदशमन में एक स्थान बनाया जिसका नाम श-लोक-विहार रखा गया। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्युएनसंग ने ईसा की सातवीं सदी में इस विहार को देखा था।

सम्राट कनिष्क ने देश की व्यापारिक उन्नति के लिए भी बहुत प्रयास किया। उस समय उत्तरी सीमा के चीन, ईरान, मिस्र इत्यादि देशों के साथ बड़े-बड़े व्यापारिक काफिलों के द्वारा व्यवसाय होता था। ये काफिले भारत का बना हुआ माल उन देशों में ले जाने का और उन देशों में बना हुआ माल यहाँ लाकर बेचने का व्यवसाय करते थे। पूर्वी और दक्षिणी देशों के साथ समुद्री जहाजों के द्वारा व्यापार होता था। इसी प्रकार स्थानीय व्यवसाय की उन्नति के लिए यहाँ की नदियों का उपयोग किया जाता था।

धार्मिक प्रवृत्ति

सम्राट कनिष्क बौद्धधर्म के सर्वास्तिवाद-सम्प्रदाय का अनुयायी था। सम्राट अशोक की तरह इसने भी बौद्ध धर्म के प्रचार में बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया। सुप्रसिद्ध बौद्ध कवि और साहित्यकार अश्वघोष को यह पाटलिपुत्र से अपने साथ ले गया। इसी प्रकार पार्श्व-वसुमित्र नामक एक और विद्वान् बौद्ध भिक्षु इसके साथ था। इन्हीं पार्श्व-वसुमित्र की अध्यक्षता में सम्राट ने एक विशाल बौद्ध संगीति काश्मीर की कुण्डल वन उपत्यका में बिठाई थी। इस संगीति में ५०० बौद्ध भिक्षुओं ने भाग लिया था। इस संगीति में सर्वास्तिवाद के अन्तिम मूलरूप से 'त्रिपिटक' के पाठ का निर्णय और संग्रह किया गया। इस प्रकार बौद्ध धर्म के विकास और प्रचार में सम्राट कनिष्क ने बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लिया।

बुद्धदेव की प्रथम मूर्ति का निर्माण भी सम्राट् कनिष्क के समय में ही हुआ। इस मूर्ति के चीवर के कुन्नट और केशविन्यास पर ग्रीक मूर्तिकला का प्रभाव दिखलाई देता है। इस काम में मथुरा की मूर्तिकला का भी काफी विकास हुआ और ग्रीक मूर्तिकला को गांधार भारतीय शैली में बदलने का काम भी इसी काल में हुआ।

कनिष्क के काल-निर्णय पर इतिहासकारों में बड़ा मतभेद है। फ्लीट इत्यादि इतिहासकार कनिष्क का समय ई० पू० ५८ मानते हैं जब से कि विक्रम संवत् का प्रारम्भ हुआ था। मार्शल स्मिथ इत्यादि इतिहासकार इसका समय ईसा की दूसरी शताब्दी में मानते हैं। मगर विशेष मान्य मत रेप्सन थॉमस आदि इतिहासकारों का

समझा जाता है जो कनिष्क का समय ई॰ सन् ७८ से मानते हैं, जब कि उसने शक शालिवाहन संवत् का प्रारम्भ किया।

कन्नमवार

भारतीय स्वाधीनता संग्राम के एक प्रमुख कांग्रेसी नेता तथा बाद में महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री श्री मारोतिराव साम्बशिव कन्नमवार जिनका जन्म सन् १९   में और मृत्यु सन् १९६३ में हुई।

श्री कन्नमवार का जन्म सन् १९   म विदर्भ क्षेत्र के चांदा नाम का शहर में एक साधारण परिवार में हुआ था। इनका प्रारम्भिक जीवन बड़े आर्थिक संकट में से गुजरा। प्रारम्भ में वे नागपुर में अखबार बेचने वाले हॉकर का काम करते थे मगर इस स्थिति में भी पत्रकार कला में उनकी खासी रुचि थी। इसके परिणाम स्वरूप सन् १९३४ में वे "लोक सेवक" नामक एक पत्र के सम्पादक बनाए गये, और सन् १९४८ में "नव सन्देश" नामक एक प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र इन्हीं के सम्पादन में नागपुर से निकलना प्रारम्भ हुआ।

श्री कन्नमवार प्रारम्भ से ही गांधीजी के चलाये हुए स्वाधीनता-संग्राम में अपना महत्त्वपूर्ण योग देते रहे। इस सिलसिले में इन्हें कई बार जेल यात्राएँ भी करनी पड़ी। मगर वे अपनी धुन के बड़े सच्चे और पक्के थे। इन सब कठिनाइयों और कष्टों से विचलित नहीं होते थे। सन् १९३९ से १९४८ तक वे प्रदेश कांग्रेस के महामंत्री और सन् १९४८ से १९५१ तक प्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष रहे।

सन् १९५२ के चुनाव में कन्नमवार बहुत बड़े बहुमत से विजयी हुए और तत्कालीन मध्यप्रदेश—विदर्भ के शासन में स्वास्थ्य मंत्री बनाये गये। १९५७ के चुनाव में वे फिर विजयी हुए और महाराष्ट्र मंत्री मण्डल में फिर स्वास्थ्य मंत्री बनाये गये। २ नवम्बर १९६२ को महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री श्री चह्वाण के केन्द्र में चले जाने से वे महाराष्ट्र के मुख्य मंत्री बनाये गये।

इस प्रकार एक हॉकर के रूप में जीवन प्रारम्भ कर अपनी कर्मठता देशभक्ति और जीवन के प्रति उदार दृष्टि के प्रभाव से श्री कन्नमवार प्रान्तीय शासन के ऊँचे से ऊँचे पद पर पहुँच गये। एक बार उन्होंने स्वयं कहा कि—

"मैं खुद नहीं जानता कि एक बहुत छोटे क्षेत्र से जीवन प्रारम्भ कर कैसे एक के बाद दूसरी बढ़ती हुई जिम्मेदारियाँ मेरे पर आती गईं और कैसे मैं उन्हें सम्भालता गया। मैं इस पर गर्व नहीं करता। मैं समझता हूँ कि भगवान् मेरे निमित्त से ही प्रान्त का कुछ भला करना चाहता है।

कनिंघम

(ऐलेक्जेण्डर सर कनिंघम)

भारतीय इतिहास और पुरातत्त्व के एक सुप्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान जिनका जन्म इंगलैण्ड में सन् १८१४ ई॰ में और मृत्यु सन् १८९३ में हुई।

सर कनिंघम शुरू शुरू में अंग्रेजी सेना के एक अधिकारी के रूप में भारतवर्ष आये थे मगर यहाँ आने पर यहाँ की प्राचीन पुरातत्त्व सम्बन्धी सामग्री की खोज का उन्हें शौक लग गया, और इस क्षेत्र में उन्होंने बड़ी दिलचस्पी से काम करना आरम्भ कर दिया। सन् १८६१ में भारतीय पुरातत्त्व विभाग में उन्होंने प्रवेश किया और कुछ ही समय में वे उत्तर प्रदेश पुरातत्त्व-विभाग के सर्वोच्च अधिकारी बनाये गये।

इस विभाग में काम करते हुए सर कनिंघम ने भारतीय प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध कई महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान किये। इन अनुसन्धानों का वर्णन पुरातत्त्व सम्बन्धी रिपोर्टों के रूप में करीब तेईस जिल्दों में प्रकाशित हुआ।

भारत के प्राचीन भूगोल पर इन्होंने "एनशेण्ट ज्याग्रफी ऑफ इण्डिया" नामक ग्रन्थ लिखा जो आज भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसी प्रकार प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसंग के यात्रा विवरण में जिन स्थानों और शहरों के नाम आये हैं उन पर भी सर कनिंघम ने बड़े प्रामाणिक अनुसन्धान किये हैं।

भारत के प्राचीन इतिहास और पुरातत्त्व के सम्बन्ध में सर कनिंघम का शोधकार्य अभी तक बड़ा महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

कन्नड़ भाषा और साहित्य

कन्नड़ भाषा पंच द्राविड़ भाषाओं के अन्तर्गत मानी जाती है। ये पंच द्राविड़ भाषाएँ—तामिल, तेलगू, कन्नड़ मलयालम तथा तुलु मानी जाती हैं। तुलु कन्नड़-भाषा की ही एक शाखा है जो दक्षिणी कर्नाटक में बोली जाती है। रामायण महाभारत काल में भी कन्नड़ बोलने का प्रयोग होता था, फिर भी कन्नड़ का लिखित रूप ईसा की चौथी शताब्दी के पूर्व प्राप्त नहीं होता।

कन्नड़-साहित्य

कन्नड़ साहित्य का प्राचीन इतिहास दो भागों में विभाजित है। उसका पहला और प्राचीन युग जैनधर्म के प्रभाव क्षेत्र में पूर्ण वैभव के साथ विकसित होता है और उसका दूसरा युग तब प्रारम्भ होता है जब उस देश में "वीर शैव" मत का प्रारम्भ होता है और सारा कन्नड़ साहित्य वीरशैव मत के गानों से गूँजने लगता है।

जैन परम्परा और कन्नड़ साहित्य

शुरू शुरू में कन्नड़ साहित्य का विकास करने में जैन धर्म के तत्कालीन विद्वानों और आचार्यों ने बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। जैन परम्परा का विश्वास है कि किसी धर्म का वास्तविक प्रचार तभी सम्भव हो सकता है जब कि उसका ज्ञान जनभाषा या बोलचाल की भाषा के अन्दर लोगों को समझाया जाय। यही कारण है कि जिस समय देश में चारों तरफ संस्कृत का बोलबाला था उस समय भी जैन विद्वानों ने अपने महान् साहित्य की रचना जन समाज की भाषा प्राकृत में ही विशेष रूप से की।

ऐसा स्पष्ट मालूम होता है कि ईसा की दूसरी शताब्दी से ही दक्षिण भारत में जो-जो प्रसिद्ध राजवंश अस्तित्व में आये उनमें से अधिकांश राजवंशों के अधिकांश नरेशों ने जैनधर्म और जैन विद्वानों को बहुत बड़ा संरक्षण प्रदान किया। इनमें से कई राजवंश ऐसे थे जिनका राज्य-धर्म शैव होने पर भी उन्होंने जैनधर्म को पूरा संरक्षण दिया। ये राजागण बड़ी समदर्शी भावनाओं से युक्त थे। काञ्ची के पल्लव राजवंश वैजयन्ती के कदम्ब राजवंश, मदुरा के पाण्ड्य राजवंश, मैसूर के गंग राजवंश, वातापी के पश्चिमी चालुक्य राजवंश इत्यादि अनेकानेक राजवंशों के राजाओं की छाया में इस साहित्य का निर्माण प्रारम्भ हुआ। उस काल के शिलालेखों, दानपत्रों इत्यादि से पता चलता है कि उस काल के दक्षिणी नरेशों ने अपने दानपत्रों के द्वारा जैन धर्मस्थानों, विद्वानों और आचार्यों को बड़े-बड़े दान देकर उन्हें सहायता पहुँचाई।

कन्नड़ साहित्य का प्रथम कवि "कवि परमेष्ठि" नामक एक जैन कवि माना जाता है जो सुप्रसिद्ध गंग नरेश अविनीत के समय में अर्थात् ई सन् ४०० के आसपास हुआ। इसने संस्कृत कन्नड़ मिश्रित भाषा में "वागार्थ संग्रह" नाम से त्रिषष्ठिशलाका महापुरुषों के जीवन पर एक महापुराण की रचना की।

गंगनरेश अविनीत का पुत्र दुर्विनीत हुआ। जिसका समय ई सन् ४८२ माना जाता है। यह भी कन्नड़ भाषा का एक परिचित कवि और लेखक था।

ईसा की सातवीं सदी के प्रारम्भ में चालुक्य शासन काल में सुप्रसिद्ध जैनाचार्य्य अकलङ्कदेव हुए जो संस्कृत, प्राकृत और कन्नड़ भाषाओं के तथा जैन सिद्धान्तों के प्रकाण्ड पण्डित थे। इन्होंने कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। ई सन् ७५ के लगभग कदम्ब राजवंश के राजा शान्ति वर्मन ने सुप्रसिद्ध हल्मीडि का अभिलेख खुदवाया जो कन्नड़ भाषा का पहला अभिलेख माना जाता है।

आठवीं सदी में ईसा के पूर्व चालुक्यों के शासनकाल में विशाखापट्टम जिले की रामगिरि पहाड़ियों पर एक प्रसिद्ध जैन सांस्कृतिक केन्द्र चल रहा था जिसके अधिष्ठाता श्री नन्दि नामक जैनाचार्य्य थे। इस सांस्कृतिक केन्द्र के द्वारा कई जैन गुफा मन्दिरों जैनाश्रमों और धार्मिक केन्द्रों का निर्माण और पुनरुद्धार हुआ। अनेकों जैन विद्वान् और कलाकार इस केन्द्र में रहते थे। इस केन्द्र से निकले हुए कई विद्वानों ने कन्नड़ साहित्य की बहुत अभिवृद्धि की।

राष्ट्रकूट वंश के राजा दन्तिदुर्ग के अंधक युवराज के समय में वीरसेन नामक एक अत्यन्त प्रसिद्ध जैनाचार्य्य हुए। इन्होंने वटग्रामपुर में अपने ज्ञानकेन्द्र की स्थापना की थी। कन्नड़ साहित्य में जैनधम के 'धौवला' नामक महान् और सुप्रसिद्ध ग्रंथ की रचना इन्होंने सन् ७८ में की।

ईसा की नवीं शताब्दी में मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजा नृपतुङ्ग के समय में उसके दरबारी कवि श्रीविजय ने "कविराज मार्ग" नामक रस अलङ्कारों के ग्रन्थ की तीन अध्यायों में रचना की।

मगर कन्नड़ साहित्य के धाराप्रवाही विकास का युग दसवीं सदी के अन्त में प्रारम्भ होता है। इस युग को इस साहित्य में "जैन युग" ही कहा जाता है। इस युग में सारे कर्नाटक में जैनाचार्यों का बोलबाला हो रहा था। इन जैनाचार्यों ने कन्नड़ साहित्य को सम्पन्न बनाने में बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इन आचार्यों में से प्रत्येक ने प्रायः एक २ धर्मकाव्य के साथ २ एक २ लौकिक काव्य की भी रचना की। इन जैनाचार्यों ने संस्कृत की "चम्पूकाव्य-शैली" को ग्रहण कर उसी ढङ्ग की चम्पूशैली कन्नड़ भाषा में भी चलाई। इनके धार्मिक काव्यों में शान्त करुण और अद्भुत रस की धारा प्रवाहित होती थी और इनके लौकिक काव्य वीर और रौद्र रस से सराबोर रहते थे।

इन जैन कवियों में दसवीं सदी में "पम्प" "पोन्न" और "रन्न" (रत्नाकर) नामक तीन कवि विशेष प्रसिद्ध हुए जो "रत्नत्रयी" के नाम से प्रसिद्ध हैं। धार्मिक काव्यों में पम्प ने आदिपुराण की पोन्न ने "शान्तिपुराण" और जिनाक्षरमाला की और रन्न ने "अजितपुराण" की रचना की। पम्प का आदिपुराण 'जिनसेनाचार्य' के "आदिपुराण' के आधार पर लिखा हुआ है। जिसमें प्रथम जैन तीर्थंकर "ऋषभनाथ" का जीवनचरित बतलाया गया है। लौकिक काव्यों में पम्प ने 'विक्रमार्जुन विजय' और "पम्प भारत" की पोन्न ने "भुवनैक रामाभ्युदय" की और रन्न ने "भीमसाहस" नामक काव्य की रचना की। रन्न कवि को कल्याणी के चालुक्यवंशी राजा तैलप ने सन् ९९१ ई० में "कवि चक्रवर्ती" की उपाधि से विभूषित किया।

इसी काल में नागवर्म नाम के कवि ने "कर्नाटक कादम्बरी" के नाम से बाणभट्ट की संस्कृत कादम्बरी का सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किया तथा छन्दोम्बुधि नामक ग्रन्थ की रचना की। इन्हीं के साथ चन्द्रराज नामक कवि ने "मदन तिलक" नामक कामशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ की और श्रीधराचार्य ने "जातक तिलक" नामक ज्योतिष ग्रन्थ की रचना की।

बारहवीं सदी में कन्नड़ साहित्य में नागचन्द्र नामक एक प्रसिद्ध जैन कवि हुए। इन्होंने "मल्लिनाथ पुराण" और "पम्परामायण" नामक दो काव्यों की रचना की।

संत बसवेश्वर

बारहवीं शताब्दी के अन्त में संत बसवेश्वर ने अवतीर्ण होकर कन्नड़ साहित्य में एक युगान्तर उत्पन्न कर दिया और कन्नड़ साहित्य की बहती हुई धारा को एक नया मोड़ दे दिया। उन्होंने यहाँ पर वीरशैव मत का प्रचार कर यहाँ के धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में बड़ा तहलका मचा दिया। बसवेश्वर की विचारधारा एक नवीन विचारधारा थी, जिसने परम्परा से चले आये वैदिक कर्मकाण्डों, मूर्तिपूजा जातिपाँति आदि प्रचलित विधि विधानों के विरुद्ध जोरदार आवाज उठाई और विशुद्ध आध्यात्मिक आधार पर स्थित प्रभु-भक्ति का जोरों से समर्थन किया। उन्होंने अपने साहित्य में परम्परा गत संस्कृतनिष्ठ कन्नड़ भाषा का व्यवहार छोड़कर बोलचाल की कन्नड़ भाषा में अपने काव्यों का निर्माण प्रारम्भ किया।

दक्षिण के बसवेश्वर की तुलना उत्तर के कबीर साहब से की जा सकती है। इन दोनों धर्माचार्यों और कवियों के जीवन में बहुत कुछ समानता है। कबीर साहब की तरह बसवेश्वर भी कर्मकाण्ड रूढ़िवाद मूर्तिपूजा जाति-पाँति इत्यादि के खिलाफ थे। कबीर साहब की ही तरह वे आध्यात्मिक साधना को सर्वोपरि मानते थे। कबीर साहब ने अपने विचार जनता तक पहुँचाने के लिए सीधी सादी बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया, बसवेश्वर ने भी इसी मार्ग को उत्तम समझ कर ग्रहण किया। बसवेश्वर का साहित्य कन्नड़ भाषा में वचन-साहित्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

बारहवीं से तेरहवीं सदी के इस युग में वीरशैवों के इस भक्ति साहित्य के साथ-साथ जैन कवियों के द्वारा जैन

साहित्य का भी निर्माण बराबर चल रहा था। इस युग के जैन कवियों में नेमिचन्द्र, मधुवर्मा, मल्लिकार्जुन, केशिराज, कुन्देन्दु मुनि इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं।

इसके पश्चात् तेरहवीं सदी के अन्त और चौदहवीं सदी के प्रारम्भ से कन्नड़ साहित्य की धारा तीन मार्गों में विभक्त हो गई। एक भागवत सम्प्रदाय, दूसरा भक्ति-सम्प्रदाय और तीसरा जैन सम्प्रदाय।

इस काल में भागवत सम्प्रदाय के सबसे बड़े महान् कवि कुमार व्यास हुए। इनका समय चौदहवीं और पन्द्रहवीं सदी के बीच किसी समय माना जाता है। इन्होंने अपनी कन्नड़ भारत नामक रचना में महाभारत के प्रथम दस पर्वों की कथा को कन्नड़ कविता के रूप में अंकित किया है। इनका यह काव्य कन्नड़ जनता के अन्दर बहुत अधिक लोकप्रिय हुआ। कुमार व्यास के अनुकरण पर ही कुमार वाल्मीकि नामक कवि ने वाल्मीकि रामायण के आधार पर तोरवे रामायण नामक काव्य की अत्यन्त सरस और लोकप्रिय भाषा में रचना की। लक्ष्मीश नामक महा कवि ने लगभग इसी समय "जैमिनी भारत" नामक सुप्रसिद्ध काव्य की रचना कर कन्नड़ भाषा के साहित्य को अत्यन्त समृद्ध किया।

दूसरी तरफ भक्ति सम्प्रदाय के कवि भी इस युग में भक्तिप्रधान गीत भजन और कीर्तनों की रचना कर कन्नड़ साहित्य में भक्ति रस की धारा बहा रहे थे और घर-घर में प्रभु भक्ति का सन्देश पहुँचा रहे थे। ये भक्त लोग कर्नाटक में 'हरिदास' के नाम से प्रसिद्ध थे। इस हरिदास समुदाय में जगन्नाथ दास, पुरन्दरदास कनक दास इत्यादि कवि विशेष प्रसिद्ध हुए।

तीसरी ओर जैन कवि भी अपने क्षेत्र में अपनी सुन्दर रचनाओं से कन्नड़ साहित्य को समृद्ध कर रहे थे। इन कवियों में महाकवि रत्नाकर वर्णी का नाम विशेष प्रसिद्ध है। भरत चक्रवर्ती और उनके भाई बाहुबली के महान् चरित्रों पर लिखा हुआ इनका 'भरतेश वैभव' नामक काव्य कन्नड़ साहित्य की अमूल्य निधि है। इनके पश्चात् उन्नीसवीं सदी में देवचन्द्र नामक जैन कवि ने "राम-कथावतार" नामक रामायण को बड़ी मधुर शैली में लिखा।

उन्नीसवीं सदी में ही 'बस भय्य' नामक कवि ने कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का इतनी सजीव और मधुर कन्नड़ भाषा में अनुवाद किया कि वे वहाँ पर 'अभिनव कालिदास' के नाम से प्रसिद्ध हो गये।

उन्नीसवीं सदी से ही अपने धर्म प्रचार के लिए ईसाई मशीनरियोंने भी अपना साहित्य कन्नड़ भाषा में छपाकर प्रचारित करना प्रारम्भ कर दिया। इससे कन्नड़ भाषा के गद्य साहित्य के विकास में मदद मिली। सन् १८२१ में बाइबिल का कन्नड़ अनुवाद प्रकाशित किया गया। यही शायद कन्नड़ भाषा का सब से पहला गद्य ग्रन्थ है। सन् १९०७ में नरसिंहाचार नामक विद्वान ने 'कर्नाटक कवि चरिते' नामक कन्नड़ साहित्य का एक सुव्यवस्थित इतिहास तीन भागों में प्रकाशित किया।

इसी प्रकार उपन्यासों के क्षेत्र में 'गुल्वाडि वेंकटराव' एस एस. पुट्टण्णा, ए. एन. कृष्णराव, तथा कहानियों के क्षेत्र में "मास्ति वेंकटेश अय्यंगार' का नाम विशेष रूप से प्रसिद्ध है।

कन्नड़ साहित्य की अभिवृद्धि में वहाँ से निकलने वाली पत्र पत्रिकाओं का भी भारी सहयोग रहा है। कन्नड़ भाषा में सबसे पहली पत्रिका सन् १८६६ में "कन्नड़ वार्तिक' के नाम से ईसाई मशीनरी के द्वारा निकाली गई। इसके पश्चात् हित बोधिनी, सुदर्शन काव्य मंजरी, मधुर्वाणी इत्यादि अनेक पत्र पत्रिकाओं का निकलना प्रारम्भ हुआ। इस पत्रकारिता के क्षेत्र में मैसूर के एम वेंकट कृष्णय्याका नाम विशेष प्रसिद्ध है। दैनिक पत्रों में प्रजावाणी, जनवाणी, ताजिन नाडु, नव भारत इत्यादि पत्र प्रधान हैं।

इस प्रकार कन्नड़ साहित्य ने भी भारत की दूसरी भाषाओं के साहित्य की तरह अपने निर्माण में सर्वतो मुखी उन्नति की है।

कन्नौज (कान्यकुब्ज)

भारत वर्ष की एक प्राचीन और ऐतिहासिक नगरी, जिसके पीछे भारत वर्ष के एक अत्यन्त गौरव पूर्ण युग का सुनहला इतिहास अंकित है। इस समय यह नगर कानपुर और आगरा के बीच की छोटी लाइन पर बसा हुआ है।

कन्नौज का पुराना नाम कान्यकुब्ज है। पौराणिक परम्पराओं के अनुसार प्राचीन काल में किसी चन्द्रवंशीय राजा की सौ कन्याएं वायु देवता के शाप से एक साथ कुब्जा हो गई थी, उन्हीं के नाम पर इस नगर और जिले का नाम कन्याकुब्ज या कान्यकुब्ज पड़ा।

मौखरी राजवंश

कन्नौज का प्रारंभिक और स्वतंत्र इतिहास 'मौखरी राजवंश' से सिलसिलेवार पाया जाता है। इसके पहले यह स्थान गुप्तसाम्राज्य का अंग था, मौखरी राजवंश प्राचीन 'मागध-राजवंश' की एक शाखा थी। इस वंश के लोग 'गुप्त-सम्राटों' के करद सामन्तों के रूप में कन्नौज पर शासन करते थे।

ईसा की ६ ठी शताब्दी के प्रारंभ में 'आदित्य वर्मा' मौखरी कन्नौज का शासक था। इसके पुत्र ईश्वरवर्मा ने 'हूणों' के आक्रमण के समय कन्नौज-राज्य को एक स्वतंत्र राज्य घोषित कर दिया था।

ईश्वर वर्मा का पुत्र ईशान वर्मा बड़ा प्रतापी हुआ जिसका समय ईस्वी सन् ५५ से ५७६ तक था। इसने अपने को महाराजाधिराज घोषित कर दिया और अपनी शक्ति का बहुत विस्तार कर लिया।

ईशान वर्मा के पुत्र शिववर्मा ने गुप्तसाम्राज्य के साथ अनेक लड़ाइयां करके गुप्त-नरेश दामोदरगुप्त की शक्ति को बहुत क्षीण कर दिया जिसके परिणाम स्वरूप कन्नौज का मौखरी राज्य उत्तर भारत की सर्व प्रधान शक्ति बन गया।

शिव वर्मा के बाद 'अवन्ति वर्मा' और उसके बाद 'ग्रह-वर्मा' कन्नौज के राज्य सिंहासन पर आये। ग्रहवर्मा का विवाह थानेश्वर के सुप्रसिद्ध राजा 'प्रभाकर वर्धन की पुत्री राज्यश्री' के साथ हुआ था। लेकिन बंगाल के राजा शशांक और मालवा के राजा 'देव गुप्त' ने कन्नौज पर चढ़ाई करके युद्ध में ग्रह वर्मा को मार डाला और राज्यश्री को गिरफ्तार कर लिया। तब राज्यव[illegible] ने 'हर्ष वर्धन ने इन शत्रुओं से बदला लेकर [illegible] किया और राज्यश्री के [illegible] और [illegible] कन्नौज का शासन भी [illegible]। इस प्रकार मौखरी [illegible] के सिंहासन पर हर्षवर्धन-वंश का प्रारंभ हुआ। हर्षवर्द्धन सन् ६ ६ में कन्नौज की गद्दी पर बैठे।

सम्राट् हर्षवर्द्धन

कन्नौज के इतिहास का सबसे महत्त्वपूर्ण और उत्कर्ष-युग सम्राट् हर्षवर्द्धन का काल माना जाता है। इस युग में कन्नौज का वैभव अपनी चरम सीमा पर जा पहुँचा था। सम्राट् हर्षवर्द्धन ने अपनी दिग्विजय में पूर्वी पंजाब, बंगाल का अधिकांश भाग, आसामी, नेपाल, कच्छ, सूरत इत्यादि अनेक देशों को जीतकर अपने विस्तीर्ण साम्राज्य में मिला लिया था। चालुक्य सम्राट पुलकेशी द्वितीय से हार जाने के कारण वे दक्षिण में अपने साम्राज्य का विस्तार नहीं कर पाये थे।

इस समय कन्नौज की शान और वैभव अभूतपूर्व हो गये थे। कन्नौज का साम्राज्य उत्तरभारत पंजाब और बंगाल तक विस्तीर्ण हो गया था। शासन में स्थिरता, उदारता और शांति थी। प्रजा के ऊपर करों का भार बहुत कम था। पोलिस का प्रबन्ध बहुत सुधरा हुआ था। साहित्य और कला का बहुत तेजी से विकास हो रहा था। स्वयं हर्षवर्द्धन भी बड़े प्रतिभाशाली कवि और लेखक थे। बाणभट्ट सरीखे महान् कवि और ह्युएनत्सङ्ग के समान विद्वान चीनी पर्यटक उनके दरबार में रहते थे। विद्या के प्रचार के लिए तक्षशिला नालन्दा काशी और उज्जैन ये विश्वविद्यालय गौरव के साथ चल रहे थे।

हर्ष के पश्चात् यशोवर्मा कान्यकुब्ज-साम्राज्य का शासक हुआ। इसके शासन में भी कन्नौज अपने पूर्ण वैभव पर था। उत्तर रामचरित के कर्त्ता महाकवि भवभूति इसी दरबार में थे।

आयुध-राजवंश

हर्ष वर्धन और यशो वर्मा के पश्चात् सन् ७८ ई० के लगभग कुछ समय के लिए कन्नौज पर आयुधवंश का शासन [illegible]। इस राजवंश में चक्रायुध इन्द्रायुध और [illegible] तीन राजा हुए, मगर यह राजवंश बहुत [illegible] कर सका और गुजरात के प्रति[illegible] आक्रमण कर इस राजवंश को [illegible] कन्नौज पर [illegible] का शासन

प्रतिहार-राजवंश

प्रतिहार राजवंश का मूल संस्थापक 'वत्सराज' (सन् ७७५-८) नामक प्रतापी नरेश था। प्रारंभ में इसकी राजधानी, राजस्थान के 'भीनमाल' नामक स्थान पर थी और पूर्वी राजस्थान में इसका राज्य था। मगर इस प्रतापी नरेश ने अनेक राजाओं को पराजित कर कन्नौज पर अधिकार कर लिया और वहीं पर अपने साम्राज्य की दूसरी राजधानी स्थापित की।

गुप्त-वंश के पतन के बाद 'कन्नौज' ही भारत वर्ष की प्रधान राजधानी बन चला था और गुर्जर-प्रतिहारों के प्रयास से वह साम्राज्य उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया था।

वत्सराज के समय में ही सुप्रसिद्ध जैनाचार्य उद्योतन सूरि हुए। उन्होंने सन् ७७८ ई० में अपने प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ 'कुवलय माला' का निर्माण किया। इस ग्रन्थ में वत्सराज का भारत वर्ष के सब से प्रतापी राजा के रूप में उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ से यह भी मालूम होता है कि वत्सराज जैन-धर्म और जैन साहित्य का बड़ा समर्थक था। उसके द्वारा 'ओसियाँ' 'भीमाल' इत्यादि स्थानों पर विशाल जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ। इसी के समय में श्वेताम्बराचार्य उद्योतनसूरि ने अपने कुवलय-माला नामक काव्य की रचना राजस्थान के 'जालोर' नामक स्थान में की। इसी के समय में दिगम्बराचार्य जिनसेन ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'हरिवंश पुराण' की रचना मालवे के 'वर्धमान' नामक स्थान में की। और इसी के समय में प्रसिद्ध जैनाचार्य हरिभद्र सूरि ने चित्तौड़ में जैन-साहित्य के अनेक ग्रन्थों की रचना की।

वत्सराज ने कन्नौज में एक भव्य जैनमन्दिर का निर्माण करवाया जिसमें भगवान महावीर की स्वर्णमयी प्रतिमा स्थापित की गई।

वत्सराज का पुत्र नागभट्ट द्वितीय हुआ, जिसे जैन-ग्रन्थों में 'आमराजा' के नाम से भी सम्बोधित किया गया है। इसका समय सन् ८० से ८३६ तक था। यह राजा भी बड़ा प्रतापी और [illegible] था। पालों और राष्ट्रकूटों के आक्रमण के कारण कन्नौज कुछ समय के लिए प्रतिहारों के हाथ से निकल गया था मगर नागभट्ट द्वितीय ने चक्रायुध का अन्त करके सन् ८११ में फिर कन्नौज पर स्थायी रूप से अधिकार कर उसे ही अपनी प्रधान राजधानी बनाया। इस राजा ने दिग्विजय करके भारत वर्ष के अनेक राजाओं को परास्त करके अपने साम्राज्य का बहुत विस्तार किया।

नागभट्ट द्वितीय के पश्चात् प्रतिहार-वंश में मिहिर भोज नामक अत्यन्त प्रतापी सम्राट् हुआ। इसने सन् ८३६ से सन् ८८५ तक करीब ५० वर्ष राज्य किया। इस राजा के समय में प्रतिहार-वंश का राज्य वैभव चरम उत्कर्ष को पहुँच गया था। पाल, राष्ट्रकूट, कलचुरी और कश्मीर के राजाओं से उसकी लड़ाइयाँ हमेशा चलती रहीं। मालवे को भी उसने विजय किया और बुन्देलखण्ड के चन्देलों और ग्वालियर के कछवाहों को जीतकर उसने अपने करद राज्य बना लिये। मिहिर भोज के समय के कई शिला लेख और ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं।

मिहिरभोज का पुत्र 'महेन्द्रपाल' प्रथम हुआ। इसका शासन-काल सन् ८८५ से ९०८ तक था। संस्कृत के सुप्रसिद्ध महाकवि 'राज शेखर' ने इसी के समय में अपने 'कर्पूर मञ्जरी' 'काव्य मीमांसा' इत्यादि अनेक काव्य ग्रन्थों की रचना की।

महेन्द्रपाल प्रथम के पश्चात उसका छोटा पुत्र 'महीपाल' राजा हुआ। इसने सन् ९१ से ९४ तक राज्य किया। सन् ९१५ ई० में प्रसिद्ध अरबवासी अल-मसूदी ने इस राजा के वैभव और शक्ति का बड़ी प्रभाव शाली भाषा में वर्णन किया है।

मगर इसी राजा के समय में राष्ट्रकूट वंश के राजा "इन्द्र" तृतीय ने कन्नौज के ऊपर चढ़ाई करके उसका विनाश कर दिया और तभी से प्रतिहार-राजवंश का पतन प्रारंभ हो गया और मुहम्मद गजनवी के कन्नौज पर किये गये आक्रमण के पश्चात् तो यह राजवंश अवलम्ब-हीन अवस्था में हो गया।

मुहम्मद गजनवी का आक्रमण

कन्नौज पर जिस समय प्रतिहार राजवंश का राजा राज्यपाल राज्य करता था उसी समय प्रसिद्ध आक्रमण कारी महमूद गजनवी का सन् १०१९ में कन्नौज और

कन्नौज का पुराना नाम कान्यकुब्ज है। पौराणिक परम्पराओं के अनुसार प्राचीन काल में किसी चन्द्रवंशीय राजा की सौ कन्याएँ वायु देवता के शाप से एक साथ कुब्जा हो गई थी, उन्हीं के नाम पर इस नगर और जिले का नाम कन्याकुब्ज या कान्यकुब्ज पड़ा।

मौखरी राजवंश

कन्नौज का प्रारंभिक और स्वतंत्र इतिहास 'मौखरी राजवंश' से सिलसिलेवार पाया जाता है। इसके पहले यह स्थान गुप्तसाम्राज्य का अंग था, मौखरी राजवंश प्राचीन 'मागध-राजवंश' की एक शाखा थी। इस वंश के लोग 'गुप्त सम्राटों' के करद सामन्तों के रूप में कन्नौज पर शासन करते थे।

ईसा की ६ ठी शताब्दी के प्रारंभ में 'आदित्य वर्मा' मौखरी कन्नौज का शासक था। इसके पुत्र ईश्वरवर्मा ने 'हूणों' के आक्रमण के समय कन्नौज-राज्य को एक स्वतंत्र राज्य घोषित कर दिया था।

ईश्वर वर्मा का पुत्र 'ईशान वर्मा' बड़ा प्रतापी हुआ, जिसका समय ईस्वी सन् ५५ से ५७६ तक था। इसने अपने को महाराजाधिराज घोषित कर दिया और अपनी शक्ति का बहुत विस्तार कर लिया।

ईशान वर्मा के पुत्र शिववर्मा ने गुप्तसाम्राज्य के साथ अनेक लड़ाइयाँ करके गुप्त-नरेश दामोदरगुप्त की शक्ति को बहुत क्षीण कर दिया जिसके परिणाम स्वरूप कन्नौज का मौखरी राज्य उत्तर भारत की सर्व प्रधान शक्ति बन गया।

शिव वर्मा के बाद 'अवन्ति वर्मा' और उसके बाद 'ग्रहवर्मा' कन्नौज के राज्य सिंहासन पर आये। ग्रहवर्मा का विवाह थानेश्वर के सुप्रसिद्ध राजा 'प्रभाकर वर्धन' की पुत्री 'राज्यश्री' के साथ हुआ था। लेकिन बंगाल के राजा शशांक और मालवा के राजा 'देव गुप्त' ने कन्नौज पर चढ़ाई करके युद्ध में ग्रह वर्मा को मार डाला और राज्यश्री को गिरफ्तार कर लिया। तब ग्रहवर्मा के साले 'हर्ष वर्धन' ने इन शत्रुओं से बदला लेकर राज्यश्री का उद्धार किया और राज्यश्री के संरक्षक और प्रतिनिधि के रूप में कन्नौज का शासन भी संभाल लिया।

इस प्रकार मौखरी राजवंश का अन्त होकर कन्नौज के सिंहासन पर हर्षवर्धन-वंश का प्रारंभ हुआ। हर्षवर्द्धन सन् ६ ६ में कन्नौज की गद्दी पर बैठे।

सम्राट् हर्षवर्द्धन

कन्नौज के इतिहास का सबसे महत्त्वपूर्ण और सुवर्ण-युग सम्राट् हर्षवर्द्धन का काल माना जाता है। इस युग में कन्नौज का वैभव अपनी परम सीमा पर जा पहुँचा था। सम्राट् हर्षवर्द्धन ने अपनी दिग्विजय में पूर्वी पंजाब, बंगाल का अधिकांश भाग वल्लभी, मालवा, मगध, उड़ीसा इत्यादि अनेक देशों को जीतकर अपने विस्तीर्ण साम्राज्य में मिला लिया था। चालुक्य सम्राट पुलकेशी द्वितीय से हार जाने के कारण वे दक्षिण में अपने साम्राज्य का विस्तार नहीं कर पाये थे।

इस समय कन्नौज की शान और वैभव अभूतपूर्व हो गये थे। कन्नौज का साम्राज्य उत्तरभारत पंजाब और बंगाल तक विस्तीर्ण हो गया था। शासन में स्थिरता, उदारता और शांति थी। प्रजा के ऊपर करों का भार बहुत कम था। पोलिस का प्रबन्ध बहुत सुधरा हुआ था। साहित्य और कला का बहुत तेजी से विकास हो रहा था। स्वयं हर्षवर्द्धन भी बड़े प्रतिभाशाली कवि और लेखक थे। बाणभट्ट सरीखे महान् कवि और ह्युएनसांग के समान विद्वान चीनी यात्री उनके दरबार में रहते थे। विद्या के प्रचार के लिए तक्षशिला नालन्दा, काशी और उज्जैन के विश्वविद्यालय गौरव के साथ चल रहे थे।

हर्ष के पश्चात् यशोवर्मा कान्यकुब्ज-साम्राज्य का शासक हुआ। इसके शासन में भी कन्नौज अपने पूर्व वैभव पर था। उत्तर रामचरित के कर्ता महाकवि भवभूति इसके दरबार में थे।

आयुध-राजवंश

हर्ष वर्धन और यशो वर्मा के पश्चात् सन् ७५ ई. के लगभग कुछ समय के लिए कन्नौज पर आयुधवंश का शासन हुआ। इस राजवंश में 'वज्रायुध' 'इन्द्रायुध' और 'चक्रायुध' नामक तीन राजा हुए, मगर यह राजवंश बहुत थोड़े समय तक शासन कर सका और गुजरात के प्रतिहार राजवंश ने कन्नौज पर आक्रमण कर इस राजवंश को समाप्त कर दिया और कन्नौज पर प्रतिहार वंश का शासन प्रारंभ हो गया।

इसी समय अजमेर में चौहान राजवंश का उदय हो रहा था और उस वंश के राजा विग्रहपाल ने दिल्ली को जीतकर संवत् ११६१ में अपना एक शिला लेख खुदवाया, जिसमें लिखा है कि 'विग्रहपाल ने हिमालय से लेकर विन्ध्य के बीच की समस्त भूमि को जीतकर आर्यावर्तको म्लेच्छों के पंजे से मुक्त कर दिया।

इससे पता चलता है कि जयचन्द के समय में गाहड़वाल राजवंशका प्रताप कुछ मन्द पड़ गया था और उनके स्थान पर सम्राट् कहलाने का गौरव अजमेर के चौहानों को प्राप्त हो रहा था।

जयचन्द के काल में चौहान राजवंश की गद्दी पर पृथ्वीराज तृतीय आ गया था। जयचन्द और पृथ्वीराज के बीच शत्रुता हो गई और कहा जाता है कि पृथ्वीराज को दबाने के लिए जयचन्द ने शहाबुद्दीन मुहम्मदगोरी को बुलाया और अन्त में सन् ११९४ में स्वयं शहाबुद्दीन गोरी के साथ लड़ते हुए उसका हाथी गंगा में चला गया और वहीं वह डूबकर मर गया।

साहित्यिक गौरव

कन्नौज नगरी के इस वैभव काल में यहां पर साहित्य और संस्कृति का बड़ा विकास हुआ। सम्राट् हर्षवर्द्धन स्वयं एक कवि और साहित्यकार थे। उनकी राजसभा बाणभट्ट के समान महान् साहित्यकारों से सम्पन्न थी। बाणभट्ट की 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' तथा हर्षवर्द्धन रत्नावली तथा प्रिय दर्शिका इत्यादि काव्य उसी काल की देन हैं। यशो वर्माकी राज्यसभा को भवभूति और वाक्पति के समान महान् कवियोंने अलंकृत कर रक्खी थी। भवभूति का सुप्रसिद्ध 'उत्तर रामचरित' संस्कृतसाहित्य को उसी युग की देन है। प्रतिहार शासनकाल में राजशेखर और जैनाचार्य उद्योतन सूरि हुए। उद्योतनसूरि की 'कुवलय माला' संस्कृत साहित्य का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। गाहड़वाल युग में राजा गोविन्दचन्द्र स्वयं एक कवि और साहित्यकार था। गाहड़वाल वंशके लेखों में उसे 'विविध विचार विद्यावाचस्पति' की पदवी से अलंकृत किया गया है। गोविन्दचन्द्र का सैन्य सचिव लक्ष्मीधर भी बड़ा विद्वान था। धर्मशास्त्र और व्यवहार विधि पर उसका लिखा हुआ 'व्यवहार कल्पतरु' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। जयचन्द की राज्य सभा का प्रसिद्ध कवि 'श्रीहर्ष' भी उच्च कोटिका विद्वान था। नैषध चरित जो संस्कृत के पंच महाकाव्यों में से एक माना जाता है उसी की रचना है।

साहित्य की ही तरह इस युग के कन्नौज में मूर्तिकला और भवन निर्माण कला का भी बहुत विकास हुआ था। इतिहास कार उत्बी के अनुसार मुहम्मद गजनवी के आक्रमण के समय कन्नौज में १० मन्दिर थे। हो सकता है कि यह संख्या कुछ अतिशयोक्ति पूर्ण हो, मगर यह निश्चित है कि मूर्तिकला और मन्दिर निर्माण कला उस समय बहुत विकास पर थी।

धार्मिक और व्यावहारिक शिक्षा का भी उस युग में बहुत प्रचार हुआ था। ह्वेन सँग लिखता है कि हर्ष के राज्य में पांच वर्ष की अवस्था से बच्चों की शिक्षा प्रारम्भ होती थी और बारह वर्ष की अवस्था से उन्हें व्याकरण शिल्प, तर्क शास्त्र, कला, वैद्यक, दर्शन आदि पंच शास्त्रों की शिक्षा देना प्रारम्भ किया जाता था। उस काल में तक्षशिला, नालन्द, उज्जैन और काशी के विश्व विद्यालय प्रतिवर्ष हजारों छात्रों को योग्य बनाकर कर्म क्षेत्र में भेजते थे। हर्ष वर्द्धन के समय में 'कन्नौज' बौद्ध धर्म का भी एक महान् केन्द्र बना हुआ था, और यहां पर १० बौद्ध भिक्षुओं के आवास का प्रबन्ध था।

राजा जयचन्द के पश्चात् इस गौरव पूर्ण नगरी का स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त होता गया। पहले यह मुसलमान शासकों के अधिकार में और उसके बाद अंग्रेजी साम्राज्य में आई।

इस समय यह नगरी समस्त भारत वर्ष में अपने इत्र उद्योग के लिए मशहूर है। इत्र का उद्योग यहां पर बड़े पैमाने पर होता है और यहां के इत्र समस्त भारत वर्ष के बाजारों में बड़ी प्रतिष्ठा के साथ बिकते हैं।

कन्सीलियर आन्दोलन

यूरोप में रोमनचर्च के पोप की अनियंत्रित सत्ता को नियंत्रित कराने वाला एक व्यापक आन्दोलन जो ईसा की चौदहवीं सदी के उत्तरार्द्ध से पन्द्रहवीं सदी के मध्य तक चलता रहा। यही समय यूरोप में पुनर्जागरण

मथुरा पर सुप्रसिद्ध आक्रमण हुआ। प्रतिहार राज्यपाल एक के बाद दूसरे राजा को जीतते और लूटते हुए, मुहम्मद की दुर्धार सेनाओं को आते देखकर घबरा गया और राज्य छोड़कर भाग खड़ा हुआ और बारी में जाकर आश्रय ग्रहण किया। महमूद की सेनाओं ने उसका पीछा किया मगर जब राज्यपाल का पता न लगा तब मुहम्मद ने गंगा तीर पर बने हुए कन्नौज के सातों किलों को लूट लिया। मुहम्मद के साथ रहने वाले इतिहासकार उत्वी के अनुसार उस समय कन्नौज में एक हजार मन्दिर बने हुए थे जिन्हें मुहम्मद ने खूब लूटा और तोड़ा फोड़ा।

इसके थोड़े ही समय पश्चात् महमूद ने एक बार और कन्नौज पर आक्रमण किया। इस आक्रमण का समय फरिश्ताने हिजरी सन् ४१२ बतलाया है और उत्वी ने हिजरी सन् ४ बतलाया है। इस आक्रमण में कहा जाता है कि राज्यपाल ने महमूद की अधीनता स्वीकार कर खिराज देना मंजूर कर लिया।

राज्यपाल के द्वारा इस प्रकार मुहम्मद के शरण में चले जाने से तत्कालीन चन्देल राजा गंड ने कलचुरी राजा की सहायता से कान्यकुब्ज पर आक्रमण कर वहाँ के राजा राज्यपाल को मार डाला। कान्यकुब्ज पर यह संयुक्त आक्रमण ग्वालियर के कच्छपघात राजा के नेतृत्व में हुआ था।

राज्यपाल के पश्चात् उसका पुत्र त्रिलोचनपाल कान्यकुब्ज का राजा हुआ।

गाहड़वाल राजवंश

प्रतिहार राजवंश की सत्ता कमजोर होने पर गाहड़वाल-राजवंश ने उसे नष्ट कर कन्नौज पर अपनी सत्ता स्थापित की। गाहड़वाल वंश राष्ट्रकूट वंश की ही एक शाखा थी।

गाहड़वाल राजवंश के शिलालेखों से मालूम होता है कि इस वंश के पहले प्रसिद्ध पुरुष गाहड़वाल महीपाल के पुत्र चन्द्र ने अपने बाहुबल से कान्यकुब्ज के राजा को हराकर वहाँ का राज्य प्राप्त किया। इस लेख में यह भी लिखा है कि चन्द्र देवने अनेक राजाओं को परास्त कर अपने विस्तीर्ण साम्राज्य की स्थापना की। इसमें सन्देह नहीं कि कान्यकुब्ज नगर उस समय भारतवर्ष का शीश या आधार हो रहा था। जो राजा यहाँ पर शासन करता वह भारतवर्ष का सम्राट माना जाता था। इसलिए चन्द्रदेव ने कन्नौज के दुर्बल प्रतिहार राजाओं से आसानी से छीन लिया मगर साम्राज्य की स्थापना में उसे दूसरे अनेक राजाओं से युद्ध करना पड़ा होगा।

चन्द्रदेवने इन स्थानीय लड़ाइयों से अवकाश पाकर मुसलमान शासकों से टक्कर लेना प्रारम्भ की और उनके अत्याचार से लोगों को मुक्त किया। चन्द्रदेव का समय सन् १ ८ के आसपास माना जाता है।

चन्द्रदेव के पश्चात् मदनपाल कन्नौज का राजा हुआ। मदनपाल के बाद गोविन्दचन्द्र इस वंश में बड़ा प्रतापी राजा हुआ।

गोविन्दचन्द्र के विषय में शिला लेखों में लिखा है। कि इसने अपने बाहु बल से साम्राज्य को ऐसा स्थिर कर दिया मानो रस्सों से जकड़ दिया हो। इसके घोड़े हाथी दोनों ही दिशाओं में विचरण करते थे। इस राजा ने नरपति—हयपति—गजपति राज्यत्रिवेदी का विरुद ग्रहण किया था। हयपति से तात्पर्य कन्नौज के प्रतिहार राजा का, गजपति से बंगाल राज्य और नरपति से चेदि के राज्य का मतलब होगा। इससे मालूम होता है कि राजा गोविन्दचन्द्र ने चारों दिशाओं में अपने साम्राज्य का विस्तार कर बंगाल, मगध और चेदि राज्यों की सीमाएँ बहुत संकुचित कर दी थीं। बनारस और उसके पास का भूप्रदेश निश्चय रूप से उसके अधिकार में था। बनारस के आस पास के कई गाँव उसने दान किये थे और वे दान पत्र बनारस से जारी किये गये थे। इससे यह भी प्रकट होता है कि कन्नौज के राजाओं की दूसरी राजधानी बनारस में थी। कई मुसलमान इतिहास कारों ने तो इनको बनारस का राजा कह कर ही लिखा है। गोविन्द चन्द्र ने सन् १११४ से ११५५ तक राज्य किया।

गोविन्दचन्द्र का पुत्र विजयचन्द्र हुआ। यह भी बड़ा पराक्रमी राजा था। इसके पुत्र जयचन्द के शिला लेखों में इसकी दिग्विजय का वर्णन किया गया है। इसने लाहौर के मुसलमान शासक को पराजय देकर वहाँ की जनता को उसके अत्याचारों से मुक्त किया। विजयचन्द्र का शासन काल सन् ११५५ से ११७ तक रहा।

विजयचन्द्र के पश्चात् उसका पुत्र जयचन्द्र सन् ११७ में कन्नौज की गद्दी पर आया।

इसी समय अजमेर में चौहान राजवंश का उदय हो रहा था और उस वंश के राजा विग्रहपाल ने दिल्ली को जीतकर संवत् ११६१ में अपना एक शिला लेख खुदवाया, जिसमें लिखा है कि विग्रहपाल ने हिमालय से लेकर विन्ध्य के बीच की समस्त भूमि को जीतकर आर्य्यावर्तको म्लेच्छों के पंजे से मुक्त कर दिया।

इससे पता चलता है कि जयचन्द के समय में गाहड़वाल राजवंशका प्रताप कुछ मन्द पड़ गया था और उनके स्थान पर सम्राट् कहलाने का गौरव अजमेर के चौहानों को प्राप्त हो रहा था।

जयचन्द के काल में चौहान राजवंश की गद्दी पर पृथ्वीराज सुशोभित हो गया था। जयचन्द और पृथ्वीराज के बीच शत्रुता हो गई और कहा जाता है कि पृथ्वीराज को दबाने के लिए जयचन्द ने शहाबुद्दीन मुहम्मदगोरी को बुलाया और अन्त में सन् ११६४ में स्वयं शहाबुद्दीन गोरी के साथ लड़ते हुए उसका हाथी गंगा में चला गया और वहीं वह डूबकर मर गया।

साहित्यिक गौरव

कन्नौज नगरी के इस वैभव काल में यहां पर साहित्य और संस्कृति का बड़ा विकास हुआ। सम्राट् हर्षवर्द्धन स्वयं एक कवि और साहित्यकार थे। उनकी राजसभा बाणभट्ट के समान महान् साहित्यकारों से सम्पन्न थी। बाणभट्ट की 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' तथा हर्षवर्द्धन रत्नावली तथा प्रिय दर्शिका इत्यादि काव्य उसी काल की देन हैं। यशो वर्माकी राज्यसभा को भवभूति और वाक्पति के समान महान् कवियोंने अलंकृत कर रक्खी थी। भवभूति का सुप्रसिद्ध 'उत्तर रामचरित' संस्कृतसाहित्य को उसी युग की देन है। प्रतिहार शासनकाल में राजशेखर और जैनाचार्य उद्योतन सूरि हुए। उद्योतनसूरि की 'कुवलय माला' संस्कृत साहित्य का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। गाहड़वाल युग में राजा गोविन्दचन्द्र स्वयं एक कवि और साहित्यकार था। गाहड़वाल वंशके लेखों में उसे 'विविध विचार विद्यावाचस्पति' की पदवी से अलंकृत किया गया है। गोविन्दचन्द्र का प्रधान सचिव लक्ष्मीधर भी बड़ा विद्वान था। धर्मशास्त्र और व्यवहार विधि पर उसका लिखा हुआ व्यवहार कल्पद्रुम नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। जयचन्द की राज्य सभा का प्रसिद्ध कवि 'श्रीहर्ष' भी उच्च कोटिका विद्वान था। नैषध चरित्र जो संस्कृत के पंच महाकाव्यों में से एक माना जाता है उसी की रचना है।

साहित्य की ही तरह इस युग के कन्नौज में मूर्तिकला और भवन निर्माण कला का भी बहुत विकास हुआ था। इतिहास कार उत्बी के अनुसार सुलतान महमूद गजनवी के आक्रमण के समय कन्नौज में १० मन्दिर थे। हो सकता है कि यह संख्या कुछ अतिशयोक्ति पूर्ण हो, मगर यह निश्चित है कि मूर्तिकला और मन्दिर निर्माण कला उस समय बहुत विकास पर थी।

धार्मिक और व्यावहारिक शिक्षा का भी उस युग में बहुत प्रचार हुआ था। ह्युएन संग लिखता है कि हर्ष के राज्य में पांच वर्ष की अवस्था से बच्चों की शिक्षा प्रारम्भ होती थी और बारह वर्ष की अवस्था से उन्हें व्याकरण शिल्प, तर्क शास्त्र, कला वैद्यक, दर्शन आदि पंच शास्त्रों की शिक्षा देना प्रारम्भ किया जाता था। उस काल में तक्षशिला, नालन्द, उज्जैन और काशी के विश्व विद्यालय प्रतिवर्ष हजारों छात्रों को योग्य बनाकर कर्म क्षेत्र में भेजते थे। हर्षवर्द्धन के समय में 'कन्नौज' बौद्ध धर्म का भी एक महान् केन्द्र बना हुआ था, और यहां पर १   बौद्ध भिक्षुओं के आवास का प्रबन्ध था।

राजा जयचन्द के पश्चात् इस गौरव पूर्ण नगरी का स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त होता गया। पहले यह मुसलमान शासकों के अधिकार में और उसके बाद अंग्रेजी साम्राज्य में आई।

इस समय यह नगरी समस्त भारत वर्ष में अपने इत्र उद्योग के लिए मशहूर है। इत्र का उद्योग यहां पर बड़े पैमाने पर होता है और यहां के इत्र समस्त भारत वर्ष के बाजारों में बड़ी प्रतिष्ठा के साथ बिकते हैं।

कन्सीलियर आन्दोलन

यूरोप में रोमनचर्च के पोप की अनियंत्रित सत्ता को नियंत्रित कराने वाला एक व्यापक आन्दोलन जो ईसा की चौदहवीं सदी के उत्तरार्द्ध से पन्द्रहवीं सदी के मध्य तक चलता रहा। यही समय यूरोप में दण्डकाल

के अन्त और पुनर्जागरण (Renaissance) युग का आरम्भ माना जाता है।

धर्माधिकारी पोप और राज्याधिकारी सम्राट् के बीच में सत्ता सम्बन्धी विवाद ग्यारहवीं सदी के मध्य का पोप ग्रेगरी सप्तम के समय से ही आरम्भ हो गये थे। और समस्त यूरोप के विचारक इस समस्या के निराकरण में उलझे हुए थे। कोई विचारक पोप की सार्वभौमिक सत्ता के पक्ष में अपने विचार प्रकट करता था कोई उसकी शक्तियों को नियंत्रित करने में समाज का कल्याण समझता था।

इसी विवाद को सुलझाने के लिए कन्सीलियर आन्दोलन का यूरोप में जन्म हुआ। जिसने सारे यूरोप की राजनीति पर अपना व्यापक प्रभाव डाला।

इस आन्दोलन के पूर्वार्द्ध के नेता जान आफ पेरिस (सन् १२६९ से १३ ६) मार्सीलियो आफ पेडुआ और विलियम आफ ओकम नामक विचारक थे और उत्तरार्द्ध के नेता 'गर्सन' पियरी डेली तथा निकोलस आफ क्यूसा थे।

डिफेन्सर आफ् पेसिस

सन् १३२४ में मार्सीलियो ऑफ पेडुआ का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "डिफेन्सर आफ् पेसिस (Defensor of Pacis) प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ सन् १३ से,लेकर १३ तक प्रकाशित हुए जो युग परिवर्तनकारी ग्रन्थों में से एक है। यह ग्रन्थ यूरोप की मध्य कालीन विचार धारा की सब से महत्व पूर्ण कृति समझा जाता है।

इस ग्रन्थ में अरस्तू के राजनैतिक दर्शन के प्रकाश में राज्य की उत्पत्ति, उसका स्वरूप उसका उद्देश्य तथा कानून की विस्तृत रूप से विवेचना करने के पश्चात् राज्य के विभिन्न अंगों के कर्तव्यों की आलोचना करते हुए धर्माधिकारियों के अधिकारों की भी विस्तृत व्याख्या की है। इस ग्रन्थ में धर्माधिकारियों की सार्व भौमिकता पर कड़ा प्रहार किया गया है। यह ग्रन्थ पोप की प्रभुता को समाज के लिए एक बड़ा अभिशाप समझता है। इसके मतानुसार पोप चर्च का सार्वभौम अधिकारी नहीं है बल्कि केवल उसका एक प्रशासकीय अधिकारी है। रोमन चर्च की स्थापना ईश्वर द्वारा नहीं बल्कि ऐतिहासिक शक्तियों की उपज है। आध्यात्मिक शक्ति के सम्बन्ध में पादरी बिशप तथा पोप सब समान हैं। धर्माधिकारियों को अपने भरण पोषण के लिए आवश्यक द्रव्य से अधिक द्रव्य अपने पास नहीं रखना चाहिए। चर्च की सम्पत्ति का स्वामी 'पोप' नहीं वरन् वे लोग हैं जिन्होंने वह सम्पत्ति चर्च को अर्पित की है।

पोप की शक्ति पर नियंत्रण रखने के लिए उसने एक परिषद् निर्माण करने की योजना भी रक्खी।

इस परिषद् के सिद्धान्त का प्रतिपादन आगे चलकर विलियम आफ ओकमने किया। इसने बतलाया कि ऐसी परिषद् का चुनाव प्रजातन्त्र रूप से होना चाहिए। एक पेरिश (Parish) में रहने वाले समस्त ईसाइयों को डायोसीज (Diocese) के निर्वाचक मण्डल के लिए अपने प्रति निधि चुनना चाहिए। यह निर्वाचक मण्डल इस परिषद् के सदस्यों का चुनाव करेगा।

इस परिषद् को धर्म ग्रन्थों की व्याख्या करने, विवाद ग्रस्त प्रश्नों का निर्णय करने और पोपको पदच्युत करने तक के व्यापक अधिकार होना चाहिए।

शुरू शुरू में पोप के पक्ष वाली विचार धारा के साथ इस विचार धारा का बड़ा प्रबल संघर्ष हुआ। 'डिफेन्सर पेसिस' के प्रकाशन पर चर्च ने प्रतिबन्ध लगा दिया और पोप क्लीमेंट छठेने उसके लेखक मार्सीलियो को विधर्मी ठहरा कर उसे धर्म बहिष्कृत कर दिया।

मगर इन सब प्रतिबन्धों से इस विचार धारा को दबाने में ही वृद्धि किया और चर्च की सार्व भौमिकता के पुराने विचार को राष्ट्रवाद के नवीन विचार ने ललकारा और उसे पराजित कर दिया। चर्च की इस सर्व भौमिकता के अन्त के साथ ही यूरोप में मध्य काल का अन्त और पुनर्जागरण काल का प्रारम्भ हुआ।

विचार धाराओं में क्रान्ति हो जाने पर भी पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक कान्सीलियर सिद्धान्तों का प्रचार सार्वजनिक आन्दोलन के रूप में नहीं बदल पाया।

कौंसिल आफ् कान्स्टेन्स

इस आन्दोलन को व्यापक रूप जान गर्सन नामक विचारक के जोरदार लेखों से प्राप्त हुआ। जान गर्सन के

विचारों को समस्त यूरोप में व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ। इसी विचारक ने चर्च की स्थिति को सुधारने के लिए एक नवीन परिषद बुलाने पर जोर दिया। इसी के फल स्वरूप इतिहास प्रसिद्ध 'कान्स्टेन्स की परिषद्' (The Council of Constance) बुलाई गई जिसकी कार्य वाही सन् १४१४ से १४१८ तक चलती रही। इस परिषद् में सारे यूरोप की लौकिक और धार्मिक शक्तियों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। विद्वानों, पादरियों और राजाओं के प्रतिनिधि इसमें भाग ले रहे थे।

अत्यन्त लम्बे बहस मुबाहिसे के पश्चात् इस परिषद् ने सन् १४१५ में अपनी वह क्रान्तिकारी घोषणा प्रकाशित की जिसे यूरोप के इतिहास की सब से अधिक क्रान्तिकारी घोषणा समझा जाता है।

इस घोषणा के अनुसार 'साधारण परिषद्' को जोकि कैथोलिक चर्च का निर्माण और प्रति निधित्व करती है स्वयं प्रभु ईसा मसीह से शक्ति प्राप्त हुई है। जिसकी आज्ञा का पालन प्रत्येक व्यक्ति करने को बाध्य है चाहे वह पोप ही क्यों न हो।' इस प्रकार इस परिषद् ने पोप की सार्व भौम शक्ति को स्वयं ग्रहण करके इस सिद्धान्त को स्वीकार करालिया कि चर्च की प्रभुत्वपूर्ण समस्त शक्ति जनता और उसके प्रतिनिधि समूह में मानी जाना चाहिए।

सन् १४१७ में इस परिषद् ने एक दूसरा आदेश जारी किया। जिसके अनुसार प्रति दसवें वर्ष इस परिषद् का नियमित रूप से अधिवेशन बुलाने का प्रस्ताव घोषित किया गया। इस अधिवेशन को रोकने, आगे बढ़ाने या इसके स्थान परिवर्तन का अधिकार पोप का नहीं रक्खा गया।

शुरू शुरू में सार्वभौम सत्ता का केन्द्र जनरल कौन्सिल को समझा जाता था जिसमें पोप और उसके प्रतिनिधि भी सम्मिलित रहते थे। मगर पोप जॉन तेइसवें के धर्म विरुद्ध आचरण के पश्चात् इस कौंसिल ने यह घोषणा की कि चर्च की प्रभुसत्ता पोप सहित सम्पूर्ण कौन्सिल में नहीं प्रत्युत केवल उसके साधारण सदस्यों में है और पोप के सहमत नहीं होने पर भी यह कौन्सिल अपने निर्णय कर सकती है।

मगर कान्स्टेन्स परिषद् के ये निर्णय जनता में एक मनोवैज्ञानिक जागृति करने के सिवाय कुछ भी सफलता नहीं प्राप्त कर सके। पोप और उसके समर्थकों ने इस कौन्सिल के सदस्यों में भी फूट डाल कर अपनी सत्ता को बनाए रखने का प्रयत्न किया और इसमें उनको सफलता भी मिल गई।

कौंसिल आफ बेसल

कान्स्टेन्स कौन्सिल की असफलता के पश्चात् राजाओं तथा जनता के दबाव से पोप को एक और कौन्सिल बुलाना पड़ी। जो इतिहास में बेसल कौन्सिल के नाम से प्रसिद्ध है। यह कौन्सिल सन् १४३१ से आरम्भ हुई और किसी तरह आसन्न मृत्यु की हालत में १४४८ तक चलती रही।

जिस प्रकार कान्स्टेन्स की कौन्सिल का प्रधान प्रवक्ता जॉन गर्सन था उसी प्रकार बेसल की कौन्सिल का प्रमुख प्रवक्ता निकोलस ऑफ क्यूसा था।

मगर अन्त में यह भी चर्च में वैधानिक शासन लाने में असफल रही और पोप का स्वेच्छा चार चलता रहा।

इस प्रकार यूरोप का यह कन्सीलियर आन्दोलन चर्च के स्वेच्छा चार को मिटाने और उसमें एक वैधानिक शासन का सूत्रपात करने में व्यावहारिक रूप से तो असफल रहा मगर यूरोप की जनता के मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में इसने जो जागृति पैदा की उसने आगे चलकर यूरोप के इतिहास को एक नया मोड़ दे दिया।

इसी आन्दोलन के फल स्वरूप राज्य सम्बन्धी कई नवीन विचार, तथा निरंकुश शासन के स्थान पर वैधानिक शासन के लिए जनता के हृदय में तीव्र मनो भावनाएं पैदा हुए और इसके सिद्धान्तों का प्रचार निरंकुश राजतंत्र के खिलाफ प्रमुख शस्त्र बना।

कन्हेरी

बम्बई से लगभग २५ मील दूर सालसेट द्वीप पर पर्वत की चट्टान काट कर बौद्धों के हीनयान-सम्प्रदाय का बना हुआ दरी-मन्दिर।

के अन्त और पुनर्जागरण (Renaissance) युग का प्रारम्भ माना जाता है।

धर्माधिकारी पोप और राज्याधिकारी सम्राट् के बीच में सत्ता सम्बन्धी विवाद ग्यारहवीं सदी के मध्य या पोप ग्रेगरी सप्तम के समय से ही प्रारम्भ हो गये थे। और समस्त यूरोप के विचारक इस समस्या के निराकरण में उलझे हुए थे। कोई विचारक पोप की सार्वभौमिक सत्ता के पक्ष में अपने विचार प्रकट करता था कोई उसकी शक्तियों को नियंत्रित करने में समाज का कल्याण समझता था।

इसी विवाद को सुलझाने के लिए कन्सीलियर आन्दोलन का यूरोप में जन्म हुआ। जिसने सारे यूरोप की राजनीति पर अपना व्यापक प्रभाव डाला।

इस आन्दोलन के पूर्वार्द्ध के नेता जान आफ पेरिस (सन् १२६६ से १३ ६) मार्सीलियो आफ पेडुआ और विलियम आफ ओकम नामक विचारक थे और उत्तरार्द्ध के नेता 'गर्सन' 'पियरी डेली' तथा निकोलस आफ क्यूसा थे।

डिफेन्सर आफ् पेसिस

सन् १३२४ में मार्सीलियो आफ् पेडुआ का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'डिफेन्सर आफ् पेसिस (Defensor of Pacis) प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ सन् १३ से लेकर १३ तक प्रकाशित हुए दो युग परिवर्तनकारी ग्रन्थों में से एक है। यह ग्रन्थ यूरोप की मध्य कालीन विचार धारा की सब से महत्व पूर्ण कृति समझा जाता है।

इस ग्रन्थ में अरस्तू के राजनैतिक दर्शन के प्रभाव में राज्य की उत्पत्ति। उसका लक्ष्य उसका उद्देश्य तथा प्रकृति की विस्तृत रूप से विवेचना करने के पश्चात् राज्य के विभिन्न वर्गों के कर्त्तव्यों की आलोचना करते हुए धर्माधिकारियों के अधिकारों की भी विस्तृत व्याख्या की है। इस ग्रन्थ में धर्माधिकारियों की सार्व भौमिकता पर कड़ा प्रहार किया गया है। यह ग्रन्थ पोप की प्रभुता को समाज के लिए एक भ्रम अप्राकृतिक समझता है। इसके मतानुसार पोप चर्च का सार्वभौम अधिकारी नहीं है बल्कि केवल उसका एक प्रशासकीय अधिकारी है। रोमन चर्च की स्थापना ईसा ने नहीं बल्कि ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज है। आध्यात्मिक शक्ति के सम्बन्ध में पादरी, बिशप तथा पोप सब समान हैं। धर्माधिकारियों को अपने भरण पोषण के लिए आवश्यक द्रव्य से अधिक द्रव्य अपने पास नहीं रखना चाहिए। चर्च की सम्पत्ति का स्वामी 'पोप' नहीं वरन् वे लोग हैं जिन्होंने यह सम्पत्ति चर्च को अर्पित की है।

पोप की शक्ति पर नियंत्रण रखने के लिए उसने एक परिषद् निर्माण करने की योजना भी रक्खी।

इस परिषद् के सिद्धान्त का प्रतिपादन आगे चलकर विलियम आफ ओकमने किया। इसने बतलाया कि ऐसी परिषद् का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से होना चाहिए। एक पैरिश (Parlsh) में रहने वाले समस्त ईसाइयों को डायोसीज (Diocese) के निर्वाचक मण्डल के लिए अपने प्रति निधि चुनना चाहिए। यह निर्वाचक मण्डल इस परिषद् के सदस्यों का चुनाव करेगा।

इस परिषद् को धर्म ग्रन्थों की व्याख्या करने, विवाद-ग्रस्त प्रश्नों का निर्णय करने और पोपको पदच्युत करने तक के व्यापक अधिकार होना चाहिए।

शुरू-शुरू में पोप के पक्ष वाली विचार धारा के साथ इस विचार धारा का बड़ा प्रबल संघर्ष हुआ। 'डिफेन्सर पेसिस' के प्रकाशन पर चर्च ने प्रतिबन्ध लगा दिया और पोप क्लीमेंट छठेने उसके लेखक मार्सेलियों को निरङ्कुश विधर्मी ठहरा कर उसे धर्म बहिष्कृत कर दिया।

मगर इन सब प्रतिबन्धों ने इस विचार धारा को बढ़ाने में ही मदद दिया और चर्च की सार्व भौमिकता के पुराने विचार को राष्ट्रवाद के नवीन विचार ने ललकारा और उसे पराजित कर दिया। चर्च की इस सर्व भौमिकता के अन्त के साथ ही यूरोप में मध्य काल का अन्त और पुनर्जागरण काल का प्रारम्भ हुआ।

विचार धाराओं में क्रान्ति हो जाने पर भी चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक कान्सीलियर सिद्धान्तों का प्रचार सार्वजनिक आन्दोलन के रूप में नहीं पकड़ पाया।

कौन्सिल आफ् कान्स्टेन्स

इस आन्दोलन को व्यापक रूप जान गर्सन नामक विचारक के जोरदार लेखों से प्राप्त हुआ। जान गर्सन के

विचारों को समस्त यूरोप में व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ। इन्हीं विचारक ने चर्च की स्थिति को सुधारने के लिए एक नवीन परिषद बुलाने पर जोर दिया। इसी के फल स्वरूप इतिहास प्रसिद्ध 'कान्स्टेन्स की परिषद्' (The Council of Constance) बुलाई गई जिसकी कार्य वाही सन् १४१४ से १४१८ तक चलती रही। इस परिषद् में सारे यूरोप की लौकिक और धार्मिक शक्तियों के प्रति निधि उपस्थित थे। विद्वानों, पादरियों और राजाओं के प्रतिनिधि इसमें भाग ले रहे थे।

अत्यन्त लम्बे बहस मुबाहिसे के पश्चात् इस परिषद् ने सन् १४१५ में अपनी यह क्रान्तिकारी घोषणा प्रकाशित की जिसे यूरोप के इतिहास की सब से अधिक क्रान्तिकारी घोषणा समझा जाता है।

इस घोषणा के अनुसार 'साधारण परिषद्" को जोकि कैथोलिक चर्च का निर्माण और प्रति निधित्व करती है स्वयं प्रभु ईसा मसीह से शक्ति प्राप्त हुई है। जिसकी आज्ञा का पालन प्रत्येक व्यक्ति करने को बाध्य है चाहे वह पोप ही क्यों न हो। इस प्रकार इस परिषद् ने पोप की सार्वभौम शक्ति को स्वयं ग्रहण करके इस सिद्धान्त को स्वीकार करा लिया कि चर्च की प्रभुत्वपूर्ण समस्त शक्ति जनता और उसके प्रतिनिधि सभा में मानी जाना चाहिए।

सन् १४१७ में इस परिषद् ने एक दूसरा आदेश जारी किया। जिसके अनुसार प्रति दसवें वर्ष इस परिषद् का नियमित रूप से अधिवेशन बुलाने का प्रस्ताव घोषित किया गया। इस अधिवेशन को रोकने, आगे बढ़ाने या इसके स्थान परिवर्तन का अधिकार पोप का नहीं रक्खा गया।

शुरू शुरू में सार्वभौम सत्ता का केन्द्र जनरल कौन्सिल को समझा जाता था जिसमें पोप और उसके प्रतिनिधि भी सम्मिलित रहते थे। मगर पोप जॉन तेइसवें के धर्म विरुद्ध आचरण के पश्चात् इस कौंसिल ने यह घोषणा की कि चर्च की प्रभुसत्ता पोप सहित सम्पूर्ण कौन्सिल में नहीं प्रत्युत केवल उसके साधारण सदस्यों में है और पोप के सहमत नहीं होने पर भी यह कौन्सिल अपने निर्णय कर सकती है।

मगर कान्स्टेन्स परिषद् के ये निर्णय जनता में एक मनोवैज्ञानिक जागृति करने के सिवाय कुछ भी सफलता नहीं प्राप्त कर सके। पोप और उसके समर्थकों ने इस कौन्सिल के सदस्यों में भी फूट डाल कर अपनी सत्ता को बनाए रखने का प्रयत्न किया और इसमें उनको सफलता भी मिल गई।

कौंसिल आफ बेसल

कान्स्टेन्स कौन्सिल की असफलता के पश्चात् राजाओं तथा जनता के दबाव से पोप को एक और कौन्सिल बुलाना पड़ी। जो इतिहास में बेसल कौन्सिल के नाम से प्रसिद्ध है। यह कौन्सिल सन् १४३१ से आरम्भ हुई और किसी तरह आसन्न मृत्यु की हालत में १४४८ तक चलती रही।

जिस प्रकार कान्स्टेन्स की कौन्सिल का प्रधान अगुआ जॉन गर्सन था उसी प्रकार बेसल की कौन्सिल का प्रमुख अगुआ निकोलस ऑफ क्यूसा था।

मगर अन्त में यह भी चर्च में वैधानिक शासन लाने में असफल रही और पोप का [illegible]।

इस प्रकार यूरोप का यह [illegible] के स्वेच्छा चार को मिटाने और [illegible] शासन का सूत्रपात करने में असफल [illegible] रहा मगर यूरोप की जनता में [illegible] जो जागृति पैदा की उसने [illegible] को एक नया मोड़ दे दिया।

इसी आन्दोलन [illegible] नवीन विचार, तथा [illegible] वैधानिक शासन के लिए [illegible] भावनाएं पैदा हुई [illegible] राजतंत्र के विचार [illegible]।

[illegible]

पन्द्रहवें [illegible] की पहचान [illegible] हुआ रही [illegible]।

में

पर

[illegible]

जाना

समाप्त

इस मन्दिर का निर्माण-काल दूसरी सदी के अन्त में माना जाता है। इस दरी-मन्दिर में पर्वत की चट्टानों को काट कर यह चैत्य-मन्दिर बनाया गया है। इस मन्दिर के आस-पास का प्राकृतिक सौन्दर्य बड़ा दर्शनीय और आकर्षक है। इस सारी गुफा की लम्बाई ८८ फुट, चौड़ाई ४ फुट और ऊँचाई ५ फुट है। इसके अन्दर १४ स्तम्भ हैं। इसकी बाहरी दीवारों पर बुद्ध की मूर्तियाँ बनी हुई हैं। बुद्ध की एक मूर्ति की ऊँचाई २५ फुट है।

यद्यपि यह दरी-मन्दिर शुरू-शुरू में हीनयान-सम्प्रदाय के द्वारा बनाया गया था, मगर बाद में इस पर महायान-सम्प्रदाय का प्रभाव भी पड़ा, जो इसकी मूर्तियों के ऊपर परिलक्षित होता है।

कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी

गुजराती-साहित्य के सुप्रसिद्ध साहित्यकार, बंबई के प्रसिद्ध धाराशास्त्री तथा भारतीय राजनीति के विख्यात कार्यकर्ता कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी जिनका जन्म १९वीं सदी के अन्तिम दशक में हुआ।

कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी भारतीय साहित्य के कोटि के विद्वानों और प्रसिद्ध कथाकारों में अपना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। भारतीय साहित्य और इतिहास के अनुसन्धान कार्य में इनकी सेवाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

सन् १९११ में सबसे पहले एक कहानीकार के रूप में इन्होंने गुजराती साहित्य में प्रवेश किया। शुरू-शुरू में "घनश्याम" के नाम से इन्होंने कहानियाँ लिखना आरम्भ किया। सन् १९१६ में 'पाटन की प्रभुता' नामक इनका ऐतिहासिक उपन्यास प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास के प्रकाशित होते ही सारे गुजराती साहित्य में एक हलचल मच गई और इस उपन्यास का समस्त गुजराती-समाज ने बड़े उत्साह से स्वागत किया। इसके बाद इन्होंने स्वयं अपने नाम से अन्य लिखना आरम्भ कर दिया।

इनकी दूसरी रचना 'पृथ्वी-वल्लभ" सन् १९२०-२१ में प्रकाशित हुई। उसके पश्चात् "जय सोमनाथ !" "कल्पवृक्ष" "भगवान परशुराम" इत्यादि अनेक ऐतिहासिक और अर्द्ध ऐतिहासिक कृतियाँ इनकी प्रकाशित हुईं, जिनके कारण गुजराती के सर्वश्रेष्ठ लेखकों में इनकी गणना होने लगी।

अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में लेखक ने १० वीं ११ वीं और १२ वीं शताब्दी के गुजरात के इतिहास का बड़ा सजीव चित्रण किया है। इनमें राजाओं के द्वारा किये जाने वाले षड्यंत्रों का जनता की मनोभावनाओं का और उस समय की राजनीति में प्रमुख रूप से भाग लेने वाले जैनाचार्यों की स्थिति का बड़ा सूक्ष्म और मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। मुंजाल मेहता और मीनल देवी के राजनैतिक दाँव पेंचों का चरित्र चित्रण करने में इस महान लेखक को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है।

अपनी इसी साहित्यिक अभिरुचि और अनुसन्धान-प्रियता को चरितार्थ करने के लिए इन्होंने बंबई में "भारतीय-विद्या-भवन" के नाम से एक प्रसिद्ध अनुसन्धान-संस्था की स्थापना की। इस संस्था ने भारतवर्ष के अनेकों उच्चकोटि के विद्वानों के सहयोग से अत्यन्त उत्तम साहित्य का प्रकाशन किया है।

साहित्यिक क्षेत्र की तरह ही राजनैतिक और कानून के क्षेत्र में भी मुंशी की सेवाएँ बहुत महत्त्वपूर्ण रही हैं। भारत के स्वाधीनता-संग्राम में भी इनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। स्वाधीनता के पूर्व शुरू-शुरू में जब यह बंबई की मिनिस्ट्री में आये थे, उस समय बंबई में हिन्दू-मुसलिम समस्या ने बड़ा उग्र रूप धारण कर रखा था। इस समस्या को इन्होंने ऐसी बुद्धिमानी से निपटाया कि फिर यह बहुत काफी समय तक अपना सर न उठा सकी।

स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् देशी राज्यों के विलीनीकरण के प्रश्न पर हैदराबाद के निजाम वाद-मद्दा कर रहे थे और कासिम रिज़वी नामक रज़ाकार संगठन का नेता भारत सरकार और हिन्दुओं के खिलाफ जोरदार आन्दोलन कर रहा था। उस समय सरदार पटेल ने वहाँ की स्थिति को सँभालने के लिए कन्हैया लाल मुंशी को भेजा। वहाँ जाकर इन्होंने निजाम से मिलकर इस तरह का वातावरण तैयार किया कि चार दिन की पुलिस कार्यवाही में ही निजाम ने अपने स्टेट का भारत में विलीनीकरण मंजूर कर लिया और कासिम रिज़वी को वहाँ से भागना पड़ा।

उसके कुछ समय पश्चात् मुंशी उत्तरप्रदेश के गवर्नर बनाये गये। यहाँ पर भी इन्होंने अपना कार्य योग्यतापूर्वक किया।

बाद में कांग्रेस की नीति से मौलिक मतभेद हो जाने के कारण यह कांग्रेसी शासन और संस्था से त्यागपत्र देकर राजगोपालाचार्य द्वारा संस्थापित स्वतन्त्र पार्टी में सम्मिलित हो गये।

कन्हैयालाल मिश्र "प्रभाकर"

हिन्दी के एक सुप्रसिद्ध साहित्यकार और पत्रकार जिनका जन्म सन् १९ ६ में देवनन्द सहारनपुर में हुआ।

श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर हिन्दी साहित्य के एक मँजे हुए लेखक और पत्रकार हैं। 'विकास' 'ज्ञानोदय' 'नया जीवन' इत्यादि उच्चस्तरीय पत्रों के वे सम्पादक रह चुके हैं। देश के प्रसिद्ध हिन्दी-पत्रों में इनकी गम्भीर और समसामयिक विषयों की रचनाएँ छपती रहती हैं। इनकी रचनाओं में 'आकाश के तारे' 'धरती के फूल' "माटी हो गई सोना" इत्यादि रचनाएँ महत्वपूर्ण हैं।

कन्हैयालाल सहल "डॉक्टर"

हिन्दीभाषा में राजस्थानी साहित्य के एक सुप्रसिद्ध साहित्यकार। जिन्होंने संस्कृत साहित्य में 'पी एच डी' की उपाधि प्राप्त की। इनका जन्म सन् १९११ में हुआ।

डॉक्टर कन्हैयालाल सहल 'बिड़ला आर्ट्स कॉलेज' पिलानी में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं। राजस्थानी साहित्य के सम्बन्ध में डॉ सहल के अनुसन्धान बड़े महत्वपूर्ण हैं। इस सम्बन्ध में इनकी "राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान' 'राजस्थान की वीर कथाएँ' 'राजस्थान की लोक कथाएँ' 'राजस्थानी कहावतें' "निहालदे सुलतान" इत्यादि रचनाएँ बड़ी महत्वपूर्ण हैं।

राजस्थानी साहित्य के अतिरिक्त समालोचना साहित्य सम्बन्धी इनकी रचनाएँ भी उत्तम हैं। इन रचनाओं में 'समीक्षाञ्जलि' "वादसमीक्षा" "कामायनीदर्शन" इत्यादि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

कन्हाईलाल दत्त

बंगाल के एक सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी, स्वदेश भक्त और साहसी नवयुवक, जिनका जन्म सन् १८८७ ई में हुआ और मृत्यु सन् १९ ८ में हुई।

कन्हाईलाल दत्त का नाम बंगाल के क्रान्तिकारियों के इतिहास में बहुत प्रसिद्ध है।

इनकी शिक्षा बी ए तक हुई थी। उस समय बंगाल अंग्रेजी साम्राज्य के खिलाफ क्रान्तिकारी भावनाओं का प्रधान केन्द्र बना हुआ था। अतः इनके हृदय में भी क्रान्ति की प्रगाढ़ भावनाएँ पैदा हुईं।

एक दिन यह नौकरी करने के बहाने घर से कलकत्ता के लिए रवाना हो गये और कलकत्ते के क्रान्तिकारी नव युवकों के दल में गुप्तरूप से सम्मिलित हो गये।

विशेष कर्मठ और उत्साही होने के कारण यह अपने दल के प्रमुख कार्यकर्ता बन गये।

जिस समय सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी खुदीराम बोस ने बम कायड किया था उसके सिलसिले में पुलिस ने इन्हें भी पकड़ कर जेल में भेज दिया।

जेल में इनको पता लगा कि इनकी गुप्त संस्था का नरेन्द्र स्वामी नामक सदस्य पुलिस का मुखबिर बन गया है और अदालत में क्रान्तिकारियों का भेद खोलनेवाला है। इससे क्रुद्ध होकर कन्हाई लाल दत्त ने अपने साथियों के साथ निश्चय किया कि इस विश्वासघाती देशद्रोही को जरूर मौत की सजा देनी चाहिए।

योजना के अनुसार एक दिन इनका साथी सत्येन्द्र बुखार का बहाना कर जेल से अस्पताल में गया और कन्हाईलाल दत्त भी पेट दर्द का बहाना कर उस अस्पताल में पहुँच गये।

सत्येन्द्र की बीमारी का हाल सुनकर नरेन्द्र भी अपने दो अंगरक्षकों के साथ उसे देखने के लिए अस्पताल में गया। सत्येन्द्र ने बरोशी का स्वांग रचकर नरेन्द्र पर गोली चला दी मगर निशाना चूक गया। नरेन्द्र भाग निकला, मगर तब तक कन्हाईलाल दत्त ने निशाना साधकर उस पर गोली चला दी जिससे वह वहीं पर समाप्त हो गया।

इसके बाद दोनों व्यक्ति खड़े होकर गालियाँ बकने लगे। जिससे जेल कर्मचारी और अस्पताल के लोग बड़े भयभीत हो गये। अन्त में कारतूस खतम हो जाने पर उनको गिरफ्तार किया गया। उन पर नरेन्द्र स्वामी की हत्या का मुकदमा चलाया गया और १ नवम्बर सन् १९०८ ई० को कन्हाईलाल दत्त और उनके साथी सत्येन्द्र को फाँसी के तख्ते पर लटका दिया गया।

कन्याकुमारी

भारत वर्ष की दक्षिण दिशा के अन्तिम छोर पर स्थापित हिन्दुओं का एक पवित्र तीर्थ स्थान। यहीं से भारत की दक्षिणी सीमा समाप्त होकर हिन्द महासागर प्रारम्भ हो जाता है।

यहाँ पर समुद्र-तट के समीप पश्चिमी घाट की अन्तिम नोक पर 'कन्याकुमारी देवी' का मन्दिर बना हुआ है जो हिन्दुओं का पवित्र स्थान है।

कन्दहार

अफगानिस्तान का एक प्रान्त जिसको प्राचीन काल में 'गान्धार' देश कहते थे। इस प्रान्त की राजधानी कन्दहार शहर में है जो अफगानिस्तान का तीसरे नम्बर का प्रमुख शहर है।

कन्दहार शहर प्राचीन काल में भारतवर्ष की सामाओं के अन्तर्गत माना जाता था। धृतराष्ट्र की पत्नी गान्धारी इसी देश की राजकन्या थी। सम्राट् अशोक और सम्राट् कनिष्क के समय में यह प्रान्त उनके साम्राज्य की उत्तर पश्चिमी सीमा पर अवस्थित था।

उसके बाद यह प्रदेश अफगानों के हाथ चला गया में और ११वीं शताब्दी में महमूद गजनवी ने इसको अफ [illegible] के हाथ से छीन लिया। तत्पश्चात् यह प्रान्त मंगोल [illegible] बाबर, अकबर, ईरान के शाह अब्दाल [illegible] [illegible] का अंग बना रहा।

[illegible] कन्दहार अफगानिस्तान का [illegible] चारों तरफ २४ फुट [illegible] [illegible] बनी हुई है। कन्दहार [illegible]

मध [illegible] बने अ [illegible] अपने [illegible] इनके [illegible] में मकबरे [illegible] "चल्पखरा" [illegible]

होते हुए पाकिस्तान तक रेलवे मार्ग बना हुआ है। यहाँ के दर्शनीय स्थानों में अहमद शाह का मकबरा उल्लेखनीय है।

कपिल मुनि

संसार प्रसिद्ध सांख्य दर्शन के आदिप्रवर्तक कपिल मुनि, जिनके समय का अनुमान कुछ इतिहासकार ईसा से आठ शताब्दी पूर्व करते हैं।

कपिल मुनि भारतीय सभ्यता के प्रसिद्ध पुराण-पुरुष हैं। इतिहासकारों ने यहाँ तक पहुँचने का प्रयत्न किया है पर अभी तक इस सम्बन्ध में वे किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सके हैं। इसलिए इनके समय और जन्मस्थान के बारे में अभी तक कोई निश्चित मत स्थिर नहीं हो पाया है। कुछ लोग इनका जन्म बिहार के कपिलवस्तु नामक स्थान को मानते हैं और कुछ लोग अजमेर के समीप पुष्कर नामक स्थान के समीप किसी स्थान पर इनका जन्म मानते हैं। काल निर्णय के सम्बन्ध में कुछ इतिहासकारों के मत से इनका समय ई० पू० आठवीं शताब्दी में होना चाहिए, पर हमारी पौराणिक परम्परा के अनुसार तो इनका समय कृष्ण और रामचन्द्र से भी पहले होना चाहिए। जब कि भागीरथ द्वारा गंगा नदी का अवतरण भी इस भूमि में नहीं हुआ था। कृष्ण का समय ही ईसा से तेरह सौ बरस पूर्व के करीब माना जाता है।

भारतीय पुराण परम्परा के अनुसार 'कपिल' विष्णु के चौबीस अवतारों में से पाँचवें अवतार थे। इनकी माता देवहूति स्वायम्भुव मनु की पुत्री थी और इनके पिता प्रजापति कर्दम ऋषि थे। कुछ स्थानों पर इनको अग्नि का अवतार और कुछ स्थानों पर इन्हें ब्रह्मा का मानस पुत्र भी कहा गया है।

कपिल मुनि सुप्रसिद्ध "सांख्य दर्शन" के प्रवर्तक थे। उल्लेख है कि अपनी माता देवहूति को मुक्ति सिखाने के लिए इन्होंने सांख्य दर्शन का उपदेश दिया। बाद में इन्होंने—जिस स्थान पर इस समय गंगा सागर का तीर्थ अवस्थित है—समुद्र तट पर घोर तपश्चर्या की। इसी स्थान पर उन्होंने राजा सगर के साठ हजार पुत्रों को जो अश्वमेध

के "अश्व" की रक्षा करने आये थे, शाप देकर भस्म कर दिया। इन्हीं की प्रेरणा से भगीरथ गंगा को पृथ्वी पर लाये और उस गंगा का संगम सागर में उस स्थान पर हुआ जहाँ कपिल का आश्रम था और यह स्थान गंगासागर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हजारों बरस से हजारों हिन्दू इस तीर्थ का दर्शन करने प्रति वर्ष मकरसंक्रांति के अवसर पर जाते हैं।

कपिलमुनि के 'सांख्य-दर्शन' ने भारतवर्ष की तत्कालीन आध्यात्मिक विचार धारा में एक नवीन दृष्टिकोण उत्पन्न कर युगान्तर उपस्थित कर दिया। उन्होंने कर्मकाण्ड के विपरीत ज्ञान को विशेष महत्व देकर प्रचलित विचार परम्पराओं को एक नया मोड़ दे दिया। इसी कारण पुराणों में सम्भवतः उन्हें आदिसिद्ध भी कहा गया है।

सांख्य में प्रकृति और पुरुष—दो तत्त्व माने गये हैं। इनमें प्रकृति के चौबीस भेद और एक पुरुष इस प्रकार कुल पच्चीस तत्त्वों से सृष्टि की उत्पत्ति मानी गई है। प्रकृति का निर्माण सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों से होता है। ये तीन गुण जब तक साम्यावस्था में रहते हैं तब तक प्रकृति शान्त रहती है मगर पुरुष के सान्निध्य से जब इनमें वैषम्य उत्पन्न होता है तभी उस सर्ग से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। चेतनरूप पुरुष, जड़रूप प्रकृति के साथ अपने बन्धनों को सत्य समझ कर ही आवागमन के चक्कर में पड़ता है और अनन्त दुःखों को उठाता है। ये दुःख आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक तीन प्रकार के होते हैं। इन तीन प्रकार के दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति ही मोक्ष है। यह निवृत्ति विवेकज्ञान से होती है। जब आत्मा समझने लगता है कि वह प्रकृति के बन्धनों से स्वतन्त्र चेतन स्वरूप स्वयं प्रकाशमान है तभी यह विवेक ज्ञान पैदा होता है।

सांख्यदर्शन ईश्वर में विश्वास नहीं करता। उसका "ईश्वरासिद्धेः" नामक सूत्र ईश्वर की सत्ता को स्पष्ट अस्वीकार करता है। इसलिए इस दर्शन का नाम निरीश्वर सांख्यदर्शन भी है। यद्यपि सांख्य-दर्शन के टीकाकार "विज्ञान भिक्षु" ने लिखा है कि सूत्रकार का तात्पर्य इसमें [illegible] इतना ही है कि ईश्वर के न मानने पर भी [illegible] [illegible] दर्शन में कोई बाधा नहीं होती।

यदि ईश्वर का खण्डन करना सूत्रकार का अभिप्राय होता तो वे 'ईश्वरासिद्धेः' सूत्र न बनाकर 'ईश्वराभावात्' ऐसा सूत्र बनाते। फिर भी यह सूत्र इतना साफ है कि वाचस्पति मिश्र ने इसे निरीश्वरवादी दर्शन ही माना है।

प्रचलित सांख्य प्रवचन में ६ अध्याय और ५२६ सूत्र हैं। पहले अध्याय में हेय हेयहेतु हान और हानहेतु का निरूपण किया गया है। प्रकृति और पुरुष का अविवेक या अभेद ज्ञान ही दुःख का हेतु है। दूसरे अध्याय में प्रकृति के सूक्ष्म कार्य, तीसरे अध्याय में प्रकृति के स्थूल कार्य, लिंग शरीर, स्थूल शरीर, अपर वैराग्य और पर वैराग्य का निरूपण किया गया है। चौथे अध्याय में शास्त्र प्रसिद्ध आख्यायिकाओं के द्वारा विवेक-ज्ञान के साधन का उपदेश दिया गया है। पाँचवें अध्याय में अपने विरोधी मतों का खण्डन किया गया है और छठे अध्याय में इस शास्त्र के मुख्य विषयों की व्याख्या और उपसंहार किया गया है।

कपिल मुनि के शिष्य आसुरि और आसुरि के शिष्य पंचशिख हुए। इन्होंने सांख्यदर्शन पर कई ग्रन्थ बनाये मगर इस समय वे उपलब्ध नहीं हैं। इस समय सांख्य दर्शन की उपलब्ध टीकाओं में ईश्वरकृष्ण की सांख्य कारिका, गौड़पादाचार्य का सांख्यकारिकाभाष्य, वाचस्पति मिश्र की सांख्यतत्त्व कौमुदी और विज्ञान भिक्षु का सांख्य भाष्य इस विषय के प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाते हैं।

कपिलवस्तु

शाक्य-क्षत्रीय गण [illegible]। ये शाक्य गणतन्त्र की राजधानी। भगवान बुद्ध की जन्मभूमि। जो इस समय अतीत के गर्भ में चली गई है।

प्रसिद्ध इतिहासकार कनिंघम के मतानुसार फैजाबाद से [illegible] मील उत्तर पूर्व बस्ती जिले के [illegible]—घाघरा और गंडक नदी का मध्यवर्ती स्थान ही कपिलवस्तु हो सकता है। [illegible] यहीं पास में कपिलवस्तु का स्थान होना चाहिए। यहीं पर बुद्ध की [illegible] शाक्य [illegible] [illegible] हैं।

[illegible] कपिलवस्तु [illegible] है। [illegible]

इसके बाद दोनों व्यक्ति खड़े होकर गोलियाँ चलाने लगे। जिससे जेल कर्मचारी और अस्पताल के लोग बड़े भयभीत हो गये। अन्त में कारतूस खतम हो जाने पर उनको गिरफ्तार किया गया। उन पर नरेन्द्र स्वामी की हत्या का मुकदमा चलाया गया और १ नवम्बर सन् १९०९ ई० को कन्हाईलाल दत्त और उनके साथी सत्येन्द्र को फाँसी के तख्ते पर लटका दिया गया।

कन्याकुमारी

भारत वर्ष की दक्षिण दिशा के अन्तिम छोर पर स्थापित हिन्दुओं का एक पवित्र तीर्थ स्थान। यहाँ से भारत की दक्षिणी सीमा समाप्त होकर हिन्द महासागर प्रारम्भ हो जाता है।

यहाँ पर समुद्र-तट के समीप पश्चिमी घाट की अन्तिम नोक पर 'कन्याकुमारी देवी' का मन्दिर बना हुआ है जो हिन्दुओं का पवित्र स्थान है।

कन्दहार

अफगानिस्तान का एक प्रान्त जिसको प्राचीन काल में गान्धार देश कहते थे। इस प्रान्त की राजधानी कन्दहार शहर में है जो अफगानिस्तान का तीसरे नम्बर का प्रमुख शहर है।

कन्दहार शहर प्राचीन काल में भारतवर्ष की सीमाओं के अन्तर्गत माना जाता था। धृतराष्ट्र की पत्नी गान्धारी इसी देश की राजकन्या थी। सम्राट् अशोक और सम्राट् कनिष्क के समय में यह प्रान्त उनके साम्राज्य की उत्तर पश्चिमी सीमा पर अवस्थित था।

उसके बाद यह प्रदेश अफगानों के हाथ चला गया और ११वीं शताब्दी में महमूद गजनवी ने इसको अफगानों के हाथ से छीन लिया। तत्पश्चात् यह प्रान्त चंगेज खाँ, तैमूर लंग, बाबर अकबर, ईरान के शाह अब्बास इत्यादि अनेक शासकों के साम्राज्य का अंग बना रहा।

इस प्रान्त की राजधानी 'कन्दहार' अफगानिस्तान का एक सुन्दर नगर है जिसके चारों तरफ २८ फुट चौड़ी और १० फुट ऊँची दीवार बनी हुई है। कन्दहार से चमन होते हुए पाकिस्तान तक रेलवे मार्ग बना हुआ है। यहाँ के दर्शनीय स्थानों में अहमद शाह का मकबरा उल्लेखनीय है।

कपिल मुनि

संसार प्रसिद्ध सांख्य दर्शन के आदिप्रवर्तक कपिल मुनि, जिनके समय का अनुमान कुछ इतिहासकार ईसा से आठ शताब्दी पूर्व करते हैं।

कपिल मुनि भारतीय सभ्यता के प्रसिद्ध पुराण-पुरुष हैं। इतिहासकारों ने यहाँ तक पहुँचने का प्रयत्न किया है पर अभी तक इस सम्बन्ध में वे किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सके हैं। इसलिए इनके समय और जन्मस्थान के बारे में अभी तक कोई निश्चित मत स्थिर नहीं हो पाया है। कुछ लोग इनका जन्म बिहार के कपिलवस्तु नामक स्थान को मानते हैं और कुछ लोग अजमेर के समीप पुष्कर नामक स्थान के समीप किसी स्थान पर इनका जन्म मानते हैं। काल निर्णय के सम्बन्ध में कुछ इतिहासकारों के मत से इनका समय ई० पू० आठवीं शताब्दी में होना चाहिए, पर हमारी पौराणिक परम्परा के अनुसार तो इनका समय कृष्ण और रामचन्द्र से भी पहले होना चाहिए। जब कि भागीरथ द्वारा गंगा नदी का अवतरण भी इस भूमि में नहीं हुआ था। कृष्ण का समय ही ईसा से तरह सौ बरस पूर्व के करीब माना जाता है।

भारतीय पुराण परम्परा के अनुसार 'कपिल' विष्णु के चौबीस अवतारों में से पाँचवें अवतार थे। इनकी माता देवहूति स्वायंभुव मनु की पुत्री थी और इनके पिता प्रजापति कर्दम ऋषि थे। कुछ स्थानों पर इनको अग्नि का अवतार और कुछ स्थानों पर इन्हें ब्रह्मा का मानस पुत्र भी कहा गया है।

कपिल मुनि सुप्रसिद्ध 'सांख्य-दर्शन' के प्रवर्तक थे। उल्लेख है कि अपनी माता देवहूति की मुक्ति विधान के लिए इन्होंने सांख्य दर्शन का उपदेश किया। बाद में इन्होंने—जिस स्थान पर इस समय गंगा सागर का तीर्थ अवस्थित है—समुद्र तट पर घोर तपस्या की। इसी स्थान पर उन्होंने राजा सगर के साठ हजार पुत्रों को जो अश्वमेध

पैदा हुआ तो वह उसे लहरतारा के तालाब के पास फेंक आई। यह बच्चा नीरू नामक एक मुसलमान जुलाहे के हाथ लगा, जिसे उसने पालपोसकर बड़ा किया। यही बच्चा आगे चलकर 'कबीर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

मुसलमान-घर में प्रतिपालित होनेपर भी कबीर के जन्मजात संस्कार हिन्दू थे। सत्य की खोज के लिए उनके हृदय में प्रारम्भ से ही लगन थी। अतः स्वामी रामानन्द का आशीर्वाद प्राप्त कर उन्हें अपना गुरु मानकर वे अपनी सत्य की जिज्ञासा को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करने लगे।

इस मार्ग में उनके विरोधियों के द्वारा भयंकर बाधाएँ भी पहुँचाई जाने लगीं मगर वे दुर्दमनीय संकल्पशक्ति के साथ अपने मत का प्रतिपादन करने लगे। इनका विवाह 'लोई' नामक एक जुलाहे की लड़की के साथ हुआ।

कबीरपंथ के मुसलमान अनुयायियों के मत से कबीर ने उस समय के सुप्रसिद्ध सूफीसन्त शेख तकी को अपना गुरु बनाया था और यही कारण है कि उनकी साखियों में स्थान स्थान पर सूफी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

चाहे वे रामानन्द से प्रभावित हों, चाहे सूफी सन्तों से प्रभावित हों मगर इन सबके मन्थन के पश्चात् उन्होंने जिस सत्य का निरूपण किया वह सर्वथा मौलिक और नये दृष्टिकोण से परिष्कारित था। इस सत्य के अनुसन्धान में उन्होंने किसी भी पूर्वाग्रह को स्वीकार नहीं किया। जो सिद्धान्त उनकी कसौटी पर खरा उतरा वह चाहे पुराण का हो चाहे कुरान का, चाहे वेद का हो चाहे उपनिषद् का—उसे उन्होंने स्वीकार किया और जो खरा नहीं उतरा वह चाहे कहीं का भी हो, उसकी स्पष्ट शब्दों में तीव्र आलोचना की।

कई आलोचक उन्हें भक्तिमार्ग का कवि मानते हैं और कई उन्हें ज्ञानमार्ग का अनुयायी बतलाते हैं मगर उनकी निगाह में ज्ञान और भक्ति दोनों ही एक दूसरे के पूरक थे। उनकी भक्ति ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित थी और उनका ज्ञान भक्ति की धारा और तन्मयता से ओतप्रोत था।

भक्ति की भावना से ओतप्रोत होकर जहाँ एक ओर वे अपने प्रियतम को निमन्त्रण देते हुए कहते हैं—

बालम आव हमारे गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे
सब को कहै तुम्हारी नारी मोको यही संदेह रे।
एक मेक ह्वै सेज न सोवे तबतक कैसो नेह रे
है कोई ऐसा परउपकारी हरि सूँ कहै सुनाई रे
ऐसे हाल कबीर भये हैं बिन देखे जिव जाय रे।

एक स्थान पर वे कहते हैं—

क्या जप तप क्या संजमा क्या तीरथ व्रत स्नान
जो पै युक्ति न जानिए भाव भक्ति भगवान्

इसी प्रकार जब वे ज्ञान की चर्चा करते हैं तो कहते हैं—

संतो भाई, आई ज्ञान की आँधी
भ्रम की टाटी सबै उड़ाणी माया रहै न बाँधी
हित चित की द्वै थूनी गिराणी मोह बलीण्डा टूटा
त्रिस्ना छानि परी धर ऊपरि, दुरमति का भांडा फूटा

इस प्रकार ज्ञान और भक्ति दोनों के तत्त्वों का समन्वय उनके सिद्धान्तों में हो गया था।

कबीर के मतानुसार ईश्वर या परमतत्त्व अगम्य, अरूप अनुपम और अनिर्वचनीय है। यह संसार उसकी लीला है और उसकी माया विश्वविमोहिनी है जो अपने मोहक रूप से प्राणियों को भरमाये रहती है। इस प्रकार इनका यह 'परमतत्त्व' वेदान्त के ब्रह्म जैसा प्रतीत होता हुआ भी केवल भावात्मक 'सच्चिदानन्द' मात्र नहीं है। वह सबका नियामक है, सहृदय और दयालु है। जीवात्मा भरम-करम के कारण उसे अपने से भिन्न समझ लेता है और जन्मान्तर के फेर में पड़ कर दुःख उठाता है।

इस "भरम करम" से छुटकारा पाने के लिए उस परम तत्त्व को स्वतः अनुभव करना, उसके प्रति प्रेम और भक्ति का भाव रखते हुए मन की चंचलता को छोड़ कर सहज समाधि में लीन रहना ही वास्तविक उपाय है। इससे मनुष्य के अन्तर्गत संसार के सब प्राणियों के साथ आत्मीयता का बोध जाग्रत होता है और उसमें अनायास ही निर्वैर, अनासक्ति, भगवद्भक्ति और विषय-वासनाओं के प्रति उदासीनता की भावनाएँ जाग्रत होती हैं।

कबीर के मतानुसार यह सारा संसार एक ही परम ज्योति से उत्पन्न है। ऐसी स्थिति में प्राणी प्राणी में भेदभाव को यहाँ कोई स्थान ही नहीं है। मानव समाज में पाई जानेवाली ऊँच नीच, छूत अछूत, ब्राह्मण शूद्र इत्यादि

का एक 'स्तम्भ-लेख' मिला है, जिसमें लिखा है—अशोक ने भगवान् बुद्ध के इस जन्मस्थान पर आकर पूजा की और यह स्तम्भ खड़ा किया।

चीनी यात्री 'फाहियान' और 'ह्युएनसांग' भी कपिल वस्तु का दर्शन करने के लिए यहाँ आये थे। फाहियान ने अपने यात्रा-वर्णन में 'कीया-वी-लो-वे' के नाम से और ह्युएनसांग ने 'कि-पी-लो-फा-सु-तो' के नाम से कपिल वस्तु का उल्लेख किया है। ह्युएनसांग के समय में इस स्थान की स्थिति बहुत खराब हो गई थी। उसने लिखा है कि यह राज्य अत्यन्त वीरान अवस्था में पड़ा हुआ है नगर का प्राचीन राजमहल खण्डहर हो रहा है। उसी के निकट इस स्थान महास्थविरों का एक 'संघाराम' था। राजमहल के बीच में शुद्धोदन राजा की एक पत्थर की मूर्ति बनी हुई थी। उससे थोड़ी दूर पर बुद्ध की माता मायादेवी का अन्तःपुर था और भी कुछ स्तूप इधर उधर बने हुए थे।

कपिलदेव द्विवेदी "डॉक्टर"

हिन्दी और संस्कृत के एक साहित्यकार, जिनका जन्म सन् १९१९ में गहमर (गाज़ीपुर) में हुआ।

डॉ. कपिलदेव को गुरुकुल-विश्वविद्यालय से 'विद्या भास्कर' की, प्रयाग विश्वविद्यालय से 'डॉक्टरेट' (संस्कृत) की और *संस्कृत विश्वविद्यालय बनारस से 'व्याकरणाचार्य'* की उपाधियाँ प्राप्त हैं।

डॉ. कपिलदेव रूसी, जर्मन तथा फ्रेंच भाषाओं के भी जानकार हैं। इनकी साहित्यिक रचनाओं में "अर्थविज्ञान" 'व्याकरणदर्शन' "संस्कृत साहित्य का इतिहास" "अनुवाद कौमुदी" अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाटकम् इत्यादि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

कपूरथला

अंग्रेजी राज्य के समय में पंजाब प्रान्त की एक छोटी रियासत, जिसकी राजधानी कपूरथला नामक शहर में थी।

कपूरथला नामक नगर की स्थापना ११वीं सदी में जैसलमेर के राजपूत राजा 'राणा कपूर' के द्वारा की गई मानी जाती है। उसके बाद यह राज्य मुसलमानी अधिकार में चला गया।

सन् १७८० ई. में सरदार 'जस्सासिंह' ने इसे अपने अधिकार में कर लिया। उसके बाद इन्हीं के वंशज उसपर शासन करते रहे।

अंग्रेजी राज्य के समाप्त होने पर इस रियासत (स्टेट) को पूर्वी पंजाब में विलीन करना हो गया।

कबीर

मध्यकालीन युग में भारतवर्ष के एक महान् सन्त धर्म स्थापक, कवि तथा महान विचारक जिनका जन्म *विक्रम संवत् १४५६ में और मृत्यु वि. संवत् १५५१ में* मानी जाती है।

कबीर जिस युग में पैदा हुए उस युग में दिल्ली पर लोदीवंश का शासन था। सिकन्दर लोदी इस वंश का शासक था। इस युग में मुसलमान शासकों के दिलों में हिन्दुओं के प्रति धर्म द्वेष की तीव्र भावनाएँ भरी और व्याप्त हो रही थीं और वे लोग इस बात को महसूस करने लगे थे कि इस देश में तभी शान्ति स्थापित हो सकेगी जब हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्प्रदायें अपने अपने क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक फूलने फलने लगेंगी और दोनों सम्प्रदायों में द्वेष की जगह प्रेम की भावनाओं का प्रचार होगा।

उस समय के साहित्य और काव्य में भी इन भावनाओं का क्रमागत प्रचार हो रहा था। सन्त नानक और सन्त कबीर इन्हीं भावनाओं के प्रभावशाली प्रतीक थे और इन दोनों महात्माओं ने अपने साहित्य के द्वारा हिन्दू और मुसलमानों के बीच में खड़ी साम्प्रदायिक भावनाओं पर आधारित दीवारों को तोड़ने का प्रयत्न किया।

सन्त कबीर का जन्म विक्रम संवत् १४५६ की जेठ सुदी पूर्णिमा को काशी में हुआ माना जाता है। इनके जन्म के सम्बन्ध में इनके अनुयायियों में कई चमत्कारपूर्ण किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। मगर सबसे अधिक मान्य किंवदन्ती यह है कि एक ब्राह्मण की विधवा कन्या को स्वामी रामानन्द ने भूल से सन्तान होने का आशीर्वाद दे दिया। उनके इस आशीर्वाद से उसे गर्भ रह गया। जब कबीर

पैदा हुआ तो वह उसे लहरतारा के तालाब के पास फेंक आई। यह बच्चा नीरू नामक एक मुसलमान जुलाहे के हाथ लगा, जिसे उसने पालपोसकर बड़ा किया। यही बच्चा आगे चलकर 'कबीर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

मुसलमान-घर म प्रतिपालित होनेपर भी कबीर के जन्मजात संस्कार हिन्दू थे। सत्य की खोज के लिए उनके हृदय म प्रारम्भ से ही लगन थी। अतः स्वामी रामानन्द का आशीर्वाद प्राप्त कर उन्हें अपना गुरु मानकर वे अपनी सत्य की जिज्ञासा को संतुष्ट करने का प्रयत्न करने लगे।

इस मार्ग में उनके विरोधियों के द्वारा भयंकर बाधायें भी पहुँचाई जाने लगीं मगर वे दुर्दमनीय संकल्पशक्ति के साथ अपने मत का प्रतिपादन करने लगे। इनका विवाह 'लोई' नामक एक जुलाहे की लड़की के साथ हुआ।

कबीरपंथ के मुसलमान अनुयायियों के मत से कबीर ने उस समय के सुप्रसिद्ध सूफीसन्त शेख तकी को अपना गुरु बनाया था और यही कारण है कि उनकी वाणियों म स्थान स्थान पर सूफी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

चाहे वे रामानन्द से प्रभावित हों, चाहे सूफी सन्तों से प्रभावित हों मगर इस सबके मन्थन के पश्चात् उन्होंने जिस सत्य का निरूपण किया वह सर्वथा मौलिक और नये दृष्टिकोण से परिप्लावित था। इस सत्य के अनुसन्धान म उन्होंने किसी भी पूर्वाग्रह को स्वीकार नहीं किया। जो सिद्धान्त उनकी कसौटी पर खरा उतरा वह चाहे पुराण का हो चाहे कुरान का चाहे वेद का हो चाहे उपनिषद् का—उसे उन्होंने स्वीकार किया और जो खरा नहीं उतरा, वह चाहे कहीं का भी हो उसकी स्पष्ट शब्दों म तीव्र आलोचना की।

कई आलोचक उन्हें भक्तिमार्ग का कवि मानते हैं और कई उन्हें ज्ञानमार्ग का अनुयायी बतलाते हैं मगर उनकी निगाह म ज्ञान और भक्ति दोनों ही एक दूसरे के पूरक थे। उनकी भक्ति ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित थी और उनका ज्ञान भक्ति की धारा और तन्मयता से ओतप्रोत था।

भक्ति की भावना से ओतप्रोत होकर कहीं एक ओर वे अपने प्रियतम को निमन्त्रण देते हुए कहते हैं—

बालम आव हमारे गेह रे तुम बिन दुखिया देह रे
सब को कहै तुम्हारी नारी मोको यहै संदेह रे।
एक मेक ह्वै सेज न सोवे तबलग कैसो नेह रे
है कोई ऐसा परउपकारी हरि सूँ कहै सुनाई रे
ऐसे हाल कबीर भये हैं बिन देखे जिय जाय रे।

एक स्थान पर वे कहते हैं—

कहा जप तप क्या संजमा क्या तीरथ व्रत स्नान
जो पै जुगति न जानिए भाव भगति भगवान्

इसी प्रकार जब वे ज्ञान की चर्चा करते हैं तो कहते हैं—

संतो भाई, आई ज्ञान की आंधी
भ्रम की टाटी सबै उड़ाणी माया रहै न बांधी
हित चित की द्वै थूणी गिराणी मोह बलींडा टूटा
त्रिस्ना छानि परी घर ऊपरि, कुबधि का भांडा फूटा

इस प्रकार ज्ञान और भक्ति दोनों के तत्त्वों का सम न्वय उनके सिद्धान्तों म हो गया था।

कबीर के मतानुसार ईश्वर या परमतत्त्व अगम, अकथ अनुपम और अनिर्वचनीय है। यह संसार उसकी लीला है और उसकी माया विश्वविमोहिनी है जो अपने मोहक रूप से प्राणियों को भरमाये रहती है। इस प्रकार इनका यह "परमतत्त्व" वेदान्त के ब्रह्म जैसा प्रतीत होता हुआ भी केवल भावात्मक 'सच्चिदानन्द' मात्र नहीं है। वह सत्य का निवासक है सहृदय और दयालु है। जीवात्मा भरम-करम के कारण उसे अपने से भिन्न समझ लेता है और चम्मा छर के फेर में पड़ कर दुःख उठाता है।

इस "भरम-करम" से छुटकारा पाने के लिए उस परम तत्त्व का स्वतः अनुभव करना, उसके प्रति प्रेम और भक्ति का भाव रखते हुए मन की चंचलता को छोड़ कर सहज समाधि म लीन रहना ही वास्तविक उपाय है। इससे मनुष्य के अन्तर्गत संसार के सब प्राणियों के साथ आत्मीयता का बोध जाग्रत होता है और उसमें अनायास ही निर्वैर, अनासक्ति भगवद्भक्ति और विषय-वासनाओं के प्रति उदासीनता की भावनाएँ जाग्रत होती हैं।

कबीर के मतानुसार यह सारा संसार एक ही परम ज्योति से उत्पन्न है। ऐसी स्थिति म प्राणी प्राणी में भेदभाव को यहाँ कोई स्थान ही नहीं है। मानव समाज में पाई जानेवाली ऊँच नीच, छूत-अछूत, ब्राह्मण शूद्र इत्यादि

आधार पर नहीं, बल्कि पूर्णरूप से स्वाभाविक और स्वप्रेरित थे।'

'कबीर की साखियों में ऐसी भी सामग्री है जो समाज सुधार, सर्वधर्म समन्वय और हिन्दू मुस्लिम ऐक्य के लिए उपयोगी है। परन्तु इन सब कार्यों को करना उनका प्रधान लक्ष्य नहीं था वे मूलतः भक्त थे और सत्य की खोज और उसका प्रचार ही उनका प्रधान लक्ष्य था। ये सब चीजें तो उपलक्ष्य को तरह उनकी वाणी से स्वाभावतः प्रकट हुई।

"बाह्याचार और कर्मकाण्ड की निरर्थक पूजा और सस्कारों की विचारहीन गुलामी उन्हें पसन्द न थी। वे इनसे मुक्त मनुष्यता को ही प्रेम-भक्ति का पात्र मानते थे।

कबीर का साहित्य

कबीर साहब विशेष पढ़े लिखे नहीं थे एक स्थानपर उन्होंने स्वयं अपने लिए लिखा है—

मसि कागज छूआ नहीं कलम गही नहि हाथ।
चारिउ युग को महातम (कबीर) मुखहि जनाई बात॥

इससे पता लगता है कि कागज-कलम छुए बिना भी केवल मौखिक शक्ति से वे अपनी बात जनता को समझा देते थे और उनके शिष्यलोग उनकी वाणियों का सग्रह कर लेते थे।

ऐसा ही एक सग्रह उनके शिष्य धर्मदास ने उनके जीवनकाल में ही सन् १५६१ में किया ऐसा बताया जाता है।

कबीर की वाणियों के सग्रह को 'बीजक' कहा जाता है। इसके अलावा ग्रन्थ साहब में तथा कबीर वचनावली में भी उनकी साखियों और वाणियों का सग्रह है। इस प्रकार कबीर के साहित्य में प्रधान रूप से "आदि ग्रन्थ" मूल बीजक" 'कबीर ग्रन्थावली" कबीर वचनावली" तथा "सन्त कबीर की साखी" ये रचनाएँ मानी जाती हैं।

इनमें से मूल बीजक के सग्रह अपनी अपनी टीकाओं के साथ कई लोगों ने प्रकाशित किये जिनमें कई स्थानों पर पाठान्तर भी है। बीजक के इन टीकाकारों में रीवाँ के महाराज विश्वनाथ सिंह पूरनदास, प्रेमचन्द्र ब्रह्मदास, काशीदास, विचारदास, सनदास, हनुमानदास के सग्रह और टीकायें उल्लेखनीय हैं।

कई लोग इनमें विचारदास के सग्रह और टीका को विशेष प्रमाणित और कई लोग रीवाँ-नरेश विश्वनाथ सिंह की टीका को अधिक प्रमाणिक मानते हैं।

अंग्रेजी भाषा में कबीर साहित्य

कबीर साहब की वाणी और उनके सिद्धान्तों में कुछ ऐसे आकर्षक और मौलिक तत्त्व हैं कि उन्होंने हमारे देश के विद्वानों के साथ-साथ अन्य विद्वानों को भी बहुत आकर्षित किया और उन्होंने कबीर-साहित्य पर अंग्रेजी में बड़े महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। इसके साथ ही हमारे देश के भी कुछ विद्वानों ने 'कबीर की साखियों' का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करके कबीर के महान् साहित्य को अन्तर्राष्ट्रीय रूप दिया।

सबसे पहले सन् १९०७ में कानपुर के एस पी जी मिशन के पादरी एच जी वेस्टकोट ने "कबीर एण्ड कबीरपंथ" नामक ग्रन्थ छपाकर प्रकाशित किया। इसमें उन्होंने अनेक प्रकार के अनुसन्धान और विश्लेषण करके कबीर के सम्बन्ध में स्थिर किये हुए मत प्रकाशित किये हैं।

सन् १९१७ में अहमदशाह पादरी ने कबीर के 'बीजक' का अंग्रेजी में अनुवाद कर उसे प्रकाशित किया। इस अनुवाद की भूमिका में उन्होंने बतलाया है कि 'कबीर का मुख्य उद्देश्य अपने सन्देश का प्रचार करना था—साहित्य रचना नहीं। फिर भी वे हिन्दी साहित्य के पायोनियर (मूल प्रवर्तक) माने जाते हैं और नानक सूरदास तुलसीदास इत्यादि की कविताओं पर उनका काफी प्रभाव पड़ा है। धार्मिक सहिष्णुता तथा मानव मात्र के प्रति भ्रातृभाव उनकी प्रधान शिक्षा है। उनके धर्म का मूल प्रेम है। ईश्वर प्रेमस्वरूप है और उसकी इच्छा है कि सब उससे प्रेम करें।

सन् १९१५ में बंगाल के महान् कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी कबीर की एक सौ चुनी हुई साखियों का अंग्रेजी में अनुवाद कर उसे "One hundred poems of Kabir" का नाम दिया। यह अनुवाद एवलिन अण्डर हिल की प्रस्तावना के साथ प्रकाशित हुआ और विदेशों में इसकी बड़ी ख्याति हुई।

एक पुस्तक "Kabir and his followers' नामक एफ० ई० के नामक विद्वान ने सन् १६११ में तथा एक डॉ० मोहन सिंह ने Kabir and the Bhakti movement' नाम से सन् १६३४ में प्रकाशित की। इसी प्रकार डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने "The nirgun school of Hindi poetry नाम से एक ग्रन्थ सन् १६३६ में तैयार किया।

इसी प्रकार क्षितिमोहन सेन ने कबीर के साहित्य का बंगला-भाषा में अनुवाद कर उसे चार खण्डों में प्रकाशित किया।

हिन्दीभाषा में भी पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'कबीर वचनावली' डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'सन्त कबीर" डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर" तथा श्री पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव ने 'कबीर-साहित्य" नामक ग्रन्थ लिख कर कबीर के साहित्य, सिद्धान्त और उनकी जीवनी पर काफी महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला।

कबीर-पंथ

सन्त कबीर के द्वारा स्थापित एक सम्प्रदाय जो कबीर-पन्थ के नाम से प्रसिद्ध है।

सन्त कबीर के पश्चात् या उनके समय में ही उनके बहुत से अनुयायियों ने कबीर पंथ के नाम से एक सम्प्रदाय का संगठन कर लिया था। इसी कबीर पन्थ का प्रचार प्रायः सारे उत्तर भारत, मध्यप्रदेश, राजस्थान, उड़ीसा इत्यादि प्रान्तों में हुआ।

कबीर पन्थ का प्रधान मठ बनारस के 'कबीरचौरा' नामक स्थान में है। इस पंथ में कबीर साहब के पश्चात् कई और सन्त हुए, जिन्होंने इस मत का प्रचार और पुनरुद्धार किया। इन सन्तों में श्रुत गोपालदास, भागोदास, नारायणदास, चीरनदास, जागूदास, कमाल साहब, धर्मदास, निरञ्जन, चमलदास, पूरनदास, विचारदास इत्यादि उल्लेखनीय हैं। भारत वर्ष के कई स्थानों पर कबीर पन्थ के मठ और गद्दियाँ बनी हुई हैं।

कबीर साहब के सिद्धान्तों के अनुसार कबीर-पन्थ के लोगों ने अपने साहित्य का संग्रह किया और अपनी एक आचार संहिता का निर्माण किया।

कबीर पन्थ के अनुयायियों की संख्या कई लाख मानी जाती है।

कबीला

प्राचीन युग में जब संसार में कहीं पाषाण-युग और कहीं धातु-युग के बीच मानव का विकास हो रहा था और खेती-बारी का पर्याप्त विकास नहीं हो पाया था उस समय एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमने वाले खानाबदोश मनुष्यों के समूह को 'कबीला' कहा जाता था।

ये कबीले संगठित होकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहते थे। इनका प्रधान व्यवसाय पशु-पालन और शिकार करना होता था। ये कबीले संगठित होकर आपस में एक दूसरे से लड़ते भी रहते थे और हारने वाले कबीले के पुरुषों और स्त्रियों को अपने दास दासी बना लेते थे।

वैसे कबीला प्रथा मनुष्य की आदिम अवस्था में प्रायः सभी देशों में प्रचलित थी मगर इसका सब से ज्यादा विकास और सबसे ज्यादा स्थायित्व मध्य एशिया में दिखाई पड़ता है। इस भू भाग ने इतिहास के अन्तर्गत इसे बड़े-बड़े शक्तिशाली कबीलों की स्थापना और उनके द्वारा बड़े बड़े साम्राज्यों का संगठन देखने को मिलता है।

ईसा से पूर्व ८ वर्ष से लेकर ईसा से पूर्व १०४ वर्ष तक मध्य एशिया में 'शक' जाति के कबीलों का प्राधान्य हम देखने को मिलता है। इन शक लोगों ने मध्य एशिया में अपने साम्राज्य की स्थापना की थी। अस्थाई पार्थ की रूस पुरातत्त्व विभाग द्वारा हाल में हुई खुदाई में इन शक राजाओं के बड़े सुन्दर स्मारक मिले हैं। शकों के पश्चात् महायगजमी और यूचर 'हूण' कबीलों शक-जाति की प्रधानता को खतम कर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया इन हूण-कबीलों ने अपनी शक्ति और बर्बरता से भारत पर आक्रमण किया और यूरोप में सर्वनाश का जो तांडव मचाया था वह इतिहास प्रसिद्ध है।

हूण-जाति के पतन के पश्चात मध्य एशिया में 'अवार' जाति और 'तुर्क' जाति के कबीले शक्तिशाली हुए।

इसके पश्चात् इस्लाम के उदय ने अफगानिस्तान के बहुत से कबीलों को इस्लाम में दीक्षित कर एक मजबूत संगठन स्थापित कर लिया।

१२वीं और १३वी शताब्दी में जो शक्तिशाली कबीले अस्तित्व में आये उनमें चंगेज खाँ का मंगोलियन कबीला चंगेज खाँ के पुत्र यू—ची का सुनहला कबीला—जिसने सन् १२२४ से १४ ई. तक मध्य एशिया के काफी बड़े भाग पर शासन किया—और चंगेज खाँ के पोते 'ओरदा' के द्वारा स्थापित सफेद कबीला—जिसने सन् १२२४ से १४२५ तक शासन किया—विशेष प्रसिद्ध रहे। इन कबीलों ने दूसरे छोटे बड़े कबीलों को हरा कर अपने विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की। मंगोल कबीले के सरदार 'कुबलाई' खाँ ने चीन के साम्राज्य को हथियाकर काफी समय तक वहाँ पर राज्य किया।

इसी प्रकार 'रूरिक' नामक कबीले के एक सरदार ने रूस के विशाल साम्राज्य की नींव डाली।

इस प्रकार इन कबीलों ने सारे मध्य-एशिया में समय-समय पर अपने प्रभाव और शक्ति का विस्तार किया।

भारतवर्ष में भी बहुत सी जंगली जातियाँ कबीलों के रूप में रहती हुई आई हैं। इन जातियों में आसाम का नागा कबीला, कूकी-कबीला, गारो कबीला, बंगाल का सन्थाल कबीला, उड़ीसा का मुंडा कबीला तथा मध्य प्रदेश और गुजरात के भीलों, सासियों और कंजरों के कबीले विशेष प्रसिद्ध हैं। फिर भी यह देखने में आता है कि इन कबीलों ने मध्य एशिया के सुसंगठित और शक्तिशाली कबीलों के समान कभी शक्ति प्राप्त नहीं की। इसका कारण यह है कि इस देश में सुसंगठित राज्य-व्यवस्था चालू रहने से इन लोगों को प्रबलता पैदा करने का अवसर नहीं मिला जब कि मध्य एशिया के इतिहास का अधिकांश भाग अराजकता, घातक युद्ध और मारकाट की घटनाओं से भरा हुआ दिखलाई पड़ता है।

मध्य एशिया के शक, कुषाण और हूण कबीलों ने भारतवर्ष पर आक्रमण करके यहाँ पर अपनी राज्य व्यवस्था कायम की थी। भारत में आकर भारतीय संस्कृति से प्रभावित होकर उसमें ऐसे घुल-मिल गये और यहाँ की संस्कृति और सभ्यता को इस प्रकार से अंगीकार कर लिया कि वे वस्तुतः भारतीय ही हो गये। सम्राट् कनिष्क का शासन इसका एक मूर्त उदाहरण है जिसने भारतीय संस्कृति और बौद्ध धर्म के प्रचार का वही कार्य किया, जिसको उसके पूर्व सम्राट् अशोक कर गये थे।

कमलापति त्रिपाठी

उत्तरप्रदेश सरकार के गृहमंत्री, हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध साहित्यकार और पत्रकार, जिनका जन्म सन् १९०५ में बनारस में हुआ।

श्री कमलापति त्रिपाठी की सेवाएँ राजनैतिक साहित्यिक और पत्रकारिता के तीनों ही क्षेत्र में महत्वपूर्ण हैं।

पत्रकारिता के क्षेत्र में इन्होंने 'आज' (दैनिक) संसार (दैनिक) युगधारा (मासिक) तथा आँधी (मासिक) के समान महत्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं का सफल सम्पादन किया।

साहित्यिक क्षेत्र में इनकी रचनाएँ 'मौर्यकालीन भारत" 'इस्लामी दुनिया का सरताज" "चीन और ध्यान 'पत्र और पत्रकार" बापू और मानवता बन्दी की चेतना' उल्लेखनीय हैं। बापू और मानवता" नामक ग्रन्थ पर इनको मंगलाप्रसाद पुरस्कार प्राप्त हुआ।

साहित्यिक और पत्रकारिता के क्षेत्र ही की तरह राजनैतिक और शासकीय क्षेत्र में भी इनकी गतिविधि बड़ा महत्व रखती है।

इनका राजनैतिक जीवन सन् १९२ के सत्याग्रह आन्दोलन के साथ ही प्रारम्भ होता है। तब से लेकर सन् १९४२ तक इन्होंने बराबर देश की सक्रिय राजनीति में अपना महत्वपूर्ण भाग अदा किया।

सबसे पहले केवल सोलह वर्ष की अवस्था में सन् १९२१ के आन्दोलन में ये पकड़े गये और जेल में सजा काटी। उसके पश्चात् सन् १९–१२ के नमक-सत्याग्रह आन्दोलन के समय में भी अपनी निर्भीकता के कारण ये जेल में गये। सन् ४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में भी अपने सक्रिय सहयोग के कारण ये ब्रिटिश सरकार

के कोपभाजन होकर जेल में गये जहाँ से सन् १९४५ में इनका छुटकारा हुआ।

स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् ये संविधान परिषद् में सम्मिलित किये गये और उसके पश्चात् सन् १९४९ से बराबर उत्तरप्रदेश के शासन में अपना सक्रिय सहयोग दे रहे हैं। सन् १९५२ में पं० कमलापति त्रिपाठी उत्तर प्रदेश के शासन में सिंचाई और सूचना विभाग के मन्त्री हुए। सन् १९५७ के चुनाव में विजयी होकर नये मंत्रिमण्डल में ये गृह, शिक्षा, सूचना और हरिजन-कल्याण के मन्त्री बनाये गये। सन् १९६२ के चुनाव में फिर विजयी होकर ये उत्तरप्रदेश के वित्त विभाग के मन्त्री बनाये गये।

श्री कमलापति त्रिपाठी साहित्यिक क्षेत्र की ही तरह राजनीति और शासन के क्षेत्र में भी यशस्वी रहे हैं।

कमलारत्नम्

संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी भाषा की विदुषी साहित्यकार जिनका जन्म सन् १९१४ में हुआ।

श्रीमती कमलारत्नम् भारत के राजदूत पी० रत्नम् की पत्नी हैं। इन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम० ए० की तथा लन्दन विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। इनकी साहित्यिक रचनाओं में 'सोवियत रूस में भारतीय भाषाओं का अध्ययन" 'कालिदास और उनके समय की नारी-समस्या" 'दिनकर और उनका काव्य' महत्त्वपूर्ण हैं। अंग्रेजी में भी इन्होंने 'बुद्ध चरितम्" और 'बाल रामायण" की रचनाएँ की हैं। 'दिनकर की कविताओं का अंग्रेजी अनुवाद करने में भी ये प्रयत्नशील हैं।

कमाल नामिक
(Namik Kamal)

उन्नीसवीं सदी के मध्य में तुर्की का एक राष्ट्रीय और क्रान्तिकारी कवि।

जिन दिनों कमाल नामिक तुर्की में हुआ उन दिनों फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति की लहर तुर्की में भी पहुँच चुकी थी और तुर्की में भी राष्ट्रीयता और आजादी की भावनाएँ व्यापक रूप से प्रसारित हो रही थीं। कमाल नामिक इन्हीं भावनाओं का प्रतीक था। उसका 'वतन" नामक नाटक बहुत प्रसिद्ध हुआ। जब वह इस्तम्बूल के थियेटर में खेला जा रहा था उस समय तुर्की का सुलतान भी उसे देख रहा था। उस नाटक को देखते-देखते उसे क्रोध आया और उसने थियेटर को बन्द करवा दिया। नाटक बन्द कर दिया गया और कमाल को तुर्की से निर्वासित कर दिया गया। जब कमाल नामिक के नाटक और कविताएँ बन्द कर दी गयीं तो कई वर्षों तक लोग उनको हाथों से लिख-लिख कर छिपे तौर पर प्रचारित करते रहे।

कमालपाशा

तुर्की का युग प्रवर्तक राष्ट्रउद्धारक और अर्वाचीन तुर्की राष्ट्र का महान निर्माता अतातुर्क (तुर्की का राष्ट्रपिता) कमालपाशा। जिसका जन्म सन् १८८१ में सालोनिका नामक स्थान पर हुआ और जिसकी मृत्यु सन् १९३८ में हुई।

जिस समय कमालपाशा क्षेत्र में आया उस समय तुर्की की राजनैतिक स्थिति अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण हो रही थी। सन् १९१८ में प्रथम महायुद्ध के समय जर्मनी की पराजय के पहले ही तुर्की पस्त हो चुका था और उसने मित्रराष्ट्रों के साथ युद्धविराम सन्धि कर ली थी। सारा देश छिन्न-भिन्न हो चुका था और सरकार की सम्पूर्ण व्यवस्था टूट चुकी थी। इराक तथा अरबी देश तुर्की से बिल्कुल अलग कर दिये गये थे और स्वयं कुस्तुन्तुनिया पर भी मित्र-राष्ट्रों का कब्जा था और ब्रिटेन के जंगी जहाज इस शहर के किनारे समुद्र में लंगर डाले पड़े हुए थे। चारों तरफ अंग्रेज, फ्रेंच और इटालियन सैनिक नजर आते थे। तुर्की किले खाली किये जा रहे थे और सभी तुर्की सेनाओं से हथियार रखवाये जा रहे थे। नौजवान तुर्की नेता अनवरपाशा और तलअत बेग अन्य देशों को भाग चुके थे। सुलतान की गद्दी पर कठपुतली सुलतान और खलीफा वहीदुद्दीन बैठा हुआ था और 'तुर्की पार्लमेंट' भंग कर दी गयी थी। इटली युद्ध, बालकान युद्ध और प्रथम महायुद्ध

इस प्रकार आठ वर्षों के लगातार युद्ध ने टर्की की कमर तोड़ दी थी। सारा राष्ट्र और वहाँ की जनता निरकुंश बेदम हो चुके थे और अपने आपको वहनसीबी के हवाले छोड़ कर मित्र राष्ट्रों के किस्मत तोड़ फैसले का इन्तजार कर रहे थे। इस प्रकार "यूरोप का यह रोगी" अपना आखिरी दम तोड़ चुका था।

इस नष्टप्राय राष्ट्र की राख के ढेर में से एक चिनगारी के रूप में कमालपाशा प्रकट हो रहा है। यह एक किसान का बेटा था। बचपन में अत्यन्त उद्दण्ड और उपद्रवी था। फौजी स्कूल में भरती होकर इसने सैनिक शिक्षा ग्रहण कर ली। वहाँ से यह सेकेण्ड लेफ्टिनेंट का पद लेकर कुस्तुन्तुनिया के कालेज में भेज दिया गया।

कुस्तुन्तुनिया में कमालपाशा ने गुप्त रूप से 'वतन' नामक एक विद्रोही दल का संगठन कर उसके द्वारा शस्त्रों का संग्रह करवा कर एशियामाइनर के अनातोलिया नामक स्थान पर इकट्ठा करना शुरू किया। अंग्रेज लोग कमालपाशा की चालों को पनी शङ्का की निगाह से देख रहे थे और सुलतान से शिकायत कर रहे थे। यह देखकर सुलतान ने दूर भेजने के इरादे से कमालपाशा को अनातोलिया की सेना का इन्सपेक्टर बना कर भेज दिया।

कमालपाशा को यह एक सुनहरा अवसर प्राप्त हुआ क्योंकि उसका शस्त्रों का संग्रह अनातोलिया में ही था। यहाँ पर आकर उसने तेजी से अपना संगठन करना प्रारंभ किया और वहाँ के सैनिक अफसरों को अपना तरफ मिलाने का प्रयत्न करने लगा। प्रति दिन होने वाली घटनाएँ भी इस महान् व्यक्ति के पक्ष में आ रही थीं।

इसी बीच एक महत्वपूर्ण घटना ने सारे घटनाचक्र को एक नया मोड़ दे दिया। सन् १९१९ में इटली की सरकार ने इंगलैंड से हुए किसी पुराने समझौते के आधार पर एशियामाइनर के स्मरणा नामक स्थान पर अपने सैनिक उतारना प्रारम्भ किया। यह बात अंग्रेजों और फ्रांस वालों को बिलकुल पसन्द नहीं आई। क्योंकि वे उस समय इटली को अधिक बढ़ावा नहीं देना चाहते थे।

तब इन्होंने यूनान के प्रधान मंत्री वेनिजेलास और वहाँ के मशहूर व्यवसायी "सर बेसिल जहारॉफ" के साथ साठगाँठ करके स्मरणा पर यूनानी सैनिकों को उतर कर कब्जा करने की इजाजत दे दी ताकि वे इटालियन सैनिकों को न घुसने दें।

इस समझौते के अनुसार मई सन् १९१९ में यूनानी सैनिक अंग्रेजों, फ्रेंच और अमरीकी जहाजी बेड़े की सुरक्षा में स्मरणा के तट पर उतरे। इन सैनिकों ने वहाँ उतर कर वहाँ की जनता पर अमानुषिक अत्याचार करना प्रारम्भ किये। इससे टर्की जनता के हृदय में क्रोध की भयंकर अग्नि प्रज्वलित हो उठी। टर्की की सेना के अनेक वरिष्ठ अफसर जो अब तक कमालपाशा का साथ देने में हिच किचा रहे थे वे भी अब इस आन्दोलन में शामिल हो गये।

सितम्बर १९१९ में अनातोलिया के 'सिवास' नामक स्थान पर विरोधी आन्दोलन के चुने हुए प्रतिनिधियों की एक कांग्रेस हुई। इस कांग्रेस में टिर्की के इस आन्दोलन को स्वीकृत कर लिया गया और कमालपाशा के नेतृत्व में एक कार्य समिति बनाई गई और मित्र राष्ट्रों के साथ सुलह की न्यूनतम शर्तों का 'एक राष्ट्रीय करार' स्वीकार किया गया जिसका आधार पूर्ण स्वतन्त्रता रक्खा गया।

इन घटनाओं का सुलतान पर भी असर पड़ा और उसने नये चुनाव करवाकर नवीन पार्लमेंट स्थापित करना स्वीकार किया। नये चुनावों में कमालपाशा के दल की भारी विजय हुई और कमालपाशा दल के रऊफबेग नामक व्यक्ति के नेतृत्व में इस्ताम्बूल में जनवरी १९२ के दिन नई पार्लमेंट का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। कमालपाशा इसमें नहीं गया।

इस पार्लमेंट ने पहली ही बैठक में उस "राष्ट्रीय करार" को पास कर दिया, जिसका निर्माण सिवास कांग्रेस में किया गया था। इन गतिविधियों को देखकर अंग्रेज सरकार चौकन्नी हो गई, जिसके फलस्वरूप मार्च महीने में अंग्रेज सेनाएँ इस्ताम्बोल (कुस्तुन्तुनिया) नगर में घुस आयी। उसने शहर पर कब्जा कर लिया और रऊफबेग सहित पार्लमेंट के प्रमुख डिप्टियों को गिरफ्तार कर माल्टा भेज दिया।

अब टर्की में फिर से उथलपुथल फैल गई। पार्लमेंट के भाग हुए डिप्टी में अंगोरा पहुँचकर पार्लमेंट की बैठक

की और इसे टर्की की राष्ट्रीय धारा सभा घोषित कर अपने को टर्की देश की सरकार घोषित कर दिया।

इधर टर्की के सुलतान ने जो मुसलमानों का धर्म नेता भी था राष्ट्रीय और धार्मिक दोनों दृष्टियों से कमाल पाशा को 'बागी' घोषित कर दिया और घोषणा कर दी कि जो व्यक्ति कमालपाशा और उसके साथियों को हत्या कर देगा वह धार्मिक कर्म का पालन करेगा और लोक-परलोक दोनों में पुण्य का भागी होगा।

इस प्रकार धार्मिक और राजनैतिक दोनों दृष्टियों से कमालपाशा के विरुद्ध खलीफा सुलतान के द्वारा फतवा दे देने से कमाल की स्थिति बड़ी संकटापन्न हो गई। उसको तीन मोर्चों पर एक साथ अत्यन्त संघर्षमयी स्थिति का सामना करना पड़ रहा था। घर के अन्दर उसको खलीफा के फतवे के कारण बड़ा मुसीबत का सामना करना पड़ रहा था। दूसरी तरफ विदेशी यूनानी हमलावरों की चढ़ाई का मुकाबला करना था। तीसरी तरफ सुलतान तथा यूनानी हमलावरों की पीठ ठोंकनेवाले मित्र राष्ट्रों की शक्ति से उसका मुकाबला था।

इसी बीच अगस्त सन् १९२० में मित्र राष्ट्रों ने 'सेवर की सन्धि' के नाम से जो सन्धिपत्र तैयार किया उसमें एक स्वाधीन राष्ट्र की हैसियत से टर्की को मौत की सजा सुना दी गई। इस सन्धिपत्र से सारे टर्की में विषाद का वातावरण छा गया और प्रार्थनाओं और हड़ताल के साथ राष्ट्रीय मातम का दिवस मनाया गया। फिर भी सुलतान के प्रतिनिधियों ने सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। मगर कमालपाशा के राष्ट्रवादी दल ने उसे घृणा के साथ ठुकरा दिया। इससे जनता के दिल में इस दल के प्रति श्रद्धा की भावना पैदा हो गई और इसका बल दिन प्रति दिन बढ़ने लगा और सोवियट रूस ने भी हथियारों तथा धन से उसको मदद पहुँचाना प्रारंभ कर दिया।

सन् १९२१ की ग्रीष्मऋतु में यूनानियों ने राष्ट्रीय टर्की की राजधानी 'अंगोरा' पर कब्जा करने का एक भारी प्रयत्न किया। सकरिया नदी के समीप टर्की और यूनानी सेनाओं में तीन सप्ताह तक भयंकर युद्ध होता रहा। इस लड़ाई में यूनानियों के पैर उखड़ गये और वे पीछे हट गये।

इस विजय के फलस्वरूप धारा का रुख ही पलट गया। इस विजय से प्रभावित होकर फ्रांस और रूस ने अंगोरा की कमालपाशा सरकार से सन्धि कर ली और फ्रांस ने उसे मान्यता भी दे दी। इससे कमाल पाशा की सरकार को बहुत बड़ा नैतिक बल मिल गया।

सन् १९२२ के अगस्त महीने में टर्की सेना ने पूरी सावधानी के साथ यूनानियों पर हमला बोल दिया और उनको टर्की से निकाल बाहर किया। इसके बाद कमाल-पाशा ने अपनी सेनाओं को लेकर सुलतान की राजधानी 'इस्तम्बूल' पर धावा बोल दिया। अंग्रेज सैनिकों ने इस सेना को रोकने का प्रयत्न किया और अन्त में एक ऐसी सन्धि मंजूर की गई, जिसमें कमाल पाशा की करीब-करीब सभी शर्तों को मंजूर कर लिया गया।

इसके बाद 'लोजान' में एक शान्ति सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में कमाल पाशा के राष्ट्रीय करार में लिखित तमाम टर्की माँगों का एक मांग को छोड़कर मंजूर कर लिया गया और जुलाई सन् १९२३ ई० में इस सन्धि पत्र पर दस्तखत कर दिये गये।

इसके कुछ समय पश्चात् यूनानी लोगों के प्रस्ताव पर टर्की और यूनान के बीच में आबादी की अदला बदली हुई। अनातोलिया में बाकी बचे हुए यूनानी यूनान भेज दिये गये और उनके बदले में यूनान में रहने वाले तुर्क बुला लिये गये। इस तरह १५ लाख व्यक्तियों की अदला बदली हुई। इसके परिणामस्वरूप टर्की और यूनानियों में हमेशा के होने वाले झगड़े बन्द हो गये। यूनानियों के निकल जाने से सारा टर्की एक नस्लवाला देश बन गया और शायद सारे यूरोप और एशिया में टर्की के समान एक नस्लवाला देश कोई दूसरा नहीं है।

सन् १९२३ में टर्की-प्रजातन्त्र की बाकायदा घोषणा हो गई और उसकी राजधानी 'अंगोरा' में रखी गयी। उसका पहला राष्ट्रपति मुस्तफा कमालपाशा चुना गया।

नवीन टर्की का निर्माण

सत्ता के हाथ में आते ही कमालपाशा ने टर्की राष्ट्र का पश्चिमीकरण करना शुरू किया। सबसे पहले उसने खलीफा की धर्मसत्ता को नष्ट करने का निश्चय किया और उसका अवसर भी उसे जल्दी ही मिल गया। क्योंकि इसी

समय लन्दन से भारत के भूतपूर्व न्यायाधीश अमीर अली और मुसलमानों के नेता सर आगा खाँ ने भारत के करोड़ों मुसलमानों के प्रतिनिधित्व का दावा करते हुए एक संयुक्त पत्र कमालपाशा के पास भेजा। जिसमें खलीफा के साथ किये गये दुर्व्यवहार का विरोध किया गया और अनुरोध किया गया कि खलीफा की प्रतिष्ठा कायम रखी जाय और उसके साथ अच्छा व्यवहार किया जाय।

इसकी नकलें उन्होंने इस्तम्बूल के कुछ पत्रों को भी भेजी और तमाशा यह हुआ कि असली पत्र के अंगोरा पहुँचने से पहले ही उसकी नकलें अखबारों में प्रकाशित हो गईं। इससे कमालपाशा को बड़ा क्रोध आया। उसने आगा खाँ का अंग्रेजी का एजेण्ट बता कर उनको जनता की निगाह में गिरा दिया और जिन अखबारों ने उस पत्र को छापा था, उनको कठोर दण्ड दिया गया।

इसके बाद उसने मार्च सन् १६२४ में 'खिलाफत को समाप्त करने का बिल नयी सभा में पेश कर दिया और वह उसी दिन पास भी कर दिया गया।

इस प्रकार कमालपाशा ने इतिहास के रंगमंच से एक ऐसी शक्तिशाली संस्था का अन्त कर दिया जिसने कई शताब्दियों तक मध्य एशिया के रंगमंच पर बड़े महत्वपूर्ण अभिनय किये थे।

खिलाफत को समाप्त कर कमालपाशा ने तुर्की को धर्म निरपेक्ष राज्य घोषित कर दिया।

इसके पश्चात् उसने तुर्की में लगाई जानेवाली 'फैज टोपी' के विरुद्ध कदम उठाया। यह टोपी किसी रूप तक इस्लामी धर्म की प्रतीक बन गई थी। फैज टोपी को पहनना वहाँ पर फौजदारी जुर्म करार दे दिया गया।

दूसरे कदम में कमालपाशा ने तुर्की के तमाम मठों और धर्म स्थानों को बन्द कर दिया और उनकी सम्पत्ति राज्य के लिए जब्त कर ली गई। जो दरवेश इनमें रहते थे उन्हें कह दिया गया कि वे अपनी जीविका के लिए मजदूरी करें। इस्लामी धर्म की शिक्षा देनेवाले तमाम मदरसों को बन्द करके उनके स्थान पर धर्मनिरपेक्ष स्कूल खोल दिये गये।

इसके साथ ही तुर्की के कानून में आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया गया। अभी तक वहाँ पर इस्लामी शरीअत के अनुसार कानून की पाबन्दी होती थी। उसे बन्द कर उसकी जगह स्विट्जरलैण्ड का जाब्ता दीवानी इटली का जाब्ता फौजदारी और जर्मनी का जाब्ता व्यापारी कानून पूरे के पूरे लागू कर दिये गये। इसके फलस्वरूप विवाह उत्तराधिकार आदि पर लागू होनेवाले व्यक्तिगत कानून में पूरा परिवर्तन हो गया। बहु विवाह की प्रथा भी बन्द कर दी गई।

इसके पश्चात् कमालपाशा ने स्त्रियों की पर्दा प्रथा और बुर्के के विरुद्ध जोरदार आदेश निकाला, जिसके परिणाम स्वरूप सैकड़ों वर्षों से प्रचलित स्त्रियों का बुरा देखते देखते गायब हो गया। पर्दे में पली-पोसी हुई स्त्रियों की सारी पीढ़ी ने कुछ वर्षों में एक दम आगे बढ़ कर वकील, अध्यापक, डाक्टर, न्यायाधीश और पुलिस का काम भी सम्भाल लिया।

उस समय तुर्की भाषा अरबी लिपि में लिखी जाती थी। कमाल पाशा इस लिपि को बहुत कठिन समझता था अतएव उसने सोवियत रूस के अनुकरण पर तुर्की भाषा को अरबी लिपि की जगह लेटिन-लिपि में लिखी जाने के पक्ष में जोरदार कार्यवाही शुरू कर दी। दो वर्ष की शिक्षा के पश्चात् कानून के द्वारा एक तिथि निश्चित कर दी गई, जिसके बाद अरबी लिपि का उपयोग वर्जित कर दिया गया और उसके स्थान पर लेटिन लिपि अनिवार्य कर कर दी गई। अखबार, किताबें वगैरह हर एक चीज लेटिन लिपि में निकालना जरूरी कर दिया गया।

अरबी और फारसी भाषा के जो शब्द लेटिन लिपि में ठीक से नहीं लिखे जा सकते थे ऐसे शब्दों को तुर्की शब्द-कोष से निकाल दिया गया और उनकी जगह पर विशुद्ध तुर्की शब्द रखे गये।

इस प्रकार इस विश्व प्रसिद्ध अधिनायक ने युरोप के कहलाए रोगी तुर्की के समान पिछड़े हुए राष्ट्र को बहुत थोड़े समय में एक नवीन और उन्नतिशील राष्ट्र के रूप में बदल दिया और इसी से उसको नवीन तुर्की राष्ट्र का पिता या अतातुर्क कमाल के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

सन् १६३८ में इस महान् क्रान्तिकारी पुरुष की मृत्यु हुई।

कमलाकान्त विद्यालंकार

बंगाल के एक प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता जिनका जन्म १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ।

सन् १८ ई. में कमलाकान्त विद्यालंकार 'एशियाटिक सोसायटी' के पण्डित-पद के ऊपर प्रतिष्ठित थे। उस समय इस सोसायटी के अध्यक्ष 'प्रिन्सेप' नामक एक अंग्रेज विद्वान थे। प्राचीन शिलालेख, ताम्रपत्र और दस्तावेज इत्यादि को पढ़कर उनका अर्थ करने का काम पं. कमलाकान्त के जिम्मे था।

इस विषय में काम करते करते इनका ज्ञान बहुत बढ़ गया था। इनकी योग्यता का पता उन लोगों पर दिल्ली और इलाहाबाद के दो लाट स्तम्भों पर प्राचीन लिपि में लिखे हुए लेखों को पढ़ने में सर विलियम जोन्स, कोलब्रुक, होरेस हेमन विल्सन इत्यादि धुरन्धर पुरातत्वज्ञ भी असमर्थ रहे। तब कमलाकान्त ने देहली, साँची, गिरनार इत्यादि स्थानों के शिलालेखों की लिपि से मिलान कर करके उन लौह-स्तम्भों के एक एक अक्षर का मतलब निकाल लिया।

सन् १८३७ ई. में उनका निकाला हुआ अर्थ मान्य किया गया जिससे भारत के प्राचीन इतिहास पर एक नवीन प्रकाश पड़ा। मगर इस अन्वेषण का सारा यश मि. प्रिंसेप को मिला और उनका नाम अमर सा और यूरोप में अमर हो गया। फिर भी मि. प्रिंसेप ने अपनी पुस्तक में कमलाकान्त को ही इसका यश दिया है।

कमलाकर भट्ट

संस्कृत के एक प्राचीन ग्रन्थकार, जिनका समय ईसा की १७ वीं सदी में था।

कमलाकर भट्ट संस्कृत भाषा के एक नामी विद्वान और ग्रन्थकार थे। सन् १६१२ ई. में इन्होंने निर्णयसिन्धु नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके अतिरिक्त 'शान्ति-निर्णय', आचार दीप, धर्म-विचारतत्व इत्यादि पचासों ग्रन्थों की इन्होंने रचना की थी।

कमेनियस

जर्मनी का एक सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री और दार्शनिक जिसका जन्म सन् १५९२ में और मृत्यु सन् १६७० में हुई।

बचपन में ही माता पिता का देहान्त हो जाने से कमेनियस का लालन पालन बोहेमिया के चर्च के द्वारा किया गया। हेरबर्न के कॉलेज में कमेनियस ने उच्च शिक्षा प्राप्त की। वहाँ पर वे एक प्रोफेसर के सम्पर्क में रह कर उसने विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान भी प्राप्त किया और बाद में उसी कॉलेज में अध्यापक नियुक्त हो गया।

सन् १६२१ से चालू होनेवाले तीस वर्षीय युद्ध में कमेनियस का सारा परिवार नष्ट हो गया। सन् १६४१ में उसे स्वीडेन के रीसर्च इन्स्टीट्यूट में शिक्षा सम्बन्धी शोध कार्यों के लिए बुलाया गया। सन् १६५ तक वहाँ काम करके वह रिटायर्ड हो गया और सन् १६७० में एम्स्टर्डम के निकट एक गाँव में उसकी मृत्यु हो गई।

कमेनियस के शिक्षा-विज्ञान सम्बन्धी अनुसंधान बड़े महत्वपूर्ण माने जाते हैं। कमेनियस ने देखा कि सामाजिक विषमता के दुर्भेद्य चक्र में सारा समाज बुरी तरह फँसा हुआ है। शिक्षा ही इस चक्र से उसका उद्धार कर सकती है। इस *विषमता* के विरुद्ध उसने अपने 'ग्रेट डायडेक्टिक' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि—

'शिक्षा केवल धनी और प्रभावशाली लोगों के लिए ही नहीं वरन् गरीब अमीर, लड़के लड़की, नर नारी और नगरों तथा देहातियों सबके लिए समान रूप से आवश्यक है।'

इस प्रकार उसने सार्वलौकिक एवं सार्वभौमिक शिक्षा की विचारधारा का जन्म देकर शिक्षा की वैयक्तिकता को मिटा दिया।

कमेनियस ने देखा कि वर्तमान शिक्षालय बालक के लिए भय के स्थान बने हुए हैं। वे मस्तिष्क के कसाईघर बने हुए हैं। उसने उनमें महत्वपूर्ण परिवर्तन की योजना बनाते हुए बतलाया कि पाठशाला वह सार्वभौमिक स्थान है जिसके द्वारा प्रत्येक बालक को पारस्परिक मिलन एवं उपयुक्त विकास का अवसर मिलता है। बालकों की

पौधे के विकास के लिए यह उत्कृष्ट-स्थल है। पाठशाला का आन्तरिक और बाह्यस्वरूप मनोहारी, आँखों के लिये आकर्षक आनन्द दायक और भय से रहित होना चाहिए। (School should be pleasant place and attractive to the eyes—both within and without)

पाठ्यक्रम—कमेनियस ने स्कूलों के पाठ्यक्रम में कितने ही ऐसे सार्वभौमिक विषयों को स्थान दिया जिससे समाज के सर्वांगीण विकास में सहायता मिल सके। उसने आयु के हिसाब से पाठ्यक्रम के चार स्तर स्थापित किये।

(१) पहला स्तर—यह ६ वर्ष के बालकों के लिए बनाया गया। यह शिक्षा घर पर ही माता के द्वारा दी जानी चाहिए। इस समय इन्द्रिय प्रशिक्षण पर विशेष बल देना चाहिए।

(२) दूसरा स्तर—६ से १२ वर्ष तक के बालकों के लिए बनाया गया। इस स्तर में बालकों की कल्पना शक्ति और स्मरण शक्ति के विकास की पूर्ण व्यवस्था होनी चाहिए। इस काल में बालकों को गणित, इतिहास, भूगोल, कला, नीति और धर्म सम्बन्धी प्रारम्भिक शिक्षा को मातृ भाषा के द्वारा पढ़ाया जाना चाहिए।

(३) तीसरा स्तर—१२ से १८ वर्ष तक के बालकों के लिए है। यह शिक्षा लेटिन विद्यालयों के द्वारा दी जानी चाहिए। इस काल में बालकों को मातृभाषा के अलावा अन्य भाषाओं का ज्ञान भी कराना चाहिए।

(४) चौथा स्तर—१८ से २४ वर्ष तक के युवकों के लिए है। यह काल विश्वविद्यालय की शिक्षा का काल है। प्रत्येक राज्य में एक विश्वविद्यालय होना चाहिए जिसमें विभिन्न विषयों का शोध कार्य किया जाये। इस शिक्षा के अन्दर योग्यतम छात्रों को ही प्रवेश देना चाहिए।

सह शिक्षा

सह-शिक्षा के सम्बन्ध में कमेनियस का यह विचार था कि छात्रों और छात्राओं का बचपन में ही एक दूसरे के साथ रहना मनोवैज्ञानिक है। यदि उनकी शिक्षा साथ साथ नहीं होगी तो वे एक दूसरे को मनोवैज्ञानिक समझ नहीं सकेंगे। आगे चल कर भावी जीवन में रहने के लिए पूर्ण तैयारी के लिए यह शिक्षा नितान्त आवश्यक है।

पाठ्यक्रम की पाठ्य विधियों का विवरण करते हुए कमेनियस ने चार प्रकार की पाठ्य विधियों का निर्देश किया है। (१) इन्द्रिय द्वारा ज्ञानार्जन करना (२) प्रयोगों के द्वारा शिक्षा देना, (३) ज्ञान के विकास के हेतु भाषा का आश्रय लेना (४) निगमनात्मक अथवा वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करना तथा तथा आर्बिस पिक्टस के द्वारा सहायक उपकरण के माध्यम से विश्व के समस्त विषयों का स्पष्ट तथा स्थूल ज्ञान देने का प्रयत्न करना।

शारीरिक शिक्षा पर बल देते हुए कमेनियस ने 'व्यायामशाला' की स्थापना पर बहुत बल दिया है। उसने कहा है कि—'स्वस्थ बालक घर के लिए ईश्वर की दी हुई बहुमूल्य निधि है।"

शिक्षा विज्ञान में कमेनियस का देन

कमेनियस की प्रशंसा करते हुए मनरो ने कहा है कि 'शिक्षा के क्षेत्र में कमेनियस का वही स्थान है जो विज्ञान के क्षेत्र में कापरनिकस या न्यूटन का है। इसी व्यक्ति ने सबसे पहले सार्वभौमिक शिक्षा का समर्थन किया। 'फ्रोबेल' के किन्डर गार्टन में निहित भाव एवं विशेषताएँ कमेनियस की ही देन है। पेस्टालाजी के आन्तरिक सिद्धान्त पर भी कमेनियस की ही छाप है। शालाओं में प्रेमपूर्ण वातावरण एवं मनोरंजन प्रधान शिक्षा की प्रेरणा देकर कमेनियस ने समाज का बड़ा उपकार किया। इसीलिए उसे १७ वीं सदी के शिक्षा पथ प्रदर्शक की उपाधि प्रदान की गई।

कमेनियस की मृत्यु के पश्चात् उसके विचारों का यूरोपीय देशों में बहुत प्रचार हुआ। जर्मनी में सन् १८८१ में एक समिति का निर्माण हुआ, जिसमें उसके विचारों के आधार पर शोध कार्य प्रारम्भ किया गया। स्कूलों में शिक्षा दान प्रणाली इसी के आधार पर किया गया। पाठ्य पुस्तकों में परिवर्तन किया गया। पाठ्य के घंटे छोटे छोटे निश्चित किए गए। धार्मिक शिक्षा के प्रसार पर बहुत बल दिया गया। ... शिक्षा के लिए ५ वर्ष से १२ वर्ष तक की आयु ... अनिवार्य ... वर्ष के ... में पढ़ने वाली शिक्षा ... के प्रति

पत्न में आ गई, जिसकी वजह से शिक्षा म उत्तरदायित्व की भावना का सूत्रपात हुआ।

कम्बोडिया (कम्बोज)

भारत वर्ष के दक्षिण पूर्व म इण्डोचाइना द्वीप के अन्तर्गत सबसे प्राचीन भारतीय उपनिवेश जिसको आज कल 'कम्बोडिया' कहते हैं।

प्राचीन इतिहास

प्राचीन परम्पराओं के अनुसार इस राज्य की स्थापना भगवान् शिव की प्रेरणा से कम्बु-स्वायम्भुव ने की थी। इससे पहले यहाँ पर नाग-जाति के लोगों का शासन था। कम्बु ने नागराज की कन्या 'मीरा' से विवाह कर कम्बुज राजवंश की नींव डाली। आगे चल कर तीसरी शताब्दी के करीब इस वंश म श्रुत वर्मन नामक राजा हुआ जिसने कम्बोज देश को फूनान' की अधीनता से मुक्त किया।

इसके पश्चात् सन् ६२४ के करीब भव वर्मा नामक राजा ने ख्मेर नामक एक नवीन राजवंश की स्थापना की और भवपुर नामक राजधानी की स्थापना की।

भव वर्मा के पश्चात् उसका भाई महेन्द्र वर्मा और महेन्द्र वर्मा के पश्चात् उसका पुत्र ईशान वर्मा गद्दी पर बैठा।

ईशान वर्मा अत्यन्त पराक्रमी और महत्वाकांक्षी शासक था। इसने अपने राज्य की सीमाओं को बहुत दूर तक फैलाया और कम्बोडिया तथा कोचीन चीन का सारा प्रदेश अपने राज्य म मिला लिया। इस राजा ने 'ईशान पुर' नामक एक नई राजधानी का निर्माण करवाया। चम्पा के राजा जगद्धर्म के साथ ईशान वर्मा ने अपनी कन्या का विवाह किया था।

ईशान वर्मा के पश्चात् भव वर्मा द्वितीय और जय वर्मा प्रथम इस राजवंश में हुए, मगर इनके समय म इस राज्य की स्थिति बहुत कमजोर हो गई और सन् ६७४ म जावा के राजा ने आक्रमण करके कम्बोज पर अधिकार कर लिया।

८वीं सदी तक यह जावा के अधिकार म रहा किन्तु सन् ८०२ में प्राचीन राजवंश के जयवर्मन द्वितीय ने कम्बोज पर आक्रमण करके कम्बोज को जावा से छीन लिया।

जय वर्मन द्वितीय अपने समय का बड़ा प्रतापी और साहसी राजा था। शिला लेखों में इसको 'कम्बु राजेन्द्र' और उसकी रानी को 'कम्बुज राजलक्ष्मी' के नाम से सम्बोधित किया गया है। यह राजा 'हिरण्यदाम' नामक एक भारतीय ब्राह्मण का शिष्य था और उसने हिरण्य दाम के द्वारा स्थापित देवराज सम्प्रदाय को कम्बोज का राजधर्म बनाया था। इसी राजा ने अंगकोर नामक सुप्रसिद्ध नगर का निर्माण प्रारम्भ किया था।

जय वर्मन द्वितीय के पश्चात् इन्द्रवर्मा कम्बोज की राजगद्दी पर आया। उसने बहुत से मन्दिर और तालाब बनवाये।

इन्द्र वर्मा के पश्चात् सन् ८८९ में यशोवर्मा कम्बोज की राजगद्दी पर बैठा। इसने सन् ९०८ तक शासन किया। यशोवर्मा अपने समय का बड़ा विद्वान और साहित्य प्रेमी नरेश था। इसके समय में हिन्दू धर्म साहित्य तथा कला की बड़ी प्रगति हुई। इसके समय के बहुत से शिला-लेख प्राप्त हुए हैं। उनसे मालूम होता है कि इसने 'यशो-धरपुर' नामक राजधानी की स्थापना की थी। इसी राजा ने जय वर्मन द्वितीय के द्वारा प्रारम्भ किये गये 'अंगकोर' नगर का निर्माण पूरा किया। यह नगर अपनी कारीगरी और सुन्दरता की दृष्टि से सारे पूर्व म प्रसिद्ध हो गया था। इस शहर के पास ही 'अंगकोरवट' नामक एक सुन्दर और विशाल मन्दिर बनवाया गया था जिसकी स्थापत्यकला दर्शनीय थी। अंगकोर संस्कृति का स्वर्ण युग इसी समय से प्रारम्भ होता है। कम्बोज का वैभव इस समय अपनी चरम सीमा पर था।

यशोवर्मा के पश्चात् हर्ष वर्मा और ईशान वर्मा द्वितीय राजा हुए। सन् ९४४ ई० म इस वंश में राजेन्द्र वर्मा नामक राजा हुआ। इसने सन् ९६८ तक राज्य किया। इसके समय के कई संस्कृत शिला लेख इस समय प्राप्त हैं।

राजेन्द्र वर्मा के पश्चात् उसका पुत्र जय वर्मा तृतीय और उसके पश्चात् उदयादित्य वर्मा प्रथम राजा हुआ। उदयादित्य वर्मा ने सन् १० १ ई० तक शासन किया। इस काल म कम्बोज की सीमाएँ बहुत विस्तृत होकर चीन की दक्षिण सीमाओं को छूने लगी थीं। सम्भवतः उनके

साम्राज्य में सम्मिलित हो गया था और उसके राजनैतिक प्रभाव में 'स्याम' और 'उत्तरी मलाया' भी आ गये थे।

इसके पश्चात् इस वंश में सूर्य वर्मा नामक राजा बड़ा प्रतापी हुआ। इसने सारे स्याम को जीत कर दक्षिणी बर्मा पर भी आक्रमण किया। यह राजा बड़ा विद्वान् और बौद्धमत का अनुयायी होने पर भी बड़ा समदर्शी और उदारचेता था। इसके समय में कम्बोज के अन्दर गृहयुद्ध का प्रारम्भ हो गया था।

इसके बाद इस राजवंश में उदयादित्य वर्मा द्वितीय, हर्ष वर्मा तृतीय, उदयादित्य वर्मा, धरणीन्द्र वर्मा और सूर्य वर्मा द्वितीय नामक राजा हुए। सूर्यवर्मा द्वितीय के बाद जयवर्मा सप्तम इस वंश की राजगद्दी पर आया।

जयवर्मा सप्तम इस वंश में बड़ा प्रतापी राजा हुआ। इसने एक बहुत बड़ी सेना का संगठन किया। इसका राज्याभिषेक सन् ११८१ के लगभग हुआ था। जय वर्मा सप्तम की गणना कम्बोज के महान् नरेशों में होती है। इस के समय में कम्बोज का विस्तार अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। इसके समय में कम्बोज में ७९८ मन्दिर, १०२ अस्पताल और १२१ धर्मशालाएँ बनी हुई थीं। इस राजा के पश्चात् कम्बोज की समृद्धि बराबर क्षीण होती गई और पड़ोसी राज्य चम्पा और स्याम, शक्ति-शाली हो गये। इसके बाद कम्बोज का इतिहास अन्धकार में रहा और अन्त में सन् १८५४ ई० में कम्बोज के निरक्ष राजा अङ्क-डुआंग ने इस राज्य को फ्रांस के हाथ में सौंप दिया।

सन् १९४९ तक यह राज्य फ्रांस के अधीन रहा। ८ नवम्बर सन् १९४९ को फ्रांस ने एक समझौते पर दस्तखत कर के कम्बोडिया की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार कर लिया लेकिन उसे 'फ्रेंच यूनियन' के अन्तर्गत ही रखा। इसके लिए वहाँ के राजा नरोत्तम सिहानुक ने अपना राष्ट्रीय आन्दोलन चालू रखा। सन् १९५५ में कम्बोडिया पूर्ण स्वतन्त्र हो गया और उसके पहले प्रधान मन्त्री नरोत्तम सिहानुक बनाये गये।

कम्बोज का सांस्कृतिक महत्व

कम्बोज का प्राचीन इतिहास देखने से पता चलता है कि यह स्थान एक हजार वर्षों तक करीब-करीब भारतीय संस्कृति का केन्द्र रहा और यहाँ के प्रतापी नरेशों ने भारतीय संस्कृति को समृद्ध करने में काफी योग दिया। उनके बनाये हुए सांस्कृतिक नगर, मन्दिर और अन्य कीर्ति कलाएँ आज भी उस समय के वैभवपूर्ण समय की याद दिलाते हैं। उनके द्वारा स्थापित किया हुआ अंग-कोर नगर कला संस्कृति और वैभव की दृष्टि से उस समय समस्त एशिया में एक प्रमुख नगर माना जाता था।

उनके द्वारा स्थापित 'अंगकोरवट' का मन्दिर उस समय सारे दक्षिणपूर्वी एशिया के धर्मप्रेमी लोगों का प्रमुख आकर्षण केन्द्र था। यह मन्दिर कोई एक मील के क्षेत्रफल में बना हुआ था। इसके चारों तरफ बनी हुई प्राचीरें १८०×११ फीट की थीं, जिसके चारों ओर २१ फीट चौड़ी खाई बनी हुई थी। जिसके ऊपर मन्दिर में जाने के लिए बड़ा सुन्दर पुल बना हुआ है।

नैऋत्य कोण से मन्दिर में घुसने पर बायें हाथ पर भीष्म की 'शर-शय्या' का नयनाभिराम दृश्य सामने आता है। जिसके मध्य में भीष्म पितामह शर शय्या पर लेटे हुए हैं। उनकी दोनों ओर मुकुट एवं किरीटधारी कौरव और पाण्डव दल के वीर खड़े हुए हैं। सैकड़ों वर्ष बीत जाने पर भी इन मूर्तियों की स्थापत्यकला में कोई खराबी नहीं आई है। दूर से देखने पर पत्थर में खोदी हुई ये मूर्तियाँ सजीव के समान दिखलाई पड़ती हैं।

मन्दिर के मध्य पश्चिमोत्तर में 'राम-रावण युद्ध' के दृश्य और उत्तर पश्चिम भाग में 'देवासुर-संग्राम' के दृश्य बड़ी ही सुन्दरता से अंकित किये हुए हैं। यहाँ की मूर्तियों में सूर्य और चन्द्रदेव की ज्योतिर्मयी मूर्तियाँ बहुत सुन्दर बनी हुई हैं।

दक्षिण पूर्व भाग में समुद्र मन्थन का दृश्य बनाया गया है जिसमें शिल्पकला, चित्रकला और स्थापत्यकला का ऐसा सुन्दर समन्वय किया गया है कि ऐसा मालूम होता है कि शायद समुद्र मन्थन का ऐसा दृश्य अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होता।

दक्षिण पूर्वी भाग के दूसरे भाग पर 'यमपुरी या नरक' के दृश्य का दिग्दर्शन कराती १६ मूर्तियाँ खोदी हुई हैं।

इस मंच से थोड़ी दूर पश्चिम में एक दूसरे मंच पर कम्बोज के राजाओं और राज-परिवार वालों की मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। ऐसा सुन्दर और आकर्षक दृश्य अन्यत्र देखने को मिलना कठिन है।

अगकोरवट नामक मन्दिर से दक्षिण पूर्व ११ मील की दूरी पर तीन और सुन्दर मन्दिर बने हुए हैं, जिनके नाम 'बकङ्ग' 'प्रह्' और 'लोली' हैं। प्रह् का मन्दिर बहुत प्राचीन है। कम्बोज के राजा इन्द्रवर्मा ने 'हर गौरी-पूजा' के लिए उक्त मन्दिर बनवाया था।

प्रह् नामक स्थान में पास ही पास ६ शिव-मन्दिर और ६ शक्ति मन्दिर बने हुए हैं।

प्रह् से उत्तर कुछ दूरी पर बोती नाम के स्थान में ४ देव मन्दिर बने हुए हैं। वहाँ स्थान-स्थान पर बहुत से टूटे हुए खम्भे पड़े हुए हैं जिससे मालूम होता है कि पहले यहाँ कोई विशाल देव मन्दिर रहा होगा।

कम्बोज-राज यशोवर्मा ने ईसवी सन् ८९१ के लगभग शिव एवं भवानी के निवास उक्त मन्दिर बनवाये थे—ऐसा वहाँ के शिलालेखों से मालूम पड़ता है।

उपरोक्त मन्दिरों के अतिरिक्त कम्बोडिया में और बहुत से मन्दिर बने हुए हैं जिनमें बेयोन नगर का बड़ा मन्दिर शिल्प-नैपुण्य, स्थापत्यकला और चित्रकारी की दृष्टि से अत्यन्त श्रेष्ठ है। अनुपम कला का ऐसा सुन्दर मन्दिर कम्बोज के सिवाय अन्य स्थानों पर कहीं देखने को नहीं मिलता।

बेयोन नगर से पूर्व दिशा में एक मील की दूरी पर 'ख्वन-था पूम' नामक एक बहुत सुन्दर मन्दिर बना हुआ है जिसका संस्कृत नाम ब्रह्म-स्थान होता है। यह मन्दिर आयताकार पद्धति के रूप में बना हुआ है।

हिन्दू मन्दिरों की तरह ही यहाँ बौद्धों के स्मृति-स्थान भी देखने योग्य हैं।

इन सब स्मारकों से पता चलता है कि कम्बोज निवासियों के धर्म, संस्कृति, साहित्य और स्थापत्य-कला सभी क्षेत्रों पर भारतीय सभ्यता की अमिट छाप थी। एक हजार ईसवी तक कम्बोज के अन्तर्गत वैष्णव धर्म और शैव धर्म का बोलबाला रहा और यही धर्म यहाँ के राजधर्म रहे। उसके पश्चात् यहाँ पर बौद्ध-धर्म ने प्रवेश किया और यह यहाँ का राज धर्म हो गया। इसके बाद यहाँ इस्लाम का प्रवेश हुआ।

यहाँ की भाषाओं में 'ख्मेर' और 'अनाम' की भाषाएँ प्रचलित हैं पर अधिकांश में कम्बोज के लोग ख्मेरभाषा का प्रयोग करते हैं।

ख्मेर राजवंश के शासनकाल में यहाँ पर एक नई लिपि का भी आविष्कार हुआ। यह लिपि दक्षिणी भारत की पल्लव और पूर्वी चालुक्य की लिपियों के मेल से बनी हुई है।

कम्बोज का आधुनिक नाम कम्बोडिया है जो सन् १९५५ में फ्रांसीसी आधिपत्य से मुक्त होकर स्वतन्त्र हुआ है। इसका क्षेत्रफल १८१७० वर्गमील है। इसकी उत्तरी और पश्चिमी सीमा पर स्याम, पूर्वी सीमा पर दक्षिणी वियतनाम और दक्षिणी पश्चिमी भाग में स्याम की खाड़ी का तट है।

इस प्रदेश की राजधानी 'मेकांग' और 'टोनलेसाप' नामक नदियों के संगम पर स्थित 'न्यामपेन' नामक नगर में है।

कम्यून

स्वायत्त शासन प्राप्त गाँवों और शहरों के क्षेत्रीय संगठन, जिनको अपने अपने क्षेत्र की व्यवस्था और शासन करने का केन्द्र से पूर्ण अधिकार प्राप्त रहता है। इस व्यवस्था में नगर का प्रत्येक नागरिक अपनी सारी सम्पत्ति 'कम्यून' को सौंप देता है और बदले में अपने सम्मानपूर्ण जीवनयापन के लिए सारी व्यवस्था कम्यून से प्राप्त करता है।

कम्यून की भावनाएँ प्राचीनकाल में भी कई देशों के अन्तर्गत विकसित हुई थीं मगर इन भावनाओं का व्यवस्थित रूप फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बाद विशेष रूप से प्राप्त हुआ।

पेरिस कम्यून

सन् १८७१ में पेरिस-कम्यून (Paris Commune) के आन्दोलन ने एक क्रान्तिकारी रूप ग्रहण किया। उस समय फ्रांस की राजनैतिक स्थिति अत्यन्त डाँवाडोल हो रही थी। सन् ७० में तीसरे नेपोलियन की भयंकर पराजय से वहाँ की सरकार की अयोग्यता पूर्णरूप से साबित कर दी थी और पेरिस के मजदूरों में उस सरकार के प्रति घोर असन्तोष फैल गया था।

सितम्बर सन् १८७ में गम्बेटा की घोषणा के साथ गवर्नमेंट ऑफ नेशनल डिफेंस की स्थापना की गई और इसके तुरन्त बाद ही जर्मन-सेना ने पेरिस पर घेरा डाल लिया। जब कई महीने तक यह घेरा चालू रहा तो पेरिस की जनता अत्यन्त व्याकुल हो गई और उसने नई सरकार के पास स्वायत्त-शासित कम्यून की स्थापना का प्रस्ताव भेजा।

जनवरी सन् १८७१ में फ्रांस की 'गवर्नमेंट ऑफ नेशनल डिफेंस' ने जर्मन सेना के साथ एक अपमानपूर्ण युद्ध-विराम-सन्धि की और अपनी राजधानी पेरिस से हटा कर 'वर्साई' में स्थापित कर दी। इससे क्षुब्ध होकर पेरिस के मजदूरों की सेना की टुकड़ियों ने परस्पर मिल कर फरवरी सन् १८७१ में राष्ट्रीय संरक्षकों की एक केन्द्रिय समिति 'कोमिति सेंत्राल द ला गार्द नासियोनाल' के नाम से स्थापित की।

वर्साई की सरकार ने इस समिति की शक्ति को कम करने के लिए १८ मार्च सन् १८७१ के दिन उनके शस्त्रास्त्र छीन लेने का आदेश सेना को दिया मगर फ्रांस की सरकार के सैनिकों ने राष्ट्रीय संरक्षक सैनिकों पर वार करने से इनकार कर दिया। इससे सरकारी पक्ष बहुत कमजोर हो गया और इस संघर्ष में सरकारी पक्ष के बहुत से प्रमुख व्यक्ति मारे गये तथा बहुत से वहाँ से भाग गये और पेरिस नगर राष्ट्रीय संरक्षक समिति के हाथ में आसानी से आ गया। नगर के हाथ में आते ही इस समिति ने तुरन्त अपनी अन्तरिम सरकार स्थापित की और २६ मार्च १८७१ को पेरिस कम्यून के ९ प्रतिनिधियों का चुनाव कर डाला। १९ अप्रैल सन् १८७१ को पेरिस कम्यून ने एक घोषणा पत्र प्रकाशित कर कम्यून के व्यापक अधिकारों की घोषणा की और नगर का नये ढंग से संगठन करना प्रारम्भ किया। मगर यह सारी व्यवस्था केवल ६४ दिन तक कायम रही।

२२ अक्टूबर सन् १८७१ के दिन वर्साई-सरकार की सेनाएँ पूरे संगठन के साथ पेरिस नगर में घुस पड़ीं और उन्होंने एक छोटी लड़ाई के बाद बहुत से कम्यून-सदस्यों को मार डाला और कम्यून की सत्ता को नष्ट भ्रष्ट कर दिया।

कम्यून के विनाश की यह घटना फ्रांस के इतिहास में एक दुःखदायी घटना मानी जाती है।

चीनी कम्यून

साम्यवाद की स्थापना के पश्चात् चीन ने भी ७ अगस्त सन् १९५८ को जनता के इन कम्यूनों के लिए अस्थायी विधान का एक प्रस्ताव पास किया। इस प्रस्ताव के अनुसार जनता को कम्यून समाज की एक मूलभूत इकाई माना गया है। इन मूलभूत संगठनों में मजदूर लोग अपनी इच्छा से सम्मिलित हो सकते हैं। अपने क्षेत्र के समस्त औद्योगिक तथा कृषि-सम्बन्धी उत्पादन व्यवसाय, वितरण तथा संस्कृति शिक्षा और राजनैतिक कार्यों के प्रबन्ध करने के अधिकार कम्यूनों को दिये गये हैं। कम्यून के सदस्य बनने वाले व्यक्तियों को अपनी समस्त निजी सम्पत्ति तथा उत्पादन के समस्त साधन कम्यून को सौंप देने पड़ेंगे और उनके ऊपर जो कर्ज होगा उसके चुकाने की जवाबदारी कम्यून पर होगी और उनके खाने-पीने और रहने की व्यवस्था कम्यून के जिम्मे रहेगी। कम्यून को अपनी नागरिक सेना रखने का अधिकार होगा।

इन समस्त कम्यूनों का सबसे बड़ा प्रशासकीय संगठन एक कांग्रेस के रूप में रहेगा। इस कांग्रेस में जनता के सभी वर्गों के प्रतिनिधि होंगे। यह कांग्रेस कम्यून के समस्त विषयों पर विचार करेगी और उस पर अपना महत्वपूर्ण निर्णय देगी और वे निर्णय सबमान्य होंगे।

कम्यूनिज्म और कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो

कार्लमार्क्स और फ्रेडरिक ऐंगल्स के द्वारा निर्मित एक नवीन समाज व्यवस्था। जिसके अनुसार समाज में स्थापित भिन्न भिन्न शोषक और शोषित वर्गों को मिलाकर एक ही वर्ग स्थापित कर सब मनुष्यों को, समानरूप से जीने का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है।

मार्च सन् १८४८ में कार्लमार्क्स ने उस इतिहास प्रसिद्ध कम्यूनिस्ट-मैनिफेस्टो की घोषणा की जो समस्त मानवीय इतिहास के गहन और दीर्घकालीन अध्ययन के पश्चात् तैयार किया गया था।

इस मैनिफेस्टो में (। १ संक्षिप्त रूप से मानवीय इतिहास के उस सारे अध्ययन का निचोड़ देते

ए बतलाया गया है कि मनुष्य अपने आदिकाल से ही जीविकोपार्जन के लिये संघर्ष करता रहा है। यह संघर्ष प्रकृति के साथ भी है और मनुष्य मनुष्य के बीच में भी है। सारे मनुष्य समाज का पिछला और मौजूदा इतिहास वर्ग-संघर्ष का एक इतिहास है। जिस वर्ग के हाथ में उत्पादन के साधन होते हैं उसी का समाज में प्राधान्य रहता है। वह दूसरे वर्गों की मिहनत का अनुचित फायदा उठाता है और इस अनुचित लाभ उठाने के लिए वह राज्य के अन्दर भी अपनी पूर्ण शक्ति को रखता है।

मध्य-युग में समाज के अन्दर जागीरदार, जमींदार, राजा इत्यादि भूमि पर अपना कब्जा रखने वाले लोग ही समाज के शोषण का कार्य करते थे और किसानों मजदूरों दासों और अर्धदासों की मिहनत का अनुचित लाभ उठाते थे।

मगर मशीन युग की स्थापना के बाद जब बड़े बड़े कारखानों का बोलबाला हुआ और 'विश्व-बाजार' की स्थापना हुई तो यह सामन्ती प्रथा क्रमशः समाप्त होने लगी और इसके स्थान पर कारखानों के मालिक पूँजीपति-वर्ग ने राज-सत्ता के सम्पूर्ण राजनैतिक अधिकारों को अपने हाथ में ले लिया। आधुनिक राज-सत्ता की 'पार्लमेन्ट' सम्पूर्ण पूँजीपति वर्ग के आम कारोबार को चलाने की एक प्रबन्ध समिति के अलावा और कुछ नहीं है।

आगे चलकर मार्क्स इस मेनिफेस्टो में लिखते हैं कि—

"ऐतिहासिक दृष्टि से पूँजीपति वर्ग ने बहुत क्रान्तिकारी भूमिका अदा की है। जहाँ भी इस वर्ग ने शक्ति प्राप्त की वहाँ सामन्तवादी पितृ-सत्तावादी तथा भावुकता के सभी सम्बन्धों का उसने अन्त कर दिया। स्वाभाविक रूप से ही उच्च कहलाने वाले लोगों से मनुष्य जिन नाना सामन्ती बन्धनों से बँधा हुआ था उन सबको इस पूँजीपति वर्ग ने निष्ठुरता से तोड़ दिया। नग्न स्वार्थ के नकद पैसे कौड़ी के हृदय शून्य व्यवहार के सिवा मनुष्यों के बीच और कोई दूसरा सम्बन्ध उसने बाकी नहीं रहने दिया। ऊँची से ऊँची धार्मिक मान्यताओं, वीरोचित उत्साह और भावुकता सब पर उसने स्वार्थ-पूर्ति का मुलम्मा चढ़ा दिया। मनुष्य के गुणों को उसने बाजार की बिकाऊ चीज बना दिया। एक शब्द में धार्मिक और राजनैतिक पर्दों के पीछे छिपे हुए शोषण के स्थान पर उसने नंगे, निर्लज्ज, प्रत्यक्ष और पाशविक शोषण की स्थापना कर दी है।" आगे चलकर मार्क्स लिखते हैं—

"मुश्किल से अपनी एक शताब्दी के शासन-काल में ही पूँजीपति-वर्ग ने जितनी शक्तिशाली और प्रचण्ड उत्पादन शक्तियों की रचना कर दिया है, उतनी पिछले तमाम युगों में मिलाकर भी नहीं विकसित हो पाई थी। प्राकृतिक शक्तियों पर मनुष्य का नियंत्रण मशीनें उद्योग धन्धों और खेती बाड़ी में रसायन शास्त्र का प्रयोग, भाप से चलने वाले जहाज और रेलों से यातायात बिजली के तार, खेती के लिए बड़े बड़े द्वीपों की सफाई नहरों का निर्माण पूरी की पूरी आबादी का मानो जादू के जोर से जमीन से पैदा कर देना इत्यादि। पिछली शताब्दियों में क्या इसकी कल्पना की जा सकती थी कि सामाजिक श्रम की गोद में ऐसी उत्पादक शक्तियाँ सोई हुई पड़ी हैं।"

"आज हमारे सामने ठीक इसी तरह की हलचल हो रही है। आधुनिक पूँजीवादी समाज ने उत्पादन और विनिमय के विशाल साधनों को जादू की तरह जन्म तो दे दिया है लेकिन उसकी व्यवस्था उत्पादन विनिमय और सम्पत्ति के इन साधनों को सँभाल नहीं पाती। वह ऐसे जादूगर के समान है जिसने अपने जादू के जोर से इन शक्तियों को भौतिक जगत् में बुला तो लिया है लेकिन जो अब उनपर काबू रखने में असमर्थ है। जिसके परिणाम स्वरूप जिन हथियारों से पूँजीपति वर्ग ने सामन्तवाद का अन्त किया था वे ही हथियार आज स्वयं उसके विनाशक बन गये हैं और सर्वहारा वर्ग के मजदूर लोग इन्हीं हथियारों के द्वारा इस वर्ग का अन्त कर देंगे।"

मजदूर-वर्ग के क्रम विकास का वर्णन करते हुए, मार्क्स लिखते हैं कि—

"सर्वहारा वर्ग विकास की अनेकों मंजिलों से गुजरता है। शुरू शुरू में वे मजदूर इक्केले-दुक्केले ही झगड़ा करते हैं दूसरी मंजिल में एक कारखाने के मजदूर मिलकर और उसके बाद शहर भर के एक उद्योग के सब मजदूर एक

साथ मिलकर, उस पूँजीपति से मोर्चा लेते हैं जो उनका सीधे सीधे शोषण करता है।"

"मगर इस समय तक मजदूरों में एकता नहीं होती। देश भर में वे इधर उधर बिखरे रहते हैं। आपसी होड़ के कारण वे कई टुकड़ों में बँटे रहते हैं। लेकिन उद्योग-धन्धों के विकास के साथ साथ मजदूर-वर्ग के मजबूत और सुसंगठित संघ बनने लगते हैं जिन्हें ट्रेड यूनियन (Trade Union) कहते हैं। इन मजदूर सघों और पूँजीपतियों के बीच की टक्कर दिनों दिन दो वर्गों के बीच की टक्करों का रूप धारण करती जाती है। यातायात के आधुनिक साधन इन मजदूर सगठनों को अलग-अलग जगहों के मजदूरों को एक दूसरे के सम्पर्क में लाने में मदद पहुँचाते हैं। कभी कभी आपसी प्रतिस्पर्धा के कारण ये मजदूर सगठन टूट भी जाते हैं मगर फिर दूनी शक्ति के साथ बनकर आगे आ जाते हैं।

इतिहास के अन्दर पहले के तमाम आन्दोलन अल्पमत या अल्पमत के फायदे के आन्दोलन रहे हैं मगर मजदूर वर्ग का यह आन्दोलन विशाल बहुमत के हित का स्वय जाग्रत और स्वतन्त्र आन्दोलन है। मजदूर-वर्ग हमारे समाज का सबसे निचला स्तर है। सर कारी-समाज के तमाम ऊपरी सरंजाम को उखाड़े बिना वह हिल-डुल नहीं सकता और अपने को ऊपर नहीं उठा सकता।"

इसलिए यह बिलकुल साफ हो जाता है कि अब पूँजीपति वर्ग समाज का शासक वर्ग बनने और जीवन-विधान को एक अनिमित्त कानून के रूप में समाज के ऊपर लादने के अयोग्य है। इसलिये अब समाज पूँजीपति-वर्ग के शासन में नहीं रह सकता। दूसरे शब्दों में पूँजीपति वर्ग का जिन्दा रहना समाज के साथ साथ नहीं चल सकता। इसलिए इस वर्ग के खिलाफ मजदूरों की सामूहिक क्रान्ति अनिवार्य हो चुकी है।

मजदूर और कम्यूनिज्म

संसार के मजदूरों के साथ कम्यूनिज्म के क्या सम्बन्ध है—इसकी व्याख्या करते हुए मार्क्स इस घोषणा-पत्र में लिखते हैं—

"कम्यूनिस्टों और दूसरे मजदूर-सगठनों में यह अन्तर है कि (१) विभिन्न देशों के मजदूरों के राष्ट्रीय सघर्षों में जातियों के तमाम भेदभावों को छोड़कर कम्यूनिस्ट सम्पूर्ण मजदूर वर्ग के सामान्य हितों को सामने लाते हैं और (२) पूँजीपति-वर्ग के खिलाफ मजदूर-वर्ग के सघर्ष को विकास की जिन मजिलों में से होकर गुजरना होता है उन सब में हमेशा और हर जगह वे पूरे आन्दोलन के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं।"

इसलिए कम्यूनिस्ट एक तरफ तो अमली तौर पर हर देश के मजदूर-वर्ग की पार्टियों का सबसे आगे बढ़ा हुआ और हद दर्जे का भाग होता है जो बाकी सब लोगों को भी आगे ढकेलता चलता है और दूसरी तरफ सैद्धान्तिक तौर पर मजदूर आन्दोलन की प्रगति के मार्ग को वैज्ञानिक दृष्टि से समझता है।

कम्यूनिज्म और निजी सम्पत्ति

"कम्यूनिज्म की खास विशेषता यह नहीं है कि वह सम्पत्ति को आम तौर से खतम कर देना चाहता है, बल्कि यह है कि वह पूँजीवादी सम्पत्ति को खतम कर देना चाहता है। उसका काम निजी सम्पत्ति को खतम कर देना है। क्योंकि पूँजीपति होना एक व्यक्तिगत हैसियत रखना नहीं बल्कि उत्पादन के क्षेत्र में एक सामाजिक हैसियत रखना है। पूँजी एक सामाजिक उपज है और समाज के केवल अनेक सदस्यों के सयुक्त उद्योग से ही नहीं बल्कि अन्त में समाज के सभी सदस्यों के मिले-जुले उद्योग से ही पैदा होती है। इस तरह पूँजी निजी सम्पत्ति न होकर एक सामाजिक सम्पत्ति है।

इसलिए पूँजी को जब आम सम्पत्ति बना लिया जाता है समाज के तमाम सदस्यों की सम्पत्ति का रूप दे दिया जाता है तो इससे वैयक्तिक सम्पत्ति को सामाजिक सम्पत्ति में नहीं बदला जाता उससे केवल सम्पत्ति का सामाजिक रूप बदल जाता है। उसका वर्गरूप मिट जाता है।

पूँजीवादी समाज में जीवित श्रम सञ्चित श्रम को बढ़ाने का एक साधन है। कम्यूनिस्ट समाज में संचित श्रम श्रमिकों के जीवन को सुखी समृद्ध और व्यापक बनाने का साधन बनता है।

"बोलशेविक कांग्रेस स्टालिन के हाथों से भयभीत रहा करती थी और वह स्टालिन को प्रधान मंत्री के पद से हटाना चाहती थी। तभी स्टेलिन को इस बात का पता चल गया और उसने उस कांग्रेस के १९६६ प्रतिनिधियों में से ११०८ को और केन्द्रीय समिति के १३६ प्रतिनिधियों में से ९८ की हत्या करवा दी। ख्रुश्चेव उस समय स्टालिन के पुछल्लामयी सदस्यों म थे।

इसी प्रकार अपने खास प्रतिद्वन्दी ट्रॉटस्की की हत्या करने म भी स्टालिन का हाथ समझा जाता है।

सब कुछ होने पर भी स्टालिन रूस की शक्ति बढ़ाने में प्रयत्नशील रहा और उसी के प्रयत्नों से जर्मनी के समान विकराल शत्रु पर उसकी सेनाओं ने विजय पाई। इस युद्ध में विजय ही जाने के बाद रूस संसार की दो महाशक्तियों में से एक हो गया।

चीन में कम्यूनिज्म

रूस से प्रेरणा लेकर द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् चीन में भी एक जबर्दस्त कम्यूनिस्ट क्रान्ति हुई और उसने चॉंग-काई शेक की सरकार को वहाँ से भगाकर माओत्से-तुंग के नेतृत्व म कम्यूनिस्ट सरकार की स्थापना की और भी कई छोटे छोटे देशों ने इस सिद्धान्त को अपनाया और दूसरे महायुद्ध के पश्चात् करीब करीब आधी दुनियाँ के लोगों म कम्यूनिस्ट-सिद्धान्तों की स्थापना हो गई।

दूसरे महायुद्ध के कुछ समय पश्चात् सोवियट रूस म वैज्ञानिक क्षेत्र म भी अभूतपूर्व उन्नति की उसम सारा संसार दंग रह गया।

कम्यूनिज्म सिद्धान्त की सफलता से बढ़ती हुई इस स्थिति को देखकर और उसकी वैज्ञानिक उन्नति को देखकर ऐसे देश जो इन सिद्धान्तों म विश्वास नहीं करते थे और सुधारवादी तरीकों के पक्षपाती थे चौकन्ने हो गये। इन देशों का नेतृत्व अमेरिका और इंगलैंड किया कर रहे हैं। वैज्ञानिक क्षेत्र म रूस की होड़ कर अमेरिका भी दृढ़ता पर दृढ़ता लगा रहा है। और इस प्रकार क्रान्तिकारी और सुधारवादी—दोनों ही प्रतिस्पर्धी पक्ष एक दूसरे की शक्तियों के जांचने और अपनी शक्तियों का विस्तार करने की चेष्टा में लगे हुए हैं।

इधर रूस के प्रधान मंत्री ख्रुश्चेव की विचारधारा में कुछ मौलिक परिवर्तन होने के संकेत स्पष्टरूप से नजर आ रहे हैं। वे स्टालिन की पद्धति के बड़े विरोधी हैं। उनकी विचारधारा क्रान्तिकारी सिद्धान्तों से दूर होकर किसी प्रकार सुधारवादी विचारधारा के पक्ष में झुकती हुई दृष्टिगोचर हो रही है।

रूस की इस विचारधारा से दुनियाँ का सबसे बड़ा कम्यूनिस्ट देश चीन क्षुब्ध हो उठा है और इस कारण सारा कम्यूनिस्ट संसार दो विभागों में विभक्त हो गया है। और रूस तथा चीन के बीच की खाई दिन पर दिन चौड़ी होती हुई दिखलाई दे रही है। आगे जाकर इसके क्या परिणाम होंगे, इसकी भविष्यवाणी अभी नहीं की जा सकती। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि कम्यूनिस्ट आन्दोलन की यह फूट आगे जाकर खतरनाक साबित हो सकती है।

वैज्ञानिक क्षेत्र में काफी उन्नति कर लेने पर भी कम्यूनिस्ट देश अपने जन समाज की सभी समस्याओं को हल करने में सफल हुए हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। इन देशों की लौह-दीवारों से छनकर बहुत ही कम समाचार संसार के सामने आने पाते हैं। वहाँ के लोगों को भी उस व्यवस्था के विरुद्ध बोलने का कोई अधिकार नहीं है। फिर भी यह दिखलाई पड़ता है कि वे खाद्य समस्या को तथा दूसरी समस्याओं को हल करने म सफल नहीं हैं और कई मामलों म अमेरिका के परमुखापेक्षी हो रहे हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि कम्यूनिस्ट देशों का मजदूर अमेरिका के मजदूर से अधिक सुखी और सम्पन्न है। इससे पता चलता है कि कम्यूनिस्ट आन्दोलन की गति को कुण्ठित करने म सुधारवादी देश सफल हो रहे हैं या यह कि इस आन्दोलन के अन्दर समय के साथ साथ कुछ मूलभूत परिवर्तन करने की आवश्यकता है। स्वयं लेनिन ने एक बार कहा था—

हम किसी भी अर्थ म मार्क्सवाद को एसी चीज नहीं समझते जो सम्पूर्ण है और जिसमें कोई दाग नहीं निकाला जा सकता। इसके विपरीत हमारा दृढ़ विश्वास है कि यह तो उस विज्ञान का केवल आधार शिला है जिसको समाजवादियों को हर दिशा में उन्नति करनी

चाहिए, वर्ना वे जीवन की दौड़ में पीछे रह जायेंगे। हमारे विचार में रूसी समाजवादियों के लिए मार्क्स की विचार धारा का अध्ययन करना खास तौर पर जरूरी है। क्योंकि वह मत केवल व्यापक मार्गदर्शक विचारधारा हमें देता है जो उदाहरण के लिए फ्रांस से इंग्लैंड में जर्मनी से फ्रांस में और रूस से जर्मनी में अलग अलग ढंगों पर लागू की जा सकती है।"

सम्भव है इसी विचारधारा से प्रभावित होकर ख्रुश्चेव ने रूसी-कम्यूनिज्म में कुछ मौलिक परिवर्तन करना सोचा हो। उनके इन परिवर्तनों से यह दिखलाई पड़ता है कि वे और उनका देश चीन से शायद दूर जा रहे हों। मगर दूसरी दुनियाँ के वे बहुत समीप आते जा रहे हैं।

करणी देवी

बीकानेर राज्य की स्थापिका और अधिष्ठात्री देवी। जिसका विशाल मन्दिर बीकानेर के समीप देशनोक नामक कस्बे में बना हुआ है।

करणी एक चारण कन्या थी। जिसका जन्म ई० सन् १३८७ (वि० सं० १४४४) के आश्विन मास में मेहा चारण के यहाँ राजस्थान के "सुवाप" फलौदी नामक ग्राम में हुआ था।

करणी देवी के सम्बन्ध में अनेक चमत्कारपूर्ण घटनायें जिन्हें आज के युग में अतिरंजित भी कहा जा सकता है चारण जाति की गाथाओं में पाई जाती हैं और इन गाथाओं में उन्हें अति मानवीय ईश्वरीय शक्ति से सम्पन्न माना गया है।

मगर इसमें सन्देह नहीं कि वह एक वीर, राजनीति कुशल और परम ईश्वरभक्त महिला थी। करणी देवी का विवाह साठीका ग्राम के देपाजी चारण के साथ हुआ था। ऐसा कहा जाता है कि जब करणी देवी विवाह करके साठीका ग्राम में आई उस समय वहाँ पर बिच्छू बहुत अधिक होते थे। उसी दिन किसी को वहाँ पर बिच्छू ने काट खाया। करणी ने उसका जहर उतार कर घोषणा की कि आज ही से इस गाँव के सब बिच्छू शान्त हो जायेंगे और भविष्य में कभी पैदा न होंगे। तब से कहा जाता है कि साठीका गाँव में अभी तक बिच्छू पैदा नहीं होते।

जिस स्थान पर इस समय बीकानेर बसा हुआ है वह प्रान्त उन दिनों जांगलू प्रान्त कहलाता था।

करणी देवी ने अपने गाँव साठीका से हट कर सन् १४१६ के बैशाख में आधुनिक बीकानेर से २४ मील दूर देशनोक नगर की स्थापना की।

उन दिनों यह प्रान्त कई छोटे छोटे राज्यों में बँटा हुआ था। यहाँ के सरदार लोग दिल्ली के लोदी सम्राट् को एक निश्चित रकम खिराज स्वरूप देकर हमेशा जनता में लूट मार मचाया करते थे। चारों ओर अराजकता के भयंकर दृश्य छाये रहते थे। इस लूट मार से प्रजा इतनी तंग थी कि लोग वर्ष भर में एक दिन भी चैन से नहीं बैठ पाते थे।

करणी देवी ने इस अराजकता को देखकर निश्चय किया कि इन सब छोटे-छोटे लुटेरे राज्यों का नाश कर जब तक एक बड़े राज्य की स्थापना नहीं की जायेगी तब तक यहाँ शान्ति स्थापित न होगी।

उन्हीं दिनों जोधपुर राज्य के संस्थापक जोधाजी का पुत्र बीका एक नवीन राज्य की स्थापना का संकल्प करके अपने काका कान्धल के साथ यहाँ पर आया और करणी देवी के दर्शन कर उनसे अपना संकल्प बतलाया। करणी देवी ने इस रणधीर बलिष्ठ तेजस्वी युवक को सब तरह से योग्य समझकर उसे आशीर्वाद दिया कि तुम्हें यहाँ पर अपना राज्य स्थापित करने में जरूर सफलता होगी।

उन दिनों पूगल देश में भाटी राजपूतों का सरदार राव शेखा बड़ा प्रबल था और उसने करणी देवी से राखी बँधवाकर उनसे बहन का रिश्ता कायम कर लिया था। मगर राव शेखा हमेशा लूट-मार किया करता था जिससे करणीदेवी बहुत नाराज रहती थी।

अन्त में करणी देवी ने सोचा कि बीका के राज्य स्थापन के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा राव शेखा है अगर किसी प्रकार इन दोनों परिवारों को विवाह सूत्र में बाँध दिया जाय तो इन दोनों में प्रेम उत्पन्न हो सकता है। यह सोचकर करणी देवी ने राव शेखा को अपनी पुत्री रंगकुँवरि का विवाह बीका से करने का परामर्श दिया।

मगर राजरोता ने एक साधारण युवक को अपनी लड़की देने से साफ इन्कार कर दिया और बड़ा नाराज हुआ।

फिर भी करणीदेवी ने अनेक प्रकार के कौशल से राजरोता की पत्नी को समझा बुझा कर किसी प्रकार राव शेखा की पुत्री रंगकुंवरि का विवाह राजकुमार बीका के साथ करवा दिया और बीका के राज्य स्थापन में आनेवाली इस बाधा को दूर कर दिया। यह विवाह सन् १४८२ में सम्पन्न हुआ।

राव बीका के राज्य स्थापन के मार्ग में इसके बाद भी छोटे मोटे सरदारों द्वारा बड़ी-बड़ी बाधायें डाली गईं। किन्तु करणी देवी ने अपनी बुद्धिमानी से विरोधियों में फूट डालकर दूर कर दिया और ऊदावत तथा जाटों के छोटे छोटे राज्यों को समाप्त करवाकर बीका का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

इस प्रकार करणी देवी के आशीर्वाद और सूझ बूझ से राजकुमार बीका इन बाधाओं को पारकर राज्य स्थापन में सफल हुआ और सन् १४८२ की वैशाख शुक्ल २ को उसने बीकानेर नगर की स्थापना कर वहाँ पर दुर्ग बनवाया और अपने को वहाँ का राजा घोषित किया।

इस प्रकार करणी देवी की सूझ बूझ और कृपा से जाङ्गलू देश में बीकानेर राज्य की स्थापना हुई।

राजनैतिक सूझ बूझ के अतिरिक्त करणी देवी में योद्धा का भी अद्भुत शौर्य था। एक बार उत्पावत राठौरों के सरदार कालू पेथड़ और सूजा मोहिल ने करणी देवी की अनुपस्थिति में देशनोक पर आक्रमण कर दिया और करणी देवी की गायों को घेर कर उनके प्रिय दास नक्षराज को तथा ग्वाल दशरथ को मार डाला और गायें घर कर भाग गये।

यह बात मालूम होते ही करणी देवी को बड़ा क्रोध आया और साक्षात् चण्डी का रूप धारण कर उसने पीछा कर सूजा को खदेड़ा और क्रोध में एक ही बार ऐसा दिया कि सूजा धमसोर जा पहुँचा। उसके बाद कालू पेथड़ का पीछा कर देशनोक से चार कोस पर कालू पेथड़ को जा धरा और उसे मारकर गायों को छुड़ाकर वापस ले आई। जिस जगह कालू पेथड़ मारा गया वह स्थान इस समय 'कालिया का डूंगर' के नाम से प्रसिद्ध है।

इस प्रकार इस महान् नारी ने एक साधारण गृहस्थ के घर में जन्म लेकर एक बड़े राज्य की स्थापना की, अराजकता को दूर किया और नर से नारायणत्व की प्राप्ति की। बीकानेर राज्य का राजवंश और वहाँ की जनता आज भी बड़ी श्रद्धा से इस महान् नारी को स्मरण करती है।

करणीदेवी का मन्दिर

करणी देवी के स्मारक में देशनोक में तीन स्थान बने हुए हैं जहाँ पर प्रतिवर्ष हजारों यात्री आकर अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं।

१—इसमें पहला स्थान करणी देवी का मन्दिर है। इसमें स्वयं करणी के हाथ से बनाया हुआ एक छोटा सा कोठा है जिसे गुम्भारा कहते हैं। इसका निर्माण स्वयं करणी देवी ने अपने हाथ से बड़े-बड़े पत्थरों को जमा कर किया था। इस गुम्भारे में जैसलमेर के बन्ना खाती द्वारा निर्मित पीले संगमरमर की भी करणीजी की मूर्ति स्थापित है।

इस गुम्भारे के ऊपर सन् १५३८ में बीकानेर के राव जैतसी ने कच्ची ईंटों का राम मन्दिर बनवाया जिसे मढ़ कहते हैं।

इसके पश्चात् उन्नीसवीं शताब्दी में महाराज सूरतसिंह ने यहाँ पर एक बड़ा गुम्बजदार मन्दिर बनवाया और उसके चारों ओर एक पक्का डबरा बनाकर मन्दिर का जिर्णोद्धार करवाया।

उसके बाद बीकानेर के महाराजा गंगासिंह ने इस सारे मन्दिर को संगमरमर का बनवा दिया और आज यह मन्दिर करणी देवी की एक विशाल और शानदार स्मृति के रूप में विद्यमान है।

इस मन्दिर की सबसे बड़ी विशेषता जो शायद संसार में अन्यत्र कहीं भी देखने को न मिलेगी, इसमें चूहों का निर्भीक विचरण और उनका बाहुल्य है। इन चूहों को काबा कहते हैं। इन चूहों की संख्या पाँच छः हजार से कम न होगी। जब बीकानेर राज्य में प्लेग फैला था तब भी इन चूहों की संख्या कम नहीं हुई थी। यात्रियों के शरीर पर ये चूहे कूदते फांदते पाए जाते हैं

और कई बार उसके सिर पर बैठ जाते हैं ये चूहे बड़े शुभ और पवित्र माने जाते हैं। जब बीकानेर नरेश मन्दिर में आते हैं तो इस बात का बड़ा ख्याल रक्खा जाता है कि कोई चूहा उनके पैरों से छू न जाय। चूहा यहाँ पर बड़ा पवित्र माना जाता है, इनकी रक्षा के लिए बड़ा सख्त प्रबन्ध है, राज की ओर से इन चूहों के लिए प्रतिदिन दूध लड्डू और बाजरा डालने का प्रबन्ध है। यात्री लोग चूहों के लिए लड्डू अपने साथ लाते हैं।

इस मन्दिर में चूहों को इतना महत्व किस प्रकार मिला इसका सन्तोषजनक कारण किसी लिखा जा सके नहीं मिल सका।

(२) करनी जी का दूसरा स्मारक देशनोक से एक मील दूर पर बना है जिसे नेहड़ी कहते हैं यह बिलकुल जंगल में है। इस मन्दिर में भी करनी जी की मूर्ति स्थापित है यहाँ पर एक धर्मशाला भी बनी हुई है।

(३) करनी देवी का तीसरा स्मारक तेमड़ा राय का मन्दिर है।

करतार सिंह

भारतीय क्रान्ति के इतिहास में अपना महत्वपूर्ण आहुति देनेवाला अमर शहीद करतार सिंह जिसे केवल १६ वर्ष की अवस्था में फाँसी के तख्ते पर लटकना पड़ा।

करतार सिंह का जन्म सन १८९६ में लुधियाना के सराबा ग्राम के ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम मंगल सिंह था। बचपन से ही बालक करतार सिंह का मन पढ़ने लिखने में नहीं लगता था। स्कूल में लड़ना झगड़ना और ऊधम मचाना यही इसका काम था। किसी तरह से हाई स्कूल की परीक्षा पास कर यह उड़ीसा के एक कालेज में दाखिल हुए। यहाँ पर देश में चलने वाले आन्दोलनों के साहित्य को पढ़कर करतार सिंह के हृदय में भी स्वतन्त्रता के लिए विद्रोह की अग्नि भड़क उठी। पढ़ाई में उनका मन न लगा। तब यह दादा की अनुमति लेकर अमेरिका चले गये।

उन्हीं दिनों पंजाब के निर्वासित विद्रोही नेता सरदार अजीत सिंह भी अमेरिका आ पहुँचे। इन दोनों ने यहाँ पर मजबूर दल का संगठन किया। और करतार सिंह के सम्पादन में 'गदर' नामक पत्र निकाला जाने लगा। उसके बाद आर्थिक परिस्थितियों से मजबूर होकर करतार सिंह ने अमेरिका में एक जहाज कम्पनी में नौकरी कर ली तथा उसी के एक जहाज में जापान पहुँच गये। वहाँ से यह चीन होते हुए भारतवर्ष में आये।

उस समय प्रथम महायुद्ध का श्रीगणेश हो ही रहा था। देश में आते ही यह संगठन को मजबूत करने तथा अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोहाग्नि भड़काने में लग गये। पंजाब के दौरे पर आये हुए शचीन्द्रनाथ सान्याल से इन्होंने स्टेशन पर ही मुलाकात की। पूरा कार्यक्रम निर्धारित किया गया। सान्याल के लौटने पर यह अपने कार्यक्रम के अनुसार राम प्रचार करने फौजी छावनी के सिपाहियों को बागी बनाने तथा जनता को संगठित कर विद्रोह के लिए उकसाने में लग गये। इस कार्य की पूर्ति में अर्थाभाव के कारण डाके डालने की योजना पर भी अमल किया गया।

२१ फरवरी सन् १९१५ ई० का दिन सारे भारत से अंग्रेज सल्तनत को उखाड़ फेंकने का दिन निश्चय किया गया था। इसी के अन्तर्गत लाहौर में भी विप्लव की योजना बन चुकी थी। करतार सिंह ने लाहौर की फौजी छावनी की मेगज़ीन पर भी कब्जा करने की योजना बना ली थी। इसके लिए मेगज़ीन के एक पहरेदार ने चाबियों का गुच्छा देने का वादा कर लिया था। परन्तु दुर्भाग्यवश एक दिन पहले ही उस सिपाही का तबादला हो गया। किन्तु सरदार करतार सिंह ने हिम्मत न हारी तथा उत्तरी देश के भिन्न के भागों का दौरा कर इस संगठन की कमजोरियों को नजदीक से देखकर अपने संगठन के कार्य को तेज कर दिया।

मगर इसी समय एक देशद्रोही 'कृपाल सिंह' ने इस योजना का सारा भण्डाफोड़ कर दिया। तलाशियों तथा गिरफ्तारियों का सारे देश में ताँता बंध गया। तब पिंगले और करतार सिंह इस दुर्घटना से परेशान होकर गिरफ्तारी से बचने का उपाय सोचने लगे। पत्थरिहारी बोस तो बनारस चले गये और करतार सिंह अपने दो साथियों सहित पश्चिम की ओर भारत की सीमा को लाँघ गए, परन्तु इस प्रकार भागने को कायरता समझ कर यह

फिर आपने देश में लौट आये और सरगोधा में उन्होंने विप्लव कार्य को तेज कर दिया। यहीं पर वे पकड़े गये और जेल में डाल दिये गये। कुछ कैदियों के साथ मिलकर एक रात उन्होंने जेल के सींकचे काटकर भाग जाने की योजना बनाई। इस योजना के अन्तर्गत उसी रात को लाहौर की मेकजीन पर अधिकार कर विद्रोह का झंडा फहराना भी था।

परन्तु यह भेद भी खुल गया और इन सबों को बेड़ियाँ पहना दी गई। तलाशी लेने पर करतार सिंह के कमरे में सींकचे तोड़ने के सारे औजार मिले।

मुकदमा शुरू हुआ। करतार सिंह को जज के सामने पेश किया गया। कर्तार सिंह ने निर्भीकतापूर्वक सारी बातें स्वीकार कर लीं। जज ने कर्तारसिंह को अपने बयान पर पुनर्विचार करके अगले दिन दूसरा बयान देने को कहा। परन्तु कर्तारसिंह ने दूसरे दिन भी पहले का सा ही बयान दिया और जज से कहा— 'इस बयान का परिणाम मुझे मालूम है और वह है—फाँसी या आजन्म कारावास। परन्तु मैं आजन्म कारावास के स्थान पर फाँसी को चूमना ही ज्यादा पसन्द करूँगा जिससे कि मरकर मैं पुनः भारतभूमि में जन्म लूँ और बागी बनकर इसी मार्ग का अनुसरण करूँ। यदि दुर्भाग्यवश अगले जन्म में पुरुष न होकर स्त्री हुआ तो मैं अपनी कोख से बागी और वीर सन्तान पैदा करूँगा।

जज को विवश होकर डेढ़ वर्ष तक मुकदमा खींचना पड़ा। करतारसिंह का बयान कानूनी शिकंजे में आ गया था। अतः उन्हें फाँसी की सजा का पैगाम मिला और यह बागी युवक फाँसी के फन्दे पर लटका दिया गया।

करनाल

पूर्वी पञ्जाब का एक जिला और नगर जिसको पुरानी परम्परा के अनुसार महाभारत के दानी राजा कर्ण ने बसाया था।

उसके बाद इस जिले के पानीपत नगर का मैदान भारतीय इतिहास में लड़ाइयों के लिए बहुत प्रसिद्ध हुआ।

इसी जिले के अन्तर्गत सन् १५२६ ई० में बाबर ने इब्राहिम लोदी को हराया था। फिर सन् १५५६ ई० में अकबर ने शेरशाह को यहींपर करारी पराजय दी।

सन् १७३९ ई० में इसी स्थान पर नादिर शाह ने सम्राट् मुहम्मद शाह की फौज को परास्त करके दिल्ली की लूट की थी।

सन् १७६१ ई० में अहमद शाह दुर्रानी के साथ यहीं पर मराठों का निर्णायक युद्ध हुआ था। इस लड़ाई में मराठों का भाग्य सूर्य हमेशा के लिए अस्त हो गया।

इसके बाद यह स्थान भींद के राजाओं मराठों और लदवा के सिक्ख राजा गुरुदत्त सिंह के अधिकार में रहा। अन्त में सन् १८०५ ई० में यह अंग्रेजों के अधिकार में आ गया।

करमशाह के चित्र

ईरान के अन्तर्गत सासानी शासन काल की चित्र-कला जो करमशाह, शापुर आदि स्थानों में आज भी किसी रूप में विद्यमान है।

करमशाह में पहाड़ काटकर मेहराबें बनाई गई हैं। बाहर एक अर्धचन्द्र का चित्र बना हुआ है। पत्थर में विजय की परवाली मूर्तियाँ हैं। वे अलंकारों से युक्त हैं। दीवार के ऊपर के चित्र में सम्राट् खुसरो को माला लिए हुए दिखाया गया है। नीचे के भाग में सम्राट् की आकृति है। मेहराब के दोनों ओर शिकार के चित्र हैं। साथ ही गाने बजाने वालों के भी चित्र बने हुए हैं।

यह चित्र-कला ईसा की तीसरी सदी में ईरान के अन्दर प्रचलित थी।

करनूल

आन्ध्र प्रदेश का एक प्रसिद्ध जिला और नगर। इसके उत्तर में तुंगभद्रा और कृष्णा नदी, दक्षिण में कडप्पा और बेलारी जिला, पूर्व में नेल्लूर तथा कृष्णा तथा पश्चिम में बल्लारी जिला है।

करनूल शहर इस जिले का मुख्य व्यापारीय केन्द्र

है। यह नगर तुंगभद्रा तथा हिन्द्री नदी के संगम पर बसा हुआ है। इस ज़िले की मुख्य भाषा तैलगू है।

इस ज़िले में कपड़ा बुनने का काम अधिक होता है। पहाड़ी स्थानों के नीचे से सोना भी निकलता है।

कर्नूल बरंगल के प्राचीन तैलगू राज्य का विभाग था। उक्त राज्य के अधःपतन के पश्चात् यहाँ का राजा ईश्वर राव हुआ। उसके पुत्र नरसिंहराव को विजयनगर के महाराज ने गोद लिया था। जो विजयनगर के विशाल राज्य का स्वामी बना।

विजयनगर के राजा 'अच्युत देव' राय के समय में करनूल का क़िला बनाया गया। सन् १५६५ में तालीकोट की प्रसिद्ध लड़ाई में विजयनगर का पतन हो जाने के पश्चात् करनूल ज़िला बीजापुर राज्य में मिला लिया गया।

सन् १६२१ ई० में औरंगज़ेब ने बीजापुर का करनूल 'गिदिर-खान' पठान को पुरस्कार में दे दिया था।

इसके बाद यह प्रान्त सन् १८   ई० में अंग्रेज़ों के हाथ में आया। फिर भी यहाँ का शासन अंग्रेज़ों की मातहती में नवाब लोग ही करते रहे। ये नवाब लोग बीच-बीच में अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ विद्रोह भी कर बैठते थे। इसके परिणाम स्वरूप सन् १८५८ में यह ज़िला अंग्रेज़ी साम्राज्य का अंग बना लिया गया।

सन् १८४३ ई० में यह नगर अंग्रेज़ों के हाथ में आया। उस समय इस नगर की जनसंख्या सिर्फ़ १४ हज़ार थी। इस नगर के उत्थान में 'सर चार्ल्स नेपियर' नामक अंग्रेज़ का बहुत बड़ा हाथ रहा। उन्हीं की योजना से सन् १८५४ ई० में 'मनोरा-मोल' का निर्माण हुआ और वर्तमान बन्दरगाह की रूपरेखा बनाई गई।

सन् १८६१-६४ के अमेरिकन सिविल-वार' के समय में रुई का भाव बहुत अधिक बढ़ जाने से इस नगर की सम्पत्ति में बहुत बड़ी वृद्धि हुई। सन् १८७८ ई० में सक्खर का रेलवे लाइन खुल जाने से और रेलों का सम्बन्ध पंजाब से जुड़ जाने के बाद इस नगर की व्यापारिक उन्नति बहुत अधिक हुई।

सन् १९४७ ई० में इस देश का विभाजन होने के पश्चात् यह नगर पाकिस्तान में चला गया और विभाजन की परिस्थितियों के कारण यहाँ पर बहुत बड़ी संख्या में शरणार्थी पहुँचे जिनके कारण यहाँ की जन-संख्या जो सन् १९४१ में तीन लाख साठ हज़ार थी वह सन् १९५१ में दस लाख से ऊपर पहुँच गयी। नगर के अन्दर कई उप-नगर बसाये जाने पर भी अभी तक इस जनसंख्या का सुनिश्चित समाधान नहीं हो पाया है और बहुत से लोगों को सड़कों पर सोना पड़ता है।

कराँची

सिन्धु नदी के तट पर स्थित पाकिस्तान का प्रसिद्ध बन्दरगाह। इसके उत्तर में शिकारपुर, पूर्व में सिन्ध हैदराबाद का ज़िला तथा सिन्धु नदी, पश्चिम में समुद्र तथा बलूचिस्तान और दक्षिण में कोरी नदी तथा समुद्र है।

कराँची नगर बहुत पुराना नहीं है। सन् १७५ ई० के पूर्व इस स्थान पर कोई नगर नहीं था। शाह बन्दर नामक सिन्ध के एक प्राचीन बन्दरगाह के पट जाने के कारण इस स्थान का महत्त्व बहुत बढ़ गया और धीरे-धीरे यह स्थान एक नगर और बन्दरगाह के रूप में परिणत हुआ।

सन् [illegible] में यह नगर तालपुर के 'मीर' लोगों के अधिकार में आया। इन लोगों ने इस बन्दरगाह पर 'मनोरा' नामक एक दुर्ग भी बनाया।

कराखानी-राजवंश

मध्य एशिया के उत्तरपथ का एक मध्यकालीन राजवंश जो उइगुर तुर्कों की एक शाखा थी। इसका समय सन् ९४ से ११९५ ई० तक रहा।

कराखानी लोग पहले खानाबदोशों के रूप में १०वीं सदी के मध्य तक मध्यएशिया के सप्तनद में इली और सुनगिया की उपत्यकाओं में रहते थे। इनका पहला ख़ान जिसने इस्लाम ग्रहण कर लिया था 'सतुक कराखान' था। इसी के नाम पर इस वंश का नाम कराखानी वंश पड़ा।

उस समय ईरान का सामानी साम्राज्य निर्बल होकर अपनी अन्तिम साँसें ले रहा था। इससे लाभ उठाकर इस वंश के दूसरे ख़ान 'बोगरा ख़ान' प्रथम ने 'बल्खोर' को जीत लिया। बोगरा ख़ान के बाद इस वंश में

से ११८२ तक) गुरगान (१२१) कुतुलुक (१२१ से १२१८ तक) शासक हुए।

कुतुलुक म शासक और सैनिक के बहुत से गुण थे। लेकिन वह मुसलमानों का कट्टर विरोधी था। इसके कारण उसने सारे मध्य एशिया के मुसलमानों को अपना दुश्मन बना लिया। और इसीके कारण मुसलमान विजेताओं के आक्रमण से इस वंश का पतन हुआ।

करौली

भारतीय स्वतन्त्रता के पूर्व राजपूताने का एक छोटा सा देशी राज्य। इसके उत्तर और उत्तर-पूर्व म भरतपुर और धौलपुर, दक्षिण पश्चिम म जयपुर और दक्षिण पूर्व म चम्बल नदी है। चम्बल नदी ही इसे ग्वालियर से अलग करती है।

करौली का राजवंश अपने को कृष्ण का वंशधर यादव-वंशी बतलाता है। इस राज्य के मुख्य संस्थापक राजा 'धर्मपाल' माने जाते हैं। पहले यह वंश वृन्दावन के निकट ब्रज धाम म निवास करता था। किसी समय बयाने म भी इसका राज्य था।

सन् १ ५१ ई म बयाने पर मुसलमानों का अधिकार हो जाने से इस वंश ने करौली म अपना राज्य जमाया।

इसके बाद सम्राट् अकबर ने इस राज्य को दिल्ली में मिला लिया।

उसके बाद मरहटों ने इस स्थान पर अधिकार कर वहाँ के राजा पर २५ हजार वार्षिक कर लगा दिया।

उसके बाद करौली का राज्य अंग्रेजों के आश्रय म आया। सन् १८५७ के विद्रोह के समय यहाँ के राजा मदनपाल ने कोटा के विद्रोहियों के विरुद्ध अपनी सेना भेजकर अंग्रेजों की मदद की थी। इससे प्रसन्न होकर अंग्रेजों ने उसको जी सी एस आई की उपाधि प्रदान की थी।

करौली नगर की स्थापना के सम्बन्ध म कहा जाता है कि सन् ११८८ म यहाँ के शासक अर्जुनदेव ने इसे बसाया था। और यहाँ पर 'कल्याणजी' का एक मन्दिर भी बनवाया था। इसी मन्दिर के नाम पर इस शहर का नाम 'करौली' पड़ा।

सन् १९४७ के पहले तक इस राज्य पर यही राज वंश राज्य करता रहा। उसके पश्चात् विलीनीकरण के समय यह राज्य राजस्थान म मिला लिया गया।

कर्कोटक-राजवंश

कश्मीर का एक सुप्रसिद्ध राजवंश, जिसने ७वीं शताब्दी से लेकर ९वीं शताब्दी के मध्य तक कश्मीर पर राज्य किया।

राजतरंगिणी के अनुसार 'गोनन्द वंश' का पतन होने पर कश्मीर म कर्कोटक राजवंश का शासन प्रारम्भ हुआ। इस राजवंश का नाम नाग कर्कोटक नामक एक व्यक्ति के नाम पर पड़ा था। मगर इसका प्रथम राजा 'दुर्लभ वर्धन' नाम का था, जिसने करीब ३६ वर्षों तक राज्य किया।

चीनी यात्री हुयेनसांग इसकी राजसभा म सन् ६३१ से सन् ६३३ तक रहा था। दुर्लभ वर्धन हर्षवर्द्धन का समकालीन था। हर्षवर्धन को उसने बुद्ध का दाँत दिया था जिसे हर्षवर्धन ने कन्नौज के एक नवनिर्मित स्तूप में प्रतिष्ठित किया।

राजतरंगिणी के मतानुसार कर्कोटक वंश में कुल सत्रह राजा हुए। जिन्होंने कुल मिलाकर दो सौ साठ वर्ष और कुछ महीने तक राज्य किया। इनम से खास खास इस प्रकार थे।

(१) दुर्लभ वर्धन (प्रतापादित्य), (२) चन्द्रापीड (३) तारापीड (४) ललितादित्य (५) कुवलयापीड (६) वज्रापीड (७) पृथ्व्यापीड (८) संग्रामापीड (९) जयापीड (१) ललितापीड (११) संग्रामापीड द्वितीय (१२) चिप्पट जयापीड (१३) अजितापीड (१४) अनंगापीड (१५) उत्पलापीड।

इन राजाओं म चन्द्रापीड ललितादित्य और जयापीड नामक राजा बड़े तेजस्वी वीर, प्रजापालक और विस्तृत साम्राज्य के स्वामी हुए और वज्रापीड, पृथ्व्यापीड अनंगापीड इत्यादि राजा बड़े अधम अत्याचारी, दुराचारी और प्रजापीड़क हुए।

चन्द्रापीड़—कल्हण कवि लिखते हैं कि दुर्लभ वर्द्धन के पश्चात् चन्द्रापीड़ राजाओं का मुकुट मणि हुआ। उसके पहलेवाले राजाओं ने धर्म का केवल एक चरण सुरक्षित रखा था मगर इस पुण्यात्मा तथा यशस्वी राजा ने धर्म के तीन चरण और जोड़ कर उसे चतुष्पाद बना दिया।

चन्द्रापीड़ के न्याय का एक उदाहरण देते हुए कवि कल्हण लिखते हैं कि एक बार राज्य की ओर से भगवान् त्रिभुवन स्वामी का एक मन्दिर बन रहा था। उस मन्दिर की सीमा में एक चमार की झोपड़ी पड़ती थी। अधिकारी लोग उस चमार को पूरा मूल्य देकर वह झोपड़ी खरीदना चाहते थे मगर वह चमार किसी भी मूल्य पर उस झोपड़ी को छोड़ने को तैयार नहीं था। अन्त में उन अधिकारियों ने यह बात चन्द्रापीड़ को बतायी। यह सुनकर राजा उन अधिकारियों पर ही नाराज हुआ और कहा कि तुमने उस चमार की अनुमति लिये बिना वहाँ पर काम ही क्यों चालू किया। अब या तो मन्दिर निर्माण का काम बन्द कर दो या दूसरी जगह मन्दिर बनाना शुरू करो। पराई जमीन को छीनकर अपने यश को कौन कलंकित करेगा।

दूसरे दिन स्वयं चर्मकार राजा चन्द्रापीड़ के पास आया और उसने कहा कि महाराज! जिस प्रकार इन बड़े महलों से आपका स्वाभिमान है उसी प्रकार यह छोटी सी झोपड़ी भी मेरे स्वाभिमान का आधार है। मूल्य लेकर तो मैं किसी भी मूल्य पर उसे नहीं दे सकता मगर यदि आप मेरे घर आकर उस झोपड़ी की याचना करें तो शिष्टाचार के नाते मैं उसे अर्पण कर सकता हूँ। ऐसा उत्तर सुनकर राजा चन्द्रापीड़ उस चमार के घर गया और धन देकर वह झोपड़ी लेली। और वहाँपर त्रिभुवन स्वामी का मन्दिर बनवाकर उसमें विष्णु भगवान् की स्थापना की।

इस प्रकार सिर्फ आठ वर्ष और आठ महीने राज्य कर चन्द्रापीड़ का स्वर्गवास हुआ। इस राजा चन्द्रापीड़ का शासनकाल यद्यपि बहुत छोटा था तथापि उसके बहुत से धार्मिक कृत्यों को देखकर सत्ययुग का स्मरण हो जाता है।

चन्द्रापीड़ के पश्चात् उसका छोटा भाई तारापीड़ गद्दी पर बैठा यह बड़ा प्रचण्ड और गुरुद्रोही था केवल चार महीने छब्बीस दिन राज्य कर यह मर गया।

इसके बाद चन्द्रापीड़ का सबसे छोटा भाई महापराक्रमी ललितादित्य गद्दी पर बैठा।

ललितादित्य—कर्कोटक कुल का सबसे प्रतापी राजा 'ललितादित्य मुक्तापीड़' हुआ। उसने सन् ७२४ से ७६० ई० तक राज्य किया। कल्हण के अनुसार उसने सन् ७३३ ई० में 'यशोवर्मा' को पराजित कर कन्नौज पर विजय प्राप्त की थी। पंजाब के कुछ भागों पर भी उसने अधिकार किया। मध्य एशिया के अन्तर्गत भी उसने अपने राज्य की सीमायें बढ़ाईं। तुखारिस्तान तथा दरिस्तान पर भी उसका अधिकार था। पूर्व दिशा में उसने तिब्बत पर आक्रमण करके वहाँ के निवासियों (भूटों) को पराजित किया। हिमालय को पार करके उसने बंगाल के राजा को पराजित किया। चीनी इतिहास कारों के अनुसार उस समय चीन और कश्मीर राज्य के बीच बड़े महत्व के सम्बन्ध थे। सन् ७१५ ई० में चीन सम्राट ने ललितादित्य मुक्तापीड़ के पूर्ववर्ती राजा 'चन्द्रापीड़' का राज्याभिषेक भी किया था।

ललितादित्य मुक्तापीड़ ने हरिश्चपुर तथा दूसरे स्थानों पर कई बौद्ध विहारों का निर्माण कराया था। इसके अति-रिक्त उसने कई हिन्दू मन्दिरों का भी निर्माण कराया था।

कल्हण लिखता है कि—देवराज इन्द्र के समान प्रभावशाली ललितादित्य मुक्तापीड़ ने अमरावती का परि-हास करने वाले 'परिहासपुर' नगर को बसाया और उसमें 'परिहास केशव' नामक रजत मूर्ति की स्थापना की। वराह भगवान की मुक्ताकेशव धारिणी दिव्य प्रतिमा का भी उसने स्थापित किया। ५४ हाथ ऊँचा एक पाषाण-स्तम्भ बनवा कर उसके सिरे पर 'गरुड़' की दिव्य प्रतिमा को स्थापित किया। उस निरभिमानी राजा ने विशाल 'चैत्यों' और विशाल जिन मूर्तियों से युक्त 'राज विहार' का भी निर्माण करवाया। इसमें उस राजा ने ८४ हजार तोले स्वर्ण का उपयोग किया था। भगवान् बुद्ध की विशाल प्रतिमा को उसने ८४ हजार सेर काँसे में बनवाया था।

इस प्रकार राजा ललितादित्य ने अपनी उदारता वीरता दानशीलता आदि सद्गुणों से इन्द्र को भी नीचा दिखा दिया।

इस प्रकार ३६ वर्ष ७ महीना और ११ दिन तक राज्य करके वह प्रतापी नरेश स्वर्गवासी हुआ।

ललिता दित्य का पौत्र जयापीड विनयादित्य' भी बड़ा पराक्रमी और महत्वाकांक्षी राजा था। इसने सन् ७७६ से ८१२ ई० तक राज्य किया। इसने कन्नौज के राजा 'वज्रायुध' और 'इन्द्रायुध' को पराजय करके अपदस्थ कर दिया था। कल्हण के अनुसार उसने बंगाल और नैपाल के राजाओं को भी हराया था। जयापीड की राजसभा विद्वानों तथा साहित्यकारों से भरी हुई रहती थी। वामन उद्भट तथा दामोदर गुप्त के समान विद्वान लोग उसकी राजसभा में रहते थे।

एक बार जयापीड अपनी सेना के साथ नैपाल राज्य पर आक्रमण करने के लिए गया था। मगर वहाँ एक नदी को पार करते समय राजा जयापीड की सारी सेना नदी के प्रवाह में बहकर डूब गई और जयापीड को नैपाल के राजा 'अर्मुड़ि' ने कैद करके एक भारी किले में बन्द कर दिया।

जब यह बात कश्मीर में उसके मन्त्री देवशर्मा को मालूम हुई तो वह अपनी सेना सहित चलकर नैपाल आया और सेना को नदी के इस पार छोड़कर वह नैपाल के नरेश से मिला। उसने नैपाल नरेश से मिलकर सन्धि की बातचीत की और जयापीड से मिलने की इजाजत माँगी। देवशर्मा अपने राजा से जेल में जाकर मिला। उसे वहाँ पर अपने राजा की दुर्दशा देखकर बड़ा दुःख हुआ। उसने राजा से कहा कि हे महाराज! यदि आप इस झरोखे से नीचे बहने वाली नदी के बहाव में कूदकर उसे पार कर जाएं तो उस पार आपकी अपनी सारी सेना तैयार मिलेगी। राजा ने कहा कि यहाँ से नदी के बहाव में बिना मशक के सहारे कूदने से डूब जाने का भय है और अधिक ऊँचा होने के कारण सम्भव है यहाँ जाते जाते मशक भी फट जाय।

तब मन्त्री ने राजा से कहा कि राजन्! आप थोड़ी देर के लिए किसी बहाने से यहाँ से बाहर चले जायें। थोड़ी देर में जब यहाँ लौटेंगे तब आपको नदी में कूदने का सब सामान यहाँ तैयार मिलेगा। मंत्री की बात सुनकर राजा शौच्य के बहाने बाहर के शौच्यालय में चला गया। थोड़ी देर में जब वापस लौटकर आया तो उसने देखा कि मजबूत वस्त्रखण्ड से फाँसी लगाकर मन्त्री मरा हुआ पड़ा है और उसके वक्ष पर नाखून के द्वारा रक्त से यह वाक्य लिखा हुआ है— राजन्! मैं अभी मरकर आप के लिए फूली हुई हो करके भी न फूटने वाली मशक बन गया हूँ—अब आप मेरे ऊपर चढ़कर नदी पार कर जाइये। आपको थपेड़ों को सहारा देने के लिए मैंने अपनी पगड़ी का पट्टा बनाकर कमर में बाँध दिया है उस पर पैर रखकर आप तुरन्त नदी में कूद जाइये।"

अपने स्वामी के लिए मन्त्री का अद्भुत मात्म विसर्जन देखकर राजा जयापीड का मन उसकी स्वामिभक्ति पर अभिभूत हो गया मगर ज्यादा सोच-विचार करने का समय नहीं था। वह तुरन्त उस मृत शरीर के सहारे नदी में कूद पड़ा और तैर कर उस पार पहुँच गया। वहाँ अपनी तैयार सेना से मिलकर उसने तुरन्त आक्रमण कर दिया और राजा के समेत समस्त नैपाल देश को नष्ट कर डाला।

कल्हण के अनुसार जयापीड ने एक अगाध सरोवर को पटवा कर उस स्थान पर जयपुर नामक नगर बसाया। वहाँ ही एक बहुत बड़ा विहार बनवाकर उसमें उसने तीन बुद्ध मूर्तियाँ स्थापित की तथा उस नगर में 'बड़ा देवी' का भी एक विशाल मन्दिर बनवाया।

इसके अतिरिक्त उस राजा ने दूर से बड़े-बड़े विद्वानों को बुलाकर अपनी राजसभा में रखा। उस समय कश्मीर के राज्य में राजा के पद की अपेक्षा भी विद्वानों का पद बहुत ऊँचा सिद्ध हो गया था। 'क्षीर स्वामी' नाम के एक प्रसिद्ध वैयाकरण को बुलाकर उसने स्वयं उनसे महाभाष्य का अध्ययन किया। उसके धन्न देव का अधिकारी 'दामोदर' भी बड़ा विद्वान था। 'कुट्टनी मत' नामक कामशास्त्र ग्रन्थ का रचयिता दामोदर गुप्त उसके यहाँ मुख्य मन्त्री का काम करता था। इसी तरह 'मनोरथ शंखदत्त 'चटक' तथा सन्धिमान' इत्यादि कवि भी उसके दरबार में थे।

मगर अपने उत्तर काल में यही राजा अत्यधिक बड़ा दुष्ट और लोभी हो गया था। दिग्विजय के द्वारा दूसरे राज्यों को लूटने की अपेक्षा उसने अपनी प्रजा और किसानों को लूटना आरम्भ किया। अपने राज्य के अन्तिम तीन वर्षों में उसने अपनी गरीब प्रजा और कायस्थों पर क्रूरता पूर्ण अत्याचार किये और अपने उज्ज्वल जीवन को कालिमा मय बनाकर ११ वर्ष तक शासन करने के बाद मृत्यु को प्राप्त हुआ।

जयापीड का पुत्र ललितापीड बड़ा दुष्ट, कामी, गणिकाओं का प्रिय और दुश्चरित्र शासक था। यह राजा १२ वर्ष तक राज्य करके मर गया।

उसके बाद इस वंश में 'संग्रामपीड द्वितीय' 'चिप्पट जयापीड' 'अजितापीड' 'अनंगापीड' और 'उत्पलापीड' राजा और हुए। किन्तु ये सब अयोग्य, दुर्बल और दुराचारी थे। इनके समय में सारी सत्ता कुत्सित राज पुरुषों के हाथ में चली गई और ये सब राजा इनके हाथ की कठपुतली हो गये। इससे कर्कोटक वंश की शक्ति क्षीण हो गई और अन्त में सन् ८५५ ई० में इस वंश का पतन हो गया।

जब ललितापीड द्वितीय के साले उत्पलक नामक व्यक्ति के हाथ में कश्मीर के शासन की बागडोर गई और उसका वंश उत्पल वंश के नाम से मशहूर हुआ।

कर्जन (वायसराय)

अंग्रेजी साम्राज्य में भारत का एक प्रसिद्ध वायसराय जिसने सन् १८९९ ई० में यहाँ का शासन सँभाला।

लार्ड कर्जन एक ओर जहाँ बहुत चुस्त, बुद्धिमान परिश्रमी और शासन कुशल था, वहाँ दूसरी ओर बड़ा जिद्दी, तानाशाह और भारतीय जनता के प्रति घृणा की भावना रखनेवाला था। अपने स्वेच्छाचारी शासन के कारण उसने भारतीय जनता के अन्तर्गत असन्तोष और विद्रोह की भावनाएँ परिपुष्ट कर दीं। फिर भी उसके शासनकाल की कई घटनाएँ ब्रिटिश साम्राज्य के इतिहास में बड़ी महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं।

कर्जन की परराष्ट्रनीति

यहाँ आते ही सबसे पहले लार्ड कर्जन का ध्यान उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त की समस्या की ओर गया। ब्रिटिश सरकार रूस की बढ़ती हुई शक्ति को सदा चिन्ता की दृष्टि से देखती रहती थी और अफगानिस्तान के अमीर को हमेशा अपने प्रभाव क्षेत्र में रखना चाहती थी।

लार्ड कर्जन ने उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रदेश को शक्तिशाली बनाकर एक अलग प्रान्त का रूप दे दिया और उसका सीधा सम्बन्ध केन्द्रीय सरकार से जोड़ दिया।

इसके बाद उसने अफगानिस्तान के अमीर को स्वतंत्र शासक घोषित कर बादशाह की उपाधि से विभूषित किया। और उसकी आर्थिक सहायता पूर्ववत् चालू रखी। लार्ड कर्जन की यह व्यवस्था पूरी तरह सफल हुई और उसके बाद अफगानिस्तान से अंग्रेजों के सम्बन्ध अच्छे बन गये।

इसके साथ ही लार्ड कर्जन ने ईरान के प्रश्न को हल कर 'पर्शियन गल्फ' में अंग्रेजी प्रभुत्व स्थापित किया।

उसके शासन की सबसे महत्वपूर्ण घटना सन् १९०३ और सन् १९०४ में अंग्रेजी सेनाओं के द्वारा किया गया 'तिब्बत' का आक्रमण था। उन दिनों तिब्बत के निवासियों ने अंग्रेजी-राज्य के विरुद्ध सक्रिय विद्रोह करने का फैसला कर लिया था। उन्होंने अपने देश में रूसी-राजदूत का हृदय से स्वागत किया। उनके इस व्यवहार से लार्ड कर्जन बहुत नाराज हुआ और उसने अंग्रेजी सेनाओं को तिब्बत पर आक्रमण की आज्ञा दे दी। अंग्रेजी सेनाओं ने तिब्बत की राजधानी को चारों ओर से घेर लिया। तब यहाँ के शासक 'लामा' को बाध्य होकर एक ऐसे सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर करने पड़े जिसके अनुसार युद्ध-क्षतिपूर्ति के रूप में एक बड़ी धनराशि अंग्रेजों को दी गई और भविष्य में अंग्रेजों से मैत्री सम्बन्ध रखने का वचन दिया। लेकिन उसका यह कार्य ब्रिटिश सरकार को पसन्द नहीं आया। क्योंकि इससे चीन की सरकार बहुत नाराज हुई और ब्रिटिश सरकार चीन सरकार को नाराज नहीं करना चाहती थी।

लार्ड कर्जन की गृहनीति

लार्ड कर्जन के शासन की सबसे महत्वपूर्ण घटना जिसने भारतीय जनता के हृदय में स्थायी रूप से अंग्रेजी साम्राज्य के प्रति विद्रोह के बीज बो दिये—बंगाल का विभाजन था। उसने कुछ राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, हमेशा से एकमत चले आये, बंगाल प्रान्त को 'पूर्वी बंगाल' और 'पश्चिमी बंगाल' ऐसे दो भागों में विभक्त कर दिया। इससे बंगाल की जनता में और उसके साथ सम्पूर्ण भारतीय जनता में तीव्र असन्तोष व्याप्त हो गया। बंगाल के नवयुवकों ने इसके खिलाफ गुप्त क्रान्तिकारी संगठन की स्थापना कर बहुत से अंग्रेज अफसरों को मार डाला।

अन्त में इन तीव्र भावनाओं को देख कर ब्रिटिश सरकार ने फिर से बंगाल को एक कर दिया। मगर इसपर भी विद्रोह की जो भावनाएँ पैदा हो चुकी थीं, वे शान्त न हो सकीं।

लार्ड कर्जन ने भारत की देशी रियासतों के आन्तरिक मामलों में भी अनुचित दखल देना प्रारम्भ किया। उसने निजाम हैदराबाद के 'बरार' का प्रश्न बरार को लेकर तय किया और बरार को मध्यप्रदेश में शामिल कर लिया तथा निजाम की सेना को भारतीय सेना में मिला लिया।

लार्ड कर्जन के सुधार

लार्ड कर्जन ने कृषि की व्यवस्था को उन्नत करने के लिए कई कानून पास किये जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं—

(१) सस्पेन्शन ऐंड रेमीशन रिजोल्यूशन (Suspension and Remission Resolution) पास करके जिला कलक्टरों को यह अधिकार दिया गया कि वे अकाल और अनावृष्टि के समय किसानों का लगान माफ कर सकते हैं।

(२) पञ्जाब में उसने लैंड एलिनेशन-ऐक्ट (Land Alien Act) पास कर पञ्जाब के गरीब किसानों को साहूकारों के पंजे से मुक्त किया।

(३) खेती को प्रोत्साहन देने के विचार से उसने क्रेडिट कोआपरेटिव सोसायटियों (Credit-co-operative Society) की स्थापना की। इन सोसायटियों के द्वारा किसान कम ब्याज पर ऋण लेकर अपना काम चला सकता था।

(४) कृषि में नई खोजें करने के लिए उसने एक रिसर्च इंस्टीट्यूट की स्थापना की। इससे कृषि की उन्नति में बड़ी सहायता मिली।

(५) प्राचीन इतिहास की खोज करने के लिए उसने स्वतन्त्र रूप से पुरातत्व विभाग या आर्कियालाजिकल डिपार्टमेंट की स्थापना की। इस विभाग के द्वारा भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की खोज करने का भारी प्रयत्न हुआ। इनमें सबसे महत्वपूर्ण खोज 'मोहन-जोदड़ो' और 'हड़प्पा' की खुदाई से हुई।

(६) उसने सिंचाई, पुलिस और स्वास्थ्य विभाग में भी कई आवश्यक सुधार किये।

(७) सन् १९०४ में उसने एक 'युनिवर्सिटी एक्ट' पास किया। इस एक्ट के द्वारा विश्व विद्यालयों की स्वाधीनता का अपहरण किया गया और उनको एक प्रकार की राजकीय संस्था बना दिया गया। इस कानून का भारतीय विद्वानों की तरफ से प्रबल विरोध किया गया।

भारत के तात्कालिक प्रधान सेनापति लार्ड 'किचनर' के साथ तीव्र मतभेद हो जाने से लार्ड कर्जन अपने पद से त्याग-पत्र देकर इंगलैंड चला गया।

कर्ण सोलंकी

गुजरात में सोलंकी वंश का प्रसिद्ध राजा जिसका राज्यकाल है सन् १०७२ से १०९४ तक था। गुजरात के महान् प्रतापी राजा सिद्धराज जयसिंह का यह पिता था।

कर्णराज भीमदेव सोलंकी का पुत्र था। इसके राज्यकाल में गुजरात विदेशियों के आक्रमणों से मुक्त रहा। इसलिए इस राजा ने आस पास के जंगलों में बसी कोली और भील जाति को जीतकर अपने राज्य का विस्तार किया। ये जातियाँ उस समय कच्छ के छोटे रण के पूर्वीय भाग से साबरमती नदी तक फैली हुई थीं। इन जातियों के सरदार का नाम 'आशा' था जो अपने नामपर बसाये हुए 'आशापल्ली' नामक ग्राम में रहता था। यह 'आशापल्ली' अहमदाबाद के निकट स्थित है। कर्ण-

राज ने सरदार आशा पर आक्रमण करके उसे हरा दिया और इस विजय क उपलक्ष्य में कोचरदेव के मन्दिर का निमाण करवाया। अहमदाबाद के पास नदी के किनारे पर एक स्थान अभी तक इसी नाम से प्रचलित है।

प्रबन्ध चिन्तामणि के कर्ता आचार्य मेरुतुंग के अनुसार उसी स्थान पर कर्णराज ने एक मन्दिर जयन्ती देवी का और दो मन्दिर कर्णेश्वर एवं कर्णमेरु प्रसाद के नाम से बनाये। उसने अपने नामपर 'कर्णावती' नामक एक नगरी भी बसायी जो बाद में सम्भवतः अहमदाबाद के नाम से प्रसिद्ध हुई। उसने यहीं पर "कर्ण सागर" नामक एक सरोवर भी बनवाया।

गिरनार पर्वत पर बने हुए सुप्रसिद्ध नेमिनाथ के मन्दिर को भी इसी कर्णराज सोलंकी ने बनवाया था ऐसा कहा जाता है और इसीलिए इसे "कर्ण विहार" भी कहते हैं।

कर्णराज का एक विवाह चन्द्रपुर नगर के कदम्ब वंशी राजा जयकेशी की पुत्री मीनल देवी के साथ हुआ था। मगर किसी कारणवश विवाह के पश्चात् ही वह मीनल देवी से रुष्ट हो गया और उसने उससे बोलना बन्द कर दिया। कई प्रकार के प्रयत्नों के बावजूद भी वह उसकी ओर आकर्षित नहीं हुआ। यह देखकर कि इस प्रकार राजा निःसन्तान रह जायगा कर्णराज के इतिहास प्रसिद्ध मन्त्री मुञ्जाल मेहता ने एक चाल चली।

राजा कर्ण "मयुल्ला" नामक एक सुन्दर नर्तकी पर आसक्त था। उससे वह छिपकर मिलता रहता था। जब यह बात "मुञ्जाल" मन्त्री को मालूम हुई तो उसने एक बार राजा के द्वारा मयुल्ला से भेंट के लिए निश्चित किए हुए स्थान पर 'मीनलदेवी' को मयुल्ला की वेशभूषा पहना कर उस स्थान पर भेज दिया। कर्णराज मन्त्री के इस जाल में फँस गया और रानी उससे गर्भवती हो गई। रानी ने उससे चतुराई पूर्वक निशानी के रूप में एक अंगूठी भी ले ली जिससे आगे जाकर राजा इस बात से इन्कार न कर सके।

इस प्रकार रानी मीनल देवी के गर्भ से गुजरात का महान् पराक्रमी नरेश 'सिद्धराज जयसिंह' पैदा हुआ। कर्णराज की मृत्यु के पश्चात् जब तक सिद्धराज बालक रहा तब तक मीनल देवी ने, मुञ्जाल मेहता की सहायता से गुजरात पर जो चतुराई पूर्ण शासन किया उसके वर्णन में इस समय गुजराती भाषा में बहुत बड़ा साहित्य तैय्यार हो गया है।

कर्णावती

राजा कर्णराज सोलंकी द्वारा बसाई हुई गुजरात की प्रसिद्ध नगरी कर्णावती। जिसका नाम बाद में मुसलमान शासक 'अहमदशाह' के नाम पर अहमदाबाद कर दिया गया।

कर्ण-सुन्दरी

कश्मीर के महान् कवि 'बिल्हण' द्वारा गुजरात के राजा कर्ण सोलंकी के जीवन पर लिखा हुआ एक नाटक।

बिल्हण नामक कवि कश्मीर का रहने वाला था। उस समय कश्मीर पर अनन्तदेव का पुत्र कलशदेव राज्य करता था। बिल्हण ने अपने देश से निकल कर सारे भारत के प्रमुख प्रमुख तीर्थों और नगरों की यात्रा की थी। जब वह दक्षिण में चालुक्य-वंश के प्रतापी नरेश त्रैलोक्य-मल्ल की राजधानी कल्याणी में पहुँचा तो वहाँ के युवराज विक्रमांक देव ने उसका बहुत सत्कार किया। इसके उपलक्ष में उसने 'विक्रमांकदेव चरित' नामक महाकाव्य की रचना की।

वहाँ से वह गुजरात आया। उस समय यहाँ कर्णसोलंकी राज्य कर रहा था। राजा अपनी रानी मीनल देवी से रुष्ट था तब मीनलदेवी ने जिस चतुराई से राजा का गर्भ धारण करके सिद्धराज जयसिंह को जन्म दिया उसी कथानक को लेकर इस नाटक की रचना की गई है। इस नाटिका में पाँच अंक हैं।

कर्ण चेदिराज

कलचुरी हैहय वंश का इतिहास प्रसिद्ध महान् पराक्रमी राजा। जिसका समय सन् १ १८ से १ ८ तक था और जिसकी राजधानी जबलपुर से १ मील दूर त्रिपुर नामक

लार्ड कर्जन की गृहनीति

लार्ड कर्जन के शासन की सबसे महत्वपूर्ण घटना जिसने भारतीय जनता के हृदय में स्थायी रूप से अंग्रेजी साम्राज्य के प्रति विद्रोह के बीज बो दिए—बंगाल का विभाजन था। उसने कुछ राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, हमेशा से अखण्ड चले आये, बंगाल प्रान्त को 'पूर्वी बंगाल' और 'पश्चिमी बंगाल' ऐसे दो भागों में विभक्त कर दिया। इससे बंगाल की जनता में और उसके साथ सम्पूर्ण भारतीय जनता में तीव्र असन्तोष व्याप्त हो गया। बंगाल के नवयुवकों ने इसके खिलाफ गुप्त क्रान्तिकारी संगठन की स्थापना कर बहुत से अंग्रेज अफसरों को मार डाला।

अन्त में इन तीव्र भावनाओं को देख कर ब्रिटिश सरकार ने फिर से बंगाल को एक कर दिया। मगर इसपर भी विद्रोह की जो भावनाएँ पैदा हो चुकी थीं, वे शान्त न हो सकीं।

लार्ड कर्जन ने भारत की देशी रियासतों के आन्तरिक मामलों में भी अनुचित दखल देना प्रारम्भ किया। उसने निजाम हैदराबाद के 'बरार' का प्रश्न बरार को लेकर तय किया और बरार को मध्यप्रदेश में शामिल कर लिया तथा निजाम की सेना को भारतीय सेना में मिला लिया।

लार्ड कर्जन के सुधार

लार्ड कर्जन ने कृषि की व्यवस्था को उन्नत करने के लिए कई कानून पास किये जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं—

(१) सस्पेन्शन एंड रेमीशन रिजोल्यूशन (Suspension and Remission Resolution) पास करके जिला कलक्टरों को यह अधिकार दिया गया कि वे अकाल और अनावृष्टि के समय किसानों का लगान माफ कर सकते हैं।

(२) पञ्जाब में उसने लैंड एलियनेशन ऐक्ट (Land Alian Act) पास कर पंजाब के गरीब किसानों को साहूकारों के पंजे से मुक्त किया।

(३) खेती को प्रोत्साहन देने के विचार से उसने क्रेडिट कोआपरेटिव सोसायटियों (Credit-co-operative Society) की स्थापना की। इन सोसायटियों के द्वारा किसान कम ब्याज पर कर्ज लेकर अपना काम चला सकता था।

(४) कृषि में नई खोजें करने के लिए उसने एक रिसर्च इंस्टीट्यूट की स्थापना की। इससे कृषि की उन्नति में बड़ी सहायता मिली।

(५) प्राचीन इतिहास की खोज करने के लिए उसने स्वतन्त्र रूप से पुरातत्व विभाग या आर्किआलाजिकल डिपार्टमेंट की स्थापना की। इस विभाग के द्वारा भारत वर्ष के प्राचीन इतिहास की खोज करने का भारी प्रयत्न हुआ। इनमें सबसे महत्वपूर्ण खोज 'मोहन-जोदड़ो' और 'हड़प्पा' की खुदाई से हुई।

(६) उसने सिंचाई, पुलिस और स्वास्थ्य विभाग में भी कई आवश्यक सुधार किये।

(७) सन् १९०४ में उसने एक 'युनिवर्सिटी एक्ट' पास किया। इस एक्ट के द्वारा विश्व विद्यालयों की स्वाधीनता का अपहरण किया गया और उनको एक प्रकार की राजकीय संस्था बना दिया गया। इस कानून का भारतीय विद्वानों की तरफ से प्रबल विरोध किया गया।

भारत के तात्कालिक प्रधान सेनापति लार्ड 'किचनर' के साथ तीव्र मतभेद हो जाने से लार्ड कर्जन अपने पद से त्यागपत्र देकर इंगलैंड चला गया।

कर्ण सोलंकी

गुजरात के सोलंकी वंश का प्रसिद्ध राजा जिसका राज्यकाल ई० सन् १०७२ से १०९४ तक था। गुजरात के महान् प्रतापी राजा सिद्धराज जयसिंह का यह पिता था।

कर्णराज भीमदेव सोलंकी का पुत्र था। इसके राज्य-काल में गुजरात विदेशियों के आक्रमण से मुक्त रहा। इसलिए इस राजा ने आस पास के जंगलों में बसी कोली और भील जाति को जीतकर अपने राज्य का विस्तार किया। ये जातियाँ उस समय कच्छ के छोटे रण के पूर्वीय भाग से साबरमती नदी तक फैली हुई थीं। इन जातियों के सरदार का नाम "आशा" था जो अपने नाम पर बसाये हुए 'आशावल' नामक ग्राम में रहता था। यह 'आशावल' अहमदाबाद के निकट स्थित है। कर्ण-

कर्णदेव के पास ही रह गई थी। जब दूसरी बार मलिक काफूर के सेनापतित्व में मुसलमानी सेना ने गुजरात पर हमला किया तब कर्णा बघेला से यह लड़की भी उसने छीन ली और अलाउद्दीन के शाहजादे खिजर खाँ की बेगम बना दी गयी।

इस प्रकार सन ११ ४ म इस बघेले और इतमाम्य राजा का अन्त हो गया।

कर्णसिंह

मेवाड़ के एक राणा जो महाराणा प्रताप के पौत्र और राणा अमर सिंह के बड़े पुत्र थे। सन् १६२१ में ये गद्दी पर बैठे। राणा कर्णसिंह के समय में मेवाड़ की स्थिति बड़ी खराब हो गई थी। मुगल साम्राज्य से लगातार लड़ते लड़ते उसकी शक्ति बहुत क्षीण हो गई थी और खजाना खाली हो गया था। सन् १६११ में युवराज अवस्था म शाहजादा खुर्रम के साथ की लड़ाई में वे हार गये उसके बाद अमर सिंह की भी हार हुई तब सन्धि होने पर कर्णसिंह शाहजादा खुर्रम के साथ सम्राट जहाँगीर से मिलने अजमेर गये। सम्राट ने इनका बड़ा सत्कार किया और अपनी दाहिनी ओर बिठाया।

कर्ण के राजगद्दी पर आने के बाद मेवाड़ म शान्ति हो गई। इसके बाद इन्होंने अपनी राजधानी क नए भवनों को फिर से बनवाया। सन् १६२८ म इनकी मृत्यु हो गई।

कर्नाटक

मदरास प्रान्त के पूर्वीघाट कुमारी अन्तरीप से उत्तर और कारो मण्डल तट के बीच का भाग कर्नाटक कहलाता है। यह नाम अग्रेजों का दिया हुआ है, इसका प्राचीन नाम कर्णाट प्रदेश था। आधुनिक कर्नाटक में बेलगाँव धारवाड़ बीजापुर और कोल्हापुर के जिले शामिल हैं।

प्राचीन कर्नाट-प्रदेश की सीमाओं का वर्णन करते हुए शक्ति-संगम-तन्त्र नामक संस्कृत ग्रन्थ म लिखा है—

> रामनार्थं समारम्य श्री रंगातं त्रिमेश्वरी।
> कर्णाट-देशो देवेशि साम्राज्य-भोगदायकः।

अर्थात् रामनाथ से लेकर श्री रंग की सीमा तक कर्णाट देश है।

कर्णाट के राजवंशों के शिलालेखों से यह पता चलता है कि वर्तमान मैसूर' के उत्तरी भाग से बीजापुर के भू-भाग को कर्णाट कहते थे।

प्राचीन कर्नाट देश की सीमाएँ समय समय पर बदलती रही है। इस प्रदेश म प्राचीन काल में तीन राजधानियाँ थीं और तीनों राजधानियों में तीन वंशों का शासन चलता रहा। मदुरा पाण्ड्य राजवंश की, कांची पल्लव राजवंश की और तंजोर चोल-वंश की राजधानी थी। इनम जब एक राजवंश प्रबल होता था तो उसकी सीमाएँ बढ़ जाती थीं और दूसरे राजवंश दब जाते थे। इस प्रकार यह कार्यक्रम कई शताब्दियों तक चलता रहा।

पाण्डय-राजवंश

प्राचीन काल के अन्तर्गत इस प्रदेश म बड़े-बड़े राज वंशों का अभ्युदय हुआ था। शुरू-शुरू में यह प्रदेश पाण्ड्य और 'चोल राजवंशों म बटा हुआ था। पाण्ड्य राज्य की राजधानी मदुरा-जिसको दक्षिण मदुरा भी कहते हैं—अत्यन्त प्राचीन नगरी है। ईस्वी सन् के बहुत पहले से इस नगरी की स्थिति का पता लगता है। ईस्वी सन् के प्रारम्भ के लगभग यहाँ का पाण्डय राज्य अत्यन्त उन्नत अवस्था म था। रोम के सम्राटों तक से उसके राजनैतिक सम्बन्ध थे।

ईस्वी सन् पूर्व २५ म तत्कालीन पाण्ड्य-नरेश ने रोम के सम्राट 'ऑगस्टस के दरबार म एक जैन-श्रमण को अपना राजदूत बनाकर भेजा था। राजधानी मदुरा में ही सबसे पहले तामिल भाषा के संगम-साहित्य की स्थापना हुई थी। दूसरी सदी स छठी सदी तक पाण्ड्य-वंश की शक्ति बहुत क्षीण हो गई थी। छठी शताब्दी क अन्त में कडुङ्ग नामक राजा न पाण्ड्य वंश की शक्ति का पुन रुद्धार किया।

कडुङ्ग के पश्चात् मन्दु मारन इस वंश मे प्रतापी राजा हुआ। ८वीं शताब्दी में श्री मारन श्री वल्लभ पाण्ड्य वंश का प्रसिद्ध राजा हुआ। इसका समय सन ८१ से ८६२ तक था। इस राजा न सिंहल द्वीप पर भी आक्रमण किया था और पल्लव नरेश नन्दि वर्मन' और 'नृपतुङ्ग वर्मन' को हरा कर अपने राज्य का विस्तार किया था।

नगर में थी। यह नगर इस समय 'तिवर' नामक एक छोटे गाँव के रूप में अवस्थित है।

राजा कर्ण त्रिपुर के 'गांगेय' नामक राजा का पुत्र था। यह राजवंश पुराणकालीन सहस्रार्जुन नामक प्रसिद्ध राजा के हैहय-वंश में था।

राजा कर्ण बड़ा पराक्रमी, साहसी और महत्वाकांक्षी नरेश था। इसकी सत्ता बनारस से आगे बिहार तक फैली हुई थी। बनारस में इसने कर्ण मेरु नामक मन्दिर का निर्माण करवाया। कवि के लेखों में इसे 'त्रिकलिंगाधिपति' भी कहा गया है। इससे पता लगता है कि चालुक्य राजाओं से इसने तेलंगाने का भी सारा हिस्सा छीन लिया था। अपनी राजधानी के नजदीक "कर्णवती" नामक एक नगर बसाकर इसने ब्राह्मणों को अक्षोत्तर सम्पत्ति के रूप में दान कर दिया था। यह ग्राम इस समय 'तिवर' के पास "कर्ण बेल" के नाम से प्रसिद्ध है।

कवि के शिलालेखों से मालूम होता है कि इस प्रतापी राजा ने चालुक्य, पाण्ड्य, मुरल, अंग, बंग, कलिंग इत्यादि देशों पर अपनी विजयपताका फहराई। भम्पारण्य को इसने विजय कर लिया। आयसवाल के मतानुसार यह चम्पारण्य बिहार प्रान्त का चम्पारन जिला है। इन्हीं लेखों के अनुसार १३६ राजा उसकी सेवा में उपस्थित रहते थे। परमारों की नागपुर प्रशस्ति में लिखा है कि भोज की मृत्यु के पश्चात् उसने मालवा को भी कुचल कर दिया और भोज के पुत्र को देश से बाहर भगा दिया। मगर कवि के लेखों में इस बात का उल्लेख नहीं मिलता।

कर्णराज के ही समय का एक लेख और मिलता है जिसमें इसकी दिग्विजय का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इस प्रतापी राजा ने दक्षिण में चोल और पाण्ड्य, पूर्व में हूण और गौड़ तथा उत्तर में गुर्जर और कीर देशों को विजय किया। इससे पता चलता है कि उत्तर में उसकी विजय हिमालय तक पहुँच गई थी। सम्भव है उत्तर में तुर्कों की अधीनता स्वीकार करनेवाले गुर्जर या प्रतिहार राजा पर चढ़ाई कर कर्णराज ने उसे जीत लिया हो और तुर्कों को देश से बाहर मार भगाया हो।

कर्ण की रानी आवल्लदेवी हूण राजकन्या थी। कर्णराज से इसको यश:कर्ण नामक पुत्र हुआ जो कर्ण के बाद राजा हुआ। यश:कर्ण की नाबालिग अवस्था में अवल्लदेवी ने भी कई वर्षों तक राज्य किया। यह रानी भी बड़ी वीर और साहसी थी। इसने भी कई राज्यों को जीतकर अपने राज्य में मिलाया (पूरा वर्णन पहले खण्ड में 'अवल्ल देवी' नाम में देखें)।

इस प्रकार चेदिराज कर्ण ने अपने कलचुरी राजवंश के यश को सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दिया।

कर्ण बघेला

अनहिलवाड़ पट्टन (गुजरात) में बघेला-वंश का अन्तिम राजा जिसका राज्यकाल सन् १२९६ से १३०४ तक रहा।

गुजरात में सुप्रसिद्ध सोलंकी या चालुक्य वंश का शिखर भीमदेव द्वितीय की मृत्यु (सन् १२१५) हो जाने पर अस्त हो गया और कुछ समय की अराजकता के पश्चात् वहाँपर बघेला राजवंश के राज्य का प्रारम्भ हुआ। कर्णदेव बघेला इस राजवंश का चौथा और अन्तिम नरेश था।

जिस समय कर्णदेव बघेला गद्दी पर बैठा ठीक उन्हीं दिनों दिल्ली में अपने चाचा जलालुद्दीन खिलजी की हत्या कर अलाउद्दीन खिलजी गद्दीपर बैठा। इस सम्राट् ने गद्दीपर बैठते ही चारों ओर दिग्विजय करने की ठानी और गुजरात विजय करने के लिए इसने अपने भाई अलफ खाँ और नुसरत खाँ जालेसरी की अधीनता में अपनी सेना भेजी।

यह भी किंवदन्ती है कि कर्णदेव बघेला ने अपने मन्त्री केशव को मरवा कर उसकी सुन्दरी स्त्री को अपने रनिवास में रख लिया इसीसे दुःखी होकर केशव का भाई माधव दिल्ली जाकर कर्ण बघेला के विरुद्ध अलाउद्दीन की सेना को चढ़ा लाया।

इस विशाल मुसलमानी सेना को देखकर कर्णदेव के छक्के छूट गये और वह भाग खड़ा हुआ। इस भाग दौड़ में उसकी सबसे सुन्दर रानी कौलादेवी भी छूट गई और वह मुसलमानों के हाथ पड़ गई और सुलतान अलाउद्दीन के जनानखाने में पहुँचा दी गई। जो आगे चलकर सुलतान की सबसे प्रेमपात्री बेगम बनी। उसकी लड़की देवलदेवी

पल्लव राजवंश

कर्नाटक का तीसरा राजवंश पल्लव राजवंश था। इसकी राजधानी कांची या कॉंजीवरम् में थी।

इस वंश की स्थापना दूसरी सदी के उत्तरार्ध में हुई थी। यह प्रदेश उस काल में तोंडैनाट कहलाता था। ऐसी किम्वदन्ती है कि कलिक वर्मन चोल के एक पुत्र के साथ मणिपल्लवम् द्वीप की 'नागराज-कन्या का विवाह हुआ था। इस विवाह सम्बन्ध से उत्पन्न चूड़ पल्लव' नामक व्यक्ति पल्लव वंश का मूल संस्थापक था। आन्ध्र शातवाहन राजाओं के करद सामन्त के रूप में स्कन्द गुप्त नाग यहाँ का शासन करता था। चूड़ पल्लव को इन्हीं के उत्तराधिकार के रूप में इस प्रदेश का राज्य मिला था।

चूड़ पल्लव का पुत्र वीरकूर्च पल्लव वंश का पहला उल्लेखनीय राजा था। मगर ये लोग आन्ध्र राजाओं के सामन्त के रूप में ही रह रहे थे। किन्तु तीसरी सदी में आन्ध्रों की शक्ति कमजोर पड़ने पर ये लोग स्वतन्त्र हो गये और आन्ध्र साम्राज्य के कृष्णा नदी से लेकर अरब सागर तक के समस्त दक्षिणी भाग पर इन्होंने अधिकार कर लिया था।

इसके पश्चात् इस वंश में 'शिवस्कन्द वर्मन' 'सिंह वर्मन प्रथम' बुद्ध वर्मन और उसके बाद कुमार विष्णु राजा हुआ। इसका समय सन् ३२५ से सन् ३५० तक था। सन् ५५ ईसवी तक पल्लव वंश की चूड़ पल्लव द्वारा स्थापित पहली शाखा और कुमार विष्णु द्वारा स्थापित दूसरी शाखा का अन्त हुआ और सन ५५ के पश्चात् सिंहविष्णु पल्लव से पल्लवों की तीसरी शाखा का प्रारम्भ हुआ।

इसी शाखा के समय पल्लव राज्य का चरम विकास हुआ। सिंह विष्णु के आश्रय में 'किरातार्जुनीय' के लेखक महाकवि भारवि ने अपने जीवन के कुछ अन्तिम वर्ष बिताये थे।

सिंह विष्णु का उत्तराधिकारी महेन्द्र वर्मन प्रथम हुआ। इसका समय सन् ६ से ६३ ईसवी तक था। यह राजा जैन धर्म का अनुयायी। इस राजा ने कई जैन मन्दिर और सित्तन वासल की गुफाएँ बनवाईं। सुदूर दक्षिण में 'पाषाणीय गुफा मन्दिरों' का निर्माण करवानेवाला यह पहला राजा था। इन मन्दिरों के निर्माण के कारण इसे 'चैत्य कन्दर्प' की उपाधि मिली थी। बाद में किसी गुरु के उपदेश से यह शैव हो गया था। शैव होने के बाद इसने जैन लोगों पर अत्याचार भी किये।

महेन्द्र वर्मन के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी 'नरसिंह वर्मन' प्रथम एक प्रतापी नरेश था। इसका समय सन् ६३ से सन् ६६८ तक था इसी के समय में चीनी यात्री 'हुएन संग' कांची में आया था।

इसके पश्चात् महेन्द्र वर्मन द्वितीय नरसिंह वमन द्वितीय और परमेश्वर वर्मन हुए। परमेश्वर वमन पल्लव वंशकी तीसरी शाखा का अन्तिम नरेश था।

सन् ७५ में नन्दी वर्मन पल्लव ने इस सिंहासन पर अधिकार करके पल्लव-वंश की चौथी शाखा का सूत्रपात किया। इसी राजा के समय में सुप्रसिद्ध वैष्णव सन्त 'तिरुमंगै आळ्वार' हुए। यह राजा भी उनका अनुयायी बना। इसी के शासन-काल में सन् ७७ ई में कांची प्रदेश से चोलों को निकाल कर लंका के कौनी प्रदेश में भेज दिया। इस राजा ने कांची में विष्णु का एक बहुत बड़ा मन्दिर बनवाया।

इसके पश्चात् इसका पुत्र 'दन्ति वमन' उसके पश्चात् 'नन्दि वर्मन' तृतीय 'नृपतुंग' वम्मन और अपराजित नामक राजा हुए।

दसवीं शताब्दी में चोल राजाओं के अभ्युत्थान ने पल्लव वंश का अन्त कर दिया।

विजय नगर साम्राज्य

मलिक काफूर के सेनापतित्व में अलाउद्दीन की सेनाओं ने दक्षिण के कई प्रसिद्ध राजवंशों का अन्त कर दिया किन्तु वह कर्नाटक के निवासियों की देशभक्ति और स्वातन्त्र्य प्रेम का अन्त नहीं कर सका। जिसके फलस्वरूप बहुत ही थोड़े समय में कर्नाटक में विजयनगर साम्राज्य के रूप में एक नवीन प्रेरणा और उत्साह के साथ एक हिन्दूराज्य उदय हुआ। मध्यकाल का विजयनगर-साम्राज्य भारतवर्ष के इतिहास की एक अभूतपूर्व और देदीप्यमान कृति थी। जिन विषम परिस्थितियों के बीच विजयनगर साम्राज्य की स्थापना निर्माण और विकास हुआ वे अत्यन्त कठिन और दुरूह थीं। फिर भी उन परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर इस साम्राज्य के संस्थापकों ने इतिहास में अपना नाम अमर कर लिया।

किन्तु उसके अन्तिम वर्षों में सिंहल के राजा 'सेन द्वितीय' ने तथा काञ्ची के 'नृपतुंग वर्मन' ने उस पर आक्रमण करके उसे बुरी तरह पराजित किया।

इसके बाद १३वीं शताब्दी में पाण्ड्य वंश ने फिर से शक्ति पकड़ी। इस काल में पाण्ड्य नरेश 'मारवर्मन कुल शेखर' बड़ा प्रतापी हुआ। इसका समय सन् १२६८ से १३११ ई. तक था। इस राजा ने सन् १२८४ ई. में 'लंका' पर भी विजय प्राप्त की थी। इसी के समय में 'मार्को पोलो' नामक इटली का प्रसिद्ध यात्री भारत आया था। उसने यहाँ का वर्णन लिखते हुए लिखा है कि 'उस समय पाण्ड्य देश उन्नत अवस्था में था। इस देश में जैन धर्म का अच्छा प्रभाव था और बहुत से जैन मन्दिर बने हुए थे।

सन् १३११ ई. में अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण ने मदुरा के पाण्ड्य राज्य को हमेशा के लिए समाप्त कर दिया।

चोल राजवंश

ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में 'उरगपुर' का चोल-राजवंश अपनी उन्नत अवस्था में था। इसकी सीमाएँ कावेरी नदी के किनारे 'पदु कोट्टाई' तक फैली हुई थीं, पर ईसा की तीसरी शताब्दी से पल्लव राजवंश का उदय हो जाने से चोल राजवंश बहुत कमजोर पड़ गया।

ईसा की ९वीं सदी में तंजावूर नगर में 'विजयालय चोल' नामक व्यक्ति ने चोल राज्य का पुनरुत्थान कर अपने वंश की पुनः स्थापना की। उसका उत्तराधिकारी 'आदित्य चोल' हुआ। इसने चोल वंश को पल्लवों की सत्ता से मुक्त कर शक्ति सम्पन्न बनाया।

इसके पश्चात् इस राजवंश में राजराजा चोल अत्यन्त महान् नरेश हुआ। इसका समय सन् ९८५ से १०१४ तक रहा है। यह भारी विजेता था। इसने सम्पूर्ण तामिल देश, मदरास, कर्नाटक और लंका के बड़े भाग को भी विजय कर अपने साम्राज्य का भारी विस्तार किया। अन्त में उसने पश्चिमी चालुक्य-राजा 'सत्याश्रय' पर चढ़ाई कर उसको भी पूर्णरूप से पराजित कर दिया। इस समय उसकी सेना के सैनिकों की संख्या ९ लाख थी।

इस राजा ने तंजावूर में राजेश्वर का एक विशाल मन्दिर बना कर दक्षिण देश में अपने नाम को अमर कर दिया। यह मन्दिर दक्षिण प्रदेश के सुप्रसिद्ध मन्दिरों में से एक है।

राजराजा चोल का उत्तराधिकारी राजेन्द्र चोल भी बड़ा प्रतापी हुआ। इसका समय सन् १०१४ से १०४२ तक था। इसने अपनी विजय वाहिनी को उत्तर में गंगा तट तक पहुँचा दिया और दक्षिण में समुद्र पार के देशों को भी विजय किया। इस विजय के उपलक्ष में उसने 'गंगैकोण्ड' की पदवी धारण की और त्रिचनापल्ली के नजदीक 'गंगैकोण्ड चोलपुरम्' नामक नगर बसाया। इसके समय में चोल साम्राज्य का वैभव अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। प्रसिद्ध यात्री 'अलबेरूनी' ने लिखा है कि 'प्रयाग से लेकर आग्नेय दिशा के समस्त प्रदेश, मदरास, मध्य प्रदेश और निजाम के राज्य का पूर्वी भाग चोलों के अधिकार में था।

राजेन्द्र चोल के पश्चात् उसका पुत्र 'राजाधिराज' गद्दी पर बैठा। यह बड़ा क्रूर था। ईसवी सन् १०५२ में कोप्पम के युद्ध में यह मारा गया।

इसके पश्चात् इसका छोटा भाई 'राजेन्द्र देव' राजा हुआ। इसने सन् १०५२ से १०६२ तक राज्य किया।

उसके बाद उसका भाई 'वीर राजेन्द्र' राजा हुआ। इसने जैन धर्मावलम्बियों पर बहुत अत्याचार किया। सन् १०७० की लड़ाई में यह मारा गया।

इसके पश्चात् प्रथम राजेन्द्र की लड़की का लड़का द्वितीय राजेन्द्र राजा हुआ और इसने सन् १०७० से १११८ तक राज्य किया। इसी के समय में वैष्णव-मत के महान आचार्य रामानुजाचार्य हुए। इस दूसरे राजेन्द्र ने 'कुलोत्तुंग' की पदवी धारण की। इस वंश का अन्तिम महान् नरेश राजराजा तृतीय हुआ। इसने सन् १२१६ से १२४८ तक राज्य किया।

इसके बाद पाण्ड्य नरेश 'जटावर्मन सुन्दर' पाण्ड्य ने चोलवंश की सत्ता को समाप्त कर दिया।

उसके पश्चात् अलाउद्दीन के सेनापति 'मलिक काफूर' ने चोल और पाण्ड्य दोनों ही वंशों की सत्ता को सदा के लिए समाप्त कर दिया।

पल्लव राजवंश

कर्नाटक का तीसरा राजवंश पल्लव राजवंश था। इसकी राजधानी काञ्ची या कॉञ्जीवरम् में थी।

इस वंश की स्थापना दूसरी सदी के उत्तरार्ध में हुई थी। यह प्रदेश उस काल में तोंडैम नाड कहलाता था। ऐसी किंवदन्ती है कि कालिक वर्मन चोल के एक पुत्र के साथ मणिपल्लवम् द्वीप की 'नागराज-कन्या का विवाह हुआ था। इस विवाह सम्बन्ध से उत्पन्न 'चूटु पल्लव' नामक व्यक्ति पल्लव वंश का मूल संस्थापक था। आन्ध्र सातवाहन राजाओं के करद सामन्त के रूप में सन्‌ गुप्त नाम यहाँ का शासन करता था। चूटु पल्लव को इसी के उत्तराधिकार के रूप में इस प्रदेश का राज्य मिला था।

बुद्ध पल्लव का पुत्र वीरकूर्च पल्लव वंश का पहला उल्लेखनीय राजा था। मगर ये लोग आन्ध्र राजाओं के सामन्त के रूप में ही रह रहे थे। किन्तु तीसरी सदी में आन्ध्रों की शक्ति कमजोर पड़ने पर ये लोग स्वतन्त्र हो गये और आन्ध्र साम्राज्य के कृष्णा नदी से लेकर अरब सागर तक के समस्त दक्षिणी भाग पर इन्होंने अधिकार कर लिया था।

इसके पश्चात् इस वंश में 'शिवस्कन्द वर्मन सिंह वर्मन प्रथम 'बुद्ध वर्मन और उसके बाद कुमार विष्णु राजा हुआ। इसका समय सन् ३२५ से सन् ३५५ तक था। सन् ५५५ ईसवी तक पल्लव वंश की चूटु पल्लव द्वारा स्थापित पहली शाखा और कुमार विष्णु द्वारा स्थापित दूसरी शाखा का अन्त हुआ और सन् ५७५ के पश्चात् सिंहविष्णु पल्लव से पल्लवों की तीसरी शाखा का प्रारम्भ हुआ।

इसी शाखा के समय पल्लव राज का चरम विकास हुआ। सिंह विष्णु के आश्रय में 'किरातार्जुनीय के लेखक महाकवि भारवि ने अपने जीवन के कुछ अन्तिम वर्ष बिताये थे।

सिंह विष्णु का उत्तराधिकारी महेन्द्र वर्मन प्रथम हुआ। इसका समय सन् ६०० से ६३० ईसवी तक था। यह राजा जैन धर्म का अनुयायी। इस राजा ने कई जैन मन्दिर और सित्तन्नवासल की गुफाएँ बनवाईं। सुदूर दक्षिण में 'पाण्डीय गुफा मन्दिरों' का निर्माण करानेवाला यह पहला राजा था। इन मन्दिरों के निर्माण के कारण इसे 'चैत्य कन्दर्प' की उपाधि मिली थी। बाद में किसी गुरु के उपदेश से यह शैव हो गया था। शैव होने के बाद इसने जैन लोगों पर अत्याचार भी किये।

महेन्द्र वर्मन के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी 'नरसिंह वर्मन प्रथम एक प्रतापी नरेश था। इसका समय सन् ६३० से सन् ६६८ तक था इसी के समय में चीनी यात्री 'हुएन सांग काञ्ची में आया था।

इसके पश्चात् महेन्द्र वर्मन द्वितीय नरसिंह वर्मन द्वितीय और परमेश्वर वर्मन हुए। परमेश्वर वर्मन पल्लव वंशवाली तीसरी शाखा का अन्तिम नरेश था।

सन् ७४० में 'नन्दी वर्मन' पल्लव ने इस सिंहासन पर अधिकार करके पल्लव-वंश की चौथी शाखा का सूत्रपात किया। इसी राजा के समय में सुप्रसिद्ध वैष्णव सन्त 'आलवार हुए। यह राजा भी उनका अनुयायी बना। इसी के शासन-काल में सन् ७५० ई० में काञ्ची प्रदेश से बौद्धों निकाल कर लंका के कैंडी प्रदेश में भेज दिया। इस राजा ने काञ्ची में विष्णु का एक बहुत बड़ा मन्दिर बनवाया।

इसके पश्चात् इसका पुत्र 'दन्ति वर्मन उसके पश्चात् 'नन्दि वर्मन तृतीय 'नृपतुंग वर्मन और अपराजित नामक राजा हुए।

दसवीं शताब्दी में चोल राजाओं के अभ्युत्थान ने पल्लव वंश का अन्त कर दिया।

विजय नगर साम्राज्य

मलिक काफूर के सेनापतित्व में अलाउद्दीन की सेनाओं ने दक्षिण के कई प्रसिद्ध राजवंशों का अन्त कर दिया किन्तु वह कर्नाटक के निवासियों की देशभक्ति और स्वातन्त्र्य प्रेम का अन्त नहीं कर सका। जिसके फलस्वरूप बहुत ही थोड़े समय में कर्नाटक में विजयनगर साम्राज्य के रूप में एक नवीन प्रेरणा और उत्साह के साथ एक हिन्दूराज्य उदय हुआ। मध्यकाल का विजयनगर-साम्राज्य भारतवर्ष के इतिहास की एक अद्भुत और दर्शनीय सृष्टि थी। जिन विषम परिस्थितियों के बीच विजयनगर-साम्राज्य की स्थापना निर्माण और विकास हुआ वे अत्यन्त कठिन और दुस्तर थीं। फिर भी उन परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर इस साम्राज्य के संस्थापकों ने इतिहास में अपना नाम अमर कर दिया।

इस साम्राज्य के मूल संस्थापक संगम नामक एक छोटे सरदार के पाँच वीर पुत्र थे। ये पाँचों भाई दक्षिण देश के भिन्न भिन्न सामन्त-सरदारों को अपने नेतृत्व में संगठित कर उस क्षेत्र से मुसलमानों को निकाल बाहर करने में जुट गये।

सन् १३३६ ई० में तुंगभद्रा नदी के उत्तरी तट पर इन्होंने प्राचीन दुर्ग 'अनेगुंडी' के सामने विजयनगर शहर की नींव डाली। सन् १३४३ ई० में यह विशाल और सुन्दर नगर बनकर तैयार हुआ और सन् १३४६ ई० में 'स्वतन्त्र विजय नगर राज्य' की बाकायदा स्थापना हुई।

इस बीच भयंकर संघर्ष में तीन भाइयों की मृत्यु हो चुकी थी। सिर्फ दो भाई 'हरिहर राय' और 'बुक्काराय' जीवित थे। हरिहर राय बड़ा होने की वजह से इस राज्य का पहला अभिषिक्त नरेश हुआ। इसने सन् १३४६ से सन् १३५५ तक राज्य किया।

हरिहर प्रथम के बाद उसका छोटा भाई बुक्का राय राजा हुआ। इसने सन् १३५५ से सन् १३७७ तक राज्य किया। पूर्वी और पश्चिमी घाटों के मध्यवर्ती प्रदेश पर बुक्का राय का एकाधिपत्य प्रमुख था।

बुक्का राय के पश्चात् उसका पुत्र 'हरिहर द्वितीय' गद्दी पर बैठा। इसका समय सन् १३७७ से सन् १४०४ तक था। इस राजा के समय में 'श्रवणबेलगोला' के प्रसिद्ध जैन तीर्थ स्थान पर सन् १४   ई० में एक भारी उत्सव सम्भवतया 'गोमटेश्वर' के महामस्तकाभिषेक का हुआ था जिसमें दूर दूर के असंख्य यात्री सम्मिलित हुए थे।

इसके पश्चात् इस वंश में 'बुक्काराय द्वितीय' देवराय प्रथम और वीर-विजय नामक राजा हुए।

वीर विजय का पुत्र 'देवराय द्वितीय' हुआ। इसका समय सन् १४१९ से सन् १४४६ तक था। सन् १४३१-३२ ई० में देवराय के एक सामन्त कार्कल नरेश 'भैरव राय' के एक पुत्र 'वीर पाण्ड्य' ने कारकल में और प्रसिद्ध बाहुबली की एक उत्तम मूर्ति प्रतिष्ठित कराई थी। उसके समारोह में देवराज स्वयं आये थे।

देवराय के पश्चात् संगम वंश की अवनति होने लगी। उसके उत्तराधिकारी मल्लिकार्जुन, विरूपाक्ष और प्रौढ़ राय बहुत निर्बल शासक हुए। तब इनके प्रधान मंत्री "नरसिंह सालुव" ने सन् १४८६ में इस वंश के राजा 'विरूपाक्ष' को गद्दी से उतार कर विजय नगर का राज्य हस्तगत कर लिया। इसका शासन सन् १४८६ से सन् १४९२ ई० तक रहा। इतने थोड़े समय में ही इसने दक्षिण के सम्पूर्ण तामिल देश को फिर से विजय करके विजयनगर राज्य को समृद्ध बनाया। इसका शासन इतना अच्छा था कि यूरोप के यात्रियों ने कई स्थानों पर विजय-नगर राज्य का उल्लेख 'नरसिंह का राज्य' कह कर किया है।

इसके पुत्र 'इम्मडी नरसिंह' ने भी सन् १४९२ से १५०५ ई० तक राज्य किया। मगर इसके बाद 'नरस-नायक' नामक एक सामन्त ने इसकी हत्या कर डाली और स्वयं विजयनगर का राजा बन बैठा। मगर यह अधिक समय तक राज्य नहीं कर सका और एक वर्ष के भीतर ही 'नरसिंह भुजबल' इसे हटाकर विजय नगर का राजा हुआ।

इसके पश्चात् विजयनगर के मंच पर कृष्णदेव राय अवतीर्ण होते हैं। इनका समय सन् १५०९ से १५२९ ई० तक था। विजय नगर के नरेशों में यह सबसे अधिक प्रसिद्ध, प्रतापी, शक्तिशाली और महान् था।

सन् १५२० ई० में इसने 'रायचूर' के प्रसिद्ध युद्ध में बीजापुर के सुल्तान इस्माइल आदिल शाह पर शानदार विजय प्राप्त करके बीजापुर पर भी अधिकार प्राप्त कर लिया। यह राजा अत्यन्त उदार, दयालु और सब धर्मों के प्रति समदर्शी था।

कृष्णदेव राय के पश्चात् इस वंश में 'अच्युत राय' और 'सदाशिव राय' राजा हुए। सदाशिवराय का मंत्री राम राजा अत्यधिक सम्पन्न था। सदाशिव राय के समय में सन् १५६४ ई० में विजयनगर का विनाश करने के लिए अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुंडा और बीदर के सुल्तान संगठित होकर अपनी सेनाओं के साथ चल पड़े। इस भयंकर संग्राम में मुसलमान सेनाओं ने विजयनगर की सेनाओं को बुरी तरह से पराजित किया। इस लड़ाई में विजय नगर के एक लाख सैनिक मारे गये और राजधानी विजयनगर को मुसलमानों ने पाँच महीने तक इस बुरी तरह लूटा और नष्ट किया कि देव प्रतिमाओं की पवित्रता, शिल्पकृतियों की कलात्मकता, स्त्रियों का सतीत्व और बच्चों की असहायता किसी की भी कोई रक्षा न हो सकी।

इसके पश्चात् भी १७वीं शताब्दी के मध्य तक लग-भग सवा सौ वर्ष पर्यन्त 'रामराजा' के भागे हुए वंशज

चन्द्रगिरि को राजधानी बना कर विजयनगर राज्य के नाम पर उसकी परम्परा को चलाते रहे।

विजयनगर-साम्राज्य के पतन के पश्चात् १७वीं शताब्दी में यह प्रदेश तीन छोटे-छोटे हिन्दू राज्यों में विभक्त हो गया, जिनकी राजधानियाँ मदुरा, तंजौर और काञ्ची में थीं।

१७वीं शताब्दी के अन्त में औरंगजेब की सेनाओं ने इस प्रदेश पर हमले किये और जुल्फिकार अली को कर्नाटक का नवाब बनाया गया। उसके पश्चात् यह प्रदेश हैदर अली, टीपू सुल्तान, मरहठे, फ्रांसीसी तथा अंग्रेजों के राजनैतिक संघर्ष का अखाड़ा बन गया। हैदर अली और टीपू सुल्तान ने अंग्रेजों के विरुद्ध अत्यन्त शौर्य का प्रदर्शन किया। मगर आपस की फूट के कारण उनको सफलता प्राप्त नहीं हुई और अन्त में यह प्रान्त अंग्रेजों के शासन में आ गया।

सन् १८०१ में एक सन्धि के अन्तर्गत यह राज्य निज़ाम को सौंप दिया गया, मगर सन् १८५१ में 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' ने इस प्रदेश पर अधिकार कर लिया।

—

कर्बला

मुसलमानों का एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान, हजरत अली के पुत्र 'इमाम हुसेन' के शहीद होने की जगह, जहाँ पर सन् ६८० ई० में 'माविया' के पुत्र 'यजीद' के साथ लड़ते हुए वे अपने ६९ साथियों के साथ शहीद हुए थे।

'कर्बला' आधुनिक 'ईराक' का एक नगर है जो 'कूफा' से २४ मील उत्तर-पश्चिम, 'बगदाद' से ५० मील दक्षिण-पश्चिम तथा 'फरात' नदी से ६ मील पश्चिम में स्थित है।

कर्बला का तीर्थ-स्थान शुरू-शुरू में किसने बनाया इसका निश्चित पता नहीं है पर ऐसा मालूम होता है कि इमाम हुसेन के शहीद होने के पश्चात् उनके अनुयायियों ने वहाँ उनका 'स्मारक' बना दिया।

सन् ८५० ई० में खलीफा 'मुतवक्किल' ने इसे गिरवा देने की आज्ञा दी और इस पवित्र स्थान पर लोगों को जाने से भी रोका, जिससे 'शिया' मुसलमानों में बहुत असन्तोष और क्षोभ पैदा हुआ।

सन् ९७९ ई० में 'बुवैहिद' सुल्तान अद्-उद्दौला ने इस स्थान पर एक सुन्दर तथा विशाल मकबरा बनाया, जिसका वर्णन इब्न बतूता ने अपने यात्रा-वर्णन में किया है। उसने लिखा है कि—"समाधि का पवित्र अगला हिस्सा ठोस चाँदी का बना हुआ था। तीर्थ-यात्री लोग भवन में प्रवेश करते ही उसको चूमते थे। भवन के अन्तर्गत सोने और चाँदी के दीपकों से प्रकाश किया जाता था और द्वार पर रेशमी पर्दे पड़े रहते थे।"

—

कर्म सिद्धांत

जो जैसा करता है, वह वैसा भरता है। अच्छे कर्म का फल शुभ और बुरे कर्म का फल अशुभ होता है। इस विचार पर आधारित एक प्रसिद्ध सिद्धान्त जिसका विकास भिन्न-भिन्न धर्मों और सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न प्रकार से हुआ।

संसार के प्रायः सभी धर्म-संस्थापकों ने इस सत्य को स्वीकार किया है कि मनुष्य अच्छे या बुरे जैसे भी कर्म करता है—ईश्वर उसीके अनुसार उसको अच्छा या बुरा फल देता है।

ईसाई और इस्लाम धर्मों के अन्तर्गत इसके लिए 'कयामत' के तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। सृष्टि के अन्त में कयामत का दिन आता है और उस दिन संसार की सब मृत आत्माएँ खुदावन्द करीम के सामने उपस्थित होती हैं और उनके किये हुए अच्छे और बुरे कर्मों के अनुसार पुण्यात्माओं को जन्नत में और पापात्माओं को दोजख में भेज दिया जाता है।

ईरानी धर्म ग्रन्थ 'अवेस्ता' के अनुसार मनुष्य जैसा कर्म करता है उसी के अनुसार उसे फल मिलता है। इस ग्रन्थ में स्वर्ग नरक की कल्पना भी की गई है। पारसियों की मृत्यु का देवता 'अस्तिविहाद' माना जाता है। पारसियों का विश्वास है कि मृत्यु देवता के चंगुल से किसी मानव का बचना असम्भव है। एक भिन्न तथ्य भी का मानना है। मरने के पश्चात् आत्मा को एक पुल पार करना पड़ता है। वहाँ से शुभ और अच्छे कर्म करने वाली महान आत्माएँ स्वर्ग में चली जाती हैं। वहाँ पर सुन्दर

और कुमारी रमणियाँ उनका स्वागत करती हैं। पाप कर्म करने वाली दुरात्माएँ नरक में जाती हैं। वहाँ वे अपने पापों का फल भोग लेने पर ही स्वर्ग आ सकती हैं। ऐसी आत्मा को १२ हजार वर्ष तक नरक में रहना पड़ता है। ऐसी दुष्ट आत्माओं के उद्धार के लिए 'जरथोस्ट' और उसके तीन पैगम्बर ३ हजार वर्ष की अवधि में पैदा होकर धर्म प्रचार करेंगे। १२ हजार वर्ष के पश्चात् जब अहिरमन (शैतान) की सब शक्तियाँ कुंठित हो जायेंगी तब भगवान् 'अहुरमज्द' सब आत्माओं का निर्णय करेंगे। उस समय अच्छे कर्म करने वाले व्यक्तियों को स्वर्ग में भगवान अहुरमज्द से भेंट होगी और दुष्ट व्यक्तियों को नरक में रहना पड़ेगा।

मिस्र के प्राचीन लोग कर्म-सिद्धान्त पर विश्वास नहीं करते थे। उनका विश्वास था कि स्वर्ग अच्छे कर्मों से नहीं, बल्कि मन्त्र तंत्रों के द्वारा देवताओं को खुश करने से मिलता है। मरने के बाद यदि शव को सुरक्षित रखा जाय तो एक निश्चित समय के बाद मृतक मनुष्य सशरीर स्वर्ग जा सकता है। इसीलिए मिस्री राजाओं के शव मसाला लगाकर 'पिरामिडों' में सुरक्षित रखे जाते थे।

मेसोपोटेमिया की प्राचीन संस्कृति के लोग मृत्यु के बाद जीवन की कल्पना करते थे और पाप का भी उनको ज्ञान था।

बेबीलोनियन संस्कृति के लोग परलोकवाद पर विश्वास नहीं करते थे। वे पृथ्वी पर मिलनेवाले आनन्द को ही स्वर्ग समझते थे। मृत्यु के पश्चात् उनकी यह धारणा थी कि मृतात्माओं को पृथ्वी के नीचे गहन अन्धकार में बंधे हुए हाथ पैरों से पड़ा रहना पड़ता है। वहाँ वे दुखी आत्माएँ अपने परिवारवालों से भोज्य सामग्री पाने की प्रतीक्षा करती रहती हैं। उस लोक की शासिका एक बड़ी भयानक देवी है जो करोड़ों वर्षों तक आत्मा को अन्धकार लोक से बाहर नहीं आने देती। वास्तव में बेबीलोनवाले प्रत्यक्षरूप से मिलनेवाले सांसारिक सुखों में ही विश्वास करते थे। उनके परलोक की कल्पना अत्यन्त स्पष्ट है और उसमें कर्मवाद को कोई स्थान नहीं।

यूनानी सभ्यता के अन्तर्गत पुनर्जन्म के सिद्धान्त और कर्मवाद को स्वीकार किया गया है। यूनानी दार्शनिक पायथा गोरस ने लिखा है कि—"यदि पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार न करके यह मान लिया जाय कि मनुष्य का जन्म एक ही बार होता है तो मनुष्य समाज में नित्य उत्पन्न होनेवाली विषमताओं का कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। अतः यह सत्य है कि 'आवागमन' का या क्रम सर्वत्र व्याप्त है और कर्मों के अनुसार आत्माओं की दशा का भेद-भाव पुनर्जन्म का प्रत्यक्ष प्रमाण है। शारीरिक तथा मानसिक कष्ट मानसिक विकल्पों कर्मों के फल ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि आत्मा पर मानसिक संकल्पों और शारीरिक क्रियाओं के प्रभाव पड़ते रहते हैं।

ईसाई धर्म के सुप्रसिद्ध धर्माचार्य सन्त आगस्टाइन' ने ईश्वर का नगर (The city of God) नामक ग्रन्थ २२ भागों में लिखा है। इस ग्रन्थ में ४ अध्यायों के अन्तर्गत ईश्वरीय नगर में मनुष्य को मिलनेवाले कर्म फलों का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। इस वर्णन में कर्म-सिद्धान्तों का समर्थन पाया जाता है।

भारतीय सभ्यताओं के अन्तर्गत 'कर्म-सिद्धान्त' पर काफी गहराई से विचार किया गया है। वैदिक दर्शन में ईश्वर की शक्ति को सर्वोपरि मानते हुए भी यह माना गया है कि ईश्वर ने कर्म को ही संसार में प्रधान बनाकर रखा है। तुलसीदास जी के शब्दों में—

> कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
> जो जस करइ सो तस फल चाखा॥'

यह माना गया है कि जीव अपने कर्मों के अनुसार ही अच्छे या बुरे फलों का भोग करता है।

कर्म और उसके फल के सम्बन्ध की प्राचीनतम सार्वभौम नियम के रूप में सबसे पहले ऋग्वेद के ऋत सिद्धान्त में पाई जाती है। ऋत समस्त विश्व में व्याप्त है तथा वह उसका संचालन और नियमन करता है। यह जगत् की नैतिक और भौतिक व्यवस्था का आधार है। देवता तथा मनुष्य—सभी इसका पालन करते हैं। वरुण ऋतु का अधिनायक देवता है। वह बुरे कर्म करनेवाले को घोर अन्धकारपूर्ण नरक में और अच्छे कर्म करनेवाले को स्वर्ग में पहुँचाते हैं।

उपनिषद् साहित्य के अन्तर्गत कर्म सिद्धान्त की विशेष मीमांसा की गई है। बृहदारण्यक उपनिषद् के

अनुसार मनुष्य का कर्म ही उसके साथ जाता है। छान्दोग्य-उपनिषद् के अनुसार अच्छा कर्म करनेवाले चरित्रवान व्यक्ति देवता, मनुष्य इत्यादि उच्च योनियों में जन्म लेते हैं और दुष्कर्म करनेवाले निन्द्य चरित्रवाले व्यक्ति चाण्डाल, कुत्ता, सूअर आदि नीच योनियों म जन्म लेते हैं।

वेदान्त के अनुसार ईश्वर जीवों के कर्मानुसार ही उन्हें विभिन्न फल प्रदान करता है। इसमें उसका कोई पक्षपात नहीं होता।

बौद्ध-दर्शन के अनुसार प्राणियों के अन्तर्गत एक अत्यन्त सूक्ष्म और अदृश्य शक्ति काम करती रहती है जिसे अविज्ञप्ति रूप' कहते हैं। यही उनके द्वारा किए गये शुभ-अशुभ कर्मों का अच्छा या बुरा फल उत्पन्न करती रहती है।

जैन-धर्म के अन्तर्गत कर्म सिद्धान्त की और भी सूक्ष्म विवेचना की गई है। कर्म ग्रन्थों के ऊपर जैन-दर्शन म पूरा का पूरा साहित्य उपलब्ध है।

संसार के दूसरे धर्म सिद्धान्तों से जैन-धर्म की मौलिक और महत्वपूर्ण विभिन्नता इस बात में है कि संसार के अधिकांश धर्म इस संसार की उत्पत्ति और विनाश को मानते हैं और ईश्वर को उसका रचयिता मानते हैं। मगर जैन धर्म सृष्टि को अनादि और अनन्त मानता है। द्रव्य को वह अनादि अकृत्रिम और अनन्त मानता है। उनका कभी नाश नहीं होता। हाँ उनके पर्याय मे हमेशा परिवर्तन होता रहता है। सृष्टि को अनादि मानने के कारण उसका कर्ता या रचयिता ईश्वर को मानने का प्रश्न ही नहीं उठता।

जैन-धर्मग्रन्थों म द्रव्य दो प्रकार के बतलाये गये हैं। १ चेतन २ जड़ या अजीव। 'अजीव' द्रव्य के पाँच प्रकार हैं। (१) पुद्गल (Matter) धर्म (Medium of Motion) (३) अधर्म (Medium of Rest) (४) काल (Time) और (५) आकाश (Space) इनमें से पुद्गल मूर्तिक और शेष अमूर्तिक हैं।

जीव और पुद्गल—इन दोनों द्रव्यों के अन्तर्गत वैभाविकी शक्ति नामक एक विशेष गुण होता है। इसके कारण इन दोनों में एक प्रकार का अशुद्ध परिणमन होता है। इसी परिणमन को कर्म-बन्धन कहते हैं।

इस प्रकार यह सिद्धान्त इस निश्चय पर पहुँचता है कि संसार का प्रत्येक जीव कर्मों के बन्धन में है। इसी कर्म शृंखला से सारे संसार का संचालन होता है और इसीसे प्राणी आवागमन के चक्कर में पड़कर सुख और दुख उठाता रहता है।

इसके पश्चात् जैन दर्शन इस बात पर विचार करता है कि यह बन्धन किस प्रकार होता है और किन उपायों के द्वारा उससे स्वतन्त्र होकर यह मोक्ष को प्राप्त करता है।

इन सब बातों को 'जैन-तत्वज्ञान' के अन्तर्गत ७ भागों म विभक्त कर दिया गया है जिनको 'सात तत्त्व' कहते हैं। अर्थात (१) जीव (२) अजीव (३) आस्रव (कर्म के साथ जीव का बन्धन होने का कारण) (४) बन्ध (५) संवर (जीव के साथ कर्म के बन्धनों को रोकने की अवस्था) (६) निर्जरा (उन बन्धनों को तोड़ने का उपाय) और (७) मोक्ष (उन सभी बन्धनों से आज़ाद हो जाना)।

जैन-सिद्धान्त कहता है कि संसारी जीव कर्म-बन्धन की अशुद्ध अवस्था म होते हैं। वे इच्छाओं के वशीभूत होकर मन और तीव्र कषाययुक्त अनेक क्रियायें करते रहते हैं और नाना प्रकार के कर्मों को संचित करते रहते हैं। इन कर्मों के बन्धन मे पड़कर जीव मृगतृष्णा की तरह संसार के अन्दर चक्कर लगाता हुआ अनेक दुःखों को भोगता है।

ये कर्म शुभ और अशुभ दो प्रकार के होते हैं। शुभ परिणति से पुण्य बन्धन होता है जिससे सांसारिक और स्वर्ग सुख की प्राप्ति होती है और अशुभ परिणति से पाप बन्धन होता है जिससे संसार म दुःख भोगना पड़ता है और नरक भी भोगना पड़ता है। एक तीसरी शुद्ध वैराग्य की परिणति भी होती है जिसमें जीव के पुण्य पाप सभी बन्धन इसके होते होते दूर हो जाते हैं और जीव में शुद्ध परम सच्चिदानन्द अवस्था का आविर्भाव होता है।

इन पुण्य-पाप रूपी बन्धनों के कारण ४ होते हैं। (१) मिथ्या श्रद्धा (२) हिंसा और इन्द्रिय तथा मन के विषयों म प्रवृत्ति (३) तीव्र और तीव्रतर तथा मन्द और मन्दतर भेदवाले क्रोध मान माया लोभ कषाय और (४) मन वचन-काय नामक तीन योग यही कर्मों के आगमन के मुख्य कारण हैं।

इस प्रकार कर्मों का आगमन होता है। पुद्गल के अति सूक्ष्म परमाणु—उसकी अच्छी-बुरी परिस्थितियों के अनुसार जीव के साथ बँध जाते हैं। इन कर्मों के बन्धन ४ प्रकार के होते हैं। (१) प्रकृति-बन्धन (Quality of Karmic Matter) जिसके द्वारा कर्म-वर्गों में भिन्न भिन्नप्रकार की शक्तियाँ पैदा होती हैं। (२) प्रदेश बन्धन (Extent of Karmic Matter) जिसके अनुसार कर्म वर्गों की संख्या या उनके भाग का प्रमाण होता है। (३) स्थितिबन्धन (Duration of Karmic matter) (४) अनुभाग बन्धन (Quantity of Intensity of Karmic Matter) जिसके अनुसार कर्म वर्गों में फलदायक शक्ति होती है।

प्रकृति और प्रदेश बन्धन योगों के अनुसार होते हैं और स्थिति और अनुभाग-बन्धन कषायों के अनुसार होते हैं।

ये कर्म ८ प्रकार के होते हैं। (१) ज्ञानावरणीय—जो जीव की ज्ञानशक्ति को आच्छादित कर देता है। (२) दर्शनावरणीय—जो जीव की दर्शन-शक्ति को आच्छादित कर देता है—(३) मोहनीय—जो जीव को नाना प्रकार के माया जाल में फँसाये रखता है (४) अन्तराय—जो किसी भी वाञ्छित कार्य में अन्तराय पैदा करता है। (५) आयु—जो किसी एक नियत समय तक एक गति में जीव को स्थिर रखता है। (६) नाम—जो शारीरिक बनाता है। (७) गोत्र—जो जीवों की शुभाशुभ अवस्था का कारण होता है। और (८) वेदनीय—जो सुख दुःख रूपी सामग्री का कारण होता है।

इस प्रकार अनादि सम्बन्ध क्रम से पूर्वबद्ध कर्मों के क्रम से विभिन्न परिणामों को प्राप्त होकर जीव अपने ही अपराध से नवीन कर्मों का बन्धन प्रस्तुत करता है। और इसी बन्धन के फलस्वरूप वह अनादिकाल से इस संसार में भ्रमण करता है। मगर जब वह अपने कषायों पर विजय प्राप्त करने में और तपश्चर्या के द्वारा इन बन्धनों के नाश का प्रयत्न करता है तब नवीन बन्धन का होना रुक जाता है। इस स्थिति को संवर कहते हैं उसके पश्चात् संचित कर्म अपनी स्थिति पूरी करके समाप्त होने लगते हैं उस स्थिति को निर्जरा कहते हैं। जब नवीन कर्मों का आगमन नहीं होगा और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा हो जायगी तब आत्मा उन कर्मों से पृथक् होकर शुद्ध और सच्चिदानन्द रूप हो जायगी इसी स्थिति को मोक्ष कहा गया है।

इन कर्मों से मुक्त होने के लिए और मोक्ष की प्राप्ति के लिए जैन सिद्धान्त में "सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्ग" कहा गया है। अर्थात् सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की प्राप्ति ही मोक्ष का मार्ग है। जितने जितने अंशों में जीव शुद्ध श्रद्धा शुद्ध ज्ञान और शुद्ध चारित्र प्राप्त करता है हिंसा की भावना पर विजय प्राप्त करके समदर्शिता प्राप्त करता है—परिग्रह और भोग-वृत्तियों पर संयम प्राप्त करता है—क्रोध, मान माया लोभ की कषाय भावनाओं को नष्ट करता है तब वह कर्म बन्धन को काटकर मोक्ष मार्ग का पथिक बन जाता है।

अन्त में तपस्या के द्वारा धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान में लीन होकर वह मोक्ष को प्राप्त करता है।

चार्वाक दर्शन कर्म-सिद्धान्त को बिलकुल नहीं मानता। वह इस जीवन तक ही सृष्टि की सीमा को मानता है। पुनर्जन्म पर उसका विश्वास नहीं। इसीलिए संसार के सब सुखों का अधिक से अधिक उपभोग करने में ही वह जीवन की सार्थकता समझता है। चार्वाक ऋषि कहते हैं—

> यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
> भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

आधुनिक वैज्ञानिक युग के विचारकों ने जिनमें हेगल और कार्लमार्क्स प्रमुख हैं—इस कर्म सिद्धान्त की ईश्वर की तथा पाप-परलोक और स्वर्ग नरक की—बड़ी मखौल उड़ाई है।

मार्क्स के मतानुसार "कर्म सिद्धान्त" की ये सब कल्पनाएँ उच्चवर्ग के सामन्ती लोगों और उनके पुरोहित समाजों के द्वारा गरीब जनता का शोषण करने के लिए बनाई गई हैं। गरीब और भूखी जनता को उनके पूर्व जन्मों के कर्मों के कारण यह गरीबी और भूख उठाना पड़ रही है और ये लोग अपने पूर्व जन्म के अच्छे कर्मों के कारण यह सब सुख-सम्पत्ति उठा रहे हैं—इस प्रकार की भ्रम मूलक विचार प्रणाली का निर्माण करके इन लोगों ने हजारों वर्षों तक अशिक्षित गरीब और दुःखी जनता को

भ्रम में रखा। अफीम के नशे की तरह धर्म का नशा पीकर गरीब बनवा इन उच्च वर्गीय लोगों के अत्याचार को चुपचाप सहन करती रही। यह शताब्दियों तक पिसती रही। अब समय आ गया है कि इस धर्म संस्था के लाने-वाले विवेर दिये जायें और मानव-जाति को समानता के धरातल पर लाया जाय।

करोल

एक प्रकार का सामूहिक नृत्य गान, जिसका उदय फ्रांस के अन्तर्गत 'करोले Carole) के नाम से हुआ।

१२ वीं सदी में 'करोले-नृत्य' के माध्यम से फ्रांस के गायकों ने मध्य कालीन यूरोप में लोक जीवन को प्रभावित किया। यह नृत्य गान हर प्रकार के सामूहिक उत्सव और सामूहिक भोजों के अवसर पर गरीबों और अमीरों के यहाँ होता था।

करोले म नृत्य समूह का नायक सगीत की पंक्तियो को गाता था और बाकी के सब नृत्यकार एक दूसरे का हाथ पकड़कर चक्र नृत्य करते हुए टेक या धुन की पंक्तियाँ गाते थे।

प्रकृति पूजा के युग म इस प्रकार के नृत्यों म युवक और युवतियों के बीच म कुछ उच्छृंखल और असयमित क्रीड़ाएँ भी होती थीं। १४ वीं सदी तक इस प्रकार के नृत्य-गान क्रिसमिस के पर्व पर बहुत किये जाते थे।

१५ वीं सदी में ईसाई-धर्म के पादरियों ने इस अश्लीलता पूर्ण नृत्य पर धार्मिक रग चढ़ाना प्रारंभ किया। उनके इस प्रयत्न से नृत्य-गान पूर्ण 'करोल में से नृत्य मुक्त 'क्रिसमिस-करोल' का जन्म हुआ। इस क्रिसमिस करोल के प्रचार-पूर्ण छन्दों म धर्म के सूक्ष्म सिद्धान्तों को नाटकीय शैली और चित्रमयी भाषा म सजीव कर दिया गया।

कर्वे

फर्ग्यूसन-कालेज पूना म गणित के प्रोफेसर, महिला विद्यापीठ के संस्थापक और संचालक अन्नासाहब कर्वे जिनका जन्म १८ अप्रैल सन् १८५८ को शेरवली ग्राम में हुआ।

अन्नासाहब कर्वे के पिता एक बहुत मामूली दर्जे के क्लर्क थे। वह सिर्फ २५) महीना पाते थे। ऐसी स्थिति में कर्वे की शिक्षा का उचित प्रबन्ध नहीं होने पाया। किसी प्रकार लड़खड़ाते हुए अपने पैरों के बल पर २८ साल की आयु में उन्होंने बम्बई-विश्व विद्यालय से बी ए की परीक्षा पास की।

सन् १८९२ में वे 'दक्षिण एजूकेशन सोसायटी' के आजीवन सदस्य हो गये और सिर्फ ७५) मासिक पर उन्होंने अपना सारा जीवन शिक्षण सम्बन्धी को अर्पित कर दिया और स्वेच्छा से गरीबी स्वीकार की। इस गरीबी की हालत म भी उन्होंन रेगलर का परातप को अपने पास रखा और उनको शिक्षा पाने म सहायता दी।

भारत क कालेजों म फर्ग्यूसन-कालेज पूना को इस बात का गौरव प्राप्त है कि उसके गणित विभाग के ५ अध्यापकों (माननीय गोखले, लोकमान्य तिलक भी कर्वे का परांजपे और प्रिंसिपल महाजनी) न अखिल भारतीय कीर्ति और यश का सम्पादन किया।

अन्नासाहब कर्वे भारतीय विधवाओं की करुणाजनक स्थिति से अत्यन्त दुःखी थे और इसीमे वे विधवा विवाह के प्रतिपादक थे। अपनी इस विचार-पद्धति को क्रियात्मक रूप देने के लिए सबसे पहले उन्होंने स्वय 'आनन्दी बाई' नाम की एक विधवा से सन् १८९३ ई में अपना विवाह किया और विधवा विवाह के कार्य म संलग्न हो गये।

विधवा विवाह करने के कारण कर्वे का सामाजिक और जातीय बहिष्कार किया गया। यह बहिष्कार इतना प्रचण्ड था कि जब वह अपने गाँव में अपने भाई के यहाँ गये तो समाज के भय से उन्हें ढोरों के बाँधने की जगह पर ठहराया गया मगर कर्वे इससे विचलित न हुए। बहिष्कार ने उनम कटुता उत्पन्न नहीं की इससे उनका विश्वास दृढ ही हुआ।

विधवा विवाह का प्रचार करते हुए उन्हें शीघ्र हो मालूम हो गया कि विधवा विवाह केवल एक सामाजिक प्रश्न नहीं है इसका सम्बन्ध धार्मिक भावना से भी है। बिना ठोस कार्य किए हुए केवल प्रचार कार्य से इसमें सफलता नहीं हो सकती। इसके लिए आवश्यकता है कि विधवाओं को प्रशिक्षित किया जाय और उन्हें अपनी स्थिति का ज्ञान कराया जाय।

इस उद्देश्य से उन्होंने 'हिंगणे' नामक स्थान पर ५० विधवाओं और १९ कुमारी कन्याओं के साथ एक विद्यालय की स्थापना की। यही विद्यालय सन् १९१६ में अपनी शाखा प्रशाखाओं सहित विश्व विद्यालय के रूप में परिणित हो गया।

बालिका विद्यालय में भर्ती होने के लिए कन्याओं की कमी नहीं थी मगर निर्धनता उनके मार्ग में बहुत बड़ी बाधा थी। इस बाधा को दूर करने के लिए उन्होंने एक नियम बनाया कि माता पिता इस बात की प्रतिज्ञा करें कि वे अपनी कन्या का विवाह २० वर्ष की अवस्था से पहले न करेंगे। वे उनके कन्या-महाविद्यालय में रहेंगी और शिक्षा समाप्त होने पर अध्यापन कार्य के द्वारा महाविद्यालय का कर्ज चुका देंगी।

इस नियम के कारण कन्या महाविद्यालय में छात्राओं की संख्या बहुत बढ़ गई। जहाँ पहले कुछ झोंपड़ियाँ थीं वहाँ तीन लाख से अधिक रुपये की इमारतें खड़ी हो गईं।

सन् १९१५ में काँग्रेस का अधिवेशन बम्बई में हुआ था। काँग्रेस के पंडाल में ही समाज-सुधार कान्फ्रेंस का अधिवेशन भी हुआ। उस समय कर्वेजी आयु ५८ वर्ष की थी और वे कुछ महीनों पश्चात् फर्गूसन-कालेज की सेवाओं से निवृत्त होने वाले थे। इसी समय महर्षि कर्वे ने घोषणा की कि वे जापानी महिला विश्व-विद्यालय के ढंग का 'महिला विश्व विद्यालय' स्थापित करेंगे और इस कार्य में वे सन् १९१६ ई० में जुट भी गये। इसी वर्ष महामना मालवीय जी के तत्वावधान में राजा महाराजा और सरकार के सहयोग से काशी में 'हिन्दू विश्वविद्यालय' की स्थापना हुई। परन्तु कर्वे ने अकेले ही इस कार्य को उठाया। फकीरी पकड़ी और भिक्षा का झोला लटकाया। निरन्तर १२ वर्षों तक वे 'विश्वविद्यालय' के चन्दे के लिए घूमते रहे। हरिद्वार से रामेश्वरम् और कलकत्ते से कराची तक उन्होंने अनेक यात्राएँ कीं। विश्वविद्यालय को दृढ़ और पूर्णतया आधुनिक बनाने के लिए उन्होंने यूरोप अमरीका, अफ्रिका जापान और मलाया की यात्रा की। विश्वविद्यालय के लिए ७० वर्ष की आयु तक बराबर चन्दा एकत्र करते रहे। अन्त में जब पूना के सेठ ठाकरसी दास

रसी ने इस संस्था के लिए एक साथ १५ लाख रुपये दिये, तब उनका भिक्षा पर्यटन समाप्त हुआ।

इस विश्वविद्यालय में शिक्षा का माध्यम मातृभाषा के द्वारा देने का उपक्रम करके महर्षि कर्वे ने अपने असामान्य साहस का परिचय दिया। सन् १९१६ तक सरकारी स्कूलों में भी शिक्षा का माध्यम मातृभाषा नहीं थी। महामना मालवीय जी भी मातृभाषा को माध्यम बनाने का साहस नहीं कर सके। आज भी विश्वविद्यालयों की शिक्षा का माध्यम मातृभाषा नहीं है, किन्तु कर्वे ने महिला विश्व विद्यालय की शिक्षा का माध्यम मातृभाषा को ही रखा। विश्वास और चरित्र की दृढ़ता और ध्येय एवं निष्ठा की इससे अच्छा और क्या परख हो सकती है।

सन् १९४८ ई० में बम्बई सरकार ने इस महिला विश्व विद्यालय को मान्यता प्रदान की।

इस प्रकार महर्षि कर्वे ने अत्यन्त विरोधी वातावरण में अपना काम आरम्भ कर स्नेहपूर्ण सेवा मधुर वाणी सहिष्णुता और सक्रिय कार्य से विरोधी समाज को अपने अनुकूल बनाया। समाज ने उन्हें 'महाराष्ट्र का महर्षि' कहकर उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। भारत सरकार ने सन् १९५८ ई० में उन्हें 'भारत रत्न' की सर्वोच्च उपाधि से सम्मानित किया।

सन् १९५८ ई० में महर्षि कर्वे ने अपनी आयु के सौ वर्ष पूरे किये। इसके उपलक्ष में उनकी शताब्दी के कई स्थानों पर उत्सव मनाये गये और भारत के डाक विभाग ने उनके डाक टिकिट निकाले।

इस प्रकार इस क्रियाशील महर्षि ने निस्पृह और निष्काम होकर समाज की सेवा में अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पित कर दिया।

कलकत्ता

भारतवर्ष का सबसे बड़ा और समस्त संसार में जन-संख्या की दृष्टि से दूसरे नम्बर का नगर, जो किसी समय समस्त भारत की और इस समय पश्चिमी बंगाल की राजधानी है। इस शहर की आबादी सन् १९६१ ई० में लगभग

हजार, सन् १८७१ में ६ लाख ११ हजार और १९६१ में उपनगरों सहित ६ लाख के करीब हो गई।

कलकत्ता बहुत पुराना नगर नहीं है। नवाबी युग अर्थात् सन् १६ से पहले इस नाम का कोई शहर अस्तित्व में नहीं था। उस समय बंगाल की राजधानी मुर्शिदाबाद थी जो अपने वैभव और ऐश्वर्य के लिए संसार में प्रसिद्ध थी।

भारत में अंग्रेजों के प्रवेश के पश्चात् ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने शाहजहाँ बादशाह से आदेश लेकर हुगली में अपना कारखाना खोला था। कुछ समय पश्चात् बंगाल के तत्कालीन नवाब से झगड़ा हो जाने के कारण नवाब ने कम्पनी के कर्मचारियों को हुगली से निकाल दिया। तब वे लोग 'जाब चारनाक' नामक अंग्रेज के नेतृत्व में 'सुतानटी" नामक गाँव में पहुँचे। यह गाँव उस समय उस स्थान पर आबाद था जहाँ पर इस समय 'हाटखोला' और शोभाबाजार नामक मुहल्ले स्थापित हैं। इस गाँव के आसपास दलदल और जंगल फैला हुआ था। सुतानटी गाँव के पास ही डिही कालीकोठा और गोविन्दपुर नामक दो गाँव और थे। ये तीनों गाँव उस समय 'बेहाला" के राय लोगों की जमींदारी में थे। यही "कालीकोठा" नामक गाँव आगे चलकर कलकत्ते के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जिस स्थान पर इस समय बड़ा बाजार और डलहौजी स्क्वायर बने हुए हैं वहीं पर पहले काली-कोठा नामक ग्राम बसा हुआ था और गोविन्दपुर नामक ग्राम वर्तमान बेलियाघाटा रोड सर्क्युलर बेलिंग्टन स्क्वायर और हेस्टिंग्सस्ट्रीट होता हुआ जो टेंगानेला नाला हुगली नदी को नमक के क्षेत्र से मिलाता है, उसी स्थान पर आबादित था। फोर्ट विलियम और किले का मैदान भी इसी ग्राम से सम्बन्धित था।

इन गाँवों के बीच से एक कच्ची सड़क कलकत्ते से उत्तर ३ मील हाली शहर तक और दक्षिण में स कालीघाट तक जाती थी। इस समय इस कच्ची सड़क के स्थान पर बने हुए पक्के रोड के किनारे पर चीतपुर रोड और भवानीपुर और कालीघाट बसे हुए हैं। टाटगोला जो इस समय बड़ी बड़ी इमारतों से हरा-भरा हो रहा है उस समय हाट लगने की जगह थी। टाटगोले का राय खानदान उस समय करोड़पति समझा जाता था जो बेहाला में रहता था।

कुछ इतिहासकारों के मत से कलकत्ता शहर अंग्रेजों का ही बसाया हुआ है मगर कई ऐसे प्रमाण भी मिलते हैं कि अंग्रेजों के आने के पहले आर्मेनियन लोग इस स्थान पर बस चुके थे। वे लोग अंग्रेजों से पहले सैकड़ों वर्षों से ईरान की खाड़ी के रास्ते भारतवर्ष में व्यापार करने के लिए छोटी-छोटी नावों पर बैठकर आते रहते थे। ये लोग भी ईसाई थे। इन्हीं के नाम पर कलकत्ते का आर्मेनियन स्ट्रीट नामक बाजार बसा हुआ है और इसी आर्मेनियन स्ट्रीट में इनका आर्मेनियन गिर्जा बना हुआ है जिसका निर्माण सन् १७ ७ में हुआ था। अर्थात् प्लासी की लड़ाई से ५ वर्ष पूर्व इस गिरजे का निर्माण "आगानजर" नामक व्यक्ति के नेतृत्व में हुआ था। जिस जमीन पर गिरजा बना हुआ है वह आर्मेनियन लोगों का कबरस्तान था। इसके सम्बन्ध में इस गिरजे में आर्मेनियन भाषा में एक लेख लगा हुआ है उसका आशय इस प्रकार है—

यह स्वर्गाभिमानी सुकियास की पत्नी रजा बीबी की कब्र है जो २१ जुलाई १६१ को हमेशा के लिए इस संसार से चल बसी।

इसी आर्मेनियन व्यापारी "सुकियास" के नाम पर "सुकियास स्ट्रीट" और "सुकियास लेन" बने हुए थे जो इस समय "कैलास बोस स्ट्रीट" के नाम से प्रसिद्ध हैं। इससे पता चलता है कि अंग्रेजों से काफी पहले आर्मेनियन लोग इस स्थानपर व्यापार करते थे।

'जॉब चारनाक' के साथ आनेवाले अंग्रेजों ने बेहाला के राय खानदान से सुतानटी, "कालीकोठा" और गोविन्दपुर ये तीनों गाँव खरीद लिए और वहीं पर अपनी कोठियाँ बनाकर अंग्रेजों की बस्तियाँ कायम हो गई। इन बस्तियों के सभी मकान कच्ची मिट्टी के बने हुए थे। इसके पश्चात् अंग्रेज व्यवसायियों ने क्रमशः १५ गाँव और खरीद लिए। सन् १७ ८ में अंग्रेजों ने बनाए पुराने ऑफिस के पास एक किला बनवाया।

सन् १७०१ में अंग्रेज लोगों ने उस स्थानपर पक्का मकान बनवाया था और इस समय "राइटर्स बिल्डिंग" बनी हुई है। उसके पश्चात् अंग्रेजों की कई इमारतें और गोदाम तेजी से बनने लगे और कलकत्ता व्यापार तथा उसके आसपास की जगह अंग्रेजी मुहल्ले के रूप में परिवर्तित हो गई।

कम्पनी ने इस अंग्रेजी क्षेत्र में इंग्लैंड के ढंग का एक 'कारपोरेशन' भी सन् १७२८ में स्थापित किया जिसमें एक मेयर और नौ एल्डरमैन नियुक्त हुए। यह कारपोरेशन सफाई की व्यवस्था, नई सड़कों का निर्माण और दीवानी मुकद्दमे का काम करता था। इसके मेयर का आफिस उस स्थान पर था जहाँ इस समय सेंट एण्ड्रयूज चर्च बना हुआ है।

अंग्रेजों के प्रसिद्ध किले 'फोर्ट विलियम' का निर्माण सन् १७५७ में प्रारम्भ हुआ और सन् १७७३ में यह बनकर तैयार हो गया। इसके पश्चात् अंग्रेज लोग लाल बाजार और बड़ा बाजार की ओर बसने लगे।

इसके पश्चात् चौरंगी बसाने का उपक्रम हुआ और कई अंग्रेज उद्योगपतियों ने तथा ईस्ट इंडिया कम्पनी के उच्च अधिकारियों ने महलनुमा ऐसे मकान बनवाने प्रारम्भ किये जिनके चारों तरफ बगीचे और फुलवारियाँ रहती थीं।

सन् १८४७ में सेंटपाल का गिरजा बना। सन् १८६१ में म्युनिसिपल बोर्ड की स्थापना हुई और इसी वर्ष कोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हुई। जिसके माध्यम से अंग्रेजों को इस देश की भाषाओं का ज्ञान कराया जाने लगा। सन् १८२० में पानी की सुविधा के लिए पलता में वाटरवर्क्स की स्थापना की गई। इससे साफ किया हुआ पानी नलों के द्वारा जनता को मिलने लगा। सन् १८७६ में नये म्युनिसिपल कारपोरेशन की स्थापना हुई जिसमें एक चेयरमैन एक वाइस चेयरमैन और ७२ कमिश्नर रक्खे गये। सन् १८७४ में सुप्रसिद्ध हॉग साहब के बाजार (न्यू मार्केट) की स्थापना हुई। सन् १८६१-६२ में हरिसन रोड नामक सुप्रसिद्ध बाजार की स्थापना हुई। सन् १८८८ में सर्कुलर रोड के पूर्व और दक्षिण का बहुत सा भाग कारपोरेशन के अधिकार में आ गया।

भारत की सबसे पहली युनिवर्सिटी कलकत्ता में सन् १८५७ में स्थापित हुई और यहीं पर सबसे पहली सार्वजनिक लायब्रेरी 'इम्पीरियल लायब्रेरी' की स्थापना हुई। यहीं से सबसे पहला समाचार पत्र "हिकीज गजट" अंग्रेजी में "समाचार दर्पण" बंगला में और "उदन्त मार्तण्ड" हिन्दी में प्रकाशित हुआ।

औद्योगिक क्षेत्र में कलकत्ता

औद्योगिक क्षेत्र में कलकत्ता सारे भारतवर्ष में अग्रणी रहा है। बंगाल की भूमि बहुत उपजाऊ होने के कारण कच्चा माल यहाँ काफी मात्रा में उत्पन्न होता है। मशीन युग के पहले यहाँ से ढाके की मलमल तम्बाकू इत्यादि अनेक प्रकार की चीजें यूरोप जाती थीं। अंग्रेजी राज्य में यहाँ पर जूट और चाय उद्योग का बहुत विकास हुआ। इसके अतिरिक्त लोहा उद्योग में भी अंग्रेजों ने यहाँ पर प्रगति की। बहुत समय तक इन उद्योगों पर अंग्रेज कम्पनियों का ही एकाधिपत्य रहा। सन् १९१९ से बिड़ला, हुकुमचन्द इत्यादि उद्योगपतियों ने जूट उद्योग में प्रवेश किया। मगर सन् १९४७ से यहाँ के अधिकांश उद्योग भारतीय उद्योग-पतियों के हाथ में आ गये।

राजनैतिक क्षेत्र में कलकत्ता

राजनैतिक क्षेत्र में भी कलकत्ता भारत में करीब-करीब सबसे आगे रहा। सन् १८५७ के गदर की चिनगारी पहले पहल कलकत्ते में ही चमकी और उसका प्रारम्भ मंगल पांडे की फाँसी से हुआ। सन् १८८५ में बम्बई में जब 'ऑल इण्डिया कांग्रेस' की स्थापना हुई तब उसके पहले सभापति कलकत्ता के उमेशचन्द्र बनर्जी बनाये गये। कांग्रेस की स्थापना के नौ वर्ष पहले सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व में इण्डियन ऐसोसियेशन नामक पहली राजनैतिक संस्था की कलकत्ता में स्थापना हुई।

सन् १९०५ में 'बंगभंग आन्दोलन' के समय तो कलकत्ता और बंगाल की राजनीति में एक तूफान आ गया। हिंसात्मक क्रान्तिकारी आन्दोलनों का यहाँ सबसे पहले संगठन हुआ। जिसका मार्गदर्शन 'ढाका अनुशीलन समिति' नामक संस्था करती थी। क्रान्तिकारी घोष और विपिनचन्द्र घोष इत्यादि कई बड़े-बड़े नेता इस आन्दोलन के

समर्थक थे। इस सिलसिले में कन्हाईलाल दत्त, नरेन्द्रनाथ इत्यादि कई नौजवान युवकों ने हँसते-हँसते फाँसी के तख्ते पर अपनी बलि चढ़ायी।

कांग्रेस के सत्याग्रह आन्दोलन के समय भी कलकत्ता किसी से पीछे नहीं रहा। देशबन्धु चित्तरंजनदास जे० के० सेन गुप्ता, सुभाषचन्द्र बोस विधानचन्द्र राय इत्यादि नेताओं ने महात्मा गांधी के कन्धे से कन्धा मिलाकर इस आन्दोलन के संचालन में बराबरी से योगदान किया।

इसके बाद महायुद्ध के समय कलकत्ते के हो सुभाषचन्द्र बोस ने "आज़ाद हिन्द फौज" का निर्माण कर भारतीय स्वाधीनता के इतिहास में एक नवीन सुनहला पृष्ठ जोड़ दिया।

सामाजिक क्षेत्र में कलकत्ता

अंगरेजी राज्य की स्थापना के पहले बंगाल अत्यन्त भीषण सामाजिक कुरीतियों के दलदल में फँसा हुआ था। जातिपांति की कठोर व्यवस्थायें, विधवा स्त्रियों की दुरवस्था, सतीप्रथा आदि अनेक प्रकार की सामाजिक कुरीतियाँ यहाँ के सामाजिक जीवन को दग्ध कर रही थी।

इन सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ आवाज बुलन्द करने वाले राजा राममोहन राय कलकत्ते के निवासी थे। उस अन्धकार पूर्ण युग में इसी महान् व्यक्ति ने साहस पूर्वक सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ अपनी आवाज बुलन्द कर कलकत्ते में ब्राह्म समाज की स्थापना की। आगे जाकर सारे भारतवर्ष के प्रमुख नगरों में इसकी शाखाएं स्थापित हो गईं। इसी महान व्यक्ति ने अंग्रेज लोगों से मिलकर सतीप्रथा के विरुद्ध सख्त कानून बनवाया। इन्हीं की परम्परा में केशवचन्द्र सेन भी महान् समाज सुधारक हुए और इन्हीं का अनुगमन कर 'ईश्वर चन्द्र विद्यासागर' ने बंगाल के सामाजिक क्षेत्र में अमर कीर्ति प्राप्त की।

साहित्यिक क्षेत्र में कलकत्ता

साहित्यिक क्षेत्र में भी कलकत्ते के बंगाली समाज ने राष्ट्रीय ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की। विश्वकवि रवीन्द्र नाथ टैगोर की गीताञ्जलि ने पर संसार का अन्तर्राष्ट्रीय नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ। कविता के क्षेत्र में विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा माइकेल मधुसूदन दत्त, उपन्यासों के क्षेत्र में बंकिमचन्द्र और शरत्चन्द्र चटर्जी, नाटकों के क्षेत्र में द्विजेन्द्रलाल राय और गिरीशचन्द्र घोष इत्यादि महान साहित्यकारों की सेवाओं का मूल्यांकन करना आज भी कठिन है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में कलकत्ता

महान योगी रामकृष्ण परमहंस की दिव्य ज्योति से बंगाल और कलकत्ते का आध्यात्मिक क्षेत्र आज भी जगमगा रहा है। उनके शिष्य महान् तत्वचिंतक स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय अध्यात्म वाद का डंका अमरीका में भी जोर शोर से बजाया था। उनका साहित्य भारत के आध्यात्मिक साहित्य का एक मूल्यवान अंग है। महान् योगी अरविन्द भी कलकत्ते के ही थे। जिन्होंने बाद में पांडेचेरी में अपना योगाश्रम स्थापित करके सारे संसार का ध्यान भारतीय योग विद्या की तरफ आकर्षित किया। उनका निर्मित किया हुआ दिव्य साहित्य भारतीय योग के विद्यार्थियों के लिए एक प्रकाशस्तम्भ का काम कर रहा है।

इसी प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में सर जगदीशचन्द्र बसु, प्रफुल्लचन्द्र राय इत्यादि महान् व्यक्तियों ने अपना पूरा योगदान किया है।

इस प्रकार कुल ढाई सौ वर्ष की उम्र का यह कलकत्ता शहर जीवन के सभी क्षेत्रों में समग्र भारत का एक प्रकार से नेतृत्व कर रहा है और विश्व के प्रमुख नगरों में इसका महत्वपूर्ण स्थान हो गया है।

कलचुरी राजवंश

भारतवर्ष का एक प्राचीन और प्रसिद्ध राजवंश जिसका शासन प्राचीन युग में चेदि या बुन्देलखण्ड में था। इस राजवंश की राजधानी जबलपुर के पास त्रिपुरी नामक नगर में थी जो इस समय तिऊर के नाम से एक छोटे गाँव के रूप में विद्यमान है। यह राजवंश पुराणों में वर्णित हैहय क्षत्रिय राजवंश के 'सहस्रार्जुन' के वंशजों में था।

ईसा की तीसरी शताब्दी में अर्थात् सन् २४६ ई० में कलचुरी-वंश का 'त्रैकुटक' संवत् प्रारंभ हुआ था। अतः यही सन् कलचुरी-राजवंश की स्थापना का माना जाता है, किन्तु कलचुरी वंश का वास्तविक उत्थान नवीं सदी से माना जाता है जो १२वीं शताब्दी तक बराबर बना रहा।

इस राजवंश में 'शंकरगण' नामक एक प्रसिद्ध व्यक्ति हुआ। जो नवीं सदी में वल्लभराज राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय का सामन्त था। इसके पुत्र 'कोकल्ल' प्रथम का विवाह चन्देल-वंश की राजकुमारी के साथ हुआ था। इसी समय से कलचुरी-राजवंश की राजशक्ति चमकने लगी और शंकरगण द्वितीय या युवराज के समय में यह बहुत अधिक बढ़ गई। युवराज का समय सन् ८८८ से सन् ९ ईसवी तक था। इस राजा ने कलिंग और कौशल के सोमवंशियों को परास्त कर अपना राज्य विस्तार किया था।

युवराज के बाद 'बालहर्ष' और उसके बाद 'केयूरवर्ष' इस वंश में राजा हुए। केयूरवर्ष इस वंश का बड़ा प्रतापी और विजेता नरेश था। इसका शासन सन् ९२५ से सन् ९५ तक था। इसने रत्नपुर नामक नगर का निर्माण करके उसमें अपना राजधानी बनाया था। महान् कवि राजशेखर का 'विद्धशालभञ्जिका' नामक नाटक सबसे पहले इसी राजा के दरबार में खेला गया था। इसकी पुत्री 'कुन्दक देवी' राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष तृतीय को ब्याही थी।

केयूरवर्ष के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी लक्ष्मणराज द्वितीय हुआ। इसकी पुत्री बोन्था देवी का विवाह चालुक्य-नरेश 'विक्रमादित्य' के साथ हुआ और वो 'तैलप' द्वितीय की माता थी।

इसके कुछ समय पश्चात् धारा नगरी के परमार नरेश 'मुंज' ने इस राज्य पर आक्रमण करके राजधानी त्रिपुरी पर अधिकार कर लिया था किन्तु थोड़े ही समय पश्चात् इस वंश के उत्तराधिकारी 'गांगेयदेव' विक्रमादित्य ने वापस उसे प्राप्त कर लिया। इसका समय ईसवी सन् १ १५ से सन् १ ४१ तक था।

इस वंश में यह अत्यन्त प्रतापी और कीर्तिशाली शासक था। इसने सोना चाँदी और ताँबे की कई मुद्राएँ ढलवाई थीं जिनमें से कुछ अभी तक मिलती हैं। इन मुद्राओं का अनुकरण इसके बाद वाले कई राजाओं ने तथा मुहम्मद गौरी तक ने किया था।

कन्नौज के प्रतिहार राजाओं की गिरती हुई हालत से लाभ उठा कर इस राजा ने उनके विस्तृत प्रदेश को जीत लिया। बनारस भी उसके अधीन था।

गांगेय-देव ने चालुक्यों से तिलिंग और उत्कलदेश भी छीन लिया। अलबेरुनी ने भी अपने वर्णन में इस प्रतापी राजा का उल्लेख किया है। चेदी के शिलालेखों से मालूम होता है कि इसने भी "विक्रमादित्य" की उपाधि ग्रहण की थी। इसका एक लेख सन् १ १७ का लिखा हुआ प्राप्त हुआ है। कुछ लेखों में यह भी लिखा हुआ है कि वृद्धावस्था में यह राजा प्रयाग जाकर रहने लगा था और वहीं १ १८ के करीब इसकी मृत्यु हुई तथा इसके साथ ही रानियाँ सती हुईं।

इसके बाद इसका पुत्र कर्ण राजगद्दी पर बैठा। यह इससे भी अधिक प्रतापी निकला। इसका विवेचन हम इसी भाग में कर्ण कलचुरि के नाम से कर चुके हैं।

कर्ण की पत्नी 'अवेल्ल देवी' हूण जाति की राजकन्या थी, पर भी बड़ी साहसी वीरांगना थी। इसका वर्णन हम पहले भाग में अवेल्ल-देवी के प्रकरण में कर चुके हैं। कर्ण के पश्चात् उसका अवेल्ल देवी रानी से उत्पन्न पुत्र यशःकर्ण गद्दी पर बैठा। इसके समय में राज्य का बहुत सा हिस्सा इसके हाथ से निकल गया। इसकी मृत्यु ११२४ ई० में हुई।

यशःकर्ण के पश्चात् उसका पुत्र 'गयकर्णदेव' गद्दी पर बैठा। मेवाड़ के गुहिलोत राजवंश की राजकुमारी आल्हण देवी से इसका विवाह हुआ था। आल्हण देवी का एक शिलालेख सन् ११५५ का लिखा हुआ मिलता है उस समय सम्भवतः गयकर्ण की मृत्यु हो चुकी थी और उसका पुत्र नरसिंह वर्मन नाबालिग होने से राज्य का काम आल्हण देवी चला रही थी।

नरसिंह वर्मन के तीन शिलालेख ११५५, ११५८ और ११५९ के मिले हैं। इस राजा की युवावस्था में ही मृत्यु हो गई। इसका राज्यकाल ११५२ से ११७ तक माना जाता है। ऐसा समझा जाता है कि इस राजा की

इसकी अथवा बहन पृथ्वीराज चौहान की माता थी।

नरसिंह वर्मन के बाद उसका भाई जयसिंह गद्दी पर बैठा। उसने सम्भवतः ११७८ तक राज्य किया। उसके बाद उसका पुत्र विजय सिंह, उसके बाद अजय सिंह और उसके बाद त्रैलोक्य वर्मन कलचुरी वंश के राजा हुए। उसके बाद सम्भव है मुसलमानों के आक्रमण के धक्के म इस राजवंश का भी अन्त हो गया हो।

इस राजवंश के सिक्कों पर दो हाथी और उनके बीच लक्ष्मी का चित्र है और कलचुरी मुद्रा पर नन्दी का चित्र है।

कल्याणी के कलचुरी

बारहवीं शताब्दी म कलचुरी वंश की एक शाखा का उदय दक्षिणभारत के कर्नाटक प्रान्त म हुआ। सन् ११२८ ई० में कल्याणी के चालुक्य सम्राट् सोमेश्वर तृतीय ने कलचुरी वंश के परम्मदी नामक सरदार को बीजापुर का शासक बनाया था। परम्मदी का पुत्र "विज्जल कलचुरी" बड़ा साहसी वीर और महत्त्वाकांक्षी था। चालुक्य सम्राट् जयसिंह तृतीय ने उसे महामण्डलेश्वर बना लिया। मगर उसके पश्चात् चालुक्य नरेश तैलप तृतीय की कमजोरी का लाभ उठाकर विज्जल ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया और महाराज तैलप तृतीय को गिरफ्तार करके सन् ११५६ म उसने अपने आपको कल्याणी का सम्राट् घोषित कर लिया और अपना संवत् भी चलाया।

उसी वर्ष के एक शिलालेख म उसका उल्लेख कलचुरी भुजबल चक्रवर्ती त्रिभुवन मल्ल' के विरुद के साथ किया गया है। सन् ११६७ तक इस राजा ने राज्य किया।

इसी राजा के समय म स्वामी बसवेश्वर नामक सन्त कर्नाटक में अवतीर्ण हुए जिन्होंने उस प्रदेश म एक प्रबल धार्मिक क्रान्ति करके 'वीरशैव मत' का प्रचार किया।

विज्जल के पश्चात् इस वंश म उसके पुत्र सोमेश्वर, सोविदेव और आहवमल्ल नामक तीन राजाओं ने सन् ११८२ ईसवी तक राज्य किया। इन लोगों के शासनकाल में 'देवगिरि' के यादव और द्वार समुद्र के होयसल राजाओं ने कलचुरी राज्य पर लगातार आघात किये। सन् ११८३ ई० में चालुक्य-नरेश सोमेश्वर चतुर्थ ने कल्याणी पर फिर से अधिकार कर लिया।

इस प्रकार सन् १२११ ईसवी में इस राजवंश का पूर्णरूप से अन्त हो गया।

कलैंडर

वर्ष भर की तारीख, वार और महीना की जानकारी देनेवाला चार्ट या नक्शा।

सारे संसार म भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक कलैंडर या पञ्चाङ्ग प्रचलित हैं। इन कलैंडरों म 'रोमन' 'भारतीय' 'यहूदी' और 'इस्लामी' कैलेंडर प्रमुख हैं। मगर इन सब म रोमन कलैंडर जिसे अन्तर्राष्ट्रीय कलैंडर भी कहते हैं— को यह गौरव प्राप्त है कि उसका प्रयोग सारे संसार म किया जाता है। यह कलैंडर संसार म प्रचलित दूसरे कलैंडरों की अपेक्षा अधिक सरल और स्पष्ट है। मगर इसने यह स्थिति दो हजार वर्षों म कई प्रकार के उलट फेरों के बाद प्राप्त हुई है।

आज से करीब दो हजार वर्ष पहले रोमन-साम्राज्य म इस कलैंडर का प्रचलन शुरू हुआ था। उस समय के रोमन-कलैण्डर के अनुसार वर्ष म केवल ३०४ दिन होते थे और एक वर्ष दस महीनों म विभाजित रहता था। किसी महीने म बहुत कम दिन होते थे और किसी महीने म ज्यादा।

ऑगस्टस नामक रोमन-सम्राट् ने सेक्स्टीलिस नामक महीने का नाम जो पहले ३० दिन का होता था अपने नाम से बदल कर आगस्टस रख दिया और इस महीने के दिन ३० से बढ़ाकर ३१ कर दिये। इसके बदले में फरवरी महीने के दिन २९ से घटाकर २८ कर दिये। इसी अगस्टस महीने का नाम आगे चलकर अगस्ट हो गया।

रोम के शक्तिशाली सम्राट् जूलियस सीजर ने जूलियन कलैंडर चलाया। उसने फरवरी को घटाकर २८ दिन का और अगस्त को बढ़ा कर ३० दिन का कर दिया। उसमे अपनी स्मृति म 'क्विंटिलिस' नामक महीने का नाम बदल कर

जूलियस कर दिया जो बाद में चलकर जुलाई हो गया। उसने साल में और ११ दिन जोड़कर ३५४ के स्थान पर ३६५ दिन का साल कर दिया। और प्रत्येक चार वर्षों के बाद फरवरी में १ दिन और जोड़ दिया जिसे आज 'लीप' वर्ष कहा जाता है।

इसी तरह उसने साल को १० महीनों के स्थान पर १२ महीनों का कर दिया।

पोप ग्रेगरी के संशोधन

किन्तु जूलियस द्वारा चलाये गये जूलियन-कैलेंडर में भी बहुत-सी भूलें रह गई थीं। अतएव १६वीं सदी के प्रारम्भ में रोम के पोप ग्रेगरी तेरहवें ने इस कैलेंडर में बहुत से महत्त्वपूर्ण संशोधन किये। उसने अपना कैलेंडर पहली जनवरी सन् १५८२ से आरम्भ किया और बतलाया कि जूलियन कैलेंडर के अनुसार पाँच वाला दिन ५ अक्तूबर सन् १५८२ को १५ अक्तूबर सन् १५८२ माना जायगा। उसने वर्ष के प्रत्येक महीने के दिनों को भी निश्चित किया। पोप ग्रेगरी के द्वारा संशोधित किया हुआ यही कैलेंडर आज संसार में प्रमाणभूत माना जाता है। पोप ग्रेगरी के इस कैलेंडर के अनुसार पृथ्वी सूर्य के चारों ओर अपनी परिक्रमा ३६५ दिन ५ घंटे ४८ मिनट और ४६ सेकंड में पूरा करती है। अतः वर्ष के ३६५ दिन बीतने के बाद ५ घंटे ४८ मिनट और ४६ सेकंड का जो बचा हुआ समय शेष रहता है उसको बराबर करने के लिए हर चौथे वर्ष फरवरी में एक दिन बढ़ाना पड़ता है।

इस कैलेंडर के बारहों महीने के नाम रोमन देवी-देवताओं के नाम पर रखे गये हैं। जैसे कि रोमन देवता जेनुस के नाम पर जनवरी, पवित्र अग्नि के त्यौहार 'फेब्रुआ' के नाम पर फरवरी, कृषि के देवता 'मार्स' के नाम पर मार्च, रोमन देवता मर्करी की माँ के नाम पर मई, विवाह की देवी जूनो के नाम पर जून, जूलियस सीजर के नाम पर जुलाई और सम्राट् आगस्टस के नाम पर अगस्त महीने का नामकरण हुआ।

सितम्बर से लेकर दिसम्बर तक के महीनों के नाम ७ से लेकर १० तक की रोमन-संख्याओं के आधार पर हैं।

भारतीय कैलेंडर

भारतवर्ष में बौद्ध, विक्रम, शक, वीरनिर्वाण, बंगाली तथा कुछ और भी कैलेंडर प्रचलित हैं, मगर इन सब में विक्रम-संवत् का अधिक प्रचलन है। यह संवत् उज्जैन के प्रतापी सम्राट विक्रमादित्य के द्वारा चलाया हुआ माना जाता है। यह संवत् ईसा से ५७ वर्ष पूर्व २१ फरवरी को प्रारम्भ हुआ था। विक्रम संवत् के अनुसार साधारण वर्ष में ३५५ दिन होते हैं और १० दिन की कमी प्रति तीसरे वर्ष १ अधिक मास देकर पूरी की जाती है।

शक-कैलेंडर

वैसे भारतवर्ष में विशेष रूप से विक्रम-पञ्चाङ्ग ही ज्यादा लोकप्रिय है। पर तिथियाँ घटने-बढ़ते रहने से साधारण जनता को उससे कुछ असुविधा होती है। अतः देश भर में एक रूपता लाने के लिये २२ मार्च सन् १९५७ से भारत सरकार ने शक-संवत् में उचित संशोधन करके उसे राष्ट्रीय कैलेंडर का रूप दिया।

इस कैलेंडर के अनुसार साधारण वर्ष में ३६५ दिन और लीप वर्ष में ३६६ दिन होते हैं। साधारण वर्ष में साल के शुरू में चैत्र महीने से लेकर चार महीने तक ५ महीने ३१ दिन के और भाद्र से लेकर फागुन तक के ६ महीने ३० दिन के होते हैं। जिस साल लीप-वर्ष होता है उस साल चैत्र भी ३१ दिन का होता है। शक संवत् में सन् चैत्र मास प्रति वर्ष २२ मार्च से आरम्भ होता है और लीप-वर्ष में २१ मार्च से प्रारम्भ होता है।

हिजरी कैलेंडर

१६ जुलाई सन् ६२२ से प्रारम्भ होता है। जब कि इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद मक्का को छोड़कर मदीना चले गये थे। यह कैलेंडर ईसा से १७८६ वर्ष पूर्व से प्रारम्भ होता है। यही समय उनके मत से सृष्टि के आरम्भ का है।

बंगाली कैलेंडर का आरम्भ सन् १५५५-५६ से प्रारम्भ होता है। मुगल सम्राट् अकबर के समय में कृषि और मालगुजारी के कार्यों में सहायता पहुँचाने के लिए बंगाली वर्ष का प्रारम्भ किया गया था।

कलश-राज

कश्मीर के लोहर-राजवंश में उत्पन्न राजा अनन्तदेव का पुत्र, जिसका समय सन् १०७२ से सन् १०८९ तक था।

कश्मीर के इतिहास में लोहर-कुल के कलश-राज का समय अत्यन्त अत्याचार, प्रजा-पीड़न और क्रूरता का काल रहा है।

इसका बयान करते हुए कश्मीर के प्रसिद्ध कवि और इतिहासकार 'कल्हण' अपनी 'राज-तरंगिणी' की सप्तम तरंग में लिखते हैं कि—कश्मीर-सम्राट अनन्तदेव अपने दुराचारी पुत्र कलश से इतने दुखी थे और उसके अत्याचार से वह इतने क्रुद्ध हो गये थे कि वह अपनी राजधानी छोड़कर 'विजयेश्वर' में चले गये। वहाँ जाकर उन्होंने पौत्र कलश के 'पुत्र 'हर्ष' को विजयेश्वर बुला कर उसे कश्मीर राज्य का 'उत्तराधिकारी' घोषित कर दिया।

अनन्तदेव की मृत्यु के पश्चात् कलश ने हर्ष से युद्ध करने का विचार किया मगर इसी बीच सामन्तों के बीच विचाव से कलश और हर्ष में सन्धि हो गई और कलश ने हर्ष को प्रसन्न रखने का वचन देकर अपना उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया।

उसके पश्चात् विद्रोही सामन्तों ने भड़का कर हर्ष को कलश के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए तैयार कर लिया। विद्रोह पकड़ा गया—हर्ष को बन्दी बना लिया गया और उसे पशुःशाल-मण्डप नामक स्थान में रखा गया।

मगर इतने से ही कलश की प्रतिहिंसा शान्त नहीं हुई पुत्र के साथ उसकी इतनी हुई प्रतिहिंसा ने भयंकर रूप धारण कर लिया था। उसने क्रोध में आकर हर्ष की पत्नियों का अपहरण किया और उनके साथ शत्रु की पत्नियों जैसा आचरण किया।

हर्ष की पत्नियों में राजा [illegible] की अपूर्व सुन्दरी पुत्री सुगमा भी थी। राजवैभव की अमरता की ओर दृष्टि देकर उसने वोरसाह का छोड़कर श्वसुर का प्रेम जीतना चाहा। अर्थात् की मणि पीड़ा पर इसने मानापो हा उठी कि उसने अपने पति हर्ष को भोजन में विष मिलाकर खिलाने का प्रयत्न किया, किन्तु उसका वह षड्यंत्र विफल ही गया।

इस गर्हित पातक ने सम्राट के मन को पतित किया और भयंकर विषय-वासनाओं ने उसके शरीर को रोग ग्रस्त कर दिया। अपनी मृत्यु निकट जानकर कलश मार्तण्ड-मंदिर चला गया। उस समय उसने हर्ष को युवराज बनाने का प्रयत्न किया, मगर धूर्त मन्त्रियों ने हर्ष के स्थान पर उसके भाई 'उत्कर्ष' को युवराज घोषित कर दिया और इसके बाद शीघ्र ही इस अत्याचारी शासक का अन्त हो गया।

कल्हण कवि

कश्मीर के प्रसिद्ध इतिहासकार, संस्कृत के महाकवि तथा सुप्रसिद्ध ग्रन्थ राज-तरंगिणी के लेखक, जिन्होंने सन् ११४८ से लेकर सन् ११५१ तक राजतरंगिणी नामक महान इतिहास-ग्रन्थ की रचना की। कल्हण के पिता 'चम्पक' कश्मीर के लोहर-वंशी सम्राट् 'हर्षदेव' के, सन् १०८९ से ११०१ ई० तक प्रधान मन्त्री रहे थे।

कल्हण कृत राज-तरंगिणी, संस्कृत का एक अमर महाकाव्य और इतिहास ग्रन्थ है। इसमें प्राचीन काल से कश्मीर के राजाओं का वृत्तान्त दिया हुआ है।

राजप्रासाद में राजसभा के सम्पर्क में रहने के कारण कल्हण ने उस समय की राजकीय घटनाओं को निकट से देखा था। इसी से उन्हें इतिहास लिखने में बहुत सहायता मिली।

राज-तरंगिणी पश्चिमी विद्वानों के इस 'आरोप' का करारा जवाब है कि भारतवासियों में वैज्ञानिक ढंग से इतिहास लिखने की प्रवृत्ति नहीं रही।

कल्हण की राजतरंगिणी में एक लौकिक सम्वत् का वर्णन किया गया है जो सम्भवतः है उस समय कश्मीर में प्रचलित रहा होगा। यह लौकिक सम्वत् ईसवी सन् से करीब ३०७६ वर्ष पुराना था जो शायद कलियुगी सम्वत् से भी अधिक प्राचीन है।

राजतरंगिणी में कश्मीर का इतिहास गोनन्द वंश के इतिहास से प्रारम्भ किया गया है। लिखा गया है कि गोनन्द वंश के ५२ राजाओं ने २२६८ वर्ष तक राज्य किया मगर

यह सब वर्णन बहुत अस्पष्ट और अतिशयोक्तियों से भरा हुआ है।

मौर्य सम्राट अशोक, कुषाण सम्राट कनिष्क और हूण सम्राट मिहिरकुल के समान विदेशी विजेताओं का भी गोनन्द-वंश के अन्तर्गत सिलसिला कर दिया गया है।

राज तरंगिणी में वर्णित कश्मीर के इतिहास में अधिकतर यह बात देखने को मिलती है कि यहाँ के राजाओं का वातावरण हमेशा धूर्त कुटिल और पतित राज कर्मचारियों के द्वारा प्रभावित रहा है। अनेक राजा जो अपने शासन काल के प्रारम्भ में अत्यन्त न्यायी उदार और महत्वाकांक्षी थे वे ही अपने उत्तर-काल में इन दुष्ट षड्यन्त्रकारियों के चक्कर में पड़कर भ्रष्ट अत्याचारी और दुराचारी हो गये।

दूसरी बात यह भी मालूम होती है कि उन दिनों कश्मीर में यौन-सदाचार की महत्ता बहुत कम हो गई थी। बहुत से पुरुष राजा गणिकाओं और दासकन्याओं के चक्कर में फँस गये थे और इसी प्रकार राज घराने की बहुत सी रानियाँ जैसे 'सुगन्धा देवी' 'दिद्दारानी' '[illegible]' (हर्षदेव की पत्नी) '[illegible] देवी' इत्यादि रानियाँ दुष्ट लोगों के चक्कर में पड़कर अपने चरित्र को दाँव पर लगा चुकी थीं। रानियों के द्वारा इस प्रकार सदाचार हीनता के दृश्य भारतीय इतिहास में अन्यत्र शायद ही कहीं देखने को मिलें।

गोनन्द-वंश के पश्चात् के वंशों का इतिहास कल्हण कवि ने बड़ी ही, व्यवस्थित, सुन्दर और आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करके कश्मीर के इतिहास ग्रन्थों में एक नवीन परम्परा कायम कर दी। इसके लिए भारतवर्ष का इतिहास-साहित्य उनके ऋण से कभी उऋण नहीं हो सकता।

कलास्

प्राचीन असीरिया-साम्राज्य का एक नगर जो किसी समय दजला और ऊपरी जाब नाम की नदियों के संगम पर बसा हुआ था।

किसी समय यह स्थान असुर साम्राज्य की राजधानी रहा था। इसका निर्माण ईसा से पूर्व १४ वीं शताब्दी में हुआ था।

पुरातत्व विभाग के द्वारा की गई खुदाइयों में इस स्थान पर अनेक राजप्रासादों के खण्डहर मिले हैं, जो भिन्न-भिन्न राजाओं के द्वारा निर्मित किए गए थे।

इस नगर की खुदाइयों में पंख वाले विशाल सिंहों की मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं जो लन्दन के 'म्युजियम' में रखी हुई हैं। इस नगर के चारों ओर विशाल परकोटा खींचा हुआ था। कलास् के इसी परकोटे के अनुकरण पर अरबी भाषा में 'किला' शब्द का प्रयोग जारी हुआ। किला शब्द कलास् शब्द का ही अपभ्रंश है।

कलाल

भारतवर्ष में शराब बनाने और बेचने वाली एक जाति जिसे 'कलवार' भी कहते हैं।

रामायण महाभारत तथा पुराणों में इस जाति का उल्लेख 'शौण्डिक' के नाम से किया गया है। कलालों की लगभग ४ उपजातियाँ हैं।

महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा ने मनुस्मृति पर टिप्पणी लिखते हुए शौण्डिक-जाति को द्विज बताया है पर मोनियर विलियम्स नामक अंग्रेज विद्वान ने शौण्डिक जाति को मनुस्मृति के आधार पर संकर-वर्ण बतलाया है।

कुछ समय पूर्व इस जाति के कुछ विद्वानों ने [illegible] के इतिहासों को खोज कर उन्हें 'हैहय' क्षत्रियवंश के वंशज बतलाया है और कलवारों की सभा ने इसी निर्णय को स्वीकार कर कलवारों को 'हैहय क्षत्रिय' घोषित किया है।

कल्याणी

भारत के हैदराबाद प्रदेश में मध्यकाल की एक प्रसिद्ध नगरी जो ११ वीं शताब्दी में उत्तर चालुक्य-वंश के प्रसिद्ध राजा सोमेश्वर के द्वारा बसाई गई थी।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार चिन्तामणि विनायक वैद्य के मतानुसार यह नगरी निजाम राज्य के बीदर नामक स्थान के निकट बसाई गयी थी। कुछ अन्य इतिहासकारों के मत से बम्बई के समीप कल्याण नामक नगर ही यह स्थान था। कुछ इतिहासकार कल्याणी को कर्नाटक प्रदेश में मानते हैं।

मध्ययुग के प्रसिद्ध उत्तर चालुक्य-राजवंश के राजा सोमेश्वर ने कुछ परम्परागत शत्रु चोलों के अधिक निकट होने के कारण यह नया नगर बसाकर यहाँ पर अपनी राजधानी स्थापित की थी।

उत्तर चालुक्य-राजवंश

इस नगरी में उत्तर चालुक्य राजवंश का बड़ा वैभव रहा। इस वंश के प्रसिद्ध राजा सोमेश्वर ने राजा भोज को हराकर धारा नगरी पर अधिकार कर लिया।

सोमेश्वर का दूसरा पुत्र विक्रमादित्य उससे भी अधिक वीर और प्रतापी हुआ। कश्मीर के प्रसिद्ध कवि 'बिल्हण' ने उसकी प्रशस्ति में "विक्रमांकदेव चरित", नामक प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ की रचना की। जिसमें उस समय की घटनाओं का विशद वर्णन किया गया है। इस काव्य से मालूम होता है कि सोमेश्वर के जीवन-काल में ही उसका दूसरा पुत्र विक्रमादित्य अपनी बुद्धिमत्ता और वीरता के लिए प्रसिद्ध हो गया था। उसने चेर 'सिंहल' 'गंगकौंड' 'चोल' वेंगी नग और आसाम को भी जीत लिया था। कवि बिल्हण ने अपने आश्रयदाता के पराक्रम का वर्णन करते हुए कुछ अतिशयोक्ति से काम लिया है, पर इसमें सन्देह नहीं कि विक्रम ने सम्पूर्ण दक्षिण भारत को जीत लिया था।

विक्रमादित्य ने सन् १०७६ से ११२६ तक ५० वर्ष राज्य किया।

विक्रम के पश्चात् उसका पुत्र सोमेश्वर तृतीय सिंहासन पर बैठा। यह बड़ा विद्वान् और पराक्रमी था। इसके लिखे हुए प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अभिलषितार्थ चिन्तामणि' में राजनीति, युद्ध शास्त्र, अश्व शास्त्र, गज शास्त्र, ज्योतिष, तन्त्र इत्यादि अनेक विषयों पर विवेचन किया गया है।

इस राजा ने ११ वर्ष तक राज्य किया। इसके बाद इसका पुत्र 'जगदेव मल्ल' और उनके बाद उसका भाई तैलप द्वितीय राजा हुए। उसके बाद इस राजवंश की शक्ति बहुत क्षीण हो गयी और इनके एक माण्डलिक 'विज्जल' कलचुरि नामक सरदार ने विद्रोह करके कल्याणी में कलचुरी वंश की सत्ता स्थापित की।

इस कलचुरी-वंश का पूर्ण परिचय हम इस ग्रन्थ में कलचुरी राजवंश शीर्षक के नीचे दे चुके हैं।

कलिंग

प्राचीन भारतीय इतिहास का एक प्रसिद्ध जनपद और राज्य जो पूर्वी समुद्र-तट पर तामलुक से गंजाम-पर्यन्त फैला हुआ था। उसकी उत्तरी सीमा गंगा-नदी को स्पर्श करती थी। दक्षिण में मध्य गंजाम के उपरान्त घने वन फैले हुए थे। पूर्व में भारतीय महासागर पड़ता था। और पश्चिमी सीमा मध्यप्रदेश की अमर कण्टक-माला तक पहुँचती थी। समय समय पर इस प्रदेश की सीमाएँ घटती बढ़ती रहती थीं।

वर्तमान उड़ीसा भी उस समय कलिंग देश का ही भाग था। उसमें उत्कल' 'कंगोद और कोशल (दक्षिणी गंजाम)—ये तीन देश' सम्मिलित थे। इससे इसको त्रिकलिंग देश भी कहा जाता था।

महाभारत में कलिंग' देश का वर्णन एक अन्य प्रदेश के रूप में हुआ है जिसका राजा चित्रांगद था।

बौद्ध ग्रन्थों में कलिंग देश और उसकी राजधानी दन्तपुर के अनेक उल्लेख पाये जाते हैं।

मगर जैन साहित्य में इस प्रदेश का बहुत काफी और व्यवस्थित उल्लेख पाया जाता है। कलिंग की सबसे प्राचीन और उपलब्ध सामग्री जैन-परंपरा से सम्बन्धित है। बहुत प्राचीन काल से इस देश और राज्य के इष्टदेव 'कलिंग जिन' थे। यह कलिंग जिन भगवान महावीर के जन्म से पहले भी कलिंग-देश में प्रतिष्ठित थे।

प्रोफेसर राखालदास बनर्जी के अनुसार बहुत प्राचीन काल में उड़ीसा जैन धर्म का एक मजबूत गढ़ बना हुआ था।

ईसा से करीब ६ सौ वर्ष पूर्व कलिंग देश पर 'जित शत्रु' नामक राजा राज्य करता था। इस राजा की पुत्री यशोदा से जैनियों के २४ वें तीर्थंकर भगवान् महावीर का विवाह हुआ था और उनकी प्रियदर्शना नामक कन्या हुई थी।

ईसा से पूर्व ४२४ में मगध के राजा 'नन्दिवर्धन' ने कलिंग पर आक्रमण करके विजय प्राप्त की थी और यहाँ पर प्रतिष्ठित कलिंग-जिन की मूर्ति उठाकर पाटलिपुत्र ले गया था।

उसके पश्चात् ईसवी सन् पूर्व ३६४ में मगध-नरेश महानन्द के निधन को क्रान्ति हुई, उसमें कलिंग राज्य पुनः स्वतंत्र हो गया।

ईसवी सन् पूर्व २६१ के लगभग अपने राज्य के आठवें वर्ष में एक भारी सेना लेकर सम्राट् 'अशोक' ने कलिंग' के ऊपर आक्रमण किया। इस युद्ध में लाखों प्राणी का नर संहार हुआ। और कलिंग 'मौर्य-साम्राज्य' का अंग बन गया।

इसके पश्चात्' कलिंग के इतिहास में एक नवीन और प्रतापी राजवंश की स्थापना हुई। इस राजवंश का नाम 'चेत राजवंश' था इसका सबसे बड़ा प्रतापी राजा कलिंग चक्रवर्ती' खारवेल था।

सम्राट् खारवेल का जन्म १९० ईस्वी पूर्व में हुआ था। इस सम्राट् का एक इतिहास प्रसिद्ध शिलालेख उड़ीसा प्रदेश की आधुनिक राजधानी भुवनेश्वर से ३ मील की दूरी पर बने हुए 'हाथी गुम्फा' नामक एक प्राचीन गुफा मन्दिर की छतपर खुदा हुआ प्राप्त हुआ है। १७ पंक्तियों का यह महत्वपूर्ण लेख ८४ वर्गफीट के क्षेत्र में खिंचा हुआ है।

इस शिलालेख में सम्राट् खारवेल के द्वारा किये गये एक एक वर्ष के कार्यों का उल्लेख किया गया है। इससे मालूम होता है कि अपने राज्य के प्रथम वर्ष में इस राजा ने आँधी, तूफान आदि दैवी प्रकोपों से नष्ट हुए कलिंग नगर के गोपुर प्राकार प्रासादों आदि का जीर्णोद्धार करवाया और तालाबों और भरनों पर बान्ध बँधवाये।

अपने शासन के ८ वें वर्ष में सम्राट् खारवेल ने अपनी विशाल सेना के साथ उत्तरापथ की विजय यात्रा की। मगध पर आक्रमण किया। गोरथ गिरि पर भयंकर युद्ध करके राजगृह-नरेश का ध्वंस किया। उसके भय से यवनराज 'दिमित्री' भी मथुरा से भाग गया।

अपने राज्य के ६ वर्ष में उसने ब्राह्मणों को बड़े-बड़े दान दिये। ब्राह्मणों को भरपेट भोजन कराया और अर्हन्तों की पूजा की तथा नदी के दोनों तटपर ३८ लाख मुद्रा व्यय करके 'महाविजय प्रासाद' नामक एक विशाल राजमहल बनवाया। ११ वें वर्ष में उसने दक्षिण देश को विजय किया और ११३ वर्ष पहले से चले आये तामिल राजाओं को छिन्न भिन्न कर दिया। १२ वें वर्ष में उसने उत्तरापथ के राजाओं में अपने आक्रमण के द्वारा आतंक उत्पन्न किया और उन्हें अस्त व्यस्त कर दिया। मगध पर आक्रमण करके उसने अपने हाथियों को 'सुगंग' नामक राजमहल में प्रविष्ट कराया और पूर्वकाल में 'नन्द राजा' के द्वारा अपहृत की गई "कलिंग जिन" की भव्य प्रतिमा को वापस अपने राज्य में ले आया।

१३ वें वर्ष में इस राजा ने 'सुपर्वत विजय चक्र' में स्थित कुमारी-पर्वत' पर अपनी राजभक्त प्रजा द्वारा पूजे जाने के लिए अर्हन्तों की स्मृति में 'निषधकाएँ' निर्माण करवाईं। तपस्वी मुनियों के निवास करने के लिए कई गुफाएँ बनवाईं और अर्हन्त मन्दिर के निकट एक सुन्दर और विशाल सभा मण्डप बनवाया। जिसके मध्य में एक बहुमूल्य रत्न खचित 'मान स्तम्भ' स्थापित करवाया। इस सभा मण्डप में उसने समस्त मुनियों का एक सम्मेलन किया जो चारों दिशाओं से उसमें सम्मिलित होने के लिए उसमें आये थे। इस मुनि सम्मेलन में इस राजा ने भगवान महावीर की दिव्य ध्वनि में उच्चारित शान्तिदायक 'द्वादशाङ्ग सूत्रों' का पाठ कराया और उन सूत्रों के उद्धार का प्रयत्न किया।

यह शिलालेख ऐतिहासिक महत्व की दृष्टि से प्राचीन भारत के समस्त उपलब्ध शिलालेखों में अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है। राखालदास बनर्जी के मत से यह लेख पौराणिक वंशावलियों की पुष्टि करता है और ऐतिहासिक काल गणना को ईसा की ५ शताब्दी पूर्व तक पहुँचा देता है।

सम्राट् खारवेल के पश्चात् पहली शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक खारवेल का वंश राज्य करता था।

उसके पश्चात् आन्ध्र शातवाहन के राजा गौतमी पुत्र 'शातकर्णी' ने कलिंग पर विजय प्राप्त की। ९ वीं सदी में शातवाहनों का पतन होनेपर अयोध्या के निवासी इक्ष्वाकु वंशीय वीर पुरुष दत्त नामक व्यक्ति ने कलिंग देश पर अपना राज्य स्थापित किया।

ईसा की ५ वीं और छठी शताब्दी में कलिंग-देश में ४ राजवंशों का उदय हुआ।

करीब ५ मजदूर बेकार हो गये। १७ जुलाई को करीब पाँच लाख मजदूरों ने अस्थायी सरकार के विरुद्ध जबर्दस्त प्रदर्शन किया। करेन्स्की को पता लगा कि वह अपने प्रभाव को तेजी से खोता जा रहा है।

२८ अगस्त १९१७ को करेन्स्की ने राज्यपरिषद् की बैठक मास्को में बुलाकर यह चाहा कि उसके द्वारा सैनिक अधिनायकत्व कायम करके अपने शासन को मजबूत कर लिया जाय। मगर बोल्शेविक पार्टी की कम्प्रेस समिति ने उसी समय चार लाख मजदूरों का प्रदर्शन संगठित किया। सभी नगर के मजदूरों ने हड़ताल कर दी।

उस समय लेनिन हेलसिंकी (फिनलैंड) में छिपकर रह रहे थे और वहीं से वे सेन्ट्रल बोल्शेविक पार्टी को आवश्यक आदेश भेजते रहते थे। २७ सितम्बर १९१७ को लेनिन ने केन्द्रीय समिति को दो बड़े महत्त्वपूर्ण पत्र भेजे। इन पत्रों में एक पत्र 'बोल्शेविकों को राजसत्ता अपने अधिकार में ले लेना चाहिए' और दूसरा पत्र "मार्क्सवाद और विद्रोह" पर था। इन पत्रों के आधार पर बोल्शेविक केन्द्रीय-समिति ने बड़े जोर से सशस्त्र विद्रोह की तैयारी शुरू कर दी।

इसी तैयारी के परिणाम स्वरूप २५ अक्टूबर को प्रसिद्ध क्रान्ति हुई। रात को दो बजकर दस मिनट पर बोल्शेविकों ने अस्थायी सरकार के प्रधान स्थान हेमन्त-प्रासाद पर अधिकार कर लिया।

करेन्स्की ने हेमन्त प्रासाद से भागकर कज़ाक जनरल क्रास्नोव से मिलकर फिर अधिकार प्राप्त करने की कोशिश की। क्रास्नोव ने २८ अक्टूबर को पेट्रोग्राड के समीप जारस्को सेलो (आधुनिक पुश्किन) पर अधिकार कर लिया। तब राजधानी के मजदूर बड़ी तादाद में क्रान्ति सेना के साथ क्रास्नोव से लड़ने गये। उनको उधर जाते देखकर इधर क्रान्ति विरोधी लोगों ने बोल्शेविक सरकार का तख्ता उलटने का प्रयत्न किया। मगर उन्हें सफलता नहीं मिली। ३१ अक्टूबर को क्रान्तिकारियों ने जनरल क्रास्नोव की सेना को करारी हार दी और २ नवम्बर को क्रान्ति विरोधी शक्तियों ने बोल्शेविक सत्ता के सम्मुख अन्तिम रूप से आत्म समर्पण कर दिया।

कल्याण

हिन्दी भाषा में धार्मिक और सांस्कृतिक विषयों का प्रतिपादन करनेवाला एक सुप्रसिद्ध मासिक पत्र जिसका प्रकाशन गोरखपुर से श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार के सम्पादन में जनवरी सन् १९२६ में प्रारम्भ हुआ।

आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति के बढ़ते हुए तीव्र प्रवाह में भी संसार के अन्दर एक विचारधारा ऐसी है जो मानव जाति पर पड़नेवाले इस नूतन संस्कृति के प्रभावों का चिन्ता की दृष्टि से देखती है और मनुष्य जिस तेजी के साथ विज्ञान की सृजनात्मक शक्ति की अपेक्षा उसकी विनाशक शक्ति की ओर आकृष्ट हो रहा है उसे संसार के लिए कल्याणकर नहीं समझती। साथ ही इस नवीन सभ्यता के कारण मनुष्य की मनोवैज्ञानिक स्थिति में जो परिवर्तन हो रहे हैं उसे भी शंका की दृष्टि से देखती है।

भारतवर्ष में भी इस प्रकार की विचारधारा के कुछ लोगों का यह विश्वास है कि संसार में छाई हुई इस अशान्ति और दुष्प्रवृत्ति को मिटाकर स्थायी शान्ति और आस्तिक भावनाओं को उत्पन्न करने के मूल सूत्र तत्त्व भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति में निहित हैं और उन्हीं को ग्रहण करने से संसार मौजूदा समस्याओं पर विजय प्राप्त कर सकता है।

"कल्याण" मासिक पत्र इसी विचार-धारा का प्रतीक है और अपने जन्मकाल से ही यह इस विचारधारा के प्रचार में लगा हुआ है।

इस कार्य के लिए उसने भारत के पुराण, महाभारत, रामायण, उपनिषद् इत्यादि तमाम प्राचीन सुप्रसिद्ध साहित्य को विशेषांकों के रूप में निकाल निकाल कर अत्यन्त सस्ते मूल्य में जनता के अन्दर प्रचारित किया। भारतवर्ष के उच्चतर विद्वानों से लेख लिखवाकर इस पत्र में प्रकाशित किये जाते हैं। उत्तम कागज, उत्तम छपाई और उत्तम श्रेणी के चित्रों से सुसज्जित इस पत्र के विशेषांक एक लाख तक की संख्या में प्रकाशित होते हैं और भारतवर्ष के समस्त हिन्दी भाषी क्षेत्रों में तथा अन्यत्र भी इसका प्रचार है।

आधुनिक संस्कृति के तीव्र तूफान के सम्मुख इस प्रकार के प्रयास अत्यन्त छोटे ही हैं मगर इस विचारधारा

और कर्मशील पुरुष इस पर ध्यान न देकर अपने कर्म क्षेत्र में मन्थरगति से बढ़ते जाते हैं। ऐसे कार्यों के परिणाम तत्काल नहीं भावी इतिहास के परदे पर दृष्टिगोचर होते हैं।

कल्प सूत्र

जैनाचार्य भद्रबाहु (ई पू ३१ के करीब) द्वारा रचित श्वेताम्बर जैनियों का एक पूजनीय ग्रन्थ। जिसको देवर्द्धिगणि क्षमा श्रमण द्वारा की गई वल्लभी वाचना में फिर से संग्रहीत किया गया। यह वाचना वीर निर्वाण संवत् ६८ में अर्थात् विक्रम संवत् ५१ में वल्लभी नगरी में हुई थी।

कल्प सूत्र श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय का एक पवित्र ग्रन्थ है। इसमें जैनियों के २४ तीर्थंकरों में से तेईस तीर्थंकरों का संक्षेप में और भगवान महावीर का चरित्र विस्तार पूर्वक वर्णित किया गया है। भगवान महावीर के सत्ताईस पूर्व भवों का, छद्मस्थ की स्थिति में उनपर आये हुए महाभयंकर उपसर्गों का कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् उनके समवशरण में सम्मिलित होने वाले इन्द्रभूति इत्यादि ग्यारह गणधरों का विवेचन बड़ी ललित भाषा में किया गया है। जिस प्रकार भाद्रपद मास में वैष्णव मन्दिरों पर सारे भारत में एक सप्ताह तक श्री मद्भागवत का पाठ होता है उसी प्रकार भाद्रपद मास में ही पर्यूषण पर्व के आठ पवित्र दिनों में सारे भारत के श्वेताम्बर जैन मन्दिरों में कल्प सूत्र का प्रवचन होता है। भगवान महावीर से केवल दो शताब्दी बाद इसकी रचना होने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का बड़ा महत्व है और भगवान महावीर के इतिहास पर यह ग्रंथ प्रमाणभूत माना जाता है।

कविता-साहित्य

विश्व साहित्य का अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट मालूम होती है कि मनुष्य की वाणी ने जब साहित्य का रूप धारण किया तो सबसे पहले वह कविता के रूप में ही साहित्य के अन्तर्गत प्रकट हुई। संसार के सभी देशों के साहित्य का प्रारम्भ हमें काव्य के रूप में ही मिलता है गद्य का विकास बहुत बाद में साहित्य के अन्तर्गत प्रादुर्भूत होता है। अब हमें यह देखना है कि भिन्न-भिन्न देशों के साहित्य में काव्य के विकास की यह धारा किस रूप में प्रवाहित हुई।

संस्कृत काव्य

संसार के प्राचीनतम साहित्य वेदों में ऋग्वेद सबसे प्राचीन माना जाता है। इस वेद के सूक्त त्रिष्टुभ गायत्री, जगती इत्यादि छन्दों में लिखे गये हैं। प्रत्येक छन्द चार पदों का है। इन छन्दों की भाषा प्राचीन आर्यों की साहित्यिक भाषा थी जिसे पाणिनी के व्याकरण ने व्यवस्थित रूप दिया। सरल और सम्मोहक भाषा में ऋग्वेद के सूक्त अत्यन्त सुन्दर और मार्मिक हैं। सामवेद गेय मंत्रों की संहिता है इसमें ७५ ऋचाओं को छोड़कर शेष सब ऋग्वेद की है। सामवेद के मन्त्र अत्यन्त सुन्दर और संगीत के परिचायक हैं। यजुर्वेद यज्ञमंत्रों की संहिता है। इसी प्रकार अथर्व वेद में भी मन्त्र तंत्र के रूप में काव्य का विकास हुआ है। अथर्ववेद में वरुण के प्रति कहे गये कुछ मन्त्र तथा राज्यारोहण के समय पढ़े जानेवाले मन्त्र काव्य की शालीनता में बहुत बढ़े हुए हैं।

वेदों से निकलकर संस्कृत का काव्य साहित्य ऐतिहासिक परम्परा में प्रवेश करता है। इस परम्परा में हम सबसे पहले आदि कवि वाल्मीकि के दर्शन करते हैं। जिन्होंने अयोध्या के राजा रामचन्द्र की जीवनकथा को लेकर संसार प्रसिद्ध "रामायण" महाकाव्य की रचना की। इस आदि महाकाव्य का समस्त भारत के परवर्ती साहित्य, सभ्यता और जीवन के आदर्शों पर ऐसा महान प्रभाव पड़ा जैसा संसार भर के किसी दूसरे महाकाव्य का नहीं पड़ा। वाल्मीकि के राम और सीता तब से लेकर हजारों वर्षों के बाद आज तक भी भारत के करोड़ों नर नारियों के आराध्य देव हैं वे उनके धर्म के आदर्श हैं उनकी सभ्यता के आदर्श हैं, उनकी मानवता के आदर्श हैं उनके जीवन के आदर्श हैं और उनके राजा के आदर्श हैं। रामचन्द्र के बिना भारतीय जीवन को पहचानना कठिन है। महर्षि वाल्मीकि ने सरल भाषा, सुन्दर शैली, और विचार और

अनन्त माधुर्य के साथ रामायण के रूप में जिस महान काव्य को प्रस्तुत किया है, इतिहास के कई युग बीत जाने पर भी आज तक वह न केवल भारतीय साहित्य में बल्कि समग्र विश्व इतिहास में अनुपम है बेजोड़ है।

रामायण के पश्चात् भारतीय काव्य साहित्य में जो दूसरी महान रचना सामने आती है वह महाभारत है। इसके रचयिता महर्षि व्यास हैं। जिनको भगवती सरस्वती का महान् आशीर्वाद प्राप्त था। इस महाकाव्य में कुरुवंश के उद्भव से लेकर कौरव पाण्डवों के बीच में हुए महाभारत युद्ध का वर्णन है। मगर इस वर्णन के अन्तर्गत इस महाकवि ने संसार की उत्पत्ति से लेकर मनुष्य के जीवन में प्रतिदिन उपस्थित होनेवाली समस्याओं का धर्म अर्थ काम और मोक्ष के सभी सूक्ष्म तत्वों का सामाजिक प्रश्नों का और राज्य व्यवस्था का ऐसा विश्लेषण किया है जो संसार के अन्य किसी साहित्य में मिलना असम्भव है। महाभारत की प्रसिद्ध लड़ाई प्रारम्भ हो रही है। दोनों पक्षों की सेनाएं अपनी अपनी व्यूह रचना करके खड़ी हुई हैं। उनके बीच में कृष्ण अर्जुन का रथ लेकर युद्ध के मैदान में आते हैं। अर्जुन देखता है कि उसके सामने लड़ने को कौन खड़े हैं? उसके पितामह भीष्म उसके गुरु द्रोणाचार्य तथा उसके भाई बन्धु सभी तो उसके परिवार के हैं जिनके साथ वह बचपन से खेलता कूदता आया है। उन्हीं बन्धुजनों से उसे लड़ना होगा। कदापि नहीं राज्य के बटवारे के लिए, भूमि के टुकड़े के लिए, संसार के वैभव के लिए मैं इनसे लड़ूँगा। नहीं यह नहीं हो सकता राज्य मिले चाहे न मिले मैं इनकी हत्या नहीं करूँगा। वह मोह के वश होकर धनुष बाण रख देता है और कृष्ण को रथ वापस ले चलने का आग्रह करता है।

ऐसे संकटमय क्षण में कृष्ण के द्वारा उसके मोह को दूर करने के लिए श्रीमद्भागवद्गीता का उपदेश होता है। यह श्रीमद्भगवद्गीता सारे महाभारत का जैसे निचोड़ है और समग्र संसार के साहित्य को जैसे चुनौती है। इस अठारह अध्यायों की छोटी पुस्तक में जैसे मानव जीवन की समग्र समस्याओं का मनुष्य के कर्तव्य और धर्म का ज्ञान और कर्म का काम और निष्काम का निरूपण कर दिया गया है। समस्त संसार में मानव जाति के सम्मुख कोई समस्या ऐसी नहीं जिसका हल गीता में न हो। इसके पश्चात् शान्ति पर्व में बाणों की शय्या पर पड़े हुए इच्छा मृत्यु भीष्म पितामह के द्वारा अर्जुन को दिया हुआ उपदेश जैसे सहस्रों धाराओं में झर झर करता हुआ समस्त मानव जाति को दिया जाने वाला शान्ति का एक महान सन्देश है। कहने को चाहे जो कह ले मगर वास्तविकता के धरातल पर क्या विश्व साहित्य में इसकी तुलना कहीं मिल सकती है।

समस्त महाभारत में अठारह सर्ग और एक लाख श्लोक हैं। यह महाकाव्य ओजपूर्ण शैली में कई प्रकार के श्लोकों में निर्मित किया गया है। अंग्रेजी इतिहासकारों के अनुमान के अनुसार इसकी रचना एक व्यक्ति ने नहीं अनेक व्यक्तियों की है और इसका निर्माण समय वे लोग ई० पू० ५ से लेकर ई० सन् १ के बीच मानते हैं। मगर भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में उनकी कई धारणाएँ जैसे गलत निकली हैं वैसे यह धारणा भी गलत हो सकती है। भारतीय इतिहासकार इस विषय पर अनुसंधान कर रहे हैं।

महाभारत ही की तरह भारत के पुराण साहित्य में भी काव्य और अलंकारों की अनन्त धारा बही है। ये पुराण गिनती में अठारह हैं। जिनमें आर्यजाति के भिन्न भिन्न देवताओं की कथाओं का काव्य शैली में वर्णन किया गया है। इनका रचनाकाल भिन्न भिन्न है।

इनके पश्चात् संस्कृत काव्य साहित्य भिन्न भिन्न धाराओं में बहता हुआ 'कालिदास' पर आकर ठहरता है।

कालिदास के काल के सम्बन्ध में इतिहासकारों में मतभेद है। कुछ इतिहासकार उन्हें ई० सन् से पूर्व ५७ वर्ष में होने वाले शकारि विक्रमादित्य का समकालीन मानते हैं और कुछ इतिहासकार गुप्तवंशीय द्वितीय चन्द्रगुप्त को ही विक्रमादित्य मानकर कालिदास को उसकी सभा का रत्न मानते हैं।

अगर कालिदास का समय ईसा से पूर्व ५७ वर्ष माना जाता है तो ईसा की पहली सदी में होनेवाले 'बुद्ध चरित' नामक महाकाव्य के रचयिता 'अश्वघोष' कालिदास के पश्चात् कालीन ठहरते हैं और यदि कालिदास द्वितीय चन्द्रगुप्त के समकालीन थे तो वे अश्वघोष के बाद के ठहरते हैं। जो भी हो मगर यह निश्चय है कि इन दोनों महान

कवियों की रचनाओं पर एक दूसरे का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ा है।

कालिदास के महाकाव्यों में रघुवंश और काव्यों में कुमार सम्भव, मेघदूत और ऋतु संहार इस समय उपलब्ध हैं। (विशेष वर्णन कालिदास नाम के अन्तर्गत इसी भाग में देखें)।

अश्वघोष की रचनाओं में "बुद्ध चरित" "सौ दरानन्द" दो महाकाव्य बहुत प्रसिद्ध हैं। इस महाकवि के कुछ काव्यों और नाटकों के कुछ अंश तुरफान में भी मिले हैं। अश्वघोष के पश्चात् चौथी सदी के करीब भी 'अवदानशतक' 'दिव्यावदान' इत्यादि बौद्ध काव्यों की रचना हुई।

इनके पश्चात् सातवीं सदी के अन्त में महाकवि 'माघ' का नाम दृष्टिगोचर होता है। इस महाकवि का शिशुपाल वध नामक काव्य भी संस्कृत साहित्य में एक प्रकाश स्तम्भ की तरह दिखाई पड़ता है।

ईसा की नौवीं सदी संस्कृत साहित्य में अनेक महाकाव्यों की रचना की शताब्दी है। इसी काल में जैन साहित्य में भी कई महाकाव्यों की रचना हुई। जिन सेनाचार्य और उनके शिष्य गुणभद्राचार्य इसी शताब्दी में हुए। जिन्होंने 'आदि पुराण' और 'हरिवंश पुराण' के समान अत्यन्त सुन्दर महाकाव्यों की रचना की। माणिक्य सूरि द्वारा रचित यशोधर चरित्र और अमरचन्द का पद्मानन्द काव्य भी इसी काल की रचना है। इसी काल में अर्थात् राजा अवन्ति वर्मन के समय में कश्मीर में भी कई महाकाव्यों की रचना हुई जिनमें कवि रत्नाकर के द्वारा पचास सर्गों और ४१२१ पद्यों में लिखा हुआ 'हर विजय', शिव स्वामी का 'कफिणाभ्युदय' इत्यादि काव्य उल्लेखनीय हैं। इसी काल में आनन्दवर्द्धन नामक कवि ने अर्जुन चरित्र और राजशेखर ने 'हरविलास' नामक महाकाव्य की रचना की थी जो इस समय अप्राप्य है।

बारहवीं सदी में कन्नौज के राजा जयचन्द राठौड़ के दरबारी कवि श्री हर्ष ने बाईस सर्गों में नैषधीय चरित नामक सुन्दर महाकाव्य की रचना की जिसमें नल दमयन्ती के चरित्र के वर्णन में करुणारस की धार बहा दी है। इसी समय जैन कविता में वाग्भट्ट अभयदेव और धर्माभ्युदय नामक काव्य के रचयिता हरिश्चन्द्र भी हुए जिन्होंने बड़े सुन्दर काव्यों की रचना की।

चम्पू काव्य

संस्कृत साहित्य में 'चम्पू काव्य" नामक काव्य के एक विशिष्ट अंग की रचना भी प्रचुरता से हुई जिसमें गद्य और पद्य दोनों मिश्रित रहते हैं। इन चम्पू काव्यों में जैन कवि सोमदेव (दसवीं सदी) द्वारा रचित 'यशस्तिलक चम्पू' हरिश्चन्द्र द्वारा रचित 'जीवन्धर चम्पू' राजा भोज द्वारा रचित रामायण चम्पू (ग्यारहवीं सदी) इत्यादि चम्पू उल्लेखनीय हैं।

बारहवीं सदी के अन्त में रचित महाकवि "जयदेव" का राधा और कृष्ण के प्रणय और विरह का प्रदर्शक 'गीतगोविन्द' काव्य भी संस्कृत साहित्य की एक अमूल्य निधि है। इतना मधुर संगीत पूर्ण काव्य संस्कृत साहित्य में दूसरा नहीं है।

इसी प्रकार शतक काव्यों में भर्तृहरि रचित शृंगारशतक, वैराग्यशतक नीतिशतक कश्मीरी कवि अमरु का अमरु शतक बाण का चण्डीशतक इत्यादि प्रसिद्ध हैं।

सोलहवीं सदी में सम्राट शाहजहाँ के समय में पण्डित राज जगन्नाथ संस्कृत काव्य के क्षेत्र में बहुत प्रसिद्ध हुए उनके गंगालहरी और भामिनी विलास नामक काव्य, सुन्दर शब्द रचना और अपने माधुर्य गुण के कारण बड़े प्रसिद्ध हैं।

प्राकृत काव्य

संस्कृत भाषा के इतिहास के साथ ही भारतीय साहित्य में प्राकृत भाषा का इतिहास भी जुड़ा हुआ है। प्राकृत का मतलब है स्वाभाविक या बोलचाल की भाषा और संस्कृत का अर्थ है संस्कार की हुई भाषा।

जिस प्रकार वैदिक साहित्य का विकास अधिकतर संस्कृत भाषा में हुआ उसी प्रकार जैन साहित्य का विकास प्रधान रूप से प्राकृत भाषा में हुआ। जैनियों के प्रायः अधिकतर धर्म ग्रन्थों और सूत्रों की रचना प्राकृत भाषा में हुई। आचारांग उत्तराध्ययन सूत्रकृतांग दशवैकालिक भगवती इत्यादि सभी आगम ग्रन्थों की रचना प्राकृत भाषा में हुई। इन सब विषयों का विवेचन यथा स्थान पर किया जायगा। यहाँ पर हम सिर्फ प्राकृत भाषा में लिखे गये काव्य ग्रन्थों का विवेचन करना है—

प्राकृत काव्य ग्रन्थों में हमें सबसे पहले "गाथा सप्तशती" नामक उत्कृष्ट काव्य ग्रन्थ के दर्शन होते हैं। इसकी रचना और संग्रह आन्ध्र सातवाहन नरेश हाल के द्वारा की गई है। जिसका समय ईसा की पहली सदी के आसपास माना जाता है। इस ग्रन्थ में ९ प्राकृत गाथाएँ हैं। इनमें बहुत सी गाथाएँ लेखक के द्वारा रची गई हैं और बहुत सी उस समय की लोककथाओं से संग्रहीत की गई हैं। इन गाथाओं में प्रेम, शृंगार और करुणा रस की धाराएँ बहती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। इस ग्रन्थ में काव्य के आनन्द के साथ साथ बहुत से ऐतिहासिक तथ्य भी प्रकट होते हैं।

इसी प्रकार की एक दूसरी सतसई की रचना जैन कवि जयवल्लभ ने की जिसका नाम "वज्जालग्ग" है। उपदेशमाला धर्मदास रचित "उपदेशमाला" में जैन मुनियों और श्रावकों के आचार का निरूपण ५४ छन्दों में किया गया है। यह ग्रन्थ महावीर निर्वाण के कुछ समय बाद ही तैयार किया गया। आगे की शताब्दियों में इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाओं की रचना हुई।

आठवीं सदी में प्रसिद्ध आचार्य हरिभद्र सूरि ने "उपदेश पद" नामक धार्मिक काव्य की एक हजार छन्दों में रचना की। इन्हीं हरिभद्र सूरि द्वारा रचित "समराइच्च कहा" नामक प्राकृत चम्पू काव्य में जीवन के आध्यात्मिक दृष्टिकोण का बड़ा सुन्दर विवेचन किया गया है। उद्योतन सूरि द्वारा लिखा हुआ "कुवलय माला" नामक काव्य भी प्राकृत काव्य के क्षेत्र में एक प्रकाश स्तम्भ है।

अपभ्रंश भाषा भी प्राकृत और मागधी के परिवार की भाषा है। इस अपभ्रंश साहित्य को सुप्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र ने उपदेशमाला त्रिषष्ठि शलाका पुरुष आदि कई बहुमूल्य रचनाओं से समृद्ध किया। आचार्य हेमचन्द्र अप भ्रंश भाषा के "पाणिनी" माने जाते हैं। विक्रम की आठवीं और दसवीं सदी के बीच में स्वयम्भूदेव और उनके पुत्र त्रिभुवनदेव हुए जिन्होंने हरिवंश पुराण और पउमचरित्र (पद्मायण) की रचना की। दसवीं सदी में धनपाल नामक कवि ने 'भावी सयत्त' नामक कथा काव्य की रचना की जिसका जर्मनी अनुवाद जर्मन विद्वान हरमन-जेकोबी ने १९१८ में प्रकाशित किया। इसी धनपाल कवि ने १८ सन्धियों में हरिवंश पुराण की भी रचना की।

मगर जैन द्वारा रामायण की घटना पर आधारित "त्रिभुवन्द" नामक काव्य भी बड़ा सुन्दर और भावपूर्ण है। आठवीं सदी में कन्नौज के राजा यशोवर्मन के राज कवि वाक्पति राज ने "गउडवहो" नामक काव्य की रचना की जिसमें देहाती जीवन का बड़ा सुन्दर चित्रण किया।

फिर भी इतना जरूर मानना पड़ेगा कि प्राकृत भाषा का महत्व शृंगारपूर्ण काव्यों की अपेक्षा धार्मिक काव्यों और ग्रन्थों के कारण ही अधिक है।

बेबीलोनियन साहित्य के काव्य

भारतीय संस्कृति ही की तरह मध्य एशिया के मेसो-पोटामिया क्षेत्र में विकसित होने वाली, सुमेरियन बेबि-लोनियन और असीरियन सभ्यताएँ भी इतिहास के अत्यन्त प्राचीन युग में विकसित हुई थीं। इन तीनों सभ्यताओं का समय ईसा से १ वर्ष पूर्व से लेकर ६ वर्ष पूर्व तक माना जाता है।

बेबिलोनियन सभ्यता का बहुत सा साहित्य ईंटों पर कीलनुमा क्यूनीफार्म लिपि में खुदा हुआ है। इस प्रकार की हजारों ईंटों का संग्रह असुर सम्राट असुरबनिपाल ने अपने राज्यकाल में करवाया था। यह संग्रह पुरातत्व विदों की खोज से अभी प्राप्त हुआ है।

इस साहित्य से पता चलता है हजारों वर्ष पूर्व के उस युग में भी बेबिलोनियन सभ्यता में अच्छे अच्छे काव्यों की रचना हुई थी।

इनमें से एक काव्य का नाम "गिल्गमेश" है यह उस समय की लिपि में बारह बड़ी बड़ी ईंटों पर खुदा हुआ है। इस काव्य में उस समय होने वाले जल प्रलय की कहानी बड़े ही मनमोहक और सुन्दर ढंग से कही गई है। यह कहानी उतनपिश्तिम् नामक एक प्राचीन व्यक्ति ने अपने वंशधर 'गिल्गमेश' को सम्बोधन करके कही है (इस काव्य का पूरा वर्णन "गिल्गमेश" नाम के अन्तर्गत अगले भाग में देखें।)

इसी साहित्य का एक दूसरा काव्य "इर्रा" है। इस काव्य में उस सभ्यता के प्रधान देवता "इर्रा" के द्वारा मानव जाति पर किये हुए भयंकर कोप का वर्णन है। जिसके कारण

इन राज्यों के आसपास के राज्यों से भयंकर युद्ध होते हैं। जिनमें बहुत भयं नरसंहार होता है अन्त में "बैबीलोन की विजय होती है।

इसी साहित्य का एक काव्य "गुमा एलिश" भी है यह काव्य सात ईंटों पर खुदा हुआ है। इस काव्य में पाँच सौ से ऊपर गाथाएँ हैं। इस काव्य में उनके देवता मार्डुक अक्कादी की कहानी है जो स्वर्गलोक का नेता बन गया था। इसमें देवताओं की उत्पत्ति और उनके पारस्परिक युद्धों का बड़ी रोचक भाषा में वर्णन किया गया है। इसमें संसार की उत्पत्ति, उसकी व्यवस्था, मनुष्य की उत्पत्ति आदि सभी विषयों का उसी प्रकार वर्णन किया गया है जैसा भारतीय पुराणों में देखने को मिलता है।

इन काव्यों के अतिरिक्त अक्कादी साहित्य में संस्कृत साहित्य की तरह बहुत से पुराणों की भी रचना हुई। इन पुराणों और काव्यों से मालूम होता है। कि भारतीय साहित्य का इस साहित्य पर बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा था।

यूनानी काव्य

संस्कृत और अक्कादी काव्यों ही की तरह यूनानी काव्यों की परम्परा भी बहुत प्राचीन है और इस परम्परा का आदि कवि "होमर" माना जाता है। संस्कृत साहित्य के आदि कवि वाल्मीकि की तरह यूरोप में मौके के आदि कवि होमर की बड़ी प्रतिष्ठा है। होमर का समय ईसा से नौ सदी पूर्व माना जाता है।

होमर के "इलियड" और "ओडेसी" ये महाकाव्य बहुत प्रसिद्ध हैं। इलियड नामक महाकाव्य की कथा स्पार्टा नगर के राजा आगमेम्नन के भाई की पत्नी संसार की प्रसिद्ध सुन्दरी हेलेन का ट्रायनगर के राजकुमार द्वारा अपहरण और उसके विरोध में राजा आगमेम्नन द्वारा ट्रायनगर पर डाले गये घेरे और भयंकर युद्ध की कथा पर आधारित है।

होमर का दूसरा काव्य ओडेसी ट्रायनगर के युद्ध के प्रसिद्ध वीर इथिलिस की जीवन कथा पर आधारित है जो ट्रायनगर के युद्ध के पश्चात् दस वर्ष तक बहानों पर इधर २ का भ्रमण करता रहता है और उसकी सुन्दर तथा साध्वी पत्नी पेनीलोप उसका इन्तिजार करती रहती है। दूसरे अनेक सम्पन्न व्यक्ति उससे विवाह का प्रस्ताव करते हैं मगर वह सबसे इन्कार कर देती है। इथिलीज का पुत्र अपने पिता को खोजकर लाता है और फिर पति पत्नी का मिलन होता है। इसी कथानक पर "ओडेसी" के वीर काव्य की रचना की गई है।

होमर के काव्य यूरोप में इतने लोक प्रिय हुए कि उनको गा-गाकर सुनाने वाले लोगों की एक जाति ही बन गई जो "होमरीडी" के नाम से प्रसिद्ध थी।

होमर के पश्चात् यूनानी साहित्य में हीसाॅड (Hesiod) का नाम विशेष प्रसिद्ध है जो एक किसान था। इसने किसानों के जीवन और उनपर आने वाली कठिनाइयों के सम्बन्ध में अपने काव्यों की रचना की। इसने भी अपने काव्यों में होमर द्वारा प्रयुक्त "वीर छन्द" का ही प्रयोग किया।

वीर छन्द की काव्य परम्परा के बाद यूनानी साहित्य में लिरिक काव्यों का प्रचार हुआ। ये लिरिक काव्य "सोलो" और कोरस दो प्रकार के होते थे। "सोलो" लीरिक अकेले गाये जाते थे और कोरस लीरिक समूह रूप में। लिरिक काव्यों के प्रारम्भिक रूप में ग्रीक कवि अल्कायूस (Alcaeus) और सैफो (Sapho) नामक कवियित्री का नाम बहुत प्रसिद्ध है। सैफो का समय ई० सन् पूर्व ६५ है। एफ्रोडाइट नामक ग्रीकदेवी की पूजा के लिए यदि छात्रों का एक दल साथ लेकर वह अपने लिरिकों का मधुर गान करती थी। उसकी शैली अत्यन्त सरल, मधुर और हृदयस्पर्शी थी। उसके काव्य में नारी हृदय की भावुकता के स्पष्ट दर्शन होते थे। उसके जीवनकाल से आगे की करीब चौदह शताब्दियों तक उसकी कविताओं का यश चारों ओर फैलता रहा। उसके अनुकरण पर अनेक कवियों ने अपनी कविताओं की रचना की।

"सोलो" लिरिक के पश्चात् यूनानी साहित्य में "कोरस लिरिक की परम्परा चली। कोरस लिरिक समूह रूप में धार्मिक भावनाओं का प्रचार करने के लिए गाये जाते थे। इस प्रकार के कोरस लिरिकों की रचना में "अल्कमन" "इबिकस" "पिंडार" इत्यादि कवियों के

नाम उल्लेखनीय हैं। इन्हीं लोगों कवियों से आगे चलकर नाटक और ट्रेजिडी (दुःखान्त नाटक) का विकास हुआ। जिसका मूल प्रवर्तक एस्किलिस नामक प्रसिद्ध नाटककार था जिसका समय ईसा से पूर्व ५२५ से लेकर ४५५ तक था।

इसके पश्चात् ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में यूनानी-काव्यों का केन्द्र एथेन्स से हट कर सिकन्दरिया में आ गया। इस काल में यूनानी काव्य के अन्तर्गत कालिमेकस और अपोलो-नियस नामक दो कवि विशेष प्रसिद्ध हुए। ग्रीक कविता का यह युग हेलेनिस्टिक युग के नाम से प्रसिद्ध है।

चीनी काव्य

चीनी कविताओं का इतिहास बहुत पुराना है। पुरा-तत्त्व विभाग के प्रयत्नों ने चीन के कई प्राचीन खण्डहरों को खोद कर प्राचीन काल की बहुत-सी ऐतिहासिक सामग्री ढूँढ निकाली है। जिसमें प्राचीन कविताओं का "शिह किंग" नाम का ग्रन्थ भी प्राप्त हुआ है। इस संग्रह में ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व से लेकर ईसा से ७ वर्ष पूर्व तक की कविताओं का संग्रह है। यद्यपि इस काल के किसी प्रसिद्ध कवि का नामोल्लेख इसमें नहीं मिलता। इस संग्रह का सम्पादन चाऊ राजवंश के समय में हुआ था।

इसके पश्चात् चीनी काव्यों के इतिहास में प्रसिद्ध चू युआन (Chw yuan) (ई० पू० ३२८–२८५ तक) का आता है जिसने मिलो नदी में डूब कर आत्महत्या की थी। इस कवि की रचना "ली साओ" त्यौहार के अवसर पर गाये जानेवाले मर्सिया के रूप में है।

इसके पश्चात् प्रसिद्ध तांग राजवंश के सम्राट् व्हाई सुंग के समय में अर्थात् ईसा की सातवीं शताब्दी में चीनी काव्य की बहुत उन्नति हुई। इस काल में करीब २ कवियों ने अपनी रचनाओं से चीनी काव्य साहित्य को समृद्ध किया। इन कवियों में वांग वेई (सन् ६९९ से ७५९) ली-पो (सन् ७ १ से ७६२ तक) तू-फू (सन् ७१२ से ७७ तक) और पो चू यी (सन् ७७२ से ८४६ तक) विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें से वांगवेई धार्मिक काव्य का, ली-पो रोमान्टिक काव्य का, तू फू यथार्थवादी काव्य का और पोचूई राजनैतिक कविताओं का भ्रष्टा था।

इस युग के प्रधान ७७ कवियों की १११ प्रसिद्ध कवि-ताओं का संग्रह अठारहवीं सदी में प्रकाशित किया गया जो आज भी चीनी जनता का अद्भुत प्रेरणा के रूप है। ये कवि-तायें चीनी जनसमाज की पठित और अपठित सारी जनता की जबान पर चढ़ी हुई हैं।

ग्यारहवीं और बारहवीं सदी के प्रसिद्ध कवियों में सू-तुंग पो (१ ३६–११ १) मू-फी (११२५–१२१) और लि चिंग-चाउ नामक महिला कवियत्री का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इनमें ली चिंग-चाऊ एक प्रसिद्ध कवियत्री के रूप में अमर है।

सत्रहवीं और अठारहवीं सदी के चीनी काव्य साहित्य में युआन मेई (१७१६ १७९८) चांग शिह युआन विशेष उल्लेखनीय हैं। युआन मेई चीन में अठारहवीं सदी का सबसे बड़ा कवि माना जाता है। उस काल की अठारह महिला कवियत्रियाँ उसकी शिष्यायें थीं। उसकी कवि-ताओं के साथ उसकी शिष्या कवियत्रियों की कविताओं का संग्रह सुई-युआन सान शिह-चुंग के नाम से प्रकाशित हुआ।

चांग शिह-युआन चीन के तत्कालीन तीन प्रसिद्ध कवियों में से एक था उसकी कवितायें ११ खण्डों में प्रकाशित हुईं।

उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के चीनी कवियों में चाऊ शू-जैन (१८८१ १९३६) कुओ-मो-जो (१८९२) हू शिह (१८९१) विन-युडाग (१ २५) इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं।

लैटिन-काव्य

जिस प्रकार संस्कृत भारत वर्ष की कई भाषाओं की जननी है उसी प्रकार लैटिन भाषा भी यूरोप की, फ्रेंच स्पैनिश इटालियन इत्यादि कई भाषाओं की जननी मानी जाती है।

लैटिन काव्य की परम्परा के प्रारम्भ में हमें लीवियस एण्ड्रोनिकस नामक कवि का पता चलता है जिसका समय ई० पू० २८४ से २ ४ तक माना जाता है। इस कवि ने महाकवि होमर के "ओडेसी" काव्य का लैटिन भाषा में अनुवाद किया था।

लीवियस के पश्चात् क्विंटस इनियस का नाम प्राचीन लैटिन साहित्य में विशेष प्रसिद्ध है जिसने अठारह खण्डों में

एनाल्स" नामक प्रसिद्ध वीर काव्य की होमर परम्परा के वीर छन्दों में रचना की। इनियस को लैटिन साहित्य के पिता की तरह माना जाता है। इसका समय ई० पू० २३९ से १६९ तक माना जाता है।

इसके पश्चात् लैटिन साहित्य में व्यंग साहित्य की प्रतिष्ठा करनेवाले कवि लूसीलियस का नाम उल्लेखनीय है। तत्कालीन रोम के सामन्त कुलों के विलासपूर्ण जीवन का वास्तविक चित्रण लूसिलियस की व्यंगपूर्ण कविताओं में बड़े सुन्दर ढङ्ग से चित्रित हुआ है। इसका समय ई० पू० १८० से ई० पू० १०२ तक माना जाता है।

मगर लैटिन काव्य परम्परा का पूर्ण विकास ऑगस्टस सीजर के युग में हुआ। जबकि संसार प्रसिद्ध महान् कवि वर्जिल होरेस प्रोपेरियस ओविद इत्यादि महान् कवियों ने अपनी अमर रचनाओं से इस साहित्य को सम्पन्न किया।

वर्जिल का महाकाव्य "ज्योर्जिक्स" लैटिन भाषा का अमरकाव्य है, जो अपने माधुर्य ओज ध्वनि इत्यादि सभी बातों में अतुलनीय है। वर्जिल का समय ई० पू० ७० से ई० पू० १९ तक था। वर्जिल के साथ ही "होरेस" का नाम भी लैटिन काव्यों के इतिहास में अक्षुण्य है। इसका समय ई० पू० ६५ से ई० पू० ८ तक था। वह प्रधानतया "ओड" या कसीदों का महान् कवि था। इसके कसीदों के संग्रह ने लिरिक काव्यों के अन्तर्गत अपनी अक्षुण्ण कीर्ति को स्थापित किया।

तदुपरान्त प्रोपेर्टियस और ओविद नामक कवियों ने अपनी-अपनी प्रमिकाओं से प्रेरणा पाकर अपने प्रसिद्ध लैटिन काव्यों की रचना की। इनकी प्रेमिकाओं के नाम क्रमशः 'डेल्फिया' "सिन्थिया" और "कोरिन्ना" था। प्रोपर्टियस की तीन पुस्तकों में संग्रहीत एलेजियाज (मार्सिया) में उसकी सुन्दर काव्य कला नमूना देखने को मिलता है। और ओविद के द्वारा दस हजार छन्दों में लिखा हुआ "मेटामारफोसिस" नामक प्रकार का इतिहास काव्यकला की दृष्टि से अनुपम है।

मध्यकालीन युग में लैटिन काव्यों के इतिहास में प्रमुख रूप में महाकवि दांते नाम विशेष प्रसिद्ध है। दांते की विशेष रचनाएँ यद्यपि इटालियन भाषा में है और वह इटालियन भाषा का पक्षपाती भी था, फिर भी लैटिन-भाषा में भी उसने बहुत कुछ लिखा। लैटिन भाषा में उसकी रचना "दि वलगारी एलोकेन्शिया" विशेष प्रसिद्ध है।

सत्रहवीं सदी में महाकवि मिल्टन ने भी अपनी कई कविताएँ लैटिन में ही लिखी।

उसके पश्चात् यूरोप के भिन्न-भिन्न देशों में अपनी राष्ट्रीय भाषाओं का विकास हो जाने से लैटिन का महत्व उसी प्रकार कम होता गया जिस प्रकार भारत में प्रान्तीय भाषाओं का विकास हो जाने से संस्कृत का महत्व कम हो गया।

फ्रेंच काव्य

फ्रेंच काव्यों का प्रारम्भ भी अन्य देशों के साहित्य की भांति वीरगाथाओं से ही प्रारम्भ होता है। सबसे पहले मध्यकालीन फ्रेंच साहित्य में हमें "रोलां के गीत" नामक काव्य देखने को मिलता है जिसका रचना काल ग्यारहवीं सदी के अन्त में माना जाता है। इसमें सम्राट शार्लमेन महान् के वीरतापूर्ण शौर्य की कथाएँ बड़ी ओजस्वी भाषा में प्रस्तुत की गई हैं। शार्लमेन के अतिरिक्त और भी कई वीर गाथाओं का इसमें समावेश है।

इसी के साथ-साथ छोटी-छोटी काव्यमय वीरगाथाओं का जिन्हें फ्रेंच भाषा में 'ले' (Lay) कहते हैं फ्रेंच साहित्य में बहुत प्रचार हुआ।

चौदहवीं और पन्द्रहवीं सदी में फ्रेंच साहित्य में "लिरिक काव्यों" की रचना भी होना प्रारम्भ हुई। लिरिक काव्यों के रचनाकारों में फ्रान्सोइस विलों (Francois Villon) का नाम उसके "वैलाडस" नामक काव्य की कला से प्रसिद्ध है। पुनर्जागरण या रेनेसा के युग में फ्रेंच साहित्य में लिरिक काव्यों का अधिक विकास हुआ। इस युग के कवियों में क्लीमेन्ट मारोट (Clement marot) जोकिम डु-बेले (Joachim-Du-Bellay) मॉरिस सेव (Maurice-Sceve) लुईस लेबे (Louise

Labe) इत्यादि कवियों ने फ्रेंच साहित्य को विशेषरूप से समृद्ध किया।

सत्रहवीं सदी में फ्रेंच काव्यों का विकास ट्रेजिडी और कॉमेडी नाटकों के रूप में हुआ। उन्हें स्वतंत्र रूप से काव्य नहीं कहा जा सकता। इस काल के कवियों या नाटककारों में "पियर कार्नेल" (Pierre Corneille और रैसिन (Jean Racine) मोलियर (Moliere) इत्यादि साहित्यकारों के नाम बहुत उल्लेखनीय हैं।

इसके पश्चात् उन्नीसवीं सदी में फ्रेन्च साहित्य में फिर से लिरिक काव्यों का प्रचार प्रारम्भ हुआ। इस युग के लिरिक कलाकारों में 'लामार्टिन' (Lamartine) अल्फ्रेड-डी-मसेट (Alfred-De-Musset) विग्नी (Vigny) इत्यादि कवियों ने अपनी सुन्दर और प्राचीन रचनाओं से फ्रेंच साहित्य में नवजीवन का संचार किया। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में फ्रेंच कविता में "परनासी" नामक एक नवीन कविता की परिपाटी अस्तित्व में आई। इस पद्धति में सुन्दर भाषा शिल्पों की विशिष्टता भावों की स्वाभाविकता पर और गोपनीय प्रेम सम्बन्धों के विवेचन पर विशेष बल दिया जाता था। इस पद्धति के कवियों में जोसे मारिया डी हार्डिया (Jose Maria-de Heredia) 'लिकोन्ट डी लिस्ले' (Leconte-De-Lisle) चार्ल्स बौदलेयर (Charles Baudelaire) इत्यादि के नाम प्रसिद्ध हैं।

अंग्रेजी काव्य

अंग्रेजी काव्यों का वास्तविक और लोकनायक प्रारम्भ महाकवि जिफ्री चॉसर से माना जाता है जिसका जन्म सन् ११४ में और मृत्यु सन् १४ में हुई।

अंग्रेजी के काव्य इतिहास में पहला ख्याति प्राप्त कवि "चॉसर" ही माना जाता है। इसकी रचनाओं में "ट्रायलस एण्ड क्रिसिडी" "दी लीजेण्ड ऑफ गुड विमेन" और कैंटरबरी टेल्स" नामक तीन रचनाएं बहुत प्रसिद्ध हैं। पहली रचना '*ट्रायलस एण्ड क्रिसीडी*" में क्रिसीडी के प्रति ट्रायलस का निर्मल प्रेम और क्रिसीडी की उपेक्षा और दुर्भाग्य का वर्णन बड़ी ही सजीव और हृदयग्राही काव्यधारा में किया गया है दूसरी रचना 'दी लीजेण्ड ऑफ गुड विमेन" में कई इतिहास प्रसिद्ध स्त्रियों के प्रेम और विरह का वर्णन है। तीसरी रचना कैंटर बरी टेल्स में कैंटर बरी जाने वाले तीर्थ यात्रियों की हास्यपूर्ण और रोमांचक कहानियां बड़े प्रभावशाली शब्दों में चित्रित की गई हैं।

चॉसर के समकालीन कवियों में 'जॉनगावर" और विलियम लेंगलेण्ड का नाम भी उल्लेखनीय है।

सोलहवीं सदी के मध्य में अंग्रेजी काव्य-धारा पर इटली के महाकवि पेट्रार्क का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। इस समय के अंग्रेज कवि अर्ल ऑफ सरे और थामसवेट ने इटालियन सॉनेट के चौदह पंक्तियों वाले मुक्तछन्द का प्रयोग अपनी कविताओं में करना प्रारम्भ किया। सॉनेट की यह छन्द परम्परा आगे जाकर अंग्रेजी काव्यों में अत्यन्त लोकप्रिय हुई और मारलो शेक्सपीयर, सिडनी, कीट्स और वर्ड्सवर्थ के समान अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के कवियों ने भी अपने काव्यों में इसका उपयोग किया।

सोलहवीं सदी के महान् अंग्रेज कवियों में आयर्लैण्ड निवासी एडमण्ड स्पेन्सर का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इसने अपनी प्रतिभा से अंग्रेजी भाषा और काव्य को प्रगति का एक नवीन मोड़ दिया। उसकी रचनाएं 'दी शैपर्ड्स कैलेण्डर" और 'फेयरी क्वीन" के नाम से प्रकाशित हुईं।

इसी शताब्दी में संसार प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपीयर और सुप्रसिद्ध कवि क्रिस्टोफर मार्लो भी अवतीर्ण हुए। अंग्रेजी काव्य के क्षेत्र में इन्होंने युगान्तर उपस्थित कर दिया। मार्लो की 'हीरो एण्ड लीएण्डर" तथा शेक्सपीयर की वीनस एण्ड एडोनिस' 'रेप ऑफ ल्यूक्रीस" इत्यादि रचनाएं उस समय की महान् काव्य सम्पदा का परिचय देती हैं। इसी प्रकार माइकेल ड्रेटन और सेम्युएल डेनियल भी इस शताब्दी के प्रसिद्ध कवि थे।

जॉन डोने (John Donne) भी सोलहवीं शताब्दी में अंग्रेजी साहित्य के अन्तर्गत एक क्रान्तिकारी कवि के रूप में प्रसिद्ध है। इसने अपनी कविताओं में इटालियन सॉनेट की शैली और पुरानी उपमाओं को एक दम छोड़ कर नवीनशैली और नवीन उपमाओं का प्रचलन प्रारम्भ किया। सत्रहवीं सदी के अंग्रेज धार्मिक कवियों पर उसका काफी प्रभाव पड़ा।

सत्रहवीं सदी अंग्रेजी काव्य के इतिहास में एक अमर सदी है। इस सदी ने अंग्रेजी साहित्य को जॉन मिल्टन के समान महान् कवि प्रदान किया। जो समय और राष्ट्रीयता की सीमा को पार कर समग्र संसार के महाकवि के रूप प्रकट हुआ। इसके सुप्रसिद्ध काव्यों में "कोमस" "पैराडाइज लॉस्ट" और पैराडाइज रिगेन्ड" विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। पैराडाइज लॉस्ट में ईव और एडम का संघर्ष और पैराडाइज रिगेन्ड में क्राइस्ट और शैतान के संघर्ष को चित्रित करने में उसने अपनी कलम तोड़ दी। संसार भर के चुने हुए काव्यों में मिल्टन के काव्य अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। सैम्युअल बटलर और जॉन ड्राइडन भी इस शताब्दी के प्रसिद्ध कवि हैं।

अठारहवीं सदी के प्रसिद्ध कवियों में अंग्रेजी साहित्य के अन्तर्गत अलेक्जेंडर पोप का नाम बहुत प्रसिद्ध है जो प्रधानतः व्यंग कृतियों का कवि था। इसकी रचनाओं में 'दी रेप ऑफ द लॉक' "डन्सियाड" इत्यादि प्रसिद्ध हैं। इस कवि की शैली का आगामी कवियों पर भी काफी असर पड़ा।

ऑलिवर गोल्डस्मिथ भी अठारहवीं शताब्दी का एक प्रसिद्ध कवि है इसकी रचनाओं में 'ट्रैवलर' और "डिजर्टेड विलेज" विशेष प्रसिद्ध हैं। इसी सदी में "जेम्सटॉमसन" नामक कविने प्राकृतिक सौन्दर्य के निरूपण में 'सिक्स सीजन्स' नामक ऋतुओं के सौन्दर्य को बयान करनेवाला काव्य लिखा जो कालिदास के 'ऋतुसंहार' काव्य की तरह है। प्राकृतिक सौन्दर्य का निरूपण करने वाला अंग्रेजी साहित्य में सम्भवतः यह पहला काव्य था जो इंगलैण्ड के जन समाज में बहुत लोक प्रिय हुआ।

इसी शताब्दी में अंग्रेजी साहित्य के अन्तर्गत "एलेजी" या विषाद पूर्ण काव्यों का प्रादुर्भाव हुआ। एलेजी काव्यों के कवियों में टॉमसग्रे विलियम कोलिन्स, राबर्ट बर्न्स इत्यादि कवि प्रसिद्ध हैं।

उन्नीसवीं सदी अंग्रेजी साहित्य में रोमान्टिक काव्यों के सृजन के लिए प्रसिद्ध है। इस प्रणाली के अन्तर्गत वर्ड्सवर्थ कोलरिज स्कॉट बायरन शेली, कीट्स इत्यादि महाकवियों ने प्रकट होकर अपनी महान् कवित्वशक्ति से अंग्रेजी काव्य साहित्य को समृद्ध किया।

(विशेष वर्णन अंग्रेजी साहित्य के प्रथम खण्ड में देखें)।

इसी शताब्दी के कवियों में टेनिसन और ब्राउनिंग ने भी अंग्रेजी काव्य साहित्य पर अपनी अमर छाप लगा दी। विक्टोरिया काल के कवियों में टेनिसन सबसे महान् माना जाता है। इसकी अनेक रचनाओं में 'इडिल्स ऑफ दी किंग' 'इन मेमोरियम्' 'लाक्सलेहाल' 'दी प्रिन्सेस' 'मॉड' दी डेथ ऑफ इनोन 'ड्रीम ऑफ फेयर विमेन' "दी पैलेस ऑफ आर्ट" इत्यादि रचनाएँ विशेष प्रसिद्ध है। राबर्ट ब्राउनिंग दार्शनिक विचार धारा का कवि था उसने कई नाटकों और एकांकी की भी रचना की थी।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के कवियों में मैथ्यू आर्नोल्ड एडवर्ड फिट्जरलैण्ड क्रिश्चियन रोसेटी टॉमसन इत्यादि कवि प्रमुख माने जाते हैं। एडवर्ड फिट्जरलैण्ड केवल उमर खैयाम की रुबाइयों का अनुवाद करके ही अंग्रेजी साहित्य में अमर हो गया।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के प्रारम्भ में काव्य-साहित्य में रोमान्टिक परम्परा समाप्त हो गई। इस सदी की कविताओं में विषाद करुणा और प्रवाह की भावनाओं का बाहुल्य हो गया था। इस सदी के कवियों में आस्कर वाइल्ड अर्नेस्ट डाउसन, हॉसमेन इत्यादि कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं।

जार्ज पंचम के शासन काल में अंग्रेजी काव्य साहित्य में 'जार्जियन पोएट्स" नामक लिरिक कविता की एक विशेष प्रणाली अस्तित्व में आई। इस प्रणाली की उस काल के आलोचकों ने बड़ी कठोर आलोचना की। इस दल के कवियों में 'रुपर्ट ब्रुक' 'वाल्टर डि लामेर" "जेम्स एल्राय फ्लेकर" विशेष उल्लेखनीय हैं।

बीसवीं सदी के अन्यान्य कवियों में ईलियट और "यीट्स" के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। ईलियट की कविताओं का संग्रह 'प्रूफ्राक" के नाम से सन् १९१७ में प्रकाशित हुआ। "दी वेस्ट लैण्ड" भी उसकी एक प्रसिद्ध रचना है जिसका काफी प्रचार हुआ।

जर्मन काव्य

संसार के अन्य देशों की तरह जर्मन साहित्य का प्रारम्भ भी वीर काव्यों से होता है। तेरहवीं सदी में रचित "दस निबेलुगेनलीड" (Das Nibe lungen lied) नामक काव्य उस युग के जर्मन वीर काव्यों में प्रधान है। इसके रचयिता का ठीक ठीक पता नहीं है। इस काव्य की कथा राजा गुन्थर और हूण सरदार आटिला के दरबार से सम्बन्ध रखती है।

बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में जब कि जर्मनी में होहेनस्टाफन वंश का राज्य था उस समय वहां पर वीर गाथाओं के "एपिक" काव्यों की रचना हुई। इन एपिक काव्यों के कर्ताओं में हार्टमान (Hartmann) वुल फ्राम (Wol Fram) और गाटफ्रीड" (Gott fried) विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें से वुल्फ्राम की रचना "पार्जी वाल" मध्यकालीन जर्मनी की श्रेष्ठ काव्य रचना है।

राजस्थान की चारण जाति की तरह मध्य काल के जर्मन राजदरबार में मिनेसागर नामक दरबारी कवि रहते थे जो लोक गीतों की रचना करते थे। इन लोकगीतों में वीर कथा प्रधान संयोग वियोग के चित्रण इतने सजीव रूप से हुए हैं कि आज भी जर्मन साहित्य में उनका स्थान है। इन कवियों ने तरह तरह के लोक गीतों में वीर काव्यों की रचना कर मध्यकालीन जर्मन काव्य साहित्य को स्मृद्ध किया है। ऐसे कवि और गायक लोग "मिनेसागर (Minnesanger) नाम से प्रसिद्ध थे। ऐसे मिनेसागर लोगों में "राइनमार" (Reinmar) और वाल्थर (Walther) के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। आगे चलकर इसी परम्परा में टानहाउसर (Tannhauser) नामक प्रसिद्ध गायक पन्द्रहवीं सदी में हुआ। जिसने वाल्थर के अनुकरण पर ही अनेक लोक गीतों की रचना की।

पन्द्रहवीं सदी के अन्त और सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में जर्मन काव्यों में गीतों की एक और परम्परा प्रारम्भ हुई। इन गीतों को गाने वाले लोग "माइस्टर सिंगर" कहलाते थे। इस प्रकार गाए जाने वाले गीत मर्यादावादी से सीमित और कठिन शैली के होते थे। माइस्टेर सिंगर परम्परा में 'हान्स साक्स" (Hans Sachs) नामक व्यक्ति बहुत प्रसिद्ध हुआ। जिसके रचे हुए गीतों की संख्या चार हजार से अधिक है। यह प्रसिद्ध कवि प्रसिद्ध ईसाई सुधारक मार्टिन लूथर का समकालीन था।

सोलहवीं सदी में ही यूरोप में विशेष कर इटली के साहित्यिक क्षेत्र में ह्यूमेनिज्म या मानवता वादी विचार धारा का प्रादुर्भाव हुआ। जर्मन साहित्य पर भी इस विचार धारा का बड़ा असर पड़ा। इस विचार धारा के अन्तर्गत जर्मन साहित्य में 'आहान्स रुचलिन" "इरोस्मस" और 'उलरिच वान हुटन" के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। इन कवियों ने धर्मसंस्था और मठ के मठाधिकारियों का जमकर विरोध किया और इस क्षेत्र में विशद साहित्य की रचना की। इसी परम्परा में सैबेस्टियन ब्रैन्ट की पुस्तक नारेन्शिफ (मूर्खों की नौका) ने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की और इस काव्य के कई भाषाओं में अनुवाद हुए।

अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जर्मन काव्य साहित्य में आधुनिक युग का प्रादुर्भाव होता है। इस युग का प्रवर्तक "जॉन गाटफ्रीड हर्डर" था जिसने "स्टूर्म उण्ड ड्राग" (Sturm und Drang) नामक एक नवीन साहित्यिक आन्दोलन को जन्म दिया जिसका मतलब 'तूफान और आग्रह" होता है। उसने तत्कालीन धार्मिक दृष्टिकोण का सख्त विरोध किया और देश के लोक गीतों में निहित नैसर्गिक सौन्दर्य की तरफ लोगों का ध्यान आकृष्ट किया।

हर्डर के इस आन्दोलन को जर्मन काव्य साहित्य के प्रकाशमान नक्षत्र महाकवि गेटे और शिलर ने सहयोग दिया। महाकवि गेटे एक प्रकार से हर्डर का शिष्य ही कहा जा सकता है। हर्डर के सम्पर्क में आकर उसने "स्टूर्म एण्ड ड्राम" आन्दोलन को अभूतपूर्व चेतना प्रदान की। गेटे की काव्य धारा परम्परागत अलंकार, नियम और सब प्रकार के साहित्यिक बन्धनों को तोड़ मरोड़ कर स्वच्छन्द गति से पहाड़ी झरने की तरह कल-कल नाद करती हुई बह निकली। ऐसी मधुर, ऐसी प्रवाही और ऐसी ओज पूर्ण काव्य धारा अभी तक जर्मन जनता ने नहीं सुनी थी। लोक गीतों की परम्परा में उसका "हान्ड्रेन रोस्लाइन" नामक काव्य सन् १७७१ में प्रकाशित हुआ जो समय की मर्यादा का उल्लंघन करता हुआ आज भी

जर्मन साहित्य को प्रेरणा दे रहा है। दूसरी ओर उसकी 'प्रोमेथियस" नामक रचना भी बहुत लोकप्रिय हुई। उसकी अन्य रचनाओं में "फॉस्ट' (नाटक) टॉरिस म इफीजेनी' 'एगमाट" (काव्यपूर्ण नाटक) विल्हेम मेन्स्टर" (उपन्यास) इत्यादि रचनाएं बहुत लोकप्रिय हुई।

गेटे ही का समकालीन फ्रडरिक शिलर भी जर्मन काव्य साहित्य का एक प्रकाशमान नक्षत्र था। शिलर की महान् काव्यशक्ति ने भी समस्त ससार पर अपना प्रभाव डाला है। यह भी हर्डर का शिष्य और स्टूर्म एण्ड ड्राग" आन्दोलन का प्रबल समर्थक था। इसके नाटकों में इसकी काव्य प्रतिभा का पूर्ण परिचय मिलता है।

सन् १८४८ की यूरोप व्यापी औद्योगिक क्रान्तियों के पहले ही जर्मन जनता के मानस म क्रान्ति की भावनाओं का प्रादुर्भाव हो गया था और उसका असर साहित्य और कविता पर भी पड़ने लगा था। जिसके परिणाम स्वरूप जर्मन काव्य की धारा रोमेन्टिक क्षेत्र से हटकर यथार्थ वादी क्षेत्र म आ गई।

इस युग का सबसे प्रसिद्ध कवि हाइनरिख हाईन था। जो रोमेन्टिक कविता का अन्तिम और यथार्थवादी कविता का पहला कवि समझा जाता है। जीवन के प्रारम्भ म उसने प्रेमम भावनाओं स पूर्ण प्रणय सम्बन्धी रोमान्टिक कविताओं की रचना की। पर बाद म औद्योगिक क्षेत्र में बढ़ते हुए पूँजीपति और मजदूरों के सघर्ष को जो जोरदार शब्दा म उसने अपनी कविता म स्थान दिया। यह फ्रेंच दार्शनिक सेण्ट साइमन का अनुयायी था। इस कवि ने जर्मनी म यथार्थवादी कवियों की एक नवीन श्रेणी को कायम किया।

कविता के क्षेत्र म इस यथार्थ वादी युग के साथ साथ उन्नीसवीं सदी के अन्त म प्रकृति वादी कविताओं का भी प्रादुर्भाव हुआ। प्रकृतिवादी कविता के क्षेत्र म आर्नो होल्ज (Arno Hol) गरहार्ट हाप्टमैन (Gerhart Haupt nann) इत्यादि कवि विशेष रूप से प्रसिद्ध हुए।

सन् १९११ म जर्मनी में नाजी वाद का बोलबाला हुआ जिसके परिणाम स्वरूप नाजी रोमान्टिक वाद साहित्य का जन्म हुआ। इस युग के काव्य साहित्य में नोत्शे और स्टेफनजार्ज का नाम विशेष प्रसिद्ध है। इन्हीं के सिद्धान्तों के अनुकरण पर इस काल के कवियो ने अपनी कविताओं की रचनाएँ कीं।

फारसी काव्य का विकास

ईसा की ९ शताब्दी से फारसी काव्य का प्रारम्भ माना जाता है। फारसी काव्य का पहला कवि रूदागी, माना जाता है।

मगर फारसी-काव्य में युगान्तर करने वाले कवियो म पहला नाम 'फिरदौसी का आता है। इस कवि का समय ११ वीं शताब्दी म था और यह मुहम्मद गजनवी का समकालीन था।

इस महान् कवि ने ३५ वर्ष परिश्रम करके अपने महाकाव्य शाहनामा को पूरा किया। इस शाहनामे में प्राचीन युग के ईरानी पराक्रम का सजीव, भावपूर्ण, ओजस्वित और प्रभावपूर्ण भाषा म वर्णन किया गया है। इस काव्य की धारा पहाड़ी निर्झर के समान कलकलनाद करती हुई बहती है।

इसी काल म फारसी भाषा के अन्तर्गत 'सूफीवाद' की कविताओं का प्रवेश हुआ जिसने फारसी साहित्य को एक नया मोड़ दे दिया। ईरान के लोग इस्लाम की धार्मिक कट्टरता को पूरी तरह जज्ब नहीं कर पाये थे और उनके कलापूर्ण मस्तिष्क इस कट्टरता से निकल कर जीवन का यथार्थ आनन्द उठाने की ओर झुकते जा रहे थे। इन्हीं भावनाओं ने सूफीवाद की प्रवृत्तियों को जन्म दिया।

सूफी वाद के महान् कवियोंमें अल-फराबी, जलालुद्दीन रूमी इब्न अबुलखैर अल गजाली मसूर शम्स-तबरेज इत्यादि कवि विशेष प्रसिद्ध हुए।

१२ वीं सदी म फारसी के महान कवि उमर खय्याम ने पैदा होकर फारसी की कविता म एक शानदार युग की प्रतिष्ठा की। उसने अपनी कविताओं म धार्मिक कट्टरता कर्मकाण्ड और परलोक के विरुद्ध आवाज बुलन्द करके इसी जीवन में सभी प्रकार के सुखों को उपभोग करने की प्रवृत्ति का जोरदार समर्थन किया। नारी मदिरा और सौन्दर्य के सम्बन्ध में की हुई उसकी रुबाइयों म केवल

फारसी साहित्य को, प्रत्युत समस्त विश्व साहित्य को आलोकित कर रही है। संसार की प्रायः बहुत सी भाषाओं में इनके अनुवाद हो चुके हैं।

तेरहवीं शताब्दी में 'शेखसादी' ने पैदा होकर अपनी कविताओं तथा "गुलिस्तां" और 'बोस्तां' नामक अपने दो ग्रन्थों द्वारा फारसी साहित्य को अमर कर दिया। शेखसादी विश्व-साहित्य का महान् कलाकार था।

चौदहवीं शताब्दी में फारसी-साहित्य का महान् कलाकार 'हाफिज' हुआ जिसकी कविताओं का समूह 'साकीनामा' के नाम से प्रसिद्ध है। हाफिज सूफी कवि श्रृंखला का अन्तिम कवि था। प्रेम और मदिरा की श्रृंगारिक कविताएँ भी उसने सूफीवाद के सिद्धान्तों के प्रकाश में की है।

१५ वीं सदी में फारसी का महान् कवि 'जामी' माना जाता है। इसका पूरा नाम नूरुद्दीन अब्दुर्रहमान जामी था। ईरान के सबसे प्रसिद्ध कवियों के सर्वोपरि मण्डल में जामी भी एक नक्षत्र की तरह जगमगा रहा है। उसका 'हफ्त औरंग' नामक काव्य फारसी-साहित्य में कल्पना शक्ति का मौलिक और सुन्दर चित्र उपस्थित करता है।

जामी के पश्चात् फारसी-साहित्य में और भी अनेकों कवि हुए मगर ऐसे कवि बहुत कम हुए जो विश्व साहित्य में प्रकाश किये जा सकें।

भारतवर्ष में भी फारसी के कुछ श्रेष्ठ कवि हुए जिनमें अमीर खुसरो 'बदायूनी' 'फैजी' सर मुहम्मद इकबाल इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं।

(फारसी साहित्य का विशेष परिचय इस ग्रन्थ के दूसरे खण्ड में ईरानी साहित्य शीर्षक के अन्तर्गत पृष्ठ ७०८ पर देखें)

उर्दू काव्य का विकास

भारतवर्ष में मुसलमानी शासन की स्थापना के पश्चात् हिन्दी और फारसी के सम्मिश्रण से जिस एक नवीन भाषा का विकास हुआ उसे 'उर्दू' कहते हैं।

उर्दू-भाषा का विकास दिल्ली, लखनऊ और दक्षिण में अलग अलग ढंग से हुआ। दक्षिणी उर्दू साहित्य के विकास में बीजापुर और गोलकुण्डा के नवाबों ने काफी सहयोग दिया। वहां के नवाब स्वयं भी कवि थे और कवियों के आश्रयदाता भी थे।

दक्षिणी क्षेत्र के उर्दू कवियों में 'मुहम्मद-कुली कुतुब शाह' 'अब्दुल्ला कुतुबशाह', सुल्तान इब्राहिम शाह द्वितीय आदिलशाह और मुहम्मद वलीउद्दीन 'वली' का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

दिल्ली केन्द्र के उर्दू काव्य में प्रारम्भिक युग के अन्तर्गत आबरू 'नाजी' 'मजमून' 'यकरंग' इत्यादि के नाम मशहूर हैं।

मध्यकालीन युग में अर्थात् सन् १७४१ से १८४१ तक के महान् कवियों में 'मीर' 'सौदा' 'दर्द' और 'मीरहसन' नामक चार कवियों के नाम प्रकाश स्तम्भ की तरह उर्दू साहित्य में जगमगा रहे हैं।

दिल्ली-केन्द्र के उत्तरकाल में अर्थात् १८ वीं और १९ वीं सदी के बीच में 'मोमिन' 'जौक' और 'गालिब' इत्यादि महान् कवियों ने अपनी महान् कवित्व शक्ति से उर्दू साहित्य को गौरवान्वित किया।

लखनऊ-केन्द्र के प्रसिद्ध कवियों में 'नासिख' 'आतश' 'रंगीन' 'मुनीर' 'जाकिर' 'आसिफ' मिर्जा नवाब गालिब उद्दौला 'हैदर' नवाब 'सआदत अली खाँ' और नवाब 'वाजिद अली शाह' के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं।

इसी प्रकार लखनऊ केन्द्र के उत्तरकाल में 'अमीर' 'मीनाई' 'दाग' इत्यादि के नाम बहुत प्रसिद्ध हुए।

उर्दू साहित्य के वर्तमानकाल में मुहम्मद हुसेन 'आजाद' अल्ताफ हुसेन 'हाली' अकबर इलाहाबादी' 'मुहम्मद इकबाल' 'बृजनारायण चकबस्त' शब्बीर हुसेन 'जोश' मुंशी नौबतराय 'नजर' ब्रजमोहन दत्तात्रेय 'कैफी' रघुपति सहाय 'फिराक' सुदर्शन प्रसाद बिस्मिल इत्यादि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। (उर्दू काव्य का पूरा वर्णन इस ग्रंथ के दूसरे भाग में 'उर्दू साहित्य' के अन्तर्गत देखें।)

हिन्दी काव्य का विकास

हिन्दी काव्य के विकास को साधारणतया ५ भागों में विभक्त किया जाता है। पहला भक्ति-काल—जिसके नेता तुलसीदास दूसरा रीति या श्रृंगार-काल जिसके नेता बिहारी, तीसरा खड़ी बोली काल जिसके नेता मैथिलीशरण गुप्त चौथा छायावादी काल जिसके नेता 'निराला' या 'प्रसाद' माने जा सकते हैं और पाँचवाँ प्रयोगवादी या प्रगतिवादी काल जिसके नेता के सम्बन्ध में अभी तक कोई निश्चित मत नहीं है।

इस विभाग के बावजूद हिन्दी-साहित्य के सर्वोच्च कीर्ति स्तम्भ पर हम महाकवि तुलसीदास को बैठे हुआ देखते हैं। वो काल और विभाग के भेद की परवाह न करते हुए समस्त संसार के काव्य-क्षेत्र में अपनी विजय-दुन्दुभि बजा रहे हैं। बड़े-बड़े राजमहलों से लेकर उन छोटी छोटी झोपड़ियों में जिनमें मिट्टी के तेल का दीया जलता है— इस महाकवि की वाणी समान भाव से गंगा की धारा की तरह बह रही है।

संसार के कितने अधिक ज्ञाता-समुदाय ने, पंडितों ने पढ़कर और अपढ़ों ने सुनकर इस महान् कविको हृदयंगम किया है, उसकी जोड़ संसार भर में कहीं देखने को नहीं मिलती। संसार में बड़े-बड़े कवि हुए हैं होमर' मिल्टन शेक्सपियर, वाल्मीकि व्यास कालिदास इत्यादि जिनकी जोड़ संसार में मिलना मुश्किल है पर जन वाणी का कवि तुलसीदास के समान इनमें भी कोई नहीं मिलेगा।

हिन्दी काव्य का गौरव अनेक कवियों ने बढ़ाया है मगर तुलसीदास ने इस अमर काव्य के अन्दर अपनी वाणी से जो महान् शक्ति प्रदान की है उसकी तुलना दुर्लभ है।

भक्ति-काल के कवियों में कबीर दास का भी महत्व बहुत अधिक है। यह केवल कवि ही नहीं बल्कि धर्म प्रचारक भी थे और अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने में इनकी जो वाणी निकली वह कविता के रूप म प्रस्फुटित हुई।

सूरदास भी भक्तिकाल के महान् कवि हैं। जिस प्रकार तुलसीदास ने अपना आराध्य राम को मानकर सारी भक्ताञ्जलि उनको अर्पित की है उसी प्रकार सूरदास ने कृष्ण को अपना आराध्य मानकर अपने काव्य में उन्हीं को अपनी भक्त्यञ्जलि अर्पित की है। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से यद्यपि सूरदास के काव्य बहुत सुन्दर हैं पर जन सम्पर्क की दृष्टि से तुलसीदास की तरह वे जन समाज के भीतर इतनी व्यापकता से न आ सके।

भक्ति-रस की कवयित्रियों में मीराबाई का नाम भी स्थिर और अमर है। जिसको काल की रेखाएँ नहीं मिटा सकतीं।

वैसे मीराबाई कवियित्री नहीं थीं। छन्द पिंगल और अलंकार शास्त्र का उन्हें ज्ञान नहीं था। मगर उनके हृदय का एक-एक कण अपने प्रियतम—अपने आराध्य देव के प्रेम-रस में सराबोर था। उसी प्रेम-रस से जो धाराएँ निकलीं, वे ही अमर काव्य के रूप में परिणित हो गई हैं।

अरी मैं तो प्रेम-दिवानी, मेरा दर्द न जाने कोय'

यह प्रेम का दीवानापन ही उनकी कविता का मूल स्रोत था और यह दर्द ही उनके एक एक शब्द से परिलक्षित होता है।

रसखान भी भक्तियुग के एक महान् कवि थे। मुसल मान होते हुए भी अपने आराध्य कृष्ण के प्रति अपने हृदय की, जो भक्ति-पूर्ण भावनाएँ इनके अन्तरंग से निकली है, उन्होंने इनकी कविता को कविता-साहित्य म अमर कर दिया है—

'या लकुटी अरु कामरिया पर, राज तिहूँ पुर की तजि डारौं

वास्तव में रसखान ने भक्ति-रस के अन्दर महानता प्राप्त की थी।

रीति युग का शृंगार-काल के कवियों में बिहारी सर्व श्रेष्ठ हैं। अपनी रचना में छोटे-छोटे दोहों को अपना आधार बना-कर इस महान कवि ने शृंगार की जिन स्निग्ध अनुभूतियों को अपने काव्य में प्रकट किया है, वे हिन्दी साहित्य की एक निधि हैं। बिना किसी प्रकार की अश्लीलता और उच्छृंखलता के बिना किसी प्रकार की उद्दाम वासनाओं को अपनी कविताओं म रखते हुए, सहज और सीधे शब्दों में शृंगार रस का प्रदर्शन इस महाकवि ने बड़े मनोमोहक ढंग से किया है।

अमी-हलाहल-मद भरे श्वेत-श्याम रतनार।
जियत-मरत-झुकि झुकि परत जहि चितवत इकबार।।"

नारी के नेत्रों की ऐसी सुन्दर उपमा कहाँ देखने को मिलेगी।

महाकवि देव मतिराम पद्माकर आदि भी रीतिकाल के प्रसिद्ध कवियों म माने जाते हैं। २० वीं शताब्दी के रीतिकालीन कवियों में जगन्नाथदास 'रत्नाकर' नाथूराम शंकर शर्मा इत्यादि कवि प्रसिद्ध माने जाते हैं।

२० वीं सदी के प्रारंभ में हिन्दी-कविता में ब्रजभाषा का स्थान खड़ीबोली लेने लगी। इसका प्रारंभ यद्यपि भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र से ही हो चुका था, पर इस क्षेत्र के सबसे महान कवि मैथिलीशरण गुप्त और अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' हुए।

मैथिली-शरण गुप्त ने हरिगीतिका-छन्दों में सरल भाषा के अन्तर्गत 'जयद्रथ वध', 'भारत भारती' आदि सम सामयिक काव्यों की रचना कर सोई हुई भारतीय जनता को झकझोर जगाकर जगाने का प्रयत्न किया। इनकी कविताओं की जन साधारण में बहुत प्रसिद्धि हुई और वह बहुत शीघ्र जन मानस की जबान पर आ गई। भारतीय जनता के जागरण के इतिहास में इस कवि का नाम नहीं भुलाया जा सकता। इसी कारण स्वतन्त्र भारत की सरकार ने इनको 'राष्ट्र-कवि' के सम्माननीय गौरव से अभिषिक्त किया।

अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'प्रिय प्रवास' नामक महाकाव्य भी खड़ीबोली की परम्परा में एक अत्यन्त सुन्दर रचना है, मगर इसकी छन्द परम्परा और भाषा संस्कृत निष्ठ और कठिन होने से इसकी लोक प्रियता साहित्यकारों तक ही सीमित रही।

खड़ी बोली के इसी क्षेत्र में पं० श्रीधर पाठक, जबलपुर के पं० माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान, झालरापाटन के गिरिधर शर्मा नवरत्न 'वियोगी' आदि कवि भी विशेष उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने अपनी रचनाओं से खड़ी बोली के कविता साहित्य को बहुत सम्पन्न किया।

इसके पश्चात् हिन्दी साहित्य में छायावाद के युग का प्रारम्भ होता है। इस युग के प्रधान कवियों में 'निराला', जयशंकर 'प्रसाद', महादेवी वर्मा, सुमित्रानन्दन पन्त इत्यादि कवियों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' इस युग की सर्वश्रेष्ठ रचना मानी जाती है।

'छायावाद-युग' के साथ ही साथ हिन्दी काव्य परम्परा में कुछ ऐसे कवि भी हुए जिन्होंने पूरी तौर से छायावाद को न अपनाते हुए भी उसीके अनुकरण पर अपनी श्रेष्ठ कविताओं से हिन्दी-साहित्य को सम्पन्न किया। इन कवियों में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भगवती चरण वर्मा, शिवमंगल सिंह 'सुमन', रामधारी सिंह 'दिनकर', गोपालसिंह नेपाली इत्यादि कवियों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इन्हींके साथ प्रसिद्ध कवि हरिवंश राय 'बच्चन' ने प्रसिद्ध कवि उमर खैय्याम के अनुसरण पर—हाला-प्याला वाद पर अपनी सुप्रसिद्ध रचना 'मधुशाला' और 'मधुबाला' के द्वारा *हिन्दी-साहित्य में मादकता और मदहोशी की एक* अपूर्व लहर पैदा कर दी। इन्होंने उमर खैय्याम की प्रसिद्ध रुबाइयों का भी हिन्दी में बड़ा सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किया।

आजकल और-और साहित्यों की तरह हिन्दी में भी पश्चिमी देशों के अनुकरण पर प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की कविताओं का प्रयोग प्रारम्भ हो गया है, मगर अभीतक इस क्षेत्र में कोई ऐसा युग प्रवर्तक कवि दिखलाई नहीं *देता जो सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सके।*

बंगला-काव्य का विकास

बंगला-काव्य के विकास का इतिहास ४ युगों में विभाजित किया जा सकता है। जिसमें पहला सिद्ध युग, दूसरा भारतेन्दु युग, तीसरा रवीन्द्र-युग और चौथे को *प्रयोग वादी युग कहा जा सकता है।*

(१) सिद्ध-युग का प्रारम्भ काल सन् ७९ ई० से माना जाता है। और इस युग का पहला कवि लुईपाद *माना जाता है। जिसने बौद्ध-गान और दोहा* नामक ग्रन्थ की रचना की थी। यह 'सहजिया' नामक एक सम्प्रदाय के प्रवर्तक भी माने जाते हैं।

इन चौरासी सिद्धों का बहुत सा साहित्य आज भी उपलब्ध है। इन सिद्धों ने जिस सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया, वह सहजिया-सम्प्रदाय है। यह सम्प्रदाय बंगाल में इन सिद्धों के युग से आजतक किसी न किसी रूप में विद्यमान रहा है और इसने कितने ही रूपों में बंगाली-साहित्य को प्रभावित किया है। इस साहित्य में आगे चलकर मंगल साहित्य का विकास हुआ। इस मंगल साहित्य में धर्म मंगल, शिव मंगल, मनसा मंगल, चण्डी मंगल, कालिका-मंगल इत्यादि कई प्रकार की परम्पराएँ आरम्भ हुईं।

धर्म मंगल की परम्परा में मयूर भट्ट, शिवमंगल की परम्परा में रामकृष्ण राय, मनसा मंगल की परम्परा में

द्विज चंडीदास पहले और श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। इन परम्पराओं में और भी बहुत से कवि हुए हैं। चंडी-मंगल की परम्परा में मुकुन्द राम भारतचन्द्र इत्यादि भी बड़े प्रसिद्ध कवि हुए।

बंग-साहित्य का दूसरा युग श्रीकृष्ण-कीर्तन सम्बन्धी काव्य-धारा से प्रारम्भ हुआ। जिसे आगे चलकर 'चैतन्य महाप्रभु' ने अत्यन्त प्रमुख और प्रबल बना दिया। इस युग के प्रधान कवि 'चण्डीदास माने जाते हैं।

इसी युग में कृत्तिवास नामक कवि ने रामायण' का प्रसिद्ध अनुवाद किया। कृत्तिवास की रामायण बंगला साहित्य की नींव का पत्थर मानी जाती है। कृत्तिवास का जन्म सन् १३४६ ई० के फरवरी महीने में हुआ था।

इसके कुछ समय पश्चात् कवीन्द्र परमेश्वर' नामक कवि ने 'महाभारत का बंगला में अनुवाद किया।

इसके पश्चात् प्राचीन बंगाली काव्य परम्परा का स्वरूप नई काव्यधारा में परिवर्तित हुआ और इस सन्धिकाल के पहले कवि ईश्वरचन्द्र गुप्त हुए जो बंगला के पहले पत्रकार भी थे। मगर बंगला साहित्य में युगान्तर करके एक नवीन काव्य-धारा बहा देने का श्रेय माइकेल मधुसूदन दत्त को मिला।

माइकेल मधुसूदन दत्त

माइकेल मधुसूदनदत्त पहले अंग्रेजी के बड़े भक्त थे। आरंभ में इन्होंने अंग्रेजी में ही काव्य-रचनाएँ प्रारंभ कीं। इंग्लैंड भी गये। अंग्रेज स्त्रियों से एक के बाद एक—दो शादियाँ भी कीं। मगर अन्त में बंगाली भाषा ने ही उनका सबसे अधिक सत्कार किया। बंगाली भाषा में इनके अनेक काव्य और नाटक प्रकाशित हुए मगर इनकी सबसे क्रान्तिकारी रचना मेघनाद वध' साबित हुई। यह अपने युग का सर्वश्रेष्ठ काव्य ठहराया गया। इस काव्य को लक्ष्य करके परमहंस रामकृष्ण देव ने कहा था— तुम्हारे देश में यह एक अद्भुत प्रतिभाशाली पुरुष उत्पन्न हुआ था। मेघनाद-वध जैसा काव्य तुम्हारी बंग भाषा में तो है ही नहीं भारतवर्ष म भी ऐसा काव्य दुर्लभ है। तुम्हारे देश में इसी मेघनाद वध काव्य को जो बंगभाषा का मुकुट-मणि है, आदरणीय बनाने के लिए छछून्दर वध' काव्य लिखा गया।

"इस समय यही मेघनाद-वध काव्य हिमालय-पहाड़ की तरह आकाश-भेदकर खड़ा है। जो लोग इसका दोष दिखाने में ही व्यस्त थे, उनके आक्षेप कहाँ उड़ गये। नूतन छन्द में और जिस ओजस्विनी भाषा में मधुसूदन अपना काव्य लिख गये हैं—उसे साधारण जन क्या समझेंगे।"

माइकेल मधुसूदन के इस युग में 'कृष्णचन्द्र मजूमदार' 'बिहारीलाल चक्रवर्ती' 'हेमचन्द्र बन्द्योपाध्याय इत्यादि कवि भी प्रसिद्ध हुए।

रवीन्द्रनाथ टैगोर

इसके पश्चात् बंगाली काव्य में एक नवीन युग के प्रादुर्भाव के साथ विश्व-कवि 'रवीन्द्रनाथ ठाकुर' अवतीर्ण होते हैं। कवि रवीन्द्रनाथ में ऋषियों जैसी दार्शनिक अनुभूति, यथार्थ दर्शन, साक्षात् अनुभव और अनन्त जिज्ञासा भरी हुई थी। बंगला भाषा की जिस सामर्थ्य की ओर माइकेल मधुसूदन दत्त ने संकेत किया था, रवीन्द्रनाथ ने उस सामर्थ्य की महत्ता को सिद्ध करके बतला दिया। उनके काव्य ग्रन्थों में 'गीताञ्जलि' काव्य सबसे श्रेष्ठ माना जाता है जिस पर उन्हें सन् १९१३ ई० में अन्तर्राष्ट्रीय नोबल प्राइज' प्राप्त हुआ और वह बंगाली-कविता के क्षेत्र से उठकर विश्व-कविता क्षेत्र में आ गये।

रवीन्द्र-युग में बंगला साहित्य में और भी कई महान् कवि उत्पन्न हुए। जिनमें प्रियम्वदा देवी, सतीशचन्द्रराय रमणी-मोहन घोष, प्रमथनाथ चौधरी, सत्येन्द्रनाथ दत्त करुणानिधान बन्द्योपाध्याय इत्यादि कवि बहुत प्रसिद्ध हुए।

इसके बाद प्रथम महायुद्ध के पश्चात् बंगाली कविताओं में एक नवीन मोड़ लिया और बंगाली-कविता अन्तरंग के ऊर्ध्वमुखी मानव को झटक कर स्थूल जगत के स्थूल तत्वों के भोग के मोह में आ गई। इस नवीन धारा के पहले कवि 'मोहितलाल मजूमदार' थे। मजूमदार आरंभ में रवीन्द्र के अत्यन्त भक्त थे, किन्तु सन् १९२४ ई० से वह रवीन्द्र के अत्यन्त विरोधी हो गये। मोहितलाल के काव्य में अति आधुनिकवाद का विलासी-रूप अभिव्यक्त हुआ है।

इसी युग में 'नजरुल-इस्लाम' नामक कवि हुए। इन्होंने 'अग्नि-वीणा' नामक काव्य-संग्रह द्वारा यथार्थतः एक विद्रोह भावना की अग्नि प्रज्वलित कर दी। इनका

दूसरा काव्य 'धूमकेतु' सन् १९२२ ई० में प्रकाशित हुआ। इन तीनों काव्य ग्रन्थों ने नजरुल को अत्यन्त लोकप्रिय बना दिया।

मोहितलाल की परम्परा अति आधुनिकवाद में भी इन्होंने कई रचनाएँ कीं। इसी परम्परा में 'प्रेमेन्द्र मित्र' और 'बुद्धदेव बसु' भी प्रसिद्ध कवि हुए।

इस आधुनिकवाद या प्रगतिवाद में जो नयी धारा वाली प्रतिभाओं ने 'आधुनिक' को जो रूप दिया उसमें दो बातें स्पष्ट हैं। पहली देह-सम्भोगी जीवन सौन्दर्य और यौन आकांक्षा को विविध व्यवस्थाओं में चित्रित करना। दूसरी छन्द तथा भाषा में अनोखी उत्क्रान्ति और रवीन्द्रनाथ की परिपाटी, स्वरूप भाषा और भाव—सबका बहिष्कार।

इस नई प्रयोगवादी कविता का सबसे अधिक विकास 'जीवानन्द दास' में हुआ। इन्होंने व्यवस्था-पूर्वक रवीन्द्रीय तत्त्वों का परित्याग किया। इसी क्षेत्र में जीवानन्द दास के पश्चात् इस प्रयोगवादी क्षेत्र में 'विष्णुदेव' ने जीवानन्द के पद-चिह्नों पर चलने का प्रयत्न किया। मगर सन् १९४१ के पश्चात् वह मार्क्सवादी हो गये। सुधीन्द्रनाथ दत्त भी इसी क्षेत्र के कवि माने जाते हैं। इनमें भी वही अनात्म वादिता, बुद्धि में अनास्था और इन्द्रिय ग्राह्य अनुभूतियों का महत्त्व पाया जाता है।

इस प्रकार सिद्ध युग, मधुसूदन युग और रवीन्द्र युग के बीच विकास पाता हुआ बंगाली-साहित्य इस समय प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के युग में लहरें ले रहा है। मगर मधुसूदन युग या रवीन्द्र-युग की तरह कोई युगप्रवर्तक या अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त कवि इसमें पैदा हुआ हो—ऐसा दिखाई नहीं पड़ता।

गुजराती काव्य का विकास

गुजराती-काव्य के विकास का इतिहास ईसा की १२ वीं सदी के मध्य से प्रारम्भ होता है जब कि जैन धर्म के माननेवाले जैन-कवियों और आचार्यों ने 'रासा' या 'रास' नामक एक विलक्षण प्रकार की काव्य-रचना करके जन-समुदाय को धर्म और नीति के मार्ग पर चलाने का प्रयत्न किया।

गुजराती के मनसुखलाल झवेरचन्द नामक एक विद्वान् ने इस प्रकार के तीन चार सौ जैन-रासाओं की उपयोगी सूची प्रकट की है जिनकी रचना ईसा की १२ वीं सदी से १९ वीं सदी तक हुई है।

इन 'रासों' में जयानन्द सूरि का 'क्षेम-प्रकाश' गुण-रत्न सूरि का "भरत बाहुबलि" (सन् ११८५) विजयभद्र का और "गौतमरास" (सन् १३५४) उदयवन्त विजयभद्र सूरि का 'गौतम स्वामी' (सन् १३५५) और हरसेवक का 'मयनरेखा' (सन् १३५६) उल्लेखनीय हैं।

इसके पश्चात् ईसा की १५ वीं सदी में गुजराती-साहित्य के अन्तर्गत भक्तिमार्ग और कृष्णभक्ति का शुभ प्रारम्भ होता है जिसका सबसे बड़ा प्रवर्तक महान् भक्त नरसी मेहता के रूप में दिखलाई देता है।

नरसी महता

गुजरात के प्रसिद्ध भक्तकवि नरसी मेहता का जन्म सन् १४१५ ई० में और मृत्यु सन् १४८१ ई० हुई।

नरसी मेहता का काव्य साधारणतया दो प्रकार का है। एक शृंगारपूरक और दूसरा भक्ति पूरक। पर अन्त में उनका शृंगार भी भक्ति में लीन हो जाता है। इनकी शैली में भाषा का पाण्डित्य नहीं दिखाई पड़ता। प्रभु की भक्ति में ओतप्रोत होकर इन्होंने जो कुछ कहा सरल भाषा में सीधे सादे ढंग से कहा है और इसी कारण सैकड़ों वर्ष बीत जाने पर भी आज गुजरात के घर घर में इनके पद बड़े प्रेम से गाये जाते हैं। महात्मा गान्धी ने भी अपनी प्रार्थना पुस्तक (आश्रम भजनावली) में सबसे पहले इन्हीं का पद—"वैष्णव जन तो तेने कहिये जो जाने पीर पराई रे" को पहला स्थान दिया है।

इसी युग में गुजराती—साहित्य के अन्तर्गत 'भालण' (ई० सन् १४१९–१५१९) 'भीम' (ई० सन् १४८४) 'पद्मनाभ' (ई० सन् १४५६) इत्यादि कवियों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

१६ वीं सदी के गुजराती-कवियों में 'मांडण' 'तुलसी' जैन कवि 'कुशललाभ' और 'लावण्य समय' इत्यादि कवि उल्लेखनीय हैं।

ज्ञानीभक्त अक्खा

१७ वीं सदी के गुजराती-साहित्य को गुजराती के महान् ज्ञानी भक्त 'अक्खा' ने प्रकाशित किया है। अक्खा अहमदाबाद के समीप जेतलपुर नामक ग्राम के रहने वाले एक सुनार थे। अक्खा का जन्म सन् १६१५ में और मृत्यु सन् १६७५ ई॰ में हुई।

गुरु की खोज में अक्खा ने कई स्थानों पर भ्रमण किया। पर अन्त में काशी के अन्तर्गत एक झोंपड़ी में रहने वाले 'ब्रह्मानन्द' सन्यासी को इन्होंने अपना गुरु बनाया।

अक्खा की रचनाओं में 'अक्खे-गीता' 'चित्त-विचार संवाद' 'पञ्चीकरण' 'अनुभव बिन्दु' 'ब्रह्म-लीला' आदि प्रसिद्ध हैं।

इनकी भाषा में अधिक प्रौढ़ता नहीं है मगर अपने भावों को प्रकट करने में वह काफी असरकारक है। किसी विषय की कड़ी टीका करने में और बिना किसी भय के बुराइयों की फजीहत करने में—व्यङ्ग करने में अक्खा बेजोड़ हैं। गुजराती भाषा में इस क्षेत्र में उनका मुकाबला करनेवाला कोई दूसरा नहीं है।

भक्त अक्खा गुजराती साहित्य में युग प्रवर्तक कवि माने जाते हैं। इनकी कविताएँ भक्ति मार्ग की अपेक्षा ज्ञान-मार्ग पर अधिक आधारित हैं। तत्वज्ञान में प्रेमानन्द प्रकृति में और मनुष्य स्वभाव का बयान करने में अक्खा की कविताएँ समर्थ हैं।

प्रेमानन्द

अक्खा के पश्चात् होनेवाले कवियों में प्रेमानन्द को बिना किसी शंका के गुजराती-साहित्य का 'कविशिरोमणि' कहा जा सकता है। अपनी प्रखर बुद्धि से इस महाकवि ने गुजराती में एक ऐसे महान् साहित्य का सृजन किया जो अपनी विविधता और समृद्धि में आज भी बेजोड़ है।

प्रेमानन्द का जन्म सन् १६३६ ई॰ में और मृत्यु सन् १७१४ ई॰ में हुई। इनके लिखे हुए ग्रन्थों में ३९ ग्रन्थ प्रस्तक उपलब्ध हैं जो प्रायः सभी पौराणिक उपाख्यानों पर आधारित हैं।

प्रेमानन्द की कविताएँ नदी के प्रवाह की तरह जन मानस को मुग्ध करती हुई गुजरात के गाँव गाँव शहर शहर और कुञ्ज-कुञ्ज में आज कल दीख ही जाती हैं।

प्रेमानन्द के पश्चात् के कवियों में 'श्यामल भट्ट' (सन् १७ से सन् १७६९ ई॰) 'मुकुन्द' (सन् १६६५ ई॰) देवीदास' 'शिवदास' 'विष्णुदास' 'नरहरि, 'रत्नेश्वर' तथा इसी काल के जैन-कवियों में 'आनन्दघन' (सन् १६१) इत्यादि कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं।

१८ वीं सदी में चारों ओर की राजकीय अशान्ति के कारण गुजराती काव्य की गति कुण्ठित हो गई। इस काल में 'वल्लभ' भट्ट के द्वारा गुजराती के प्रसिद्ध 'गरबा साहित्य' का अच्छा विकास हुआ। इनका बनाया हुआ 'अम्बोजी का गरबा' गुजरात में बहुत लोकप्रिय हुआ।

इसके पश्चात् अठारहवीं सदी के अन्त और उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में 'धीरा भगत, (सन् १७५१ से १८२५) 'भोजा भगत (सन् १७७ से १८१६) बापू साहब गायकवाड़' (सन् १७७९ से १८३४) 'मोज भगत' (सन १७८५ से १८५) गिरिधर' (सन् १८११) 'रणछोड़ भगत' 'ब्रह्मानन्द' मुक्तानन्द' 'निष्कुलानन्द' 'कृष्णाबाई' 'दीवाली बाई' 'राधाबाई' इत्यादि कवि और कवियित्रियों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

दयाराम

गुजराती साहित्य को गौरव के शिखर पर आरूढ़ करने वाले तीन महाकवियों में अन्तिम महा कवि 'दयाराम' हैं। गुजराती साहित्य के अग्रभाग को, जिस प्रकार नरसी मेहता ने और मध्यभाग को प्रेमानन्द ने आलोकित किया उसी प्रकार उसके पिछले भाग को दयाराम ने अपनी काव्य शक्ति और मधुरता से आलोकित किया है। गुजराती साहित्य को उच्चतम शिखर पर पहुँचाने वाले—ये तीन कवि गुजराती के महान कवि हैं। दयाराम की कविता गुजराती साहित्य के मन्द पड़ते हुए दीपक का अन्तिम प्रकाश है।

दयाराम का जन्म ई॰ सन् १७७७ में नर्मदा-तट पर अवस्थित 'चाणोद' नामक ग्राम में हुआ था। इनकी किशोरावस्था कृष्ण की किशोरावस्था की तरह चाणोद की युवतियों में रास रचने में व्यतीत हुई। इन नव युवतियों के साथ तूफान मस्ती करने में दयाराम को बड़ा आनन्द आता था। दयाराम अपने ही समान तूफानी युवकों को इकट्ठा करके नर्मदा के घाट पर जाने वाली

रमणियों पर कंकड़ फेंककर या उनकी दूसरी तरह छेड़कर अपना समय व्यतीत करते थे।

इसी प्रकार एक सोनारिन से झगड़ा हो जाने पर इनको अपना गाँव छोड़कर बाहर करनाली गाँव में चला जाना पड़ा। यहाँ पर वे स्वामी 'केवलानन्द' के शिष्य हो गये।

इस प्रकार अपनी तूफानी किशोरावस्था को पारकर इस कवि ने कविता के क्षेत्र में अपनी शक्तियों का विकास किया। इनकी की हुई रचनाओं में इस समय ४८ रचनाएँ उपलब्ध हैं। इन रचनाओं में कुछ रचनाएँ धर्म-संबन्धी कुछ नीति सम्बन्धी और कुछ सूफी कवियों की तरह रहस्यवाद से परिपूर्ण हैं।

दयाराम की भाषा ही उसकी कविता का विशिष्ट गुण है। इसकी भाषा सरल, शुद्ध, रसकारी और मर्म-स्पर्शी वाली है। दयाराम के शब्द-लालित्य की कद्र देखना हो तो गुजरात और बड़ौदे की प्रसिद्ध "गरबा" गायिकाओं के 'गरबा-नृत्य' को देखना चाहिए। उस समय गानेवाली और सुननेवाले उस गान और नृत्य में एक तान होकर अपना भान भूल जाते हैं।

आधुनिक युग में गुजराती-साहित्य के अन्तर्गत 'दलपत राम' (सन् १८२० से १८९८) 'नर्मदाशंकर' (सन् १८३१ से १८८८) 'भोलानाथ' साराभाई, मणिलाल द्विवेदी, हरिलाल ध्रुव, नरसिंह राव दिवेटिया, मणिशंकर भट्ट, बालाशंकर रणछोड़राम दौलतराम पण्ड्या इत्यादि कवियों के नाम बहुत उल्लेखनीय हैं। इनकी रचनाओं ने गुजराती साहित्य को बहुत समृद्ध किया है।

कविवाला गीत

बंगाली साहित्य के गीतों की एक परम्परा, जो करीब १८ वीं शताब्दी के मध्य से प्रारम्भ हुई।

बंगला-साहित्य में 'कविवाला गीत' सामान्य लोक भूमि के गीत माने जाते हैं। इन गीतों की गायक-मण्डली में स्त्री पुरुष दोनों ही होते हैं। इस मण्डली का प्रमुख कथनकर्ता रचनाकार कवि होता है।

ये मण्डलियाँ राधा-कृष्ण-विषयक या शिव विषयक गीत गाती हैं। खड़े होकर गीत गाने के कारण इन्हें 'दण्ड कवि' कहा जाता है।

इन कविवाला मण्डलियों में आगे जाकर प्रतियोगिता की भावनाओं का भी समावेश हुआ। एक से अधिक कविवाला मंडलियाँ जहाँ जमा होती हैं, वहाँ तीव्र प्रतियोगिता चल पड़ती है। एक मण्डली का प्रधान 'आशु कविता' के द्वारा दूसरी मण्डली पर तरह-तरह के व्यंग्य और फब्तियाँ कसता है। उसका जवाब दूसरी मण्डली का प्रधान और भी अधिक कटु व्यंग्यों से देता है।

इस प्रकार आपस में गालियों की बौछार शुरू हो जाती है और कभी कभी मारपीट की नौबत भी आ जाती है। मध्य भारत में जिस तरह 'तुर्रा कलगी' के बोलवाले आशु कविता के द्वारा एक दूसरे पर व्यंग्य कसते हैं वही हाल कविवाला मण्डलियों का है।

इन कविवाला गीतों के गीतकारों का अभी तक जो पता चला है उसके अनुसार 'रघु मोची' इसका पहला गीतकार माना जाता है। यह १६ वीं सदी में हुआ था। इसी के समकालीन 'रघु नरसिंह' 'रामवसु' और 'रासू नन्दलाल'—ये तीन कवि और थे जो कविवाला गीतों की रचना करते थे।

१६ वीं सदी से १९ वीं सदी तक इस क्षेत्र में करीब १४ कवियों के नाम मिलते हैं। इनमें पुर्तगाल का 'एंटनी' कविवाला विशेष उल्लेखनीय है। इसने पुर्तगाली होते हुए भी बंगाल में कविवाला गीत गाने के लिए गायक मण्डली बनायी थी और ठेठ बंगाली की तरह कविवाला गीतों की प्रतियोगिता में भाग लेता था।

कविवाला-गान-परम्परा में 'दाशरथी राय' का नाम भी विशेष प्रसिद्ध है। यद्यपि कि वह पूरी तरह कविवाला नहीं थे। इनका जन्म सन् १८०४ में हुआ था। इनका प्रेम एक नीच जाति की स्त्री से हो गया था। इस स्त्री ने एक कविवाला मण्डली खड़ी की थी। दाशरथी इस मण्डली के लिए गीत बनाते थे। बाद में कुछ लोगों के कहने से इन्होंने कविवाला मण्डली को छोड़ दिया और

एक नई शैली का गीत निकाला जो पाञ्चाली' के नाम से मशहूर हुआ। इन पाञ्चाली गीतों की लोकप्रियता उस समय में बहुत बढ़ गई थी।

बंगला भाषा के प्रथम पत्रकार ईश्वरचन्द्र गुप्त ने भी कविवाला मण्डली के लिए बहुत से गीत और कवितायें लिखी थीं। प्राचीन परिपाटी के यह अन्तिम कवि माने जाते हैं।

काश्मीर

भारतवर्ष के उत्तरी शीर्ष-स्थान पर, रश्मीय मुकुट की तरह हिमालय की उपत्यकाओं में बसा हुआ एक रमणीक प्रान्त जिसका इतिहास अत्यन्त प्राचीन और गौरवपूर्ण है।

प्राचीन पौराणिक परम्पराओं के अनुसार कल्प के प्रारम्भ से ले मन्वन्तर तक हिमालय के मध्य में अगाध जल से परिपूर्ण 'सती सर' नाम का एक महान् सरोवर था। वैवस्वत नाम के सप्तम मन्वन्तर में महर्षि 'कश्यप' ने ब्रह्मा विष्णु और महेश आदि देवताओं के द्वारा उस सरोवर में रहनेवाले 'जलोद्भव' नाम के असुर को मरवाकर उस सरोवर को पाटकर उसपर 'कश्मीर-मण्डल' की स्थापना की।

कश्मीर की महिमा का वर्णन करते हुए महाकवि 'कल्हण' अपने 'राजतरंगिणी' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं कि—"तीनों लोक में भूलोक सबसे श्रेष्ठ है। भूलोक में भी 'कोबेरी' या उत्तर दिशा की शोभा उत्तम है। उसमें भी हिमालय-पर्वत प्रशंसनीय है और हिमालय-पर्वत पर भी 'कश्मीर मण्डल' के समान परम रमणीक स्थान दूसरा नहीं है। कनखर, विजयेश केशव एवं ईशान आदि पुनीत देवालयों से युक्त कश्मीर प्रदेश का कोई स्थान ऐसा नहीं है जिसको तीर्थ नहीं कहा जा सके। पुण्य बल से ही इस प्रदेश पर विजय प्राप्त की जा सकती है—शस्त्र बल से नहीं। अतएव कश्मीर-वासी पैवल परलोक से ही डरते हैं शत्रुओं से नहीं डरते।"

कश्मीर की शोभा का वर्णन करते हुए स्वामी रामतीर्थ ने एक बार कहा था—

"अगर फिरदौस बररूए जमीनस्त।
हमीनस्तो हमीनस्तो हमीनस्त॥"

अर्थात् पृथ्वीपर यदि कहीं स्वर्ग है तो यही है—यही है और यही है।

ऐतिहासिक परिचय

कश्मीर का इतिहास बहुत प्राचीन है और इस इतिहास का व्यवस्थित रूप कश्मीर के महाकवि कल्हण के द्वारा १२ वीं सदी में लिखे गये 'राजतरंगिणी' नामक ग्रन्थ से प्राप्त होता है।

राजतरंगिणी कश्मीर के राजाओं के जीवन पर एक अत्यन्त सुन्दर, सरस और ललित संस्कृत भाषा में लिखा हुआ मनोहर महाकाव्य है। काव्य के गुणों, अलंकारों और अतिशयोक्तियों से भरा-पूरा होनेपर भी यह ग्रन्थ विशुद्ध ऐतिहासिक तथ्यों से भी भरपूर है और इसीलिए प्राचीन भारतीय इतिहास ग्रन्थों में ऐतिहासिक तथ्य और काल-गणना की दृष्टि से पहला स्थान इसी ग्रन्थ को दिया जाता है।

फिर भी ईसा की ७ वीं शताब्दी के पहले तक दिया हुआ 'गोनन्द वंश के राजाओं का इतिहास बहुत अस्पष्ट और कहीं कहीं भ्रान्ति में डालने वाला भी है। ऐसा मालूम होता है कि मौर्य-वंशीय सम्राट 'अशोक' कुशाण वंशीय सम्राट 'कनिष्क' और हूण वंशीय राजा 'मिहिरकुल' इन सब विदेशी राजाओं का इतिहास भी गोनन्द वंश के साथ मिलकर घिस पिस हो गया है जिससे वास्तविकता का पता लगाना कठिन होता है।

गोनन्द-वंश

राजतरंगिणी के अनुसार कश्मीर पर महाभारत के सम कालीन गोनन्द-वंश का शासन प्रारम्भ हुआ था। इस वंश के ५२ राजाओं ने २२६८ वर्ष तक कश्मीर पर शासन किया।

इस वंश का संस्थापक 'गोनन्द' धर्मराज युधिष्ठिर का समकालीन था। उसके बाद कई राजाओं का इतिहास अन्धकाराच्छन्न है।

उसके बाद इस वंश में 'लव' 'कुशेशयाप' 'खगेन्द्र' 'जनक' और 'शचीनर' नामक राजाओं का नाम आता है।

इसके बाद राजा 'शकुनी' का प्रपौत्र एवं सत्य प्रतिज्ञ 'अशोक' नामक राजा पृथ्वी का शासक हुआ। वह बड़ा पुण्यात्मा था। जैनधर्म को स्वीकार करके उसने 'शुष्क क्षेत्र' और वितस्ता नाम के दो स्थानों पर दो स्तूप बनवाये। उसने 'वितस्तात्रपुर' के धर्मारण्य-विहार में बहुत ऊँचा जैन मन्दिर बनवाया। इसी परम प्रतापी राजा ने धन-धान्य से परिपूर्ण ९६ लाख दिव्य भवनों से विभूषित 'श्रीनगर' नामक बहुत बड़ा नगर बसाया। इसी राजा ने विजयेश्वर के समीप अशोकेश्वर नाम के दो प्रासाद बनवाये।

अशोक के पश्चात् उसका पुत्र 'जलौक' बड़ा प्रतापी राजा हुआ। इस परमवीर राजा ने सर्वत्र फैले हुए दुष्ट म्लेच्छों का पराभव करके और भी कई देशों को विजय किया। इसकी पटरानी का नाम ईशान देवी था।

राजा जलौक के बाद राज-तरंगिणी में राजा दामोदर और उसके बाद तुरुष्क वंशीय राजा 'हुष्क' 'जुष्क' और कनिष्क के नाम आते हैं। ये तीनों राजा तुरुष्क होते हुए भी बड़े पुण्यवान और प्रतापी थे। कनिष्क ने 'कनिष्कपुर' नामक सुन्दर नगर की स्थापना की थी। इन राजाओं ने बहुत से बौद्ध मठों का भी निर्माण करवाया था। उस समय काश्मीर मण्डल में प्रव्रज्याप्रधान बौद्ध भिक्षुओं का प्राबल्य था।[1]

कनिष्क के समय का निरूपण करते हुए राज-तरंगिणी में लिखा है कि—'उस समय भगवान् बुद्ध का निर्वाण हुए १५० वर्ष बीते थे।' इस हिसाब से कनिष्क का समय ईसा से से पूर्व १ वर्ष से अधिक होना चाहिए।

मगर आधुनिक इतिहासकार कनिष्क का समय ईसवी सन् ७८ में मानते हैं और उसी को शक संवत् का प्रवर्तक भी मानते हैं।

इस प्रकार राज-तरंगिणी की काल-गणना और आधुनिक इतिहासकारों की कनिष्क के सम्बन्ध की गई काल-गणना में १०० वर्ष से अधिक का अन्तर पड़ता है। मगर इतिहासकारों के अन्दर भी कनिष्क के काल-निर्णय के सम्बन्ध बड़े मत भेद पाये जाते हैं। ऐसी स्थिति में काल गणना सम्बन्धी यह अन्तर विशेष आश्चर्य की चीज नहीं है।

राज-तरंगिणी के अनुसार सुप्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु 'नागार्जुन' भी उस समय काश्मीर में था और वह 'सर्वेश्वर' या बोधिसत्व माना जाता था।

इसके पश्चात् काश्मीर का राज सिंहासन 'अभिमन्यु' नामक राजा के हाथ में गया। जिसने 'अभिमन्युपुर' नगर बसाया और वहाँ पर भगवान् शंकर का परम वैभव-सम्पन्न मन्दिर भी बनवाया। यह राजा कट्टर शैव था और इसने काश्मीर से बौद्ध धर्म को हटा देने का बहुत प्रयत्न किया। अभिमन्यु की कई पुश्तों के पश्चात् काश्मीर का राज सिंहासन हूण विजेता 'मिहिरकुल' के हाथ में आया। यह मिहिरकुल ईसा की छठी सदी के मध्य में मालवा के राजा 'यशोधर्मन' से हार कर काश्मीर पहुँच गया और वहाँ के राजा को मारकर राज सिंहासन पर बैठ गया।

राज तरंगिणी में लिखा है कि—यह राजा यमराज के समान भीषण और क्रूर स्वभाव का था। इसके शासन काल में उत्तरीय प्रदेश म्लेच्छों से भर गया था। रात-दिन मरे हुए हजारों मनुष्यों के शवों से परिवेष्ठित यह राजा अन्तःपुर में भी पिशाच के समान भयंकर दीखता था। काश्मीर के प्रवेश द्वार पर खड्ड में गिरकर चिंघाड़ते हुए एक हाथी का आर्तनाद सुनकर मिहिरकुल को बड़ा आनन्द हुआ। इसलिए उस शब्द को बार-बार सुनने के लिए उसने उस खड्ड में सौ जीवित हाथी और गिरवा दिये। इस प्रकार इस राक्षस राजा ने ७० वर्ष तक राज्य किया।

इसके पश्चात् काश्मीर के इतिहास में गोनन्द-वंश के सुप्रसिद्ध प्रतापी राजा मेघवाहन' का नाम आता है। ऐसा मालूम होता है कि मेघ-वाहन जैन धर्मावलम्बी था। क्योंकि राज्याभिषेक के साथ ही उसने राज्य भर में जीव हिंसा बन्द करने की घोषणा की और जीव हिंसा के द्वारा जीविकोपार्जन करने वालों को खजाने से काफी धन देकर पवित्र धन्धे के द्वारा जीविकोपार्जन करने के योग्य बना दिया।

[1] कई इतिहासकार मौर्य वंशीय सम्राट अशोक और राज-तरंगिणी में वर्णित राजा अशोक को एक ही समझते हैं और उनका कहना है कि श्रीनगर की स्थापना सम्राट अशोक के द्वारा ही हुई।

कल्हण लिखते हैं कि— 'साक्षात् 'जिनदेव' के समान अहिंसक उस राजा ने यज्ञों के अन्दर पशु-बलि के स्थान पर आटे से बनाये हुए पशु और घृतपशु के बलिदान से काम चलाने के आदेश दिये।"

मेघवाहन की रानी 'अमृतप्रभा' ने विदेशी भिक्षुओं के निवासार्थ अमृत भवन नामक एक बहुत ऊँचा विहार बनवाया। मेघवाहन ने १४ वर्ष तक राज्य किया और उसके बाद उसके पुत्र 'प्रवरसेन' ने १ वर्ष तक राज्य किया।

उसके पश्चात् मेघवाहन का पौत्र प्रवरसेन द्वितीय इस वंश में बड़ा प्रतापी हुआ। इसने अपनी विशाल सेना के साथ 'दिग्विजय' करके अनेक राजाओं को पराजित किया। उसके पूर्वजों का जो सिंहासन उज्जैन के राजा 'विक्रम' ने अपने यहाँ मँगवा लिया था उसे वह पुनः उज्जैन से कश्मीर ले आया। इस राजाने वितस्ता नदी के तीर पर एक विशाल नगर का निर्माण भी करवाया था।

इसके बाद गोनन्द-वंश में 'रणादित्य' नामक राजा बड़ा प्रजाप्रिय दयालु, न्यायी और उदार शासक हुआ। रणादित्य की रानी का नाम 'रणारम्भा' था। कल्हण कवि लिखते हैं कि— रघुवंश में भगवान् राम तथा गोनन्द वंश में राजा रणादित्य—दोनों ने अपनी प्रजा को स्वर्ग का सुख प्राप्त कराया। इसी कारण इन दोनों का प्रजा प्रेम संसार में अनुपम माना जाता है।'

गोनन्द वंश के अन्तिम राजा बालादित्य ने अपनी पुत्री 'अनंगलेखा' का विवाह एक कायस्थ-कुल में उत्पन्न 'दुर्लभवर्धन' के साथ कर दिया। यही दुर्लभवर्धन बालादित्य के पश्चात् कश्मीर का राजा हुआ और इसका वंश कर्कोटक 'वंश' के नाम से मशहूर हुआ।

कर्कोटक-राजवंश

कर्कोटक-राजवंश में कुल १५ राजा हुए। इन राजाओं में दुर्लभ-वर्धन, चन्द्रापीड ललितादित्य प्रथम और जया पीड प्रथम बड़े प्रतापी राजा हुए। इस कर्कोटक-राजवंश का विस्तृत परिचय इस ग्रंथ के इसी खण्ड में कर्कोटक-राजवंश नामक शीर्षक के नीचे दिया गया है।

उत्पल-राजवंश

कर्कोटक-राजवंश के राजाओं में, जयापीड प्रथम के पश्चात् कोई ऐसा प्रतापी राजा नहीं हुआ, जो राज्य की प्रतिष्ठा को स्थिर रख सके। राजाओं के कमजोर हो जाने से मंत्रियों और दूसरे राजपुरुषों के हाथ में सारी राज शक्ति चली गई। ये लोग राजवंश के जिस पुरुष को चाहते, पैसा लेकर उसे राज-सिंहासन पर बिठा देते और जिसे चाहते उसे राजगद्दी से उतार कर फिर दूसरे को बैठा देते। इन शक्तिशाली पुरुषों में जयापीड के पुत्र 'ललिता दित्य द्वितीय की कलवार पत्नी 'जयादेवी' का भाई उत्पल सबसे ज्यादा चतुर और राजनीतिज्ञ था। इसी उत्पल के हाथों में कर्कोटक-राजवंश का सिंहासन आया और इसका राजवंश 'उत्पल राजवंश' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इस उत्पल-वंश का पहला राजा उत्पल का पौत्र 'अवन्तिवर्मा' हुआ।

अवन्तिवर्मा उत्पल-वंश का अत्यन्त प्रतापी और भाग्यशाली राजा हुआ। अवन्तिवर्मा के समय में कश्मीर का वैभव उन्नति की मंजिल पर पहुँच गया था। उसका राजमन्त्री 'शूर' बड़ा योग्य और राजनीतिज्ञ था। अवन्ति वर्मा के साम्राज्य में 'मुक्ताकण' 'शिव स्वामी' 'चन्द्रालोक' के रचयिता कवि 'आनन्द वर्धन' और 'हर-विजय ग्रन्थ के निर्माता कवि 'रत्नाकर'—ये चार विद्वान् बहुत प्रसिद्ध हुए। पूर्वकाल में राजा मेघवाहन के शासन-काल की तरह अवन्तिवर्मा के शासन-काल में भी १ वर्ष तक प्राणि हिंसा सर्वथा बन्द थी।

राजा अवन्तिवर्मा के शासन में एक बार भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। इससे प्रजा बड़े भयंकर कष्ट में पड़ गई। ऐसे समय में राज-तरंगिणी के अनुसार 'सुय्य' नामक एक वैज्ञानिक और इञ्जीनियर ने कश्मीर की नदियों के बाँध बँधवाकर उनके प्रवाहों के मार्ग को बदल कर—कश्मीर की बहुत सी भूमि को उपजाऊ बना दिया। सिन्धु की बाईं ओर से सिन्धु और दाहिनी ओर से आनेवाली वितस्ता ये दोनों नदियाँ पहिले चन्द्रस्वामी के मन्दिर के पास मिलती थीं, अब वे दोनों नदियाँ 'सुय्य के द्वारा निर्मित श्रीनगर' के समीप नये संगम-स्थल पर मिलती हैं। जैसे

मंत्रशास्त्री मंत्र बल से नागिन को अपने वश में कर लेता है उसी प्रकार उस बुद्धिमान सुय्य ने उच्छलपाती तरंगरूपिणी जिह्वाओं से युक्त नागिन-स्वरूपा नदियों को वश में करके उन्हें अपनी इच्छानुसार विभाजित कर दिया। वितस्ता नदी के दोनों तटपर सात योजन लम्बा पाषाण-सेतु बन जाने के कारण 'महापद्म-सरोवर' का जल नियन्त्रित हो गया।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न नदियों का जल उपयोग में लेकर उसने वहाँ की चारों नदियों के प्रभाव से कश्मीर को हरे भरे खेतों से परिपूर्ण कर दिया।

कल्हण लिखते हैं कि "इस देश का जो उपकार महर्षि कश्यप और बलराम भी नहीं कर सके थे उसे सुय्य ने अपने कर्म-कौशल के प्रभाव से कर दिखलाया। उत्तम सुभिक्ष के समय भी जिस कश्मीर देश में एक 'खारी' चावल का दाम दो सौ दीनार से कम नहीं होता था, सुय्य के प्रताप से वहीं पर एक 'खारी' चावल ३६ दीनार में बिकने लगा। महापद्म सरोवर से निकली हुई जमीन एवं वितस्ता नदी के तटपर सुय्य ने सुय्यपुर नामक एक नगर बसाया। उस दिगन्तव्यापी सरोवर के तटपर उसने मछलियों तथा पक्षियों की हिंसा निषिद्ध कर दी।

अवन्तिवर्मा की मृत्यु सन् ८८३ में (लौकिक संवत् ३९५९) हुई। उसके पश्चात् इस वंश का दूसरा राजा 'शंकर वर्मा' हुआ। शंकरवर्मा ने भी सेना लेकर बहुत से देशों को विजय किया। अपने शासन के अन्तिमकाल में शंकरवर्मा क्रूर और अत्याचारी हो गया। इसकी रानी का नाम 'सुगन्धा' था।

शंकरवर्मा की मृत्यु सन् ९०१ (लौकिक संवत् ३९५७) में हुई उसके पश्चात् गोपालवर्मा राजा हुआ जिसने केवल दो वर्ष राज्य किया।

इसके बाद कश्मीर के शासन की बागडोर शंकरवर्मा की विधवा रानी 'सुगन्धा' देवी के हाथ में आयी। विधवा अवस्था में इस रानी सुगन्धा का प्रेम-सम्बन्ध प्रभाकरवर्द्धन नामक एक राज्याधिकारी के साथ हो गया था। उसने भी सिर्फ दो वर्ष तक इस राज्य का शासन चलाया।

उसके पश्चात् इस वंश में 'चक्रवर्मा' नामक एक राजा हुआ। इस राजा ने 'रंग' नामक एक डोम की 'हंसी' नामक कन्या से विवाह करके उसको महारानी बना दिया। चक्रवर्मा ने बुद्धिभ्रष्ट राजा की तरह और भी कई अत्याचार किये। जिससे क्रुद्ध होकर 'डामर' जाति के लोगों ने उसके शयनागार में घुसकर सन् ९१७ ई (लौकिक संवत् ३९९३) में उसकी हत्या कर डाली।

चक्रवर्मा के मारे जाने के पश्चात् उत्पलवंश का सबसे बड़ा पापी, नीच पितृघाती और दुष्ट 'उन्मत्त अवन्तिवर्मा' नाम का राजा हुआ।

कल्हण कवि लिखते हैं कि 'उस दुष्ट' की पापमयी कथा के संस्पर्श से भयभीत होकर मेरी कवितारूपी सरस्वती स्थगित सी हो रही है किन्तु मैं उसे डरी हुई घोड़ी की भाँति किसी तरह चाबुक देकर आगे बढ़ा रहा हूँ। जैसे मद से पापमान मद्यपानक क्या भी ही लाता है, उसी प्रकार इस राजारूपी दुष्ट राक्षस ने अपने पिता के कुल को ही अपना आहार बनाया। अपने पिता को उसने 'क्षेमेन्द्र-विहार' में कैद कर दिया और एक रात को कुछ हत्यारों को भेजकर उसने अपने पिता की हत्या करवा दी। उसके साथी 'पर्वगुप्त' ने इस राजा को बहका कर उसके द्वारा राजकुल के सभी मनुष्यों को मरवा डाला।

अन्त में सन् ९३९ ई (लौकिक संवत् ३९९५) में इस राजा की मृत्यु हुई।

इसके पश्चात् ही दूसरे वंश का 'यशस्कर' नामक व्यक्ति कश्मीर के 'राजसिंहासन' का अधिकारी हुआ। यशस्कर शुरु शुरु में बड़ा न्यायी और उदारचेता राजा था। लेकिन अपने शासन के अन्तिम समय में 'ललिता' नाम की एक वेश्या पर आसक्त हो जाने और उसके मायाजाल में फँसने के कारण इस राजा का भी पतन हुआ और अन्त में वह भयंकर रोग से ग्रसित होकर ९ वर्ष तक राज्य करके सन् ९४८ ई में मर गया। (सी ई ४ ४)

गुप्त-वंश

इसके पश्चात् 'गुप्तवंश' के 'संग्रामगुप्त' का लड़का 'पर्वगुप्त' कश्मीर-मण्डल का राजा बना। इसने केवल दो वर्ष तक राज्य किया।

इसके बाद पर्वगुप्त का पुत्र 'क्षेमगुप्त' कश्मीर का राजा हुआ। यह अत्यन्त दुराचारी और लम्पट राजा था। इस क्षेमगुप्त का विवाह 'लोहर' दुर्ग के शासक 'सिंहराज' की कन्या—कश्मीर की मशहूर 'दिद्दारानी' के साथ हुआ।

क्षेमगुप्त का देहान्त सन् ९५८ ई० (लौ० सं० ४ १४) में हुआ।

क्षेमगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र 'अभिमन्यु' राजा हुआ मगर राज्य की असली बागडोर 'दिद्दारानी' के हाथ आई। दिद्दारानी एक अत्यन्त महत्वाकांक्षिणी कुटिल और चरित्रहीन स्त्री थी। अपने सौन्दर्य के जादू और राजनैतिक बुद्धि से कई बार उसने कठिन राजनैतिक परिस्थितियों पर विजय पाई और शासन के मार्ग में आने वाले सब कण्टकों को दूर कर राज्य को निष्कण्टक बना दिया।

सन् ९७२ ई० (लौ० सं० ४ ४८) में राजा अभिमन्यु की क्षय-रोग से मृत्यु हो गई। इसका दिद्दारानी को बड़ा दुःख हुआ और थोड़े समय के लिए उसकी धार्मिक मनो-वृत्तियाँ जागृत हुई। इसी काल में उसने अपने दिवङ्गत पुत्र अभिमन्यु की स्मृति में 'अभिमन्युपुर' नामक नगर बसाकर उसमें 'अभिमन्यु स्वामी' का मन्दिर बनाया। इसने अपने पति की स्मृति में 'कंकणपुर' नामक नगर और स्वयं अपनी स्मृति में 'दिद्दापुर' नामक नगर बसाया।

मगर इसके कुछ ही समय पश्चात् उसकी भोग-वासना फिर जागृत हो उठी और उस भोग-वासना के मार्ग में बाधक अपने पौत्र 'नन्दीगुप्त' और 'त्रिभुवन' को उसने मरवा डाला और भैंसे चराने वाले 'तुङ्ग' नामक एक सुन्दर और बलिष्ठ युवक के प्रेम-जाल में फँस गई।

इस प्रेम लीला के बीच में जो भी बाधाएँ उसको नजर आईं उनको उसने दूर कर दिया। कश्मीर की गद्दी पर उस समय उसने अपने सबसे छोटे पौत्र 'भीमगुप्त' को बिठा रखा था मगर जब भीमगुप्त का रंग-ढंग भी उसने अपने विरुद्ध देखा तो उसे भी जेल में डलवाकर मरवा दिया और सन् ९८ ई० (लौ० सं० ४ ६९) वह स्वयं ही कश्मीर-सम्राज्ञी की गद्दी पर आसीन हो गई।

तुङ्ग पर दिद्दारानी का प्रगाढ़ प्रेम था। उसने सिंहासन के सारे अधिकार उसे सौंप दिये थे। तब वहाँ के मंत्रियों ने राज्य में विप्लव मचाने के लिए दिद्दारानी के भतीजे 'विग्रहराज' को कश्मीर बुलवाया। विग्रहराज ने वहाँ आकर तुंग के खिलाफ कुछ ब्राह्मणों से 'अनशन' प्रारम्भ करवा दिया। तब राजनीतिकुशल दिद्दा ने उन ब्राह्मणों में से कुछ ब्राह्मणों को काफी सोना देकर उनमें आपस में फूट डलवा दी, जिससे ब्राह्मणों का अनशन अपने आप बन्द हो गया और विग्रहराज वापस चला गया।

उसके बाद तुंग ने कई विद्रोहियों को जान से मरवा दिया और कई को कश्मीर से निर्वासित करवा दिया। उसके बाद तुंग ने राजपुरी के शासक 'पृथ्वीपाल' को पराजित कर दिया और विरोधी डामरों के समुदाय को समूल नष्ट कर डाला।

सन् १ १ ई० (लौ० सं० ४ ६६) में दिद्दारानी का देहान्त हो गया और उसके भाई के पुत्र 'लोहर-वंश' के संग्रामराज के हाथ में कश्मीर की गद्दी आई।

लोहर-राजवंश

रानी दिद्दा के बाद उसका भतीजा लोहर-वंश का संग्रामराज कश्मीर की गद्दी पर आया मगर दिद्दा के मर जाने पर भी सारी राजशक्ति 'तुंग' के ही हाथ में रही। अनेक लोगों ने तुंग के खिलाफ कई बार विद्रोह किये, मगर वे सब विद्रोह तुंग की शक्ति को बढ़ाने में ही सहायक हुए।

इस समय काबुल की गद्दीपर शाहीराजा त्रिलोचनपाल आसीन था। उस पर महमूद गजनवी ने आक्रमण किया था। इस आक्रमण के विरुद्ध शाही राजा त्रिलोचनपाल की मदद पर मुसलमान-सेनापति के विरुद्ध लड़ने के लिए तुंग के सेनापतित्व में एक विशाल सेना भेजी गई। मगर इस लड़ाई में तुंग की सेना पराजित हो गई।

इसके बाद तुंग का प्रभाव कम हो गया और एक दिन विरोधियों के प्रहार से वह मारा गया।

सन् १ ९८ ई० (लौकिक संवत् ४ ८४) में राजा संग्रामराज की मृत्यु हुई और उसके बाद उसका अल्पवयस्क पुत्र 'अनन्तदेव' कश्मीर की राजगद्दी पर आया। यह राजा बड़ा पराक्रमी प्रतापी और उदार था। राजा अनन्तदेव को अपने शासनकाल में

कई भयानक लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं जिनमें इस राजा ने अपने शौर्य और पराक्रम का अभूतपूर्व परिचय दिया। 'ब्रह्मराज' नामक उसका एक सेनाधिकारी विद्रोही होकर कुछ लोलुप राजाओं और डामरों तथा अन्य तस्करों के साथ कश्मीर पर चढ़ आया। कश्मीर की सेना से इनका भयंकर युद्ध हुआ पर इसमें विजय अनन्तदेव की हुई।

राजा अनन्तदेव की रानी का नाम सूर्यमती था 'सुभद्रा' था। वह बड़ी बुद्धिमती, उदार और राजनीति कुशल थी। राजा अनन्तदेव इसी की सलाह से राज्य के सारे कार्य किया करता था।

अनन्तदेव का मंत्री 'रत्नधर' बड़ा योग्य राजनीतिज्ञ और कार्य-कुशल था। इसने राजा अनन्तदेव को भीषण संकटों से बचाया।

अनन्तदेव का पुत्र 'कलश' था। राजपुत्र कलश कुछ दुराचारी मित्रों के सहयोग में पड़कर बड़ा दुराचारी और पर दारालोलुप हो गया था और उसके साथी उसे अनन्तदेव के हाथ से राज-सत्ता ले लेने को उकसा रहे थे। उधर अनन्तदेव अपने पुत्र के अत्याचारों से दुखी होकर अपनी रानी और अन्य परिजनों को लेकर ईस्वी सन् १०७९ में (लौकिक संवत् ४१५५) 'विजयेश्वर-क्षेत्र' में जा पहुँचा और वहीं रहने लगा।

वहीं पर राजा अनन्तदेव ने कलश के पुत्र हर्षदेव को बुलाकर उसका राज्याभिषेक कर दिया। इससे क्रुद्ध होकर कलश ने अनन्तदेव के निवासवाले स्थान में आग लगवादी। उस भीषण अग्निकांड से राजा अनन्तदेव के समस्त उपकरण एवं तथा विजयेश्वर-मठ जलकर खाक हो गया। इस भयानक दुर्घटना के आघात से रानी सूर्यमती अत्यन्त दीन और निराश हो गई। उसे बड़ी कठिनाई से बचाते हुए घर से बाहर निकाला गया। राजा कलश उस समय अपने महल की छत पर खड़ा खड़ा अपने माता-पिता की यह हालत देखकर ताली पीट-पीट कर हँस रहा था।

राजा अनन्तदेव वहाँ से हटकर अपनी रानी के साथ निरुपा नदी के उस पार चला गया और वहीं पर सन् १०८१ की कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा के दिन उसका देहान्त हो गया।

राजा अनन्तदेव की जीवितावस्था में ही उसका पुत्र राजा 'कलश' कश्मीर का राजा हो चुका था। उसने अपने पिता के साथ जो भयंकर अत्याचार किये, उसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उसने शुरू-शुरू में अपने पुत्र हर्ष को युवराज बना दिया। मगर बाद में हर्ष के द्वारा विद्रोह करने पर उसे जेल में डाल दिया और हर्ष की रानियों को पकड़ कर उनके साथ बलात्कारपूर्वक बलात्कार किया। (कलशराजा का पूरा परिचय 'कलशराज' शीर्षक के अन्तर्गत इसी भाग में दिया गया है।) सन् १०८९ में (लौकिक संवत् ४१६५) कलशराज का देहान्त हुआ।

कलशराज के पश्चात् उसका द्वितीय पुत्र उत्कर्ष कुछ समय के लिए कश्मीर की गद्दी पर बैठा। मगर थोड़े ही समय में उसका राजकाज समाप्त हो गया और हर्षदेव कश्मीर की गद्दी पर आया।

कल्हण कवि के पिता 'चम्पक' इसी हर्षदेव के प्रधान मंत्री थे। इसलिए इस राजा का इतिहास राज-तरंगिणी में बहुत विस्तार के साथ दिया गया है।

हर्षदेव के शासन की मीमांसा करते हुए 'राज-तरंगिणी' में कल्हण कवि लिखते हैं कि 'राजा हर्षदेव के कथा प्रसंग में सब तरह के अच्छे कामों का सूत्रपात तथा उन कार्यों की असफलता का वर्णन करना पड़ेगा। इस कथा में सब तरह की सुव्यवस्था का निश्चय और उस निश्चय में राजनैतिक सूझ-बूझ का अभाव भी दिखाई देगा। राजा हर्षदेव की कथा प्रारम्भ में बहुत उदारता भरी और अन्त में परचक्र अराजकता की व्यथाओं से ओतप्रोत है। इसमें करुणा के आधिक्य का सौन्दर्य तथा हिंसा की अधिकता के कारण भीषणता भी भरी हुई है। धार्मिक कृत्यों की अधिकता के कारण यह कथा धार्मिक युक्त है और पापाचार की बाहुल्यता से कलंकित भी है। यह कथा धर्मशील होकर भी निन्दनीय है। कौतूहलपद होती हुई भी उपहासास्पद है। कमनीय होने पर भी शोचनीय है। मानवीय होते हुए भी अपकीर्ति के योग्य है और स्मरण रखने के योग्य होते हुए भी त्याज्य है।'

मतलब यह है कि राजा हर्षदेव का प्रारम्भिक राज काल अपने सुशासन और उदार व्यवहार के कारण बड़ा लोक-प्रिय रहा। इस राजा ने प्रार्थियों की प्रार्थना सुनने के लिए अपने महल के चारोंओर बड़े बड़े घंटे बँधवा दिये थे। उनकी ध्वनि सुनते ही यह प्रार्थी से मिलने के लिए तैयार हो जाता था। और उनकी शिकायतों को तुरत दूर कर देता था।

अपने छोटे भाई 'विजयमल्ल' पर हर्षदेव का बड़ा प्रेम था। क्योंकि उत्कर्ष के विरुद्ध हर्ष का साथ देकर उसने कश्मीर का राज्य 'हर्ष' को दिलवाया था। मगर दरबारी लोगों ने विजयमल्ल की भावनाओं को भड़काया, जिसके परिणामस्वरूप विजयमल्ल ने हर्ष के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और इस विद्रोह में विजयमल्ल मारा गया।

इसके साथ ही हर्षदेव ने दरबारियों के बहकावे में आकर राज्य के प्रधान सेनापति और अपने छोटे भाई 'कन्दर्प' को देश निकाला कर दिया और 'विजयराज' का वध करवा दिया।

राज-दरबार के इन दो सशक्त स्तम्भों के टूटते ही वहाँ पर अनीति और दुराचार का बोलबाला हो गया। स्वार्थी सामन्त विवेक भ्रष्ट होकर भेड़ों की तरह एक दूसरे से टकराने लगे और राजा हर्ष पूरी शक्ति से राज्य के वीर सामन्तों का निर्मम वध करवाने लगा। कश्मीर की घाटी में आये दिन किसी एकान्त सरोवर, सरिता या वन-प्रदेश में करुण चीत्कार गूँजता और राज्य का कोई वात्सल्यमान नक्षत्र टूटकर विलीन हो जाता। भम्मट कन्दर्प और उसके ४ किशोर पुत्र उत्कर्ष का ज्येष्ठ पुत्र 'भोज' और विजयमल्ल के छोटे पुत्र—सभी बारी-बारी से सम्राट् की रक्त लिप्सा के शिकार हो गये।

अतीत का भावुक और मनीषी हर्ष अब मर चुका था। और उसके स्थानपर एक ऐसा निरंकुश तथा अत्याचारी हर्ष प्रकट हुआ, जो इतिहास पटल पर अनीति के असभ्य गहरे धब्बे छोड़ गया।

इसी समय किसी दुष्ट दरबारी ने कर्णाटक के राजा 'परमर्दि' की महारानी अनिन्द्य सुन्दरी 'चन्दला' का सुन्दर चित्र हर्षदेव के सम्मुख उपस्थित कर दिया। उस चित्रपर राजा इतना मोहित हो गया कि उसने उसी समय प्रतिज्ञा की कि मैं कर्णाटक राजा को पराजित कर जबतक इस देवांगना को अपनी राज-महिषी बना लूँ तबतक कन्चे कपूर का सेवन न करूँगा।

इन सब बातों से तथा दिन-रात सुन्दरी स्त्रियों के साथ उपभोग करते रहने से राजा हर्ष का खजाना खाली हो गया। तब इस राजा ने वहाँ के देव मन्दिरों को लूटने का उद्योग प्रारम्भ किया। सबसे पहले उसने भीमकेशव के सुप्रसिद्ध मन्दिर की अपार सम्पदा को लूटा। उसके पश्चात् देश के सभी विशाल मन्दिरों को लूटने और उनकी मूर्तियों को तोड़-फोड़ कर नष्ट करने की आज्ञा दे दी। अत्याचारी हर्ष के इस राक्षस अभियान से रण-स्वामी और मार्तण्ड स्वामी के मन्दिरों को छोड़कर कश्मीर के सारे मन्दिर अपवित्र हो गये। सम्राट् के कुकृत्यों से कश्मीर की जनता क्षुब्ध हो गई और यह समझने लगी कि हर्ष के रूप में किसी राक्षस ने जन्म लिया है जो कश्मीर मण्डल को नष्ट करके ही छोड़ेगा। लोग आर्त-भाव से भगवान को पुकारने लगे।

इसी समय कश्मीर के रंगमंच पर 'उच्चल' और 'सुस्सल' दो भाई प्रकट हुए। ये इसी राजवंश में उत्पन्न हुए थे। उच्चल और सुस्सल ने राजा हर्ष की अनीति को देखकर राजा हर्ष के खिलाफ विद्रोह कर दिया। प्रथम विद्रोह में राजकीय सेना ने विद्रोही-सेना को पराजित कर दिया। इस विजय के उपलक्ष में राजा हर्ष ने मूर्ति तोड़ने के अभियान को और तीव्र कर दिया और परिहास केशव के मन्दिर से परिहास-केशव की मूर्ति को उखड़वा कर फेंक दिया। परिहास केशव का मन्दिर कश्मीर के भव्यतम उपासना-गृहों में एक था। इस मूर्ति के नष्ट होते ही सारी राजधानी में एक भयंकर सन्नाटा छा गया।

इस घटना से क्षुब्ध होकर उच्चल और सुस्सल—दोनों राजकुमारों ने अपने विद्रोह को और भी तीव्र कर दिया। इसी समय हर्ष ने उच्चल और सुस्सल के पिता वृद्ध मल्लराज की हत्या करवा दी। इससे दोनों भाई और भी उत्तेजित हो उठे। और उन्होंने तीव्र वेग से राजधानी पर आक्रमण कर दिया। हर्ष को वहाँ से भागना पड़ा और अन्त में श्मशान में बनी हुई एक भिक्षुक की कुटिया में उसने

आक्रमण किया और इसी कुटिया में उच्चल के सैनिकों ने जाकर हर्ष की हत्या कर डाली।

राजा हर्ष की मृत्यु ईसवी सन् ११०१ (लौकिक संवत् ४१७७) में हुई।

हर्ष के पश्चात् कश्मीर के सिंहासन पर इसी राजवंश का राजा 'उच्चल' आया। उच्चल राजा ने अपने शासन काल में कायस्थों के मूलोच्छेदन करने का भारी अभियान किया। कई कायस्थों को उसने मरवा दिये और कइयों को बहुत अपमानित किया। ईसवी सन् ११११ (लौकिक वर्ष ४१८७) में उच्चल को उसके विरोधियों ने हत्या कर डाली।

उच्चल के पश्चात् कश्मीर-राज्य में भयंकर अराजकता का सूत्रपात हो गया। महीने-महीने भर में वहाँ पर राजा बदलने लगे। एक बार तो ऐसा अवसर आया कि एक ही दिन में तीन राजा बने और बिगड़ गये।

उच्चल के बाद 'सुस्सल' ने भी कुछ समय तक कश्मीर पर राज्य किया। मगर वह भी कश्मीर की अराजकता को दूर करने में सफल नहीं हुआ। और उसके पश्चात् लगातार दो सौ वर्षों तक कश्मीर में अराजकता का दौर दौरा चलता रहा।

मुसलमानी-शासन का प्रारंभ

जिस समय कश्मीर राज्य में इस प्रकार की अराजकता फैली हुई थी, उस समय उसके आस-पास के प्रदेशों में मुसलमानी धर्म और मुसलमानी शासन का प्रचार बड़े जोरों से बढ़ रहा था। कश्मीर-राज्य भी उसकी क्रूर दृष्टि से नहीं बचा।

ईसवी सन् १३३९ में 'शाह मीर' नामक एक मुसलमान ने कश्मीर के अन्तिम हिन्दू राजा की विधवा रानी को गद्दी से हटाकर उस पर अपना अधिकार कर लिया।

शाहमीर के बाद कई मुसलमान नरेश कश्मीर की गद्दी पर बैठे पर वे सबके सब अत्यन्त कमजोर और अयोग्य निकले।

ईसवी सन् १४२० में 'जनुल-अबुद्दीन' (Zainul Abdin) कश्मीर की गद्दी पर बैठा। वह एक योग्य और उदार प्रकृति का राजा था। खेती की उन्नति के लिए उसने कई नहरें और पुल बनवाये। वह बड़ा न्यायकारी था और ब्राह्मणों पर भी कभी कृपा रखता था। ब्राह्मणों से जो 'पोल-टैक्स' लिया जाता था। वह उसने माफ कर दिया। इतना ही नहीं उसने कई ब्राह्मणों को जागीरें भी प्रदान की थीं। मुसलमान होते हुए भी उसने कई हिन्दू मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया और हिन्दुओं की विद्या को उत्तेजन दिया। उसने विदेशों से कई प्रकार की कारीगरी की वस्तुएँ मँगवाकर एकत्रित की थीं। मगर इसके बाद होने वाले राजा फिर बड़े कमजोर और अयोग्य निकले।

सन् १५४० ई० में 'मिर्जा हैदर' नामक एक मुगल-सरदार ने कश्मीर पर आक्रमण करके विजय प्राप्त की और वह वहाँ का राजा बन गया मगर उसकी मृत्यु के पश्चात् कश्मीर में फिर अराजकता हो गई।

मुगल-साम्राज्य में कश्मीर

ईस्वी सन् १५८६ में सम्राट अकबर ने कश्मीर पर विजय प्राप्त की, जिसके फल-स्वरूप कश्मीर मुगलों के झण्डे के नीचे आ गया। स्वयं सम्राट अकबर तीन बार कश्मीर गये थे और वहाँ उन्होंने 'हरी-पर्वत' नामक एक किला बनवाया था।

अकबर के बाद जहाँगीर मुगल सिंहासन पर बैठे। सम्राट जहाँगीर का ही कश्मीर पर बहुत अधिक प्रेम था। कश्मीर का सुप्रसिद्ध 'शालीमार-बगीचा' और 'निशातबाग' सम्राट जहाँगीर के द्वारा ही बनवाए गये थे। मुगलों का शासन साधारणतया सुगम्य था और जो कानून-कायदे उस समय उपयोग में लिए जाते थे—वे भी बड़े उत्तम थे।

औरंगजेब के शासन काल में प्रसिद्ध यात्री 'बर्नियर' कश्मीर में आया था। उसने लिखा है कि—

"कश्मीर निवासी इस समय सुखी और समृद्ध हैं। ये लोग हिन्दुस्थानियों से अधिक बुद्धिमान और निपुण हैं। कविता बनाने की शक्ति और अन्य कलाओं के ज्ञान में ये पर्शियन लोगों का भी मात करते हैं और बड़े फुर्तीले तथा मेहनती भी हैं।—— कश्मीर भारतवर्ष का 'नन्दन-कानन' है। सारा देश एक गुलगुमा बगीचे के समान है। जिसमें स्थान-स्थान पर तरह-तरह के फूल अंगूर की बेलें और गेहूँ तथा चावल के खेत बड़े भले मालूम होते हैं।"

मुग़ल-साम्राज्य के कमजोर पड़ जाने के पश्चात् कश्मीर अफ़गानों के अमानुषिक शासन के भीतर आ गया। अफ़गानों का शासन कश्मीर के लिए, ईश्वर का अभिशाप था। ये लोग प्रजा का रक्त चूसने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते थे। आदमी का सिर काट लेना इन लोगों के लिए एक पुष्प तोड़ने से अधिक महत्व नहीं रखता था। ये लोग हिन्दुओं को बोरों में भर भरकर तालाब में फेंकवा देते थे। इन कई कारणों की वजह से हजारों हिन्दू कश्मीर छोड़ छोड़कर भाग गये और जो बाकी बचे वे मुसलमान बना लिए गये।

इस प्रकार सन् १८१८ में कश्मीर की ८ प्रतिशत जनता मुसलमान हो चुकी थी।

इस अत्याचार से बचने के लिए कश्मीरवासियों ने महाराज रणजीत सिंह का सहारा लिया। जम्मू के महाराजा गुलाबसिंह की सहायता से सन् १८१८ में महाराज रणजीत सिंह ने कश्मीर पर अधिकार कर लिया और कश्मीर एक बार फिर हिन्दू शासन में आ गया।

हिन्दू शासन में आने पर भी कश्मीरियों की समस्या का हल नहीं हुआ। सिक्ख-लोग कश्मीरियों को बड़ी हल्की निगाह से देखते थे और राज्य ने उन पर भारी भारी टैक्स लगा रखे थे, जिससे वहाँ की प्रजा अत्यन्त त्रस्त थी।

सन् १८४१ में महाराज रणजीत सिंह की मृत्यु हुई और उसके बाद सन् १८४६ से 'डोगरा वंश' के राजा 'गुलाब सिंह' का कश्मीर पर अधिकार हुआ।

डोगरा-राजवंश

पंजाब और कश्मीर के बीच का प्रदेश 'डोगरा' कहलाता है और यहाँ रहने के कारण राजा गुलाब सिंह के पूर्वज डोगरा कहलाते थे। ये लोग पहले अवध और राजपूताने में रहते थे। वहाँ से वे धीरे-धीरे पंजाब की ओर बढ़ और अन्त में डोगरा प्रदेश के 'भिंगपुर' नामक ग्राम में रहने लगे। यहाँ से यह वंश तीन शाखाओं में विभक्त हो गया। एक शाखा ने 'चम्बा' को, एक ने 'काँगड़ा' को और एक ने 'जम्मू' को अपना केन्द्र बनाया।

गुलाब सिंह इसी जम्मू वाली शाखा में उत्पन्न हुए। सन् १७७८ में रणजीत सिंह की सेना ने जब जम्मू पर आक्रमण किया, तब गुलाबसिंह ने ऐसा पराक्रम दिखलाया कि रणजीत सिंह उन पर बहुत प्रसन्न हुए और जब जम्मू पर सिक्खों का अधिकार हो गया तब रणजीत सिंह ने वह राज्य गुलाब सिंह को दे डाला और साथ ही उन्हें राजा का सम्मान-सूचक खिताब भी दिया।

राज्य मिलने के २५ वर्ष के अन्दर-अन्दर गुलाब सिंह और उनके भाइयों ने मिलकर आस पास के छोटे मोटे सरदारों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। गुलाब सिंह के प्रधान सेनापति सरदार 'जोरावर सिंह' का नाम इस इतिहास में बड़ा गौरवपूर्ण है। यह व्यक्ति अत्यन्त वीर और पराक्रमी था। इसने अपनी सेना के साथ 'लद्दाख' और 'बल्तिस्तान' पर आक्रमण करके विजय प्राप्त की। इन्हीं के नेतृत्व में एक सिक्ख-सेना ने तिब्बत पर आक्रमण किया था पर मौसम प्रतिकूल होने से वे वहाँ मारे गये और उनकी सेना भी वहीं तहस-नहस हो गई।

महाराज रणजीत सिंह की मृत्यु के पश्चात् पञ्जाब के के अन्दर एक प्रकार की अराजकता सी छा गई और उसके फलस्वरूप सन् १८४६ की जनवरी में 'अलीवाल' नामक स्थान पर अंग्रेजी सेना के साथ सिक्ख सेना का युद्ध हुआ जिसमें सिक्ख-सेना को पराजित होना पड़ा। सिक्खों की तरफ से जम्मू-नरेश गुलाब सिंह ने अंग्रेजों के पास सन्धि का पैगाम भेजा। ६ मार्च सन् १८४६ को सिक्खों और अंग्रेजों के बीच एक सन्धि हुई जिसके अनुसार सिक्खों ने कश्मीर, हजारा तथा व्यास और सिन्धु नदी के बीच का सारा पार्वतीय प्रान्त अंग्रेज सरकार को दे डाला।

इस सन्धि के एक सप्ताह बाद राजा गुलाबसिंह और अंग्रेजों के बीच और एक दूसरी सन्धि हुई। इस सन्धि के अनुसार राजा गुलाब सिंह एक स्वतन्त्र शासक बना दिए गए और उन्हें पुश्त दर पुश्त के लिए सिन्धु नदी के पूर्व और रावी नदी के पश्चिम के तमाम प्रान्त—जिनमें चम्बा और लाहौर भी शामिल थे—दे दिए गये। राजा गुलाबसिंह ने इसके बदले में अंग्रेज-सरकार को ७५ लाख रुपये एकमुश्त नगद तथा एक घोड़ा १२ बकरियाँ और ६ शाल बाफियाँ प्रति वर्ष देना स्वीकार किया और साथ ही तय हुआ कि आप निकटवर्ती पहाड़ी प्रदेशों में अंग्रेज

आ पड़ने पर गुलाब सिंह अपनी सम्पूर्ण सेना के साथ अंग्रेजों की सहायता करेंगे और ब्रिटिश सरकार भी बाहरी आक्रमणकारियों से उनकी रक्षा करेगी।

इस प्रकार सन् १८४६ में कश्मीर का शासन-सूत्र महाराज गुलाब सिंह के हाथ में आया। ११ वर्ष तक महाराजा गुलाब सिंह ने पूरे कश्मीर पर राज्य किया।

सन् १८५७ ई० में महाराजा गुलाब सिंह का देहान्त हुआ। गुलाब सिंह के बाद उनके पुत्र 'रणबीर सिंह' कश्मीर की गद्दी पर आये। सन् १८५७ के गदर में इन्होंने ब्रिटिश-सरकार को बड़ी मदद पहुँचाई, जिससे प्रसन्न होकर भारत सरकार ने इन्हें दत्तक लेने का अधिकार प्रदान किया।

ईसवी सन् १८७७ में इनके समय में अति-वृष्टि होने के कारण कश्मीर में भयंकर अकाल पड़ा, जिसके कारण वहाँ की बहुत बड़ी जन-संख्या का संहार हो गया। गाँव के गाँव उजड़ गये और श्रीनगर शहर की आबादी आधी रह गयी।

सन् १८८५ में राजा रणबीर सिंह का देहान्त हुआ। इनके पश्चात् इनके बड़े पुत्र 'प्रताप सिंह' कश्मीर की गद्दी पर बैठे। राजा प्रताप सिंह के समय में कश्मीर में कई प्रकार के शासन सुधार हुए। जनता पर लगे हुए कुछ टैक्स भी कम कर दिये गए। बेगार प्रथा भी उठा दी गई। शिक्षा-संस्थाओं में वृद्धि की गई और स्यालकोट से लेकर जम्मूतक रेलवे-लाइन बनाई गई।

राजा प्रताप सिंह की मृत्यु के बाद उनके भतीजे 'हरिसिंह' कश्मीर की गद्दी पर आये। सन् १९२५ ई० में इनका राज्यारोहण बड़ी धूमधाम से हुआ। इन्हीं के समय में 'शेख अब्दुल्ला' के नेतृत्व में कश्मीर में राजनैतिक संस्था 'नेशनल कान्फ्रेन्स' की स्थापना हुई और भारत के दूसरे राज्यों की तरह वहाँ भी राजनैतिक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ।

सन् १९४७ ई० के अगस्त में भारतवर्ष के स्वाधीन होने पर रियासतों के विलीनीकरण का प्रश्न उपस्थित हुआ। जिसके अनुसार प्रत्येक राजा को अधिकार था कि वह अपनी इच्छा के अनुसार भारत या पाकिस्तान—किसी भी देश में अपना विलीनीकरण कर ले।

मगर महाराज हरीसिंह कुछ समय तक किसी भी निर्णय पर न पहुँच कर टाल मटूल करते रहे। इसी बीच पाकिस्तान के उकसाने से कबायली लोगों ने एकाएक बड़ी तेजी से कश्मीर पर हमला कर दिया और देखते-देखते एक तिहाई कश्मीर पर अधिकार कर श्रीनगर तक पहुँचने का उपक्रम करने लगे। इस महान् विपत्ति को एकाएक सिरपर आते देखकर महाराज हरिसिंह काँप उठे और उन्होंने तत्काल भारत देश में कश्मीर का विलीनीकरण स्वीकार करके कबायलियों की बाढ़ तुरन्त रोकने के लिये भारत सरकार से प्रार्थना की। भारत-सरकार ने तुरन्त आनन-फानन में जनरल 'करिअप्पा' के सेनापतित्व में कश्मीर की रक्षा का प्रबन्ध किया और कबायलियों की बाढ़ वहीं की वहीं रोक दी गई। भारत-सरकार अगर चाहती तो ४-५ दिन में कबायलियों के हाथ छीना हुआ कश्मीर का हिस्सा भी ले सकती थी, पर ऐसा न करके प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने 'युद्ध विराम रेखा' पर लड़ाई समाप्त कर इस प्रश्न को न्याय के लिए विश्व के सबसे बड़े संगठन 'राष्ट्र-संघ' में पेश कर दिया।

राष्ट्र-संघ में जाने के पश्चात् इस प्रश्न की खूब छीछालेदर हुई। चूँकि पाकिस्तान सीटो सन्धि का सदस्य था। इसलिए अमेरिका, ब्रिटेन इत्यादि तमाम पश्चिमी शक्तियों ने उसकी पीठ थपथपाना और भारत पर बेजा दबाव डालना शुरू किया। सिर्फ रूस और उसके साथी कुछ देशों के बल पर भारत का पक्ष टिका रहा।

कई बार यह प्रश्न 'सुरक्षा परिषद' में भी उपस्थित किया गया। भारतवर्ष की तरफ से अपना पक्ष पेश करने के लिए प्रसिद्ध भाषा शास्त्री श्री कृष्ण मेनन वहाँ पर जाते रहे। कई घण्टों तक अपनी लम्बी वक्तृता देकर उन्होंने भारतीय पक्ष का समर्थन किया, मगर जिन लोगों की आँखों पर पक्षपात के रंगीन चश्मे चढ़े हुए थे उन पर ऐसी वक्तृताओं का क्या प्रभाव होता?

राष्ट्र-संघ के अन्दर इस प्रश्न को पेश करना सही कदम था या गलत कदम—इसका निर्णय तब मालूम पड़ा जब सन् १९६४ ई० में श्रीमती 'इन्दिरा गान्धी' ने प्रेसिडेंट जानसन के साथ हुई वार्ता में खुलेआम इस गलती को स्वीकार कर लिया।

सन् १६५२ ई० में कश्मीर में लोकतांत्रिक-पद्धति से आम चुनाव करवा कर कश्मीर-सरकार की स्थापना की गई। और महाराज हरिसिंह के पुत्र 'कर्णसिंह' को सदरे रियासत और पहले शेख अब्दुल्ला को तथा बाद में बख्शी गुलाम मुहम्मद को प्रधान मंत्री बनाया गया।

भारत के संविधान में कश्मीर के सम्बन्ध में ३७० नंबर की एक स्वतंत्र धारा रखकर कश्मीर की स्थिति अन्य रियासतों से कुछ भिन्न रखी गई। और पर राष्ट्रनीति, रक्षा तथा यातायात केन्द्रीय सरकार के अधीन रखकर शेष बातों में कश्मीर को स्वतंत्र बना दिया गया। भारतीय संविधान में धारा ३७० का रखना सही कदम था या नहीं इस सम्बन्ध में अब सभी लोगों के दिलों में एक शंकासी पैदा हो रही है। और यह विचार जोर पकड़ता जा रहा है कि इस धारा का रखना एक गलत कदम था और अब इसे संविधान से निकाल देना चाहिए।

चीनी युद्ध के समय में भारत की कमजोर स्थिति को देखकर पश्चिमी राष्ट्रों ने भारत और पाकिस्तान में एक बार और समझौते का प्रयत्न करके भारत पर दबाव डाला। जिसके फल स्वरूप भारत और पाकिस्तान के अधिकारियों के ५,६ सम्मेलन हुए। प्रधान मंत्री नेहरू ने अपनी स्वाभाविक उदारता के वश होकर इस मामले में अधिक से अधिक उदारता बतलाने का प्रयत्न किया। मगर जहाँ नींव का पत्थर ही गलत होता है वहाँ समझौता किस आधार पर ठहर सकता है। अतः सब प्रयत्न बेकार हुए।

सन् १९६४ के प्रारम्भ में कश्मीर के अन्दर एक अभूत पूर्व घटना घटी। हजरत पैगम्बर के पवित्र बाल जिस मस्जिद में रखे हुए थे वहाँ से वे चोरी हो गये। इस घटना को लेकर सारे कश्मीर में और भारत के सारे मुसल्मानों में एक भयंकर तहलका मच गया। चारों और अशान्ति छा गई और कश्मीर में एक भयानकता पूर्ण वातावरण पैदा हो गया। गनीमत हुई कि कुछ ही दिनों के बाद बाल वापस मिल गए और उनको फिर से यथा स्थान स्थापित कर दिया गया। मगर इस घटना से बख्शी गुलाम मुहम्मद पर से कश्मीर की जनता का विश्वास उठ गया।

इस घटना का फायदा उठाकर उसको खूब बढ़ा-चढ़ाकर पाकिस्तान ने तत्काल इस मामले को सुरक्षा परिषद में उठा दिया। पाकिस्तान के विदेश मंत्री 'भुट्टो" ने कश्मीर की भयानक स्थिति को बतलाते हुए बड़ा करुण-क्रन्दन करके लोगों का ध्यान इस समस्या की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया मगर दैव-योग से इस बार भारत का प्रतिनिधित्व चस्टिस छागला के समान अनुभवी विद्वान और कानून शास्त्र में मँजे हुए व्यक्ति कर रहे थे। बहुत मीठे और चुने हुए शब्दों में चस्टिस छागला ने शुरू से लेकर अभी तक कश्मीर की स्थिति का जो सुन्दर विश्लेषण किया—वह न्याय और कानून के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखने के योग्य है। उन्होंने अकाट्य तर्कों के द्वारा कश्मीर के सम्बन्ध में भारतीय नीति को स्पष्ट शब्दों में घोषित किया और भारत के अन्तर्गत कश्मीर का विलीनीकरण 'अन्तिम सत्य है' इसको भलीभाँति सिद्ध कर दिया।

अन्त में 'सुरक्षा-परिषद्' बिना किसी अन्तिम निर्णय पर पहुँचे हुए, दोनों पक्षों को आपस में बैठकर विचार विनिमय के द्वारा इस प्रश्न को सुलझाने की सलाह देकर समाप्त हो गई, और बात वहीं पर रह गई जहाँ से शुरू हुई थी।

पवित्र बाल की चोरी और अन्य घटनाओं से कश्मीर की स्थिति कुछ ऐसी हो गई कि जिसमें भारत-सरकार की सलाह पर कश्मीर-सरकार को शेख अब्दुल्ला को जेल से छोड़ना पड़ा। जेल से छूटने के पश्चात् कई दिनों तक उन्होंने कश्मीरी जनता के सामने कई उल-जलूल भाषण दिये। बाद में दिल्ली आकर उन्होंने प्रधान मंत्री नेहरू और अन्य मंत्रियों से कश्मीर की समस्या के समाधान के लिए कई दिनों तक वार्तालाप किया।

उसके बाद पाकिस्तान जाकर उन्होंने राष्ट्रपति अयूब और वहाँ के अन्य अधिकारियों से वार्तालाप किया। मगर अभी तक तो इस समस्या के समाधान का कोई हल नहीं निकल पाया है और यह भौंभीसी उसी हालत में भटक रही है जिस हालत में शुरू के दिनों में भटक रही थी।

कश्मीर का प्राकृतिक वैभव

कश्मीर की प्राकृतिक सम्पदा बड़ी अद्भुत आकर्षक और अनन्त है। शोभा के आगार महान् हिमालय की सम्पूर्ण सम्पदायें जैसे इस भौभाग में आकर केन्द्रित हो गई हैं। सैकड़ों मीलों के क्षेत्र में बिखरी अनन्त हरियाली, पहाड़ शिखरों में से स्थान-स्थान पर बहते हुये निर्मल जल के कल-कलनाद करते हुए निर्झर, पहाड़ों के गर्भ को चीर कर बहती हुई बलखाती नदियाँ, बर्फ से ढकी हुई पहाड़ों की चोटियाँ केसर की क्यारियाँ सेब और अंगूर के बगीचे और भिन्न भिन्न चीजों का वर्णन किया जाय, य सब प्रकृति की उस महान् कारीगरी को नमन कर रही है जिसने उन्हें पैदा किया।

जम्मू से निकलते ही कश्मीर की महान् प्राकृतिक शोभा का प्रारम्भ हो जाता है। अनन्त हरियाली के बीच कहीं हजार फुट नीचे खड्ड के किनारे पर और कहीं हजार फीट ऊंची पहाड़ी की तलहटी में सांप की तरह रेंगती हुई बस चली जाती है। वह प्राकृतिक शोभा सैकड़ों मील तक एक सी देखने को मिलती है।

श्रीनगर इस विशाल वन का प्रधान केन्द्र है। यहाँ जाने पर यह मालूम होता है कि शहरी सम्यता के विकास की दृष्टि से अभी यह नगर बहुत पीछे है मगर प्रकृति का महान् आशीर्वाद इसे प्राप्त है। चारों ओर ऊँची-ऊँची पहाड़ियों से घिरा हुआ और डलबर झील की अनुपम प्राकृतिक शोभा से शोभित यह नगर अप्सराओं के क्रीड़ा क्षेत्र की तरह जान पड़ता है। ऊँची पहाड़ की टेकरी पर बना हुआ शंकराचार्य का स्मारक आज भी जैसे भारतीय सम्यता का झण्डा फहरा रहा है और सम्राट् जहाँगीर के द्वारा बनाये हुए शालिमार बाग और निशात बाग तथा उनमें बहते हुए पानी के झरने आज भी मुगल कालीन वैभव की याद दिलाते हैं।

कश्मीर के प्राकृतिक वैभव की अन्तिम शोभा अमर नाथ में देखने को मिलती है जो अपने अलौकिक प्राकृतिक छवि वैभव के साथ-साथ हिन्दुओं का पूजनीय तीर्थ भी है। यहाँ यहाँ पर यात्रा भरती है और उसमें समस्त भारत के यात्री उसी प्रकार भाग लेते हैं जैसे बद्री नारायण की यात्रा में लेते हैं।

पहल गाम और गुलमर्ग भी कश्मीर की घाटी के प्राकृतिक वैभव में अपना जोड़ नहीं रखते। कश्मीर आने वाले यात्री अपने समय का एक हिस्सा इन स्थानों पर भी बिताते हैं।

कश्मीर में केसर की क्यारियाँ भी उसके प्राकृतिक वैभव को बढ़ाने में बहुत सहायक हैं। भारतवर्ष में केसर की क्यारियों का दृश्य अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिलेगा। सिर्फ यूरोप में स्विट्जरलैंड के अन्दर ही ये केसर की क्यारियाँ दिखलाई पड़ेंगी।

कश्मीर का साहित्यिक वैभव

अपने प्राकृतिक वैभव की तरह कश्मीर का साहित्यिक वैभव भी अत्यन्त सुन्दर और समृद्धिशाली है। भगवती प्रकृति की तरह भगवती सरस्वती की भी इस क्षेत्र पर महान् कृपा रही है और इस सर्वोत्तम प्राकृतिक वैभव के बीच में संस्कृत के महान् साहित्य की सृष्टि हुई है।

कश्मीर के साहित्य में सबसे प्राचीन नाम हमें कवि भर्तृमेंठ का देखने को मिलता है ये राजा मातृगुप्त के समकालीन थे अर्थात् पांचवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हुए थे। इन्होंने "हयग्रीव वधम्" नामक काव्य लिखा था इस पर राजा मातृगुप्त ने इन्हें बहुत सम्मानित किया था और आगे राज शेखर ने इन्हें वाल्मीकि का अवतार माना था। मगर इनका कोई काव्य अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

इनके तीन शताब्दी बाद कश्मीर के साहित्य में महान् कवि रत्नाकर दिखलाई पड़ते हैं जिन्होंने "हर विजय" नामक महाकाव्य की ५० सर्गों और ४३२१ पद्यों में रचना की अपने काव्य के प्रारम्भ में इन्होंने स्वयं इस काव्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

> ललित मधुर सालङ्कार प्रसाद मनोहर
> विकट यमक श्लेषो द्गारबन्ध निरर्गलाः।
> असदृश गतिरिद्धिभावे भवास्त्रिगरवा गिरो,
> न खलु नृपते चेतो वाचस्पते रपि शङ्कते।

अर्थात्—इस काव्य की ललित मधुर, प्रसाद मनोहर विकट यमक तथा श्लेष से मण्डित, चित्र मार्ग में अप्रतिहत

वाणी को सुनकर बृहस्पति के चित्त में भी शङ्का उत्पन्न हो जाती है।'

इस काव्य में शंकर के द्वारा अन्धक असुर के वध की कथा का वर्णन किया गया है मगर अपनी महान मोहक और रंगीन कल्पनाओं के द्वारा प्रांजल भाषा में कवि ने जिस जगत् का निर्माण किया है, वह संस्कृत-साहित्य में अद्भुत है। सचमुच इस महान कवि ने काव्य के क्षेत्र में माघ के समान महाकवि को भी मात देती है। महाकवि रत्नाकर चिप्पट जयापीड़ और अवन्तिवर्मा के समकालीन थे। इनका समय सन् ८ से ८८४ तक था।

शिवस्वामी

शिव स्वामी भी कश्मीर के निवासी थे। स्वयं शैव मतावलम्बी होने पर भी इन्होंने "चन्द्रमित्र" नामक एक बौद्ध आचार्य की प्रेरणा से बौद्धसाहित्य के एक प्रसिद्ध अवदान को महाकाव्य के रूप में चित्रित किया। इस काव्य का नाम 'कप्फिणाभ्युदयम्' है। बौद्ध-साहित्य में दक्षिण देश के राजा 'कप्फिण' का आख्यान विशेष रूप से प्रसिद्ध है। इसी चरित्र को इन्होंने २० सर्गों में नाना प्रकार के छन्दों में चित्रित किया है। इस काव्य में उत्कृष्ट शृंगार, शान्त और वीर रस की धाराएँ बह गई हैं। शिवस्वामी वास्तव में एक महान् और प्रतिभाशाली कवि थे।

क्षेमेन्द्र

क्षेमेन्द्र का जन्म कश्मीर के एक धनाढ्य ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम प्रकाशेन्द्र था। ये आचार्य अभिनवगुप्त के शिष्य थे। ये कश्मीर के राजा अनन्तदेव और कलशराज के समकालीन थे। अर्थात् ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यकाल में हुए थे। इनकी रचनाओं में रामायण मञ्जरी, बृहत्कथा मंजरी, दशावतार चरित, बोधिसत्वावदान कल्पलता आदि रचनाएँ संस्कृत की उच्चकोटि की काव्य रचना के सुन्दर उदाहरण हैं।

बिल्हण

राजा कलशराज के समय (१ ६३-१ ८९) में ही कश्मीर में सुप्रसिद्ध कवि बिल्हण हुए। सम्भवतः कलश राज के अत्याचारों से दुःखित होकर ये दक्षिण की यात्रा पर चले गये और दक्षिण में चालुक्यवंशी राजा विक्रमादित्य के आश्रय में रहने लगे। वहाँ पर इन्होंने 'विक्रमांक देव चरित" नामक एक अत्यन्त सुन्दर काव्य ग्रन्थ विक्रमादित्य के जीवन पर लिखा जो संस्कृत का एक उत्कृष्ट काव्य ग्रन्थ माना जाता है। वहाँ से ये गुजरात गये उस समय गुजरात में 'कर्ण सोलंकी' राज्य करता था। उसके जीवन की एक घटना पर इन्होंने 'कर्ण-सुन्दरी' नामक एक सुन्दर नाटिका की संस्कृत में रचना की।

कल्हण

राजतरंगिणी' नामक सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्य ग्रन्थ के रचयिता 'कल्हण' राजा हर्षदेव के समकालीन थे। इनके पिता चम्पक राजा हर्षदेव के मन्त्री थे। सन् ११५ में इन्होंने राजतरंगिणी ग्रन्थ की रचना समाप्त की जो एक उत्कृष्ट कलाकृति के साथ ही एक प्रामाणिक इतिहास-ग्रन्थ माना जाता है। कल्हण का विशेष परिचय "कल्हण" नाम के अन्तर्गत इसी भाग में देखें।

मङ्खक

मंखक कवि भी बारहवीं शताब्दी में हुए। ये कश्मीर के राजा जयसिंह के सभापण्डित थे। इन्होंने 'श्रीकण्ठ चरित' नामक एक महाकाव्य की रचना भगवान् शंकर और त्रिपुर असुर के युद्ध की घटनाओं पर की। यह महाकाव्य पच्चीस सर्गों में समाप्त हुआ। इस महाकाव्य की कविता बहुत उच्च कोटि की है और उसका साहित्यिक मूल्य भी बहुत अधिक है। वास्तव में कश्मीरी कवियों की कविता का एक रंग ही अलग है जिसकी माधुरी सहृदयों को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

काव्य-क्षेत्र ही की तरह दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में भी कश्मीर में कुछ विभूतियाँ बड़ी प्रसिद्ध हुईं।

उद्भट

उद्भट कश्मीर के राजा जयापीड़ की सभा के विद्वान थे। ये आठवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में हुए थे।

उद्भट की सुप्रसिद्ध रचना 'काव्यालंकार सारसंग्रह" है। यह अलंकार शास्त्र का ग्रन्थ है। इसकी टीका मुकुल भट्ट के शिष्य प्रतिहारेन्दुराज ने सन् ९५ ई में की थी।

आनन्दवर्द्धन

आनन्दवर्द्धन का नाम संस्कृत साहित्य के इतिहास में सर्वाधारों में गिनने योग्य है। इन्होंने "ध्वन्यालोक" ग्रन्थ लिखकर इस शास्त्र के सिद्धान्त को सदा के लिये आलोकित कर दिया है। ध्वन्यालोक संस्कृत साहित्य में नवीन युग का उत्पादक ग्रन्थ है। अलंकार शास्त्र में इसका वही स्थान है जो वेदान्त में वेदान्त सूत्रों का है। इसके प्रत्येक शब्द में ग्रन्थकार की मौलिकता एवं सूक्ष्म विवेचनशक्ति का परिचय मिलता है। आनन्दवर्द्धन राजा अवन्तिवर्मा के समकालीन अर्थात् नौवीं सदी के मध्य में हुये थे।

अभिनव गुप्त

तन्त्रशास्त्र, दर्शनशास्त्र तथा साहित्य शास्त्र के अभिनव गुप्त एक प्रसिद्ध आचार्य थे। इनका समय ९९ ई० के करीब है।

आचार्य अभिनव गुप्त आचार्य आनन्दवर्द्धन की परम्परा में थे। इन्होंने आनन्दवर्द्धन के प्रसिद्ध ग्रन्थ ध्वन्यालोक पर अपनी सुप्रसिद्ध "लोचन" नामक टीका लिखी जिसमें उन्होंने इस ग्रन्थ के सिद्धान्तों को विस्तार रूप में समझाया है।

उनकी दूसरी कृति भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र पर 'अभिनव भारती' नामक टीका है जो भरत नाट्यशास्त्र पर एक मात्र उपलब्ध टीकाग्रन्थ है।

तंत्रशास्त्र पर उनका "तंत्रालोक" ग्रन्थ एक प्रकार से तन्त्रशास्त्र का विश्व-कोष ही है। इसमें तंत्रशास्त्र के सिद्धान्त और प्रक्रियाओं का विस्तार से विवेचन किया गया है। यह ग्रंथ सैंतीस अध्यायों में समाप्त हुआ है।

अभिनव गुप्त की दर्शनशास्त्र सम्बन्धी रचनाओं में "भगवद्गीतार्थ संग्रह" "परमार्थ सार" इत्यादि रचनाएँ बड़ी महत्वपूर्ण हैं।

कई विद्वानों का मत है कि महाभाष्य के रचयिता पातंजलि को व्याकरण के इतिहास में और वाचस्पति मिश्र को अद्वैत वेदान्त के इतिहास में जो गौरव प्राप्त है वही गौरव अभिनव गुप्त को तन्त्रशास्त्र और अलंकारशास्त्र के इतिहास में प्राप्त है।

कुन्तक और महिम भट्ट

ये दोनों आनन्दवर्द्धन के ध्वनिशास्त्र के विरोधी आचार्य थे। दोनों कश्मीर के निवासी थे और ग्यारहवीं सदी में हुए थे। कुन्तक ने "वक्रोक्ति जीवित" और महिम भट्ट ने "व्यक्ति विवेक" नामक रचनाएँ कीं।

इस प्रकार दिखाई देता है कि कश्मीर की साहित्य-सम्पदा का विकास ईसा की नौवीं सदी से बारहवीं सदी तक बहुत हुआ। खास कर राजा जयापीड़ और अवन्तिवर्मा का समय कश्मीर के साहित्यिक इतिहास का स्वर्ण युग कहा जा सकता है।

कस्तूरबा गान्धी

महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गान्धी की धर्मपत्नी।

कस्तूरबा गान्धी का जन्म काठियावाड़ के पोरबन्दर नगर में श्री गोकुलदास मकनजी के यहाँ हुआ था। १४ वर्ष की आयु में गान्धीजी के साथ उनका विवाह सम्पन्न हुआ।

महात्मा गान्धी अपने जीवन के प्रारम्भ से ही 'सादा जीवन और उच्च विचार' के अनुयायी रहे। उनके जीवन में भोग की अपेक्षा त्याग का ही अधिक महत्त्व रहा।

कस्तूरबा ने भी अपने पति के पद चिह्नों पर त्याग और सादगीपूर्ण जीवन को अपनाया और गान्धीजी के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर उनके सेवा-कार्य में सहयोग दिया।

दक्षिण-अफ्रीका के सत्याग्रह के सिलसिले में एक अवसर पर उन्होंने गान्धीजी से कहा था कि—"तुम मुझसे इस बात की चर्चा नहीं करते इसका मुझे दुःख है। मुझमें ऐसी क्या कमी है कि मैं जेल नहीं जा सकती। मेरे अपने जिस चीज को तुम सह सकें, आप सब सह सकें और मैं न सह सकूँ—ऐसा आप सोचते कैसे हैं। मुझे इस लड़ाई में शामिल होना ही पड़ेगा।"

वह मृत्यु-पर्यन्त गान्धीजी तथा राष्ट्र की सेवा में लगी रहीं। अनेक बार जेल जाकर भाँति-भाँति की कठोर यातनाएँ उन्होंने सहन कीं मगर उनका साहस तनिक भी कम न हुआ। वह अपने व्यक्तित्व को बिलकुल भूलकर सम्पूर्ण

रूप से वायुमय हो गई थी और बापू की सेवा में ही उन्होंने स्वयं को खपा दिया।

अन्त में २२ फरवरी सन् १९४४ ई० के दिन, जिस समय महात्मा गान्धी आगा खाँ महल में नजरबन्द थे—वहीं पर इस महान् नारी का देहान्त हो गया।

कत्सूरा

सन् १९ १ ई० में जापानी-मन्त्रि-मण्डल का प्रधान मन्त्री।

मई सन् १९ १ में मिस 'इतो' के मन्त्रिमण्डल द्वारा त्याग-पत्र दिये जानेपर 'कत्सूरा' नामक सेनापति के नेतृत्व में जापान का नया मन्त्रिमण्डल बना। कत्सूरा मारक्विस यामागाता का अनुयायी था। लोकतन्त्रीय शासन से उसे अधिक प्रेम नहीं था। उसे अपनी स्थल और जल सेना की सहायता का पूरा भरोसा था। इसलिए पार्लियामेंट के समर्थन की वह अधिक चिन्ता नहीं करता था। वह केवल एक योग्य सेनापति ही नहीं था, प्रत्युत एक कुशल राजनीतिज्ञ भी था।

सन् १९ २ ई० में कत्सूरा मन्त्रिमण्डल ने ब्रिटेन के साथ एक सन्धि की थी। उसमें कत्सूरा की राजनीतिज्ञता का अच्छा प्रमाण मिला।

कत्सूरा के शासन काल में ही सन् १९ ४ में इतिहास प्रसिद्ध 'रूस-जापान का युद्ध हुआ। रूस-जापान-युद्ध में शुरू से ही जापानी सेनाओं को जो असाधारण सफलता प्राप्त हो रही थी उसके कारण कत्सूरा-मन्त्रिमण्डल जापानी जनता में बहुत लोक-प्रिय हो गया था और इसीलिए वह कई वर्षों तक कायम रहा।

मगर रूस-जापान युद्ध की समाप्ति के पश्चात् 'पोर्ट्स-माउथ' में जो सन्धि हुई, उसकी शर्तें जापानी जनता को पसन्द नहीं आईं। खास करके रूस से हरजाना न लेकर कत्सूरा-मन्त्रिमण्डल ने एक ऐसा कार्य किया था जिससे जापानी जनता बहुत रुष्ट थी। इस प्रबल विरोध के कारण दिसम्बर १९ ५ में कत्सूरा-मंत्रीमंडल ने त्याग-पत्र दे दिया।

कमलापति सिंहानियाँ

भारतवर्ष के एक प्रसिद्ध उद्योगपति, भारत के सुप्रसिद्ध उद्योग-प्रतिष्ठान जे० के० इंडस्ट्रीज के संस्थापक।

सेठ कमलापति सिंहानियाँ मूलतः राजस्थान के निवासी थे मगर उत्तर प्रदेश के कानपुर में आकर इन्होंने अपना व्यवसाय प्रारम्भ किया और शुरू से ही औद्योगिक विकास की ओर ध्यान दिया। उस समय भारत वर्ष में औद्योगिक क्षेत्र की स्थिति अधिक मजबूत नहीं थी, फिर भी लाला कमलापति का उत्साह अडिग था।

सन् १९११ में इन्होंने 'जे० के० काटन स्पीनिंग ऐण्ड वीविंग मिल्स' की स्थापना की और इस प्रकार कपड़ा मिल के क्षेत्र में प्रवेश किया। इसके सिवाय इन्होंने सन् १९२१ ई० 'कमला आइस फैक्टरी' सन् १९११ में 'जे० के० जूट मिल्स' सन् १९१२ में 'एम० पी० शूगर मिल्स' सन् १९११ में 'काटन मैन्यू फैक्चरर्स' और सन् १९१४ में 'जे० के० आयर्न ऐण्ड स्टील कम्पनी लिमिटेड' की स्थापना की।

इन सभी औद्योगिक प्रतिष्ठानों में इनको काफी सफलता मिली। जिससे जे० के० औद्योगिक प्रतिष्ठान का विकास दिन पर दिन बढ़ता गया और आज तो यह प्रतिष्ठान समस्त भारत वर्ष के ५-७ विशाल औद्योगिक प्रतिष्ठानों में एक माना जाता है और भिन्न भिन्न प्रकार के अनेक उद्योगों में इसकी प्रगति जारी है।

कहानी-साहित्य

मानव-जाति की आदिम अवस्था से कहानी कहने की प्रथा और उन कहानियों से मनोरञ्जन करने का रिवाज चला आता है। घर की बड़ी-बूढ़ी दादियों के द्वारा छोटे बच्चों के मनोरञ्जन के लिए प्राचीनकाल से तरह तरह की कहानियाँ कहने की प्रथा बहुत प्राचीन काल से संसार के सभी देशों में चली आ रही है।

इन कहानियों में राजा और रानी की कहानियाँ देवी देवताओं की कहानियाँ और भूत प्रेतों की कहानियाँ प्रधान हुआ करती थीं मगर तब तक कहानी के साहित्यिक रूप का विकास नहीं हुआ था।

कहानी के साहित्यिक रूप का विकास संसार में हम सबसे पहले भारतीय साहित्य में होता हुआ देखते हैं जब कि ऋग्वेद की मन्त्र-संहिता में हमें अनेक रोचक कहानियों की रचना मिलती है।

साहित्यिक कहानियों का और अधिक विकास हमें महाभारत, श्री मद्भागवत रामायण तथा अन्य पुराण ग्रन्थों में जैन धर्म के कथा-साहित्य में और बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में देखने को मिलता है।

इसके पश्चात् भारतीय कथा-साहित्य में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करने वाले ग्रन्थ 'पंचतन्त्र' का नाम मिलता है। 'पंचतंत्र' विश्व-कथा-साहित्य को भारतीय कथा साहित्य के द्वारा दी हुई एक महत्वपूर्ण देन है।

पंचतन्त्र की कहानियाँ बहुत प्राचीन हैं। ६ ठी शताब्दी में लिखे हुए ग्रन्थ 'बृहत् कथा' तथा 'तंत्र आख्यायिका' के रूप में उसका मौलिक रूप आज भी हमारे सामने विद्यमान है।

पंचतंत्र की इन कहानियों का अनुवाद ईसा की ६ ठी सदी में पहलवी भाषा में और ईसा की ८ वीं सदी के मध्य में अरबी-भाषा में प्रस्तुत किया गया। अरबी भाषा के इस अनुवाद से लैटिन, ग्रीक जर्मन फ्रेंच, स्पेनिश तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं में १६ वीं शताब्दी तक अनुवाद होते रहे।

पंचतंत्र के बिना नारायण पंडित के द्वारा लिखे हुए 'हितोपदेश' तथा कश्मीर के कवि सोमदेव-कृत 'कथा—सरित्सागर' शिवदास नामक लेखक की 'वैताल पच्चीसी' तथा 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' इत्यादि ग्रन्थ संस्कृत के कथा-साहित्य में विशेष उल्लेखनीय हैं।

जैन-साहित्य के भगवती-सूत्र आदि के अन्तर्गत भी कथाओं का विकास बड़ी सुन्दरता के साथ हुआ है। इसके अतिरिक्त हेम चन्द्राचार्य के द्वारा लिखे हुए 'त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित' और दिगम्बर साहित्य के 'आराधना कथा-कोष' 'हरिवंश पुराण' 'पद्म पुराण' इत्यादि ग्रन्थ अत्यन्त सुन्दर-सुन्दर कथाओं से भरे पड़े हैं।

ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में आचार्य भद्रबाहु के द्वारा रचित 'कल्पसूत्र' नामक ग्रन्थ में भगवान् महावीर के २७ पूर्वभवों की कहानियाँ बड़ी ही रोचक शैली में लिखी हुई मिलती हैं।

बौद्ध धर्म की जातक कथाओं में ५५० कथाओं का संग्रह है। इन में विपुल ऐतिहासिक भौगोलिक और सामाजिक घटनाओं का बड़ा रोचक वर्णन हमें मिलता है।

'दिव्यावदान' तथा 'अवदान-शतक' में भगवान बुद्ध के पूर्व जन्म से सम्बन्धित कहानियाँ मिलती हैं।

इस प्रकार संस्कृत का कथा-साहित्य अपार, विपुल तथा विशाल है जिसका प्रभाव भारत के बाहर अन्यराष्ट्रीय देशों पर भी बहुत गहरा पड़ा है।

विदेशी कहानी साहित्य

विदेशी कहानी-साहित्य के अन्तर्गत सबसे पहले हमें यूनान का संसार-प्रसिद्ध कहानीकार 'ईसाप' दिखाई पड़ता है। इसका समय ईसा पूर्व छठी शताब्दी में माना जाता है इसकी कहानियाँ सारे संसार में प्रत्येक देश प्रत्येक काल और प्रत्येक वर्ग में बड़े चाव से पढ़ी जाती हैं।

ईसाप की कहानियाँ छोटी-छोटी, मगर अत्यन्त बुद्धि मानी पूर्ण और सारगर्भित होती हैं। सारे संसार की भाषाओं में उनके अनुवाद हो चुके हैं। इन कहानियों के दो संग्रह पेरिस और जर्मनी से मूल ग्रीक भाषा में प्रकाशित हुए हैं। इनमें पेरिस से प्रकाशित 'फर्मिडी डाग्मी' संस्करण में १५८ कहानियों का और 'ट्यूबनर' की ग्रीक-ग्रन्थमाला से प्रकाशित संस्करण में ४२६ कहानियों का संग्रह है।

इन कहानियों के अतिरिक्त भारतीय पुराणों की तरह यूनानी पुराणों की कथाएँ, मिस्र की लोक-कथाएँ, यहूदियों के धर्म-ग्रन्थ की कथाएँ इत्यादि भी संसार के कहानी-साहित्य का महत्वपूर्ण अंग हैं।

बेबीलोनियन संस्कृति के ह्रास ही में प्राप्त 'गिल्गमेश' नामक काव्य में 'प्रलय की कहानी' बड़े ही सुन्दर रूप में पढ़ने को मिलती है।

इसके बाद कहानी साहित्य का मँजा हुआ साहित्यिक रूप हमें अरबी साहित्य में लिखित अलिफ-लैला की कहानियों में देखने को मिलता है। इस ग्रन्थ में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पंचतन्त्र की तरह इसमें भी एक कहानी में से दूसरी कहानी निकलती है। इन कहानियों में कई स्थानों पर 'रोमांस' 'कामुकता' और स्त्री पुरुषों की रंगरेलियों का वर्णन ऐसे ढंग से किया गया है जिसको आजकल की भाषा में अश्लील भी कहा जा सकता है।

ये कहानियाँ 'शहरयार' नामक शाहजादे की 'शहजाद' नामक वजीरजादी सुनाती है। शहरयार का नियम था कि प्रतिदिन एक अनुपम सुन्दरी को अपने महल में बुलाता और रात भर उसके साथ रहकर सुबह उसको मरवा डालता। वजीरजादी ने यह कहानियाँ इस ढंग से कहना शुरू की कि सवेरे जब उसको मारने का समय आता तब यह कहानी अधूरी रह जाती और कहानी इतनी रोचक होती थी कि शहरयार की उत्कण्ठा वजीरजादी की जान को एक दिन और माफ करने को मजबूर कर देती।

इस प्रकार एक हजार कहानियाँ एक दूसरी में से निकलती हुई कहकर वजीरजादी ने एक हजार दिन निकाल दिये। इसी बीच उसको शहरयार से तीन पुत्र भी हो जाते हैं और शहरयार का यह जल्लादी कानून भी समाप्त हो जाता है।

अलीफलैला की कहानियों के संसार की अनेक भाषाओं में पूरे और संक्षिप्त अनुवाद भी हुए हैं और संसार का नवयुवक समाज इनको बड़े चाव से पढ़ता है।

आधुनिक कहानियाँ

आधुनिक ढंग के कहानी-साहित्य का जन्म उपन्यासों के जन्म के साथ होता हुआ देखा जाता है।

१८ वीं शताब्दी में उपन्यासों के साथ साथ उपन्यासकारों ने छोटे रूप में लघु उपन्यासों या कहानियों की रचना की। वास्तव में देखा जाय तो कहानी उपन्यास का ही एक छोटा रूप होता है। इनकी कथा वस्तु, चरित्र चित्रण और भाषा का विकास उपन्यासों की तरह मगर छोटे क्षेत्र में होता है। उपन्यासों की तरह कहानियों में लम्बे चौड़े विवाद और चरित्रों के विकास को स्थान नहीं होता। इसमें थोड़े शब्दों के अन्तर्गत लेखक को अपने मन का भाव प्रकट करना पड़ता है। इसीलिए आगे जाकर १६ सदी में कहानी साहित्य ने अपना एक स्वतन्त्र रूप महण कर लिया। जो उपन्यास साहित्य से किसी कदर स्वतन्त्र समझा जाता है।

इस आधुनिक कहानी साहित्य में सबसे पहले पश्चिम में अमेरिका के प्रसिद्ध लेखक एडगर-एलेन-पो का नाम आता है। एडगर एलेन पो ने आधुनिक कहानी के मूल सिद्धान्त और उसके प्रभाव की एकता का केन्द्रीयता स्थापित की। इसका समय सन् १८०६ से सन् १८४६ था। इसी समय रूस के अन्दर निकोलाई-गोगोल नामक लेखक ने अपनी कहानियों में यथार्थवादी जीवन का चित्र प्रस्तुत किया।

इसके पश्चात् कहानी-साहित्य के क्षेत्र में फ्रांस के महान लेखक 'मोपांसा' और रूस के महान लेखक 'चेखव' ने एक नवीन युग का प्रवर्तन किया। इन दोनों ही लेखकों ने किसानों और निम्न वर्ग के लोगोंके निराशा और विषाद से परिपूर्ण जीवन का चित्रण किया। मोपांसा के चरित्र अतिरंजित कृत्रिम भावुकता से मुक्त और मानवीय वास नाओं के चित्रण करने वाले हैं और चेखव के चरित्र भौतिक प्रभाव, स्वप्नभंग और नियति के शिकार हैं।

मोपांसा के अन्तर्गत वर्णन की सरलता और स्वाभाविकता है और चेखव की विशेषता उसकी महसन युक्त शैली और प्रवाह-युक्त भाषा है। इस प्रकार से दोनों महान लेखक विश्व के आधुनिक कहानी-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

इंगलैंड में स्टीवेंसन और किपलिंग ने इंगलैंड के अन्तर्गत कहानी-साहित्य का नेतृत्व किया। ये दोनों कहानीकार एडगर-एलेन-पो और मोपांसा से प्रभावित थे।

चीन और जापान में भी कहानी साहित्य का अच्छा विकास हुआ और लू सुन नामक कहानीकार ने चीन के कहानी साहित्य का और आकुटा-गोवा नामक कहानीकार ने जापान के कहानी-साहित्य का नेतृत्व किया।

भारतीय भाषाओं के अन्तर्गत भी यहाँ के कहानी-लेखकों ने कहानी साहित्य के अन्तर्गत एक सुन्दर इतिहास का निर्माण किया। यद्यपि इन भारतीय लेखकों ने वास्तविक प्रेरणा पश्चिम से प्राप्त की पर यहाँ के सामाजिक जीवन और संस्कृति का चित्रण करने में उन्होंने अत्यन्त मौलिक सूझ-बूझ का परिचय दिया।

बंगला कहानी

सबसे पहले सामाजिक जीवन को चित्रण करने वाली—पारदर्शी कहानियों का उदय हम बंगला-साहित्य में होता हुआ देखते हैं। बंगला-साहित्य में कहानियों का आरंभ निरचय ही रवीन्द्रनाथ टैगोर से समझना चाहिए। सन् १८८१ ई० में इन्होंने कहानियाँ लिखना प्रारम्भ किया।

उनकी कहानियाँ स्त्री पुरुषों के जीवन की सामान्य घटनाओं पर आधारित की गई है। इनमें विषय वैविध्य ही नहीं, बल्कि शैलीगत वैविध्य भी है। छोटी कहानियाँ रवीन्द्रनाथ ठाकुर के लिए सामान्य जगत् के भावों के गहरे धरातल के रहस्य को समझने के प्रयोग हैं।

रवीन्द्र बाबू के पश्चात् छोटी कहानियों के क्षेत्र में प्रभातकुमार मुकुरजी को बहुत ख्याति मिली। रवीन्द्रबाबू ने इनको कवि बनने से रोका और कहानी लिखने की प्रेरणा दी।

सन् १९ से सन् १९३१ ई० तक मुकुर्जी की कहानियों के १२ संग्रह प्रकाशित हुए। समाज के सामान्य जीवन के जिस यथार्थ चित्रण की ओर रवीन्द्र बाबू ने नवीन लेखकों को प्रेरणा दी थी वही यथार्थ प्रभाव मुकुरजी की कहानियों में प्रदर्शित हुआ। किन्तु प्रभात बाबू ने जिस यथार्थ का चित्रण किया था वह केवल कड़ुवा और कड़ा नहीं था वह जिन्दगी के प्रेम से परिपूर्ण था।

इसके बाद बंगाली-कहानी साहित्य को शरतचन्द्र चटर्जी ने एक नया मोड़ दिया। इन्होंने अपनी कहानियों में बंगाल के सामाजिक जीवन का मर्मस्पर्शी चित्र प्रस्तुत किया। उन्होंने कथा वैचित्र्य और घटना चक्र के विकास को कम महत्व देकर चरित्र चित्रण और उसकी प्रतिक्रियों को बहुत अधिक महत्व दिया। प्रधान रूप से शरत् बाबू उपन्यासकार थे मगर कहानियों के क्षेत्र में भी इन्होंने अच्छी ख्याति अर्जन की।

सन् १९२१ ई० से बँगला-कहानी साहित्य में भी दूसरे साहित्य क्षेत्रों की तरह प्रगतिवादी परंपरा का प्रारम्भ हुआ। इसी वर्ष चार लेखकों के द्वारा लिखी हुई चार गल्पों का संग्रह 'प्रवेर दाबा' के नाम से प्रकाशित हुआ। यह पुस्तक तो छोटी थी, मगर इसमें कहानी क्षेत्र में आनेवाले नवीन भविष्य की गहरी छाया विद्यमान थी। प्रगतिवादी क्षेत्र में श्री शैलजानन्द मुकुरजी ने विशेष ख्याति उपार्जित की।

इसी प्रकार जगदीशचन्द्र गुप्त, विभूतिभूषण बनर्जी मनोजकुमार सान्याल परशुराम प्रेमेन्द्र मित्र इत्यादि लेखकों ने भी बँगला के कहानी साहित्य को समृद्ध किया।

हिन्दी-कहानी-साहित्य

हिन्दी के कहानी-साहित्य का प्रारम्भ १६ वीं शताब्दी से होता है जब कि भक्त-कवि गोकुलनाथ के द्वारा 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' की रचना हुई।

उसके पश्चात् १८ वीं सदी में इंशा-अल्ला खाँ के द्वारा रानी केतकी की कहानी लिखी गई।

इसके पश्चात् भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र के द्वारा एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न और राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' के द्वारा लिखा हुआ 'राजा भोज का सपना'—ये दोनों रचनाएँ कहानियों की कोटि में रखी जा सकती हैं, मगर वास्तविक कहानी-कला के आदर्श इनमें दिखलाई नहीं देते।

आधुनिक कहानी-कला का प्रारम्भ हिन्दी साहित्य में सन् १९ से आरम्भ होता है, जब कि 'सरस्वती' मासिक पत्रिका में कहानियों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। हिन्दी की सबसे पहली कहानी पं० किशोरीलाल गोस्वामी के द्वारा लिखी हुई 'इन्दुमती' के नाम से प्रकाशित हुई। इसके साथ ही अन्य भाषाओं से अनुवाद की हुई कहानियाँ भी प्रकाशित होती रहीं।

सन् १९ ० में वृन्दावनलाल वर्मा की 'राखीबन्द भाई' और मैथिलीशरण गुप्त की 'नकली किला' नामक कहानियाँ प्रकाशित हुईं।

इसी समय में बंग महिला की 'दुलाईवाली' कहानी सन् १९ ७ ई० की सरस्वती में प्रकाशित हुई। बहुत से लोग इसी को हिन्दी की पहली कहानी मानते हैं।

इसके पश्चात् हिन्दी-कहानी-साहित्य में जयशंकर प्रसाद गंगाप्रसाद श्रीवास्तव और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—ये तीन लेखक प्रकट होते हैं और हिन्दी में विशुद्ध मौलिक कहानियों का प्रारम्भ होता है।

प्रेमचन्द युग

लेकिन हिन्दी कहानी साहित्य को नया जीवन और नई अनुभूति प्रदान करने का श्रेय 'प्रेमचन्द' को है। हिन्दी-कहानी-साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचन्द को एक युग-

निर्माता कहा जा सकता है। उनकी पहली कहानी 'पंच परमेश्वर' सन् १९१६ ई० में प्रकाशित हुई।

उसके पश्चात तो उनके सप्त-सरोज प्रेम द्वादशी, प्रेम-पचीसी इत्यादि कई कहानी-संग्रह और फुटकर कहानियाँ प्रकाशित हुईं। हिन्दी-संसार में इनकी कहानियाँ जितनी लोक-प्रिय हुईं उतनी किसी लेखक की नहीं हुईं। उनकी समस्त कहानियों का समूह 'मान-सरोवर' के नाम से ६ खंडों में प्रकाशित हो चुका है।

प्रेमचन्द्र की प्रणाली में लिखनेवाले लेखकों में बाबू बद्रीनाथ 'सुदर्शन' का नाम भी उल्लेखनीय है। 'सुदर्शन-सुधा' तीर्थ-यात्रा' नामक इनके कई कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' का नाम भी हिन्दी-कहानी-साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण माना जाता है। उन्होंने करीब ३ सौ कहानियाँ लिखी हैं जो फुटकर और कई संग्रहों में प्रकाशित हो चुकी हैं।

हिन्दी-कहानी-साहित्य में आचार्य चतुरसेन शास्त्री भी एक प्रकाश-स्तम्भ की तरह हैं। इनकी कहानियों का विकास बड़े ही सुन्दर ढंग से होता है। उनकी महत्ता इसी बात में है कि वे छोटी छोटी सामाजिक तथा ऐतिहासिक घटना को आकर्षक तथा मनोरञ्जक बना देते हैं। उनके पात्रों के चरित्र-चित्रण में सजीवता और स्वाभाविकता होती है। और उनकी भाषा व्यावहारिक और अकृत्रिम रहती है।

इसी युग में राय कृष्णदास विनोद शंकर व्यास शिव पूजन सहाय तथा राजा राधिकारमणसिंह का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है।

इसके बाद हिन्दी कहानी-कला में एक नवीन मोड़ आता है और इस मोड़ पर हम सबसे पहले जैनेन्द्र कुमार को देखते हैं। जैनेन्द्रकुमार ने अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में मानव जीवन के साधारण पहलू को छोड़कर दार्शनिक ढंग से चरित्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना प्रारम्भ किया। हिन्दी-कहानी-साहित्य में यह नवीन वस्तु थी। चरित्र प्रधान कहानियाँ लिखने में तथा असाधारण परिस्थितियों में पात्रों का सूक्ष्म मनो-वैज्ञानिक विश्लेषण करने में वे एक अद्भुत और अद्वितीय लेखक हैं।

ऐतिहासिक कहानियों के लिखने में भी वृन्दावन लाल वर्मा का नाम उनके उपन्यासों की तरह ही प्रसिद्ध है।

कहानी-कला का तीसरा युग सन् १९३१ ई० से प्रारंभ होता है। इस युग के कहानी लेखकों में भी भगवती प्रसाद वाजपेयी का स्थान महत्वपूर्ण है। इनकी कहानियों के पात्रों में सजीवता और स्वाभाविकता अधिक रहती है। वे जिस वस्तु का वर्णन करते हैं उसकी जीती जागती तस्वीर हमारे सामने उपस्थित हो जाती है।

इसी युग में कहानी कला के क्षेत्र में भगवती चरण वर्मा ने भी अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। हास्य और व्यंग्य का पुट देकर मानव-जीवन के चिरन्तन सत्यों का उद्घाटन, जितना इनकी कहानियों में हुआ है उतना अन्यत्र देखने को नहीं मिलता।

इसी युग के कहानी-कारों में भी चन्द्रगुप्त विद्यालंकार सच्चिदानन्द हीरानन्द 'अज्ञेय, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', कमला कान्त वर्मा इलाचन्द्र जोशी, देवेन्द्र सत्यार्थी, राजेन्द्र यादव इत्यादि लेखकों के नाम भी उल्लेखनीय है ये सब हिन्दी कहानी साहित्य के महारथी हैं।

महिला कहानीकारों में श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान उषादेवी मित्र सत्यवती मल्लिक, कमलादेवी चौधरी, अमृता प्रीतम सरस्वती मल्लिक मन्नू भंडारी, कमला त्रिवेणी शंकर चन्द्रकिरण सोनरिक्सा के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लेखिकाओं ने अपनी रचनाओं से हिन्दी के कहानी साहित्य को समृद्ध बनाया है।

संसार की बदली हुई हवा का प्रभाव हिन्दी कहानी साहित्य पर भी पड़ा और यहाँ भी प्रगतिवाद की परम्परा का प्रारम्भ हुआ। कहानी का क्षेत्र राजमहलों और मध्य-वर्ग से हटकर गरीब और शोषित मानव समाज का चित्रण करने में संलग्न हो गया। हिन्दी कहानी साहित्य में इस क्षेत्र में लिखने वाले कई कहानी लेखक हैं और पत्र पत्रिकाओं में विशेष कहानियाँ इसी तरह की प्रकाशित होती हैं। फिर भी अभी तक इस क्षेत्र में प्रेमचन्द या जैनेन्द्र की तरह कोई युग निर्माता कलाकार हुआ हो ऐसा दिखाई नहीं पड़ता।

—

काउनिट्ज-रीटबर्ग

अठारहवीं शताब्दी में आस्ट्रिया का चान्सलर और वहाँ का प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ। इसका जन्म सन् १७११ में और मृत्यु सन् १७९४ में हुई।

काउनिट्ज रटबर्ग आस्ट्रिया की साम्राज्ञी मेरियाथेरिसा का समकालीन और उसका मन्त्री था। आस्ट्रिया के राजकुल के अधिकारों की रक्षा करना ही उसके जीवन का ध्येय था। कुछ समय तक वह बेलजियम का गवर्नर भी रहा था। आया-ला-शापेल की शान्ति सभा में इसने जिस बुद्धिमानी से आस्ट्रिया के अधिकारों का प्रतिपादन किया उससे वह सारे यूरोप में प्रसिद्ध हो गया और साम्राज्ञी ने इसे अपना निजी सलाहकार बना लिया। सन् १७९४ में इसकी मृत्यु हो गई।

काओत्सु

चीन के प्रसिद्ध 'थांग राजवंश' का पहला सम्राट जिसका शासन-काल सन् ६१८ ई. में प्रारम्भ हुआ।

चीन के अन्तर्गत 'हान-वंश' के शक्तिशाली राजाओं का शासन ईसा की तीसरी शताब्दी में समाप्त हो गया था।

इसके बाद कोई दृढ़ केन्द्रीय शासन न होने कारण चीन की राजनैतिक एकता भंग हो गई और सन् २२ ई. के करीब चीन तीन भागों में विभक्त हो गया। यह स्थिति ईस्वी सन् की ७ वीं सदी तक रही।

इसी समय सन् ६१८ ई. में सम्राट 'काओत्सु' ने थांग-वंश की स्थापना कर चीन को फिर से एकताबद्ध किया।

सम्राट काओत्सु बड़ा वीर और महत्वाकांक्षी शासक था। उसने सारे चीन को जीत कर फिर एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। दक्षिण-पूर्वी एशिया में 'अनाम' और कम्बोडिया' को भी उसने विजय कर लिया। इस प्रकार उसके साम्राज्य की पश्चिमी सीमा 'कैस्पियन-सागर' तक विस्तृत हो गई थी।

काओत्सु के शासन-काल में चीन की सर्वांगीण उन्नति हुई।

काकातीय राजवंश

मध्यकाल में दक्षिणी भारत का एक उल्लेखनीय राजवंश जिसने सन् ११११ से सन् ११   तक राज्य किया।

काकातीय लोग अपने को सूर्यवंशी कहते थे। इनका राज्य आन्ध्र में पूर्वी घाट के ऊपर था जिसकी राजधानी "अनम कोंडा" थी जो आगे चलकर "वारंगल" के नाम से प्रसिद्ध हुई। प्रारम्भ में यह राजवंश पश्चिमी चालुक्यों का मांडलिक था।

सन् १११७ में इस वंश में 'प्रोल" नामक व्यक्ति हुआ जिसने अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। इस राजा ने सन् ११६ तक राज्य किया। इसका एक शिलालेख भी उपलब्ध हुआ है।

प्रोल के बाद उसका पुत्र 'रुद्र" इस वंश का प्रतापी राजा हुआ। इसने कई शहरों पर आक्रमण कर उन्हें ध्वस्त किया और वहाँ के लोगों को वारंगल में बसाया। इसकी सत्ता इतनी मजबूत हो गई थी कि कांची से लेकर विन्ध्याचल तक के सब राजा इससे डरते थे। इस राजा ने कई देवालयों का निर्माण करवाया और कई विद्वानों और कवियों को आश्रय दिया।

रुद्र का छोटा भाई महादेव ११९१ में गद्दी पर बैठा। यह सम्भवतः सन् ११९८ में यादव लोगों के युद्ध में मारा गया।

महादेव का पुत्र गणपति देव हुआ। इसने सन् ११९८ से १२६ तक पूरे बासठ वर्ष राज्य किया। यह भी बड़ा प्रतापी था। इसने चोल कलिंग, सेउर, कर्नाट लाट इत्यादि कई राजाओं से युद्ध किये। इसके समय के कई शिलालेख उपलब्ध हुए हैं जिनमें सबसे अन्तिम सन् १२६ का है।

इस राजा के समय तक इस राज्य में जैन धर्म का अच्छा प्रभाव था। मगर इस राजा के समय में "तेलगु महाभारत" का रचयिता "तिक्कन सोमयाजी" नामक विद्वान हुआ। इसने शास्त्रार्थ में जैन विद्वानों को पराजित कर दिया। उसी समय से इस राज्य में जैनियों का पतन प्रारम्भ

हुआ। राजा गणपतिदेव शैव धर्म का अनुगामी हो गया और उसने जैनियों पर अत्याचार भी किये।

राजा गणपतिदेव के कोई लड़का नहीं था। इसलिए उसकी लड़की "रुद्रम्मा" ने उसके बाद तीस वर्ष तक राज्य किया। यह इस वंश की अन्तिम शक्तिशाली और महान रानी थी। इसके बाद इस वंश की गद्दी पर प्रतापरुद्र नामक राजा बैठा। यह विद्या-प्रेमी और विद्वानों का सरक्षक था। विद्यानाथ ने अलंकार शास्त्र पर जो प्रसिद्ध ग्रन्थ बनाया वह इसी राजा को समर्पित किया है। इसीलिए उस ग्रन्थ को प्रताप रुद्रीय भी कहते हैं।

सन् १३२१ में मुहम्मद तुगलक ने इस राजवंश को परास्त कर इसका अन्त कर दिया।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि मध्य प्रदेश का बस्तर राजवंश इसी 'काकातिय राजवंश' का वंशज है।

काकातोमी

जापान के इतिहास में "फूजीवारा वंश की नींव डालने वाला इतिहास-प्रसिद्ध पुरुष जो आठवीं सदी के प्रारम्भ में हुआ।

काकातोमी ने सोगा-वंश की सत्ता को खतम करके फूजीवारा वंश की नींव डाली और जापान के सम्राट् को कठपुतली बनाकर सारी सत्ता अपने हाथ में ले ली। इस व्यक्ति ने जापान के इतिहास में बड़ा नाम कमाया। इसने जापानी सरकार के सगठन में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन किये। इसी के समय में जापान की राजधानी सन् ७९४ में क्योटो में स्थापित की गई जो बाद में ग्यारह सौ वर्षों तक बदस्तूर चलती रही।

अन्त में जापान के दाईम्यों लोगों के विद्रोह के द्वारा इस वंश की सत्ता का सन् ११५६ में अन्त हो गया।

काकुस्थ वर्मन

दक्षिणी भारत में कदम्ब-राजवंश का एक राजा जिसका समय ई० सन् ४ के लगभग माना जाता है।

काकुस्थवर्मन कदम्ब-नरेश मयूरशर्मन के पौत्र भागीरथ का पुत्र था। यह एक प्रतापी नरेश राजनीतिज्ञ और दीर्घजीवी था। गंग, गुप्त और वकाटक राजाओं के साथ इसने कदम्ब-राजकुमारियों का सम्बन्ध करके सबसे मैत्री-सम्बन्ध स्थापित कर लिये। यह राजा सम्भवतः गुप्तसम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन था। इसके लेख से प्रकट होता है कि इसके राज्य में जैनधर्म का बहुत प्रभाव था और यह स्वयं जैन मन्दिरों और विद्वानों को सरक्षण देता था। ऐसा समझा जाता है कि यह राजा अस्सी वर्ष की अवस्था में मृत्यु को प्राप्त हुआ।

काकेशस

सोवियट संघ का एक विशाल प्रायद्वीप जो काला सागर और कैस्पियन सागर के मध्य में स्थित है। 'काकेशस' पर्वत की उत्तरी और दक्षिणी पर्वत श्रेणियों के बीच की समतल भूमि पर यह प्रदेश बना हुआ है। इसका क्षेत्रफल ८ वर्गमील के करीब और जन संख्या एक करोड़, दस लाख है।

काकेशस-प्रदेश रूस के तेल उद्योग का मुख्य केन्द्र है। रूस में पैदा होने वाले सम्पूर्ण तेल का पचास प्रतिशत इस प्रदेश में पैदा होता है। तेल के संसारप्रसिद्ध बाकू, मैकाप और ग्रेजनी के कूप—इसी प्रदेश में स्थित हैं। संसार की सर्वश्रेष्ठ मैंगनीज की खदान भी इसी प्रदेश में गोर्जिया नामक क्षेत्र में स्थित है।

दीर्घजीवी मनुष्य

इस प्रदेश की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस प्रदेश के लोग बहुत दीर्घजीवी होते हैं। विश्व के कुछ प्रमुख वय विशेषज्ञ डाक्टरों ने कुछ समय पूर्व काकेशस का दौरा किया था। उन्होंने इस प्रदेश में देखा कि यहाँ अस्सी-अस्सी नब्बे-नब्बे साल के व्यक्ति जवानों की तरह कुल्हाड़े मारते दिखाई पड़ते हैं। कोई भी परिवार ऐसा नहीं है जिसमें सौ सवा सौ साल का कोई व्यक्ति न हो।

सोवियट डाक्टरों के एक दल ने स्टॉलिन की जन्म भूमि जार्जिया के सर्वेक्षण से पता लगाया कि इस छोटे से क्षेत्र में सौ या इससे अधिक उम्र के २१ व्यक्ति मौजूद थे। ये लोग इस अवस्था में भी इतने सशक्त और स्फूर्तिशील होते हैं जितने कि दूसरे देशों में चालीस वर्ष के व्यक्ति होते हैं।

महमूद ईवानोव नामक व्यक्ति की मृत्यु पूरे १६८ वर्ष की उम्र में सन् १९५९ में हुई। यह अजरबैजान का एक किसान था अन्तिम समय तक वह अपने बाग के काम करता रहता था उसके २१ बेटे बेटियाँ थीं। आखिरी सन्तान सौ वर्ष की उम्र में हुई थी। मृत्यु के समय उसकी सबसे बड़ी लड़की की उम्र १२० वर्ष की थी। उसके निजी परिवार में १८५ पोते पोती थे।

दक्षिणी पश्चिमी काकेशस के काले सागर वाले छोर के अबखाजिया प्रदेश में "मामसीर मूट" नामक एक पर्वतारोही सन् १९५९ में १४८ साल का था। उसी के गाँव का 'खापर मूट' नामक व्यक्ति जब मरा तो उसकी आयु १५५ साल की थी। उसके जनाजे में एक बीना मस्ताऊ नामक उसका एक दोस्त शामिल हुआ था। उसकी उम्र १५० वर्ष की थी।

वार्जिया से कुछ ही दूर बसे हुए ओसेटिया नगर में "जैनसे पलीयेवे" नामक एक महिला १५० वर्ष की उम्र में मरी। शिराली मुस्लीमोव नामक व्यक्ति जो १५८ वर्ष का है। इस उम्र में भी रोज प्रातः काल घोड़े पर चढ़कर घूमने जाता है। शराब और तम्बाकू को इसने जीवन भर छुआ भी नहीं।

द्वितीय विश्व-युद्ध के पहले डा० इवान बोस्लिटबिंग नामक एक रूस विज्ञानी ने इस प्रान्त का दौरा किया था। उनकी धारणा है कि यहाँ के लोगों की लम्बी उम्र के कारण यहाँ की स्वास्थ्यप्रद पर्वतीय जल-वायु है। दूसरे नम्बर खान-पान परिश्रम सौम्यता इत्यादि भी है।

काकेशस के वृद्ध लोगों की तन्दुरुस्ती का यह हाल है कि जिन ८२ व्यक्तियों से इस बारे में पूछ ताछ की गई उनमें से केवल १२ व्यक्ति ऐसे थे जिन्हें कुछ दवादारू की आवश्यकता थी। शेष सब लोग स्वस्थ थे। उनके हृदय और गुर्दे बराबर काम कर रहे थे। और बिना किसी परेशानी के चालू थे। सुनने की ताकत कुछ कम हो गई थी मगर वो भी ध्यान से सुना करते थे।

जहाँ तक सेक्स का सम्बन्ध है इनमें से अधिकांश लोग काफी समय पूर्व यौन-व्यापार से अलग हो चुके थे। मगर कुछ लोग ऐसे भी थे जिनकी यौन-शक्ति ९० और १०० वर्ष की उम्र में भी बरकरार थी।

कागज

मनुष्य की वाणी और विचारों को लिपिबद्ध करने का एक सर्व प्रमुख साधन। जो किताबें पुस्तकें और अखबार छापने तथा महत्वपूर्ण दस्तावेज लिखने के काम में आता है।

कागज के आविष्कार के पूर्व

अभी तक के अनुसन्धानों से जो पता लगा है उससे कागज बनाने की कला का ज्ञान मनुष्य को हुए दो हजार वर्ष से अधिक नहीं हुए। मगर लिखने की कला उससे पहले भी मानव जाति के अन्दर प्रचलित थी। उस समय भिन्न भिन्न देशों के मनुष्य लिखने के लिए भिन्न भिन्न वस्तुओं का व्यवहार करते थे।

प्राचीन मिस्र में शुरू शुरू में राजा महाराजा लोग अपने लेखों को पत्थर पर खुदवाया करते थे। मिस्र के पिरामिडों पर खोदी हुई प्राचीन लिपियाँ इस बात का उदाहरण है।

बेबीलोनियन और असीरियन संस्कृति के समय में राजा लोग बड़ी बड़ी ईंटों पर कीलनुमा अक्षरों में अपने लेख और पुस्तकों को खुदवा कर सुरक्षित रखते थे। इन लोगों की यह लिपि "क्यूनीफार्म" लिपि के नाम से प्रसिद्ध है। निनेवे नगर की खुदाई में असुर बनिपाल के समय का एक राजमहल प्राप्त हुआ है जिसमें इस प्रकार की हजारों ईंटों का संग्रह है। इन ईंटों पर "गिलगामेष" इत्यादि कई बड़े काव्य लिखे हुए प्राप्त हुए हैं।

प्राचीन रोम में सीसे और पीतल की पतली-पतली चादरों पर लेखों और पुस्तकों को खोद-खोदकर सुरक्षित रखा जाता था। रोमनगर में सीसे पर खुदी हुई ऐसी पुस्तक मिली जो जिसका आकार चार इन्च लम्बा और तीन इन्च चौड़ा है। प्राचीन रोम के सैनिक अपनी तलवार को पीतल की म्यान पर अपना पता आदि खोदकर रखते थे। कानून की कई धारायें भी इन पीतल की चादरों पर खोदकर रक्खी जाती थीं।

प्राचीन यूनान में लकड़ी के तख्तों पर कानून की पुस्तकें खोदकर रक्खी जाती थीं। सोलन के कानून लकड़ी के तख्तों पर खुदे हुए हैं। इस कानून पुस्तक का नाम "आक्सीनस" (Axones) है। जिस लिपि में यह चीजें

विधाती और सन् १८०१ में इस प्रणाली को इङ्गलैंड में प्रचारित किया। इसके बाद कई लोगों ने इस प्रणाली से भी उत्तम जाति के कागजों को बनाना प्रारम्भ किया।

सन् १६६६ में इङ्गलैंड में फुलस्केप कागज बनना प्रारंभ हुआ। सम्राट् चार्ल्स प्रथम ने अपना खजाना खाली होते देखकर कुछ व्यवसायियों को इस फुलस्केप कागज का कण्ट्रैक्ट दे दिया था। उस समय इस कागज में शाही अक्षरों में राजचिन्ह छापा जाता था। मगर क्रामवेल के समय में यह राजचिन्ह मिटा कर उसकी जगह मूर्ख की टोपी (Foolscap) और उसके साथ घंटे का चिन्ह छापा जाने लगा। तब से यह कागज फुल स्केप के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बाद में यह चिन्ह मिटा दिया गया मगर उसका नाम ज्यों का त्यों कायम रहा।

चीन के लोग भी *विविध प्रकार* के घास, पेड़ों की छालों तथा बाँस से कई प्रकार के कागज बनाते थे। वहाँ पर 'होन-सि' नामक एक प्रकार का कागज बनाया जाता था जो मुर्दे को जलाने के काम में आता है। इसके अतिरिक्त घाव पर पट्टा बाँधने के, पुड़िया बनाने के, दवाइयों की पुड़िया बनाने के, लालटेन बनाने के, छापने के, चित्र छापने के अनेकों प्रकार के कागज भिन्न-भिन्न उपादानों से बनाये जाते थे। वहाँ पर इण्डिया पेपर (India Paper) नामक भी एक कागज बनता था जो बहुत उत्तम कोटि का होता था।

नैपाल और भूटान के लोग भी हाथ से कागज बनाने की कला में बड़े प्रवीण थे। भूटान में "नैपाली कागज" के नाम से एक कागज तैयार होता है जो Daphne Canalma नामक वृक्ष जिसे वहाँ महादेव का फूल कहते हैं की छाल से बनाया जाता है। यह कागज बहुत उत्तम जाति का होता था। नैपाल में ऐसे कागज पर लिखी हुई कुछ पुस्तकें सुरक्षित हैं। जिन्हें बहुत प्राचीन समझा जाता है। इससे मालूम होता है कि भूटान में कागज बनाने की कला बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है।

भारतवर्ष में भी मध्य काल में कागज बनाने की कला का काफी विकास हो चुका था।

मुसलमानी काल में भारत के अन्दर कई प्रकार के कागज बनते थे। इनमें तीन प्रकार के कागज प्रधान थे। (१) सफेद (२) जरफशान और (३) टिकलीदार।

सफेद कागज कौड़ियों से घिसकर चिकना किया जाता था। जरफशान कागज सुनहला और रुपहला होता था और टिकलीदार में छोटी छोटी सुनहली और रुपहली टिकलियाँ होती थीं। लिखने के कार्य में विशेषतर सफेद कागज ही काम में आता था। यह कागज बहुत मजबूत चिकना और टिकाऊ होता था। जैनियों के प्राचीनशास्त्र व्यापारियों के खाते-बही, तथा मूल्यवान सनदें इसी कागज पर लिखे जाते थे।

भारतवर्ष में बंगाल बिहार, भूटान, नैपाल अहमदाबाद सूरत पाटण कोल्हापुर, औरंगाबाद दौलताबाद, कश्मीर और जयपुर में हाथ से कागज बनाने सैकड़ों कारखाने थे और हजारों कारीगर इस काम में लगे हुए थे। औरंगाबाद का कागज सबसे उत्कृष्ट माना जाता था। इसके बाद दौलताबाद के बहादुरखानी और माहोमिरी कागज दूसरे नंबर के माने जाते थे।

यहाँ पर एक आफशानी नामक कागज बनता था। कागज बनाते समय इसकी लुगदी में सोने का बहुत बारीक चूर्ण मिला दिया जाता था जिससे स्वर्ण का यह सूक्ष्मांश सारे कागज में फैल जाता था और यह कागज बड़ा *चमकदार दिखलाई पड़ता था। राजदरबार* के बड़े-बड़े लोग इसी कागज पर अपना कारबार करते थे।

कागज का मशीन उद्योग

मशीन-युग का प्रारम्भ होने पर और-और चीजों की *तरह कागज का उद्योग भी मशीनों के* द्वारा चलाया जाने लगा। मशीन उद्योग से बना हुआ कागज बहुत सस्ता और सर्वत्र सुलभ होने से हाथ कागज का उद्योग उसकी प्रतिस्पर्धा में धीरे धीरे कमजोर पड़ता हुआ अब नाजुक हालत में पहुँच गया।

भारतवर्ष में मशीनी कागज का उद्योग सन् १८७० ई० में प्रारम्भ हुआ जबकि हुगली नदी के तट पर कागज बनाने का पहला कारखाना स्थापित किया गया।

और अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया जाता था। परिणाम यह होता था कि इन विद्यालयों से निकले हुए ग्रेज्यूएट यह तो जानते थे कि आठवें हेनरी ने कितने विवाह किये और कितने तलाक दिये परन्तु वे लोग यह नहीं जानते थे कि विक्रमादित्य नाम का कोई राजा था या नहीं और समुद्रगुप्त ने कहाँ-कहाँ विजय प्राप्त की। उनमें अधिकतर व्यक्तियों को यही सिखाया जाता था कि राम, कृष्ण विक्रमादित्य, वाल्मीकि, व्यास—ये सब नाम कल्पित हैं। इन नामों के कोई महापुरुष हुए ही नहीं। क्योंकि भारत का इतिहास तो उसी समय से प्रारम्भ होता है जब सिकन्दर ने भारत में प्रवेश किया था।

इस प्रकार की राष्ट्र-विघातक यह शिक्षा-पद्धति, उस महान् स्वामी दयानन्द को कैसे सहन होती! उन्होंने अपने ग्रन्थ-सत्यार्थ प्रकाश में इस शिक्षा-पद्धति का तीव्र खण्डन कर प्राचीन भारत की गुरुकुल-पद्धति का समयानुसार कुछ सुधारों के साथ तीव्र समर्थन किया।

स्वामी दयानन्द के शिक्षा-सम्बन्धी इन विचारों का उनके शिष्य स्वामी श्रद्धानन्द पर बड़ा जबर्दस्त प्रभाव पड़ा और उन्होंने सन् १८९८ ई० में इस प्रकार के 'गुरुकुल' को स्थापित करने की विधिवत् योजना आर्य-समाज की केन्द्रीय समिति के सम्मुख रखी और तत्काल इसके लिए चन्दा करने में जुट गये।

शुरू-शुरू में सन् १९ ई० के अन्तर्गत पंजाब के गुजरान वाला स्थान पर इसका प्रारम्भ किया गया। मगर यह भूमि प्राचीन गुरुकुलों के आदर्श के अनुकूल नहीं थी। यह देखकर नजीबाबाद के प्रसिद्ध रईस मुंशी अमनसिंह ने स्वामी श्रद्धानन्द को हिमालय की उपत्यका में गंगा के तट पर स्थित 'काँगड़ी' ग्राम में १२ सौ बीघे भूमि का विशाल भूमि-खण्ड गुरुकुल की स्थापना के लिए दान में दे दिया। यह भूमि सभी प्रकार से प्राचीन गुरुकुलों के आदर्शों के अनुकूल थी।

सन् १९०२ ई० में गुजरान वाला से हटाकर काँगड़ी-क्षेत्र में ३४ विद्यार्थियों के साथ घास की झोपड़ियों में इस महान संस्था का श्रीगणेश हुआ। स्वामी श्रद्धानन्द की एकनिष्ठ लगन और आर्यसमाज के प्रयत्नों से इसका बड़ी तेजी से विकास होने लगा।

सन् १९०७ ई० में गुरुकुल में 'महाविद्यालय' की स्थापना हुई। सन् १९२१ में वेद, आयुर्वेद, कृषि और आर्ट्स महाविद्यालयों को बनाने का निश्चय किया गया।

मगर इसके कुछ ही समय पश्चात् सन् १९२४ में गंगा की भीषण बाढ़ से इस संस्था पर भीषण विपत्ति आई और इसकी इमारतों को भारी नुकसान पहुँचा। अब भविष्य में ऐसे प्राकृतिक प्रकोप से बचने के लिए सन् १९३ में इस गुरुकुल को गंगा के पूर्वी तट से हटा कर पश्चिमी तट पर ले आया गया। पश्चिमी तट की आबहवा भी पूर्वी तट की अपेक्षा विशेष उत्तम और स्वास्थ्यप्रद है।

इस गुरुकुल की शिक्षा पद्धति में ६ वर्ष की आयु से विद्यार्थी को भर्ती किया जाता है और १४ वर्ष के अध्ययन के बाद उसकी शिक्षा समाप्त की जाती है। तब तक विद्यार्थी को यहाँ सरल एवं तपस्यामय जीवन बिताना पड़ता है।

इस गुरुकुल में चरित्र निर्माण, शारीरिक विकास तथा बौद्धिक और मानसिक विकास की ओर भी पूर्ण ध्यान दिया जाता है। सबसे महत्वपूर्ण बात इस संस्था की यह है कि यहाँ पर सभी प्रकार की उच्च शिक्षायें हिन्दी भाषा के माध्यम से दी जाती हैं। इस गुरुकुल में वेद, वेदांग दर्शन शास्त्र इतिहास, संस्कृत आयुर्वेद कृषि तथा वैज्ञानिक विषयों की उच्च शिक्षा देने का प्रबन्ध है। इसके लिए इस संस्था में वेद महाविद्यालय 'आर्ट्स महाविद्यालय' आयुर्वेद-महाविद्यालय विज्ञान महाविद्यालय, और कृषि विद्यालय बने हुए हैं। यहाँ के स्नातकों को 'वेदालंकार' 'विद्यालंकार' और 'आयुर्वेदालंकार' की उपाधियाँ दी जाती हैं।

दो वर्ष का स्नातकोत्तर पाठ्य क्रम पास करने के बाद 'वाचस्पति' की उपाधि दी जाती है। उसके पश्चात् किसी खास विषय पर 'रिसर्च' करने पर 'विद्या-मार्तण्ड' की उपाधि प्राप्त होती है।

सन् १९५ में १ अप्रैल से १२ अप्रैल तक ६ वर्ष पूरे हो जाने के उपलक्ष में इस गुरुकुल की हीरक जयन्ती बड़े ठाट-बाट के साथ मनाई गई।

—

काङ्—ही

चीन के मंचू-राजवंश का एक प्रतापी सम्राट्। जिसका शासन-काल सन् १६६१ से सन् १७२२ तक था।

कांग-ही मंचू-राजवंश का दूसरा सम्राट् था। यह सम्राट् संस्कृति कला तथा साहित्य का बड़ा प्रेमी था। यह कनफ्यूशस का पक्का अनुयायी था।

सम्राट् कांग ही ने चीनी भाषा का एक बड़ा कोष तैयार करवाया। जिसमें चालीस हजार से ज्यादा शब्द लिए थे। इसी सम्राट् ने "टू शू-ट्सी चंग" नामक एक वृहत् सचित्र विश्व-कोष भी तैयार करवाया जिसके १६२८ खण्ड थे और प्रत्येक खण्ड सौ सौ पृष्ठों का था। इसी प्रकार युआन-टू-च्याहसिह नामक कविताओं का एक विशाल समह भी तैयार करवाया जिसमें तांगकालीन २२ कवियों की कविताओं का समह और उनका भाष्य भी था। इस प्रकार अनेक महान् साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्यों से यह सम्राट् विश्व-साहित्य में अमर हो गया।

इसी सम्राट् के समय में विदेशी लोगों ने चीन की भूमि में प्रवेश करना प्रारम्भ किया। प्रारम्भ में सम्राट् ने विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए चीन के सारे बन्दरगाह विदेशी व्यापार के लिए खोल दिये मगर जब इन विदेशियों की बदमाशी का उसे पता लगा तो वह चौंक पड़ा और उसने तत्काल इन विदेशियों की साजिश से साम्राज्य को बचाने के लिए उनके व्यापार पर और ईसाई धर्म के प्रचार पर कड़े प्रतिबन्ध लगा दिये।

फिर भी यह सम्राट् विदेशियों के पंजों से साम्राज्य की रक्षा न कर सका और थोड़े ही दिनों के बाद इन विदेशियों के पंजे चीन की भूमि पर मजबूती से गड़ गये।

कांगो

कांगो नदी के किनारे पर बसा हुआ अफ्रिका का एक प्रान्त, जो कुछ समय पूर्व बेल्जियम-सरकार का उपनिवेश था। सन् १९६ ई० में यह बैल्जियम सरकार की अधीनता से मुक्त होकर एक स्वतन्त्र प्रजातंत्र राष्ट्र की तरह घोषित किया गया।

इस प्रदेश का क्षेत्रफल ९ लाख २ हजार ४ वर्ग मील है। इसके पूर्व में रूआंडा उत्तर में फ्रेंच भूमध्य अफ्रिका, पूर्व में टाँगानिका झील और दक्षिण में उत्तरी रोडेशिया का राज्य स्थित है।

इसकी राजधानी कांगो नदी पर स्थित लियोपोल्ड विले में है। 'स्टेनले-विले' तथा 'एलीजाबेथ विले' इस राज्य के प्रमुख व्यापारिक केन्द्र हैं।

यह प्रदेश मैगनीज जस्ता, सोना शीशा चाँदी, टीना तथा युरेनियम की खदानों से भरा हुआ है। यहाँ की 'शिंकोलाबवे' नामक खदान संसार की प्रसिद्ध यूरेनियम की खदानों में से एक है।

काँगो का प्रदेश सन् १८७६ ई० से पहले एक स्वतंत्र भू-भाग की तरह ही था। इसके पश्चात् यह बेल्जियम के राजा 'लियोपोल्ड' द्वितीय की उपनिवेश-लोलुपता का शिकार हुआ। सन् १८७६ में बेल्जियम-नरेश ने अफ्रिका में खोज तथा सभ्यता का प्रचार करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय समिति की स्थापना की। सन् १८८४ ई० में बेल्जियम राजा के संरक्षण के अधीन यह एक स्वतन्त्र राज्य बनाया गया और सन् १९०७ ई० में यह पूरी तरह से बेल्जियम-राज्य में मिला लिया गया तभी से यह देश बेल्जियम का एक उपनिवेश बन गया।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् सारे संसार में उपनिवेश वाद के विरुद्ध जो प्रबल लहर उठी, उससे काँगो भी नहीं बच पाया। काँगो की जनता ने 'लुमुम्बा' नामक एक व्यक्ति के नेतृत्व में बेल्जियम उपनिवेशवाद के खिलाफ आन्दोलन करना प्रारम्भ किया। जिसके परिणाम स्वरूप बेल्जियम को भी काँगो की स्वाधीनता स्वीकार करनी पड़ी और उसने उसे एक स्वाधीन राष्ट्र की तरह घोषित कर दिया।

स्वाधीन होने के पश्चात् काँगो के पहले प्रधान मंत्री यहाँ के जन नेता पैट्रिक लुमुम्बा निर्वाचित किये गये, मगर बेल्जियम वालों को यह सारी घटनाएँ पसन्द नहीं आ रही थीं और उनकी नीयत भी साफ नहीं थी। उन्होंने 'कटाँगा' के 'शोम्बे' को स्वाधीन-कटाँगा का प्रलोभन देकर लुमुम्बा के विरोध में खड़ाकर दिया। लुमुम्बा के खिलाफ चारों तरफ भयंकर षड्यन्त्र होने लगे। जिसके फल स्वरूप अन्त में इस व्यक्ति की नृशंसता-पूर्ण हत्या कर

दी गई। लुमुम्बा की हत्या से सारे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक तहलका सा मच गया। राष्ट्र-संघ भी इस घटना से सिहर उठा और उसने काँगो की स्थिति को समझने और वहाँ शान्ति स्थापित करने के लिए महामन्त्री 'हैमरशील्ड' को भेजा और अन्तर्राष्ट्रीय सेनाओं से कुछ सेनायें भी वहाँ पर भेजी गईं। भारत से भी ६ हजार सेना वहाँ पर शान्ति स्थापित करने के लिए भेजी गई।

मगर काँगों में शान्ति स्थापित नहीं हुई। वहाँ के विद्रोह का अन्त नहीं हुआ और अन्त में इन्हीं षड्यन्त्रों में हैमरशील्ड का बलिदान हो गया।

एक बार जिस हवाई जहाज पर वे काम जाते थे, उसमें षड्यंत्रकारियों ने कुछ विस्फोटक पदार्थ रख दिये जिससे थोड़े समय बाद जहाज में विस्फोट हुआ और हैमरशील्ड काल के ग्रास हो गये।

डॉग हैमरशील्ड की मृत्यु से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फिर आतंक छा गया, मगर शोम्बे की गति विधियाँ उसी प्रकार चालू रही। बेल्जियम और रोडेशिया से उसे गुप्त रूप से सहायतायें मिलती रहीं। सैनिक कार्रवाई भी बराबर होती रहीं। समझौते की बातें भी कई बार चलती और टूटती रहीं। अन्त में लोगों के बीच-बिचाव से कुछ समझौता हुआ और अब ही में भी पढ़ने में आया है कि काँगों के राष्ट्रपति कासावुबु ने मन्त्रिमंडल बनाने के लिये शोम्बे को आमन्त्रित किया है।

काच

एक पार-दर्शक पदार्थ, जिससे शीशी, बोतल, दर्पण तथा कई प्रकार की वस्तुओं का निर्माण होता है।

काँच का उद्योग मानव-जाति के अन्दर कब से प्रारंभ हुआ, इसका ठीक-ठीक पता लगाना कठिन है। क्योंकि यह पदार्थ बहुत प्राचीन-काल से मनुष्य-जाति के अन्दर चला आ रहा है।

प्राचीन मिस्र के अन्दर खुले साँचों के द्वारा काँच का निर्माण ईसा से १५ वर्ष पहले से प्रारम्भ हुआ। साँचों के द्वारा काँच की तश्तरियाँ, कटोरे इत्यादि का निर्माण किया जाता था। उस समय मिस्र काँच निर्माण का एक प्रमुख केन्द्र था।

उसके बाद फिनीशिया देश के लोगों ने फूँकनी के द्वारा गर्म काँच को फूँकने की क्रिया का आविष्कार किया। इस क्रिया के आविष्कार से काँच के उद्योग में एक नया जीवन आया। यह आविष्कार ईसा से पूर्व सम्भवतः चौथी सदी में हुआ था।

ईसवी सन् के प्रारंभ में रोम और वेनिस में भी प्रचुर मात्रा में काँच का उत्पादन होने लगा था।

प्राचीन भारत के लोग भी काँच के उपयोग से परिचित थे। रामायण, महाभारत इत्यादि कई प्राचीन ग्रंथों में काँच के उपयोग का उल्लेख हुआ है। प्राचीन भारत की खोदाइयों में बहुत से प्राचीन काँच के टुकड़े प्राप्त हुए हैं।

मुसलमानी काल में राज महलों और बड़े-बड़े धनिकों के आवास घरों में रोशनी के लिए लगे हुए बड़े बड़े झाड़ और फानूस विकसित काँच उद्योग की परम्परा के सूचक हैं।

आधुनिक काँच उद्योग का इतिहास १६ वीं सदी से प्रारम्भ होता है। सन १५५७ ई में सोसपुल-सम्मिक का लन्दन में आविष्कार हुआ। सन् १६६८ ई में पट्टिका काँच ढालने की विधि का पेरिस में आविष्कार हुआ। सन् १८८८ में जर्मनी के वैज्ञानिक 'शॉट' और एबी' ने 'लैंस' आदि बनाने के योग्य कई प्रकार के काँचों का आविष्कार किया। सन् १८८६ ई में पूर्वाई प्रान्त के मार्निङ्ग नगर में सबसे पहले बिजली के 'बल्ब' का आविष्कार हुआ। सन १८६६ ई में काँच बनाने के लिए पूर्ण स्वचालित यन्त्र 'ओवेन' का निर्माण हुआ। सन् १९ १ ई में काँच प्रसारक' 'फुर' नामक यन्त्र का निर्माण हुआ। सन् १९१५ ई में ताप प्रतिरोधक, पाइरेक्स नामक काँच का निर्माण हुआ, जो गरम करके ठंडे पानी में डुबो देने पर भी नहीं तड़कता।

सन् १९२८ ई में 'सेफ्टी ग्लास' का निर्माण हुआ, जो चोट लगने पर तड़क ही जाता है मगर टूट कर अलग नहीं होता। यह मोटरकारों में लगाया जाता है। सन् १९३१ में काँच के धागा और वस्त्रों का निर्माण हुआ। सन् १९ २ में संयुक्त राज्य अमेरिका और बेल्जियम में 'लिबी आवेन्स और 'फूर-काल्ट' प्रणालियों के द्वारा काँच की चद्दरों का निर्माण होना प्रारम्भ हुआ।

भारतीय-काँच उद्योग का निर्गम १९ वीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। उस समय यहाँ से अनिर्मित काँच और काँच बनाने के रासायनिक पदार्थ यूरोप और उससे इटली को निर्यात किये जाते थे। आधुनिक मशीन-पद्धति से भारत में काँच का उद्योग सन् १८७ से प्रारम्भ हुआ मगर बहुत लम्बे समय तक यह उद्योग निराशा और असफलताओं के बीच गुजरता रहा। अन्त में द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् भारत के कई उद्योगपतियों ने आधुनिक मशीनों और साज-सामानों के साथ इस उद्योग में प्रवेश किया। इधर जनता में भी काँच के बर्तनों की माँग बढ़ने लगी। फलस्वरूप अब भारत का काँच-उद्योग सन्तोष-जनक ढंग से प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रहा है।

भारत के काँच-उद्योग में चूड़ी उद्योग का महत्व भी बहुत अधिक है। भारतवर्ष के महिला-समाज में चूड़ी सौभाग्य का चिन्ह मानी जाती है। काँच की चूड़ी का उद्योग प्रधान रूप से फीरोजाबाद में १९ वीं सदी से चल रहा है और अब तो इस उद्योग ने भिन्न-भिन्न प्रकार के कई सुन्दर और आकर्षक डिजाइनों का निर्माण कर महत्त्व-पूर्ण उन्नति कर ली है। (नागरी प्रचारिणी विश्व-कोष)

काञ्चीपुरम् (काञ्जीवरम्)

प्राचीन भारत की एक सुप्रसिद्ध 'पुनीत नगरी' जो दक्षिण काशी के नाम से भी प्रसिद्ध है। यह नगर मद्रास नगर से ४५ मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित है।

सहस्रों वर्षों से जो सप्तपुरियाँ हिन्दू-जनता के समक्ष समग्र भारत की एकता का सूत्र, मुख्य बनती आई हैं जिन्होंने उत्तर और दक्षिण के भेद भावों की दीवार को गिराकर सम्पूर्ण हिन्दुस्तान को एक राष्ट्र के रूप में खड़ा होने की प्रेरणा दी है उनमें उत्तर की काशी और दक्षिण की काञ्ची का नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

'काञ्चीपुरम् भारत के प्राचीन इतिहास की सप्तपुरी रही है। भारत के प्राचीन साहित्य में इस नगरी की पवित्रता का स्थान-स्थान पर वर्णन किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस नगरी का महत्व कम नहीं है।

४ थी से ९ वीं शताब्दी के मध्य यह नगरी दक्षिण भारत के पराक्रमी पल्लव-राजवंश की राजधानी रही। उन दिनों में इस नगरी में जिस कला-कौशल और धार्मिक मान्यताओं की स्थापना हुई, उनका प्रभाव सारे दक्षिण भारत पर पड़ा।

पल्लववंशी सम्राटों के शासन-काल में यहाँ कैलाश नाथ और बैकुण्ठ पेरुमाल' आदि के उन भव्य मन्दिरों का निर्माण हुआ जिन्होंने इस नगरी के महत्व को बहुत बढ़ा दिया।

पल्लववंशी सम्राटों के पश्चात् काञ्चीपुरम् में चोलवंशी राजाओं का राज्य स्थापित हुआ। इस राजवंश ने भी पाषाणों की छाती चीर कर कई देवालयों का निर्माण करवाया। यहाँ के मन्दिरों में उनके द्वारा उत्कीर्ण कराये गये अपरिमित शिलालेखों से आज भी अतीत के स्वर्णिम इतिहास के पन्ने नेत्रों के सामने उभर आते हैं।

चीन का सुप्रसिद्ध यात्री हुएनसांग ७वीं सदी में काञ्ची आया था। उसने अपने यात्रा-विवरण में लिखा है कि— 'यह नगर ६ मील के घेरे में फैला हुआ एक विशाल नगर था। यह नगर शिक्षा, व्यापार और शिल्प का केन्द्र था। इस नगर में जैन धर्म का प्रभाव सबसे अधिक था और उसके बाद ब्राह्मण तथा बौद्ध दूसरे स्थान में थे।'

इससे पता चलता है कि पल्लव-राजवंश के राजाओं ने जैन-धर्म, जैनाचार्य और जैन देवालयों को विशेष रूप से प्रश्रय प्रदान किया था और इन्हीं की वजह से सारे कर्नाटक में उस समय जैन-धर्म का बोलबाला हो गया था।

चोल राजवंश के समय में काञ्ची से दो मील दूर दक्षिण में 'तिरुप्पा पत्तरम्' नामक सुप्रसिद्ध जैनियों के मन्दिर का निर्माण हुआ था। जैनियों का यह अत्यन्त पुराना और प्रसिद्ध मन्दिर है। इसका कलात्मक निर्माण चित्रकारी, रंगाई और स्थापत्य कला उत्कृष्ट श्रेणी की है। इसका निर्माण चोलवंश के राजाओं ने अपने उत्कर्ष-काल में करवाया था।

उसके बाद विजयनगर शासन-काल में इस मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया गया।

सन १३१० ई० में मुसलमानों के आक्रमण से चोल राजवंश का पतन हो गया मगर उसके कुछ ही दिन पश्चात् हरिहर और बुक्काराय ने सुप्रसिद्ध 'विजयानगरम्' राज्य की सुदृढ़ नींव रखी। विजयानगरम् के हिन्दू-राजवंश के समय में भी राजा कृष्णदेव राय ने दो बड़े-बड़े विशाल मन्दिरों का निर्माण कराया।

काञ्चीपुर नगर दो भागों में विभक्त है। विष्णु-काञ्ची और शिवकाञ्ची। शिवकाञ्ची में शिवमन्दिर और विष्णुकाञ्ची में विष्णु मन्दिर अवस्थित है। शिवकाञ्ची के दर्शनीय स्थानों में एकाम्रनाथ और कामाक्षीदेवी के मन्दिर विशेष उल्लेखनीय हैं। एकाम्रनाथ महादेव का आदिलिंग समस्त दक्षिण भारत में बहुत प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि इस मन्दिर के आंगन में एक बहुत पुराना आम का वृक्ष है और उसी की वजह से इस मन्दिर का नाम 'एकाम्रनाथ' रखा गया है।

विजयनगर साम्राज्य के समय में यह नगर उन्नति की चरम सीमा पर था। सन १५६४ ई० में विजयनगर साम्राज्य के पतन होने पर यह नगरी मुगल-साम्राज्य के अधीन हुई, जो सन् १७५२ तक मुगल साम्राज्य के अधीन रही। सन् १७५२ में लार्ड क्लाइव ने इसको 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के अधिकार में ले लिया। उसके बाद इस नगर के लिए अंग्रेजों और फ्रांसीसियों में छीना-झपटी होती रही। काञ्ची नगर और उसके आसपास के ग्रामों में बुनकरों की संख्या बहुत अधिक है। रेशमी वस्त्रों के उत्पादन का यह प्रमुखतम केन्द्र है। यहाँ की बनी हुई साड़ियाँ सारे भारतवर्ष में लोकप्रिय हैं।

काङ्कार्डेट

नैपोलियन बोनापार्ट के द्वारा रोमन चर्च की फ्रांस में पुनः स्थापना के लिए सन् १८०१ ई० में पोप से की हुई सन्धि 'काङ्कार्डेट' कहलाती है।

इस सन्धि के द्वारा घोषित किया गया कि फ्रान्स की जनता का बहुमत रोमन कैथोलिक धर्म को मानने वाला है। अतः फ्रान्स में इसी धर्म को राजकीय धर्म घोषित किया जाता है। बिशप तथा चर्च के अन्य पदाधिकारियों की नियुक्ति कौंसिल के द्वारा की जायगी, मगर उसके लिए पोप की स्वीकृति लेना आवश्यक होगी। इस संधि के अनुसार चर्च का राज्य से पृथक अस्तित्व समाप्त हो गया। चर्च भी एक प्रकार से राज्य की अधीनता में आ गया। यद्यपि नाम मात्र को पोप का आधिपत्य भी शेष रक्खा गया था।

काजी

इस्लामी राज्यों में न्यायविभाग का न्यायाधीश जिसे जनता के अपराधों का निर्णय करने का अधिकार होता था।

शुरू शुरू में इस प्रकार के अपराधों का निर्णय खलीफा लोग ही किया करते थे। मगर जब इस्लाम का विस्तार बहुत अधिक हो गया तब खलीफा उमर ने न्याय विभाग को धर्माधिकारी काजियों के हाथ में सौंप दिया। इस प्रकार के काजियों में सबसे पहले अबू मूसा अशअरी की नियुक्ति 'कूफा' में सन् ६३८ के करीब की गई थी। मूसा की नियुक्ति के समय हजरत उमर ने एक पत्र लिखा था। इस पत्र में कजा विभाग या न्याय विभाग सम्बन्धी आदेशों या कामों का सम्पूर्ण विधान लिख दिया गया था। इस पत्र में वचन का पालन करने, न्याय की उपेक्षा न करने, किसी के साथ पक्षपात न करने और शक्तिहीनों के प्रति उदारता का व्यवहार करने पर बड़ा जोर दिया गया था। काजी के लिए उसमें यह भी आदेश था कि वह ठण्डे दिल से गवाहों और प्रमाणों पर विचार करने के बाद ही किसी फैसले को दे।

खलीफा हारू-अल-रशीद के समय में काजियों के अधिकारों में और वृद्धि हुई और सर्वसाधारण के हितों की रक्षा दस्तावेजों की जाँच-पड़ताल इत्यादि अनेक अधिकार उनके हाथ में आ गये। खलीफा हारू अल-रशीद के समय में अबू-यूसुफ नामक काजी खलीफा के प्रधान न्यायपीठ थे। खलीफा ने इनको काजी-अल-कजा की उपाधि दी थी। इन्होंने "किताब अल-खराज" नामक एक कानूनी पुस्तक की भी रचना की थी। इनका समय सन ७३१ से ७९८ तक था। भारतवर्ष में भी मुसलमानी-शासनकाल में 'काजी' लोगों को न्याय काम की तथा धर्म सम्बन्धी और भी कई सत्तायें प्राप्त थीं।

अलाउद्दीन खिलजी के समय में काजी "मुग़ीसुद्दीन" प्रधान काजी थे। जब अलाउद्दीन खिलजी ने दिग्विजय करने के बाद एक नवीन मज़हब जारी करने के सम्बन्ध में राय पूछी तो काजी मुग़ीसुद्दीन ने साफ़ शब्दों में कह दिया कि 'मज़हब और कानून परमात्मा के बस की चीजें हैं। इन्सान की ताक़त से ये कभी पैदा नहीं हो सकतीं। प्राचीन काल से उनकी व्यवस्था नबियों और पैग़म्बरों के द्वारा होती चली आ रही है। इसलिए तुम इस विचार को छोड़ दो।' अलाउद्दीन ने उनकी सलाह मान कर अपना विचार छोड़ दिया।

सम्राट् अकबर के समय में "अब्दुल्ला सुल्तानपुरी" प्रधान काजी थे। बादशाह हुमायूँ ने इन्हें "मख़दूमुलमुल्क" की उपाधि दी थी। 'कानून' और 'हदीस' इनकी ज़बान पर रहते थे। हुमायूँ के बाद बादशाह के पुत्र सलीमशाह के दरबार में भी ये प्रधान काजी बनाये गए। वहाँ पर इन्होंने महदवी-सम्प्रदाय के गुरु शेख अब्दुल्ला को 'कुफ्र' का फतवा देकर उसे दरबार में मरवा डाला था। कुछ दिनों बाद सम्राट् अकबर से मतभेद हो जाने पर मुल्ला सुल्तानपुरी, सम्राट् का 'काफ़िर' तथा 'शैतान' कहकर अपमान करने लगे। तब मजबूर होकर सम्राट् ने उनको सन् १५७९ में 'मक्का' भेज दिया।

अब्दुल्ला सुल्तानपुरी के बाद शेख अब्दुन्नबी इस्लाम के सदर और काजी बनाए गए। सम्राट् अकबर शेख के जूती को उठाने में अपना गौरव समझता था और इन्हें सब काजियों के ऊपर अध्यक्ष बना दिया था।

एक बार मथुरा के एक ब्राह्मण को कुफ्र के मामले में मृत्यु-दण्ड देने के कारण सम्राट् अकबर इनसे बहुत नाराज़ हुआ और इनको भी उसने मक्का भेजवा दिया।

इस प्रकार इस्लामी शासन के समय में काजियों के अधिकार बहुत बढ़ गए थे और सबसे बड़े काजी को 'काजी उल उज़्ज़ात' कहा जाता था।

काजी अहमद

एक मुसलमान इतिहासकार जो सन् १५६० ई० में हुए। इनका लिखा हुआ 'मुख़्तसर-ए-तारीख़' ग्रन्थ है जिसमें इस्लाम की स्थापना से लेकर हिजरी सन् ९७२ तक की घटनाओं का उल्लेख किया गया है।

काजी अज़ीम ख़ाँ

आगरे के एक प्रसिद्ध मुसलमान चिकित्सक जो सन् [illegible] ई० में विद्यमान थे। उस समय चिकित्सा के काम में यह बहुत प्रसिद्ध थे। आगरे में स्मारक के तौर पर इन्होंने एक सुन्दर बग़ीचा लगवाया था जो अब भी टूटी फूटी हालत में "हकीम का बाग़" के नाम से प्रसिद्ध है।

काटजू कैलासनाथ (डाक्टर)

भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध कानूनशास्त्री राजनैतिक नेता स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत के होम मिनिस्टर और उसके बाद मध्यप्रदेश के मुख्य मंत्री। जिनका जन्म सन् [illegible] ई० में मध्य प्रदेश के जावरा नगर में हुआ।

सन् १९ ७ ई० में डा० कैलासनाथ काटजू ने इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से एम० ए० बी० की और सन् १९०८ ई० में एम० ए० की डिग्री प्राप्त की। उसके पश्चात् ६ वर्ष तक डा० काटजू ने कानपुर डिस्ट्रिक्ट कोर्ट में कानून की प्रैक्टिस की। सन् १९११ ई० में इन्होंने इलाहाबाद युनिवर्सिटी से मास्टर ऑफ-लाज़ (L. L. M) की भी उच्च डिग्री प्राप्त की।

उसके बाद सन् १९१४ ई० में डा० काटजू ने इलाहाबाद हाईकोर्ट में अपनी प्रैक्टिस शुरू की। इसके साथ 'डाक्टरेट' की डिग्री लेने के लिए इन्होंने 'क्रिमिनल एंड एक्स्ट्रेऑर्डिनरी ज्युरिस्डिक्शन' पर एक गवेषणा पूर्ण 'थीसिस' लिख कर इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में पेश किया जिस पर १९१ ई० में यूनिवर्सिटी ने इनको 'डाक्टर ऑफ लाज़' की उपाधि प्रदान की।

उसके बाद सन् १९१४ ई० से सन् १९३७ ई० तक डा० काटजू ने इलाहाबाद हाईकोर्ट में शानदार और गौरवपूर्ण कानून की प्रैक्टिस की। इस प्रैक्टिस में उन्होंने ऐसे उलझन पूर्ण सनसनीदार और प्रसिद्ध केसों की पैरवी

मुवक्किलों की पैरवी की जिससे सारे भारतवर्ष के कानूनी क्षेत्र में इनकी प्रसिद्धि हो गई।

सुप्रसिद्ध 'मेरठ-षड्यंत्र केस' की भी इन्होंने सन् १६१ ई० में क्रान्तिकारियों की ओर से, इलाहाबाद हाई कोर्ट में पैरवी की थी। इससे भी इनके यश में बहुत वृद्धि हुई।

इस प्रकार की सेवाओं से जनता में इनकी लोकप्रियता बहुत बढ़ गई। और सन् १६३६ ई० में ये इलाहाबाद म्युनिसिपैलिटी के अध्यक्ष चुने गये। सन १६३७ में जब उत्तर प्रदेश सरकार में पहली कांग्रेस मिनिस्ट्री बनी तब उसके ६ मिनिस्टरों में डाक्टर काटजू भी एक मिनिस्टर बनाये गये और कानून न्याय तथा विकास का विभाग इनके जिम्मे किया गया।

सन् १६३६ ई० में द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने पर व्यक्तिगत सत्याग्रह के सिलसिले में डा० काटजू को १८ महीने की सजा पाकर जेल में जाना पड़ा।

सन् १६४२ ई० के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के सिलसिले में यह फिर गिरफ्तार किये गये और फिर जेल गये। मगर कठिन बीमारी के कारण अप्रैल सन १६४३ में छोड़ दिये गये।

सन् १६४६ ई० यूनाइटेड नेशन में खाद्य और कृषि सम्बन्धी कमीशन के संगठन में भारत सरकार ने डा० काटजू के नेतृत्व में अपना एक डेलीगेशन भेजा था। वहाँ पर इन्होंने तीन महीने तक कार्य किया।

सन् १६४७ ई० में सरदार वल्लभभाई पटेल की अध्यक्षता में निर्मित 'भारत विधान-निर्मात्री समिति' के डा० काटजू भी एक सदस्य बनाये गये।

स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् डा० काटजू सन १६४७ ई० में उड़ीसा के और सन् १६४८ ई० में बंगाल के गवर्नर बनाये गये।

उसके पश्चात् सन् १६५१ में ये केन्द्रीय सरकार के होम मिनिस्टर बनाये गये। सन १६५५ तक डा० काटजू ने इस उत्तरदायित्व पूर्ण पद पर कार्य किया। उसके बाद केन्द्रिय सरकार में ये सुरक्षा मंत्री बनाये गये, जहाँ सन् १६५८ तक इन्होंने काम किया।

सन् १६५७ से सन १६६२ तक डा० काटजू मध्य प्रदेश सरकार के मुख्य मंत्री पद पर रहे।

जिस समय डा० काटजू केन्द्रिय सरकार में होम मिनिस्टर-पद पर थे उस समय मन्दसोर जिले में भानपुरा जनपद के पास चम्बल नदी पर 'गान्धी-सागर' बाँध बँधवाने में डा० काटजू ने पूरा उद्योग किया। इन्हीं की वजह से इस बाँध का उद्‌घाटन करने के लिए प्रधान मंत्री पं० नेहरू इस स्थान पर आये और यह कहने में किसी प्रकार की अतिशयोक्ति न होगी कि डा० काटजू की वजह से ही यह विशाल बाँध बँधकर तैयार हुआ। इस बाँध की वजह से राजस्थान और मध्यप्रदेश का बहुत बड़ा क्षेत्र बिजली के प्रकाश से जगमगा उठा और इसके द्वारा कटी हुई नहरों से हजारों एकड़ भूमि शस्य श्यामला हो रही है।

डा० काटजू साहित्य में भी दिलचस्पी रखते हैं और हिन्दी तथा अंग्रेजी में इन्होंने कुछ ग्रन्थों की रचना भी की है।

डा० काटजू उन प्रसिद्ध व्यक्तियों में से एक हैं, जिन्होंने भारतीय कानून, राजनीति और शासन के इतिहास में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है।

काटुलस वेलेरियस

(Valorius Katules)

लेटिन भाषा का एक प्रसिद्ध कवि जिसका समय ई० पू० ८४ से ई० पू० ५४ तक है।

काटुलस वैरोना का निवासी था। इस कवि की कविता की मूल प्रेरणा इसकी प्रेमिका "लेसबिया" से मिलती थी। इस सुन्दर और चपल नारी ने अपनी मोहकता का जादू काटुलस पर डाल रक्खा था और उसी के प्रभाव से इसकी कविताओं में प्राणों का संचार होता था। काटुलस की कविताओं में गहरी अनुभूति रोमान्स और हृदय की पीड़ा के दर्शन होते हैं। यूरोप में प्रचलित लिरिक की काव्य धारा पर इस प्राचीन कवि का बड़ा प्रभाव पड़ा है।

कॉँट-डी निकालो

इटली के वेनिस नगर का एक भ्रमणकारी यात्री। जिसने सन १४१६ ई० से सन् १४४४ तक संसार के सारे प्रधान प्रधान देशों का भ्रमण करके वहाँ का बड़ा रोचक वृत्तान्त

लिखा। भारतवर्ष में भी वह आया था। तत्कालीन भारतीय जीवन वेश-भूषा और रीति-रिवाजों का उसने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है।

कान्ट (कान्ट इमानुएल)

जर्मनी का एक सुप्रसिद्ध दार्शनिक तत्त्वचिन्तक और वैज्ञानिक जिसका जन्म अप्रैल सन् १७२४ में जर्मनी के कोनिग्स बर्ग नगर में और मृत्यु सन् १८०४ में हुई।

कान्ट के माता-पिता ईसाई धर्म के पायटिस्ट सम्प्रदाय या भक्ति मार्ग के अनुयायी थे इसलिए कान्ट के मन पर भी उनके धार्मिक संस्कारों का काफी प्रतिबिम्ब पड़ा।

कान्ट के माता पिता की आर्थिक स्थिति सन्तोष जनक नहीं थी। इसलिए उसका अध्ययन काल बड़े कष्ट से बीता। किसी प्रकार मैट्रिक पासकर वह विश्वविद्यालय में भरती हुआ और अपने जीवन के ७ वर्ष उसने अध्ययन में बड़े कष्ट के साथ व्यतीत किये।

सन् १७४६ ई० में कान्ट के पिता की मृत्यु हो गयी। पिता की मृत्यु के कारण उसे अर्थ विद्या उपार्जन करने के के लिए मजबूर होकर पढ़ना छोड़ना पड़ा और ट्यूशन करके अपना गुजारा करना पड़ा। इस प्रकार ९ वर्ष कोनिग्स बर्ग से ६ मील दूर ग्यूडसेन्न नामक नगर में उसे व्यतीत करने पड़े।

सन् १७५५ ई० में उसने तत्त्वज्ञान सम्बन्धी एक मौलिक ग्रन्थ लिखकर कोनिग्स बर्ग विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त कर ली। उसके बाद उसने इसी विश्वविद्यालय में अवैतनिक प्रोफेसर की जगह प्राप्त कर ली। इस श्रेणी के प्रोफेसरों को कॉलेज से कोई वेतन नहीं मिलता था। विद्यार्थियों से जो कुछ शुल्क मिल जाता उसी पर उन्हें गुजर करना पड़ता था। इस कारण उसकी आर्थिक स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ।

अन्त में सन् १७७० ई० में जाकर उसे विश्वविद्यालय के वैतनिक प्रोफेसर की जगह मिल गई और वह जीवन भर इसी स्थान पर काम करता रहा।

कान्ट आजन्म अविवाहित ही रहा। शुरू शुरू में तो अपनी गरीबी के कारण उसने अपना विवाह नहीं किया। फिर जब अधेड़ उम्र में एक स्त्री से प्रेम भी हुआ तो उस स्त्री ने धोखा देकर दूसरे पुरुष से विवाह कर लिया और कान्ट की इच्छा ज्यों की त्यों रह गई। फिर जब उसने देखा कि उसकी विवाह की उमर बीत चुकी है तब उसने आजीवन अविवाहित रहने का ही निश्चय कर लिया।

अपने जीवन के इन अत्यन्त कठिनाई पूर्ण प्रसंगों में भी कान्ट का अध्ययन और मनन बराबर चालू रहा। और उसने आलोचनात्मक दर्शन या विचिकित्सा सिद्धान्तों के नाम से एक नवीन दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उस समय सारे यूरोप में पुनर्जागरण के प्रभाव से बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानी तत्त्व चिन्तन के क्षेत्र में अग्रसर हो रहे थे और नये-नये दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना हो रही थी। कान्ट के तत्त्वज्ञान को समझने के लिए इन पूर्ववर्ती विचारधाराओं को संक्षेप में समझना आवश्यक है।

बेकन का संवेदनावाद

एक ओर 'फ्रांसिस बेकन' का संवेदनावाद प्रचलित हो रहा था। बेकन का कथन था कि मनुष्य को जो कुछ भी ज्ञान होता है वह इन्द्रियों के द्वारा होता है। हमारी इन्द्रियों पर बाह्य पदार्थों का प्रतिबिम्ब गिरता है। इन्द्रियाँ मन में संवेदना उत्पन्न करती हैं और इन संवेदनाओं से सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है। मनुष्य अपनी कल्पना शक्ति और विवेक-शक्ति के द्वारा जो विचार उत्पन्न करता है वे विचार मकड़ी के जाले के समान होते हैं। जिस तरह मकड़ी अपने ही शरीर से धागे निकाल कर सुन्दर जाला बनाती है और वह फूँक मारने से उड़ जाता है उसी प्रकार कल्पना और विवेक शक्ति के द्वारा बनाया हुआ विचारों का महल अनुभव के द्वारा धराशायी गिर पड़ता है।

मतलब यह कि बेकन के मत से इन्द्रियों की संवेदना ही सच्चा ज्ञान देने वाली शक्ति है। कल्पना और विवेक शक्ति के द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान सिर्फ धोखा है।

अपनी इसी विचार प्रणाली के कारण बेकन यूरोप में 'संवेदनावाद' का प्रथम आचार्य माना जाता है।

देकार्ते का विवेकवाद

दूसरी ओर फ्रेंच तत्त्वज्ञानी देकार्ते एक दूसरे ही सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहा था। उसका सिद्धान्त था

कि हमारी इन्द्रियाँ हमें धोखा दे देती हैं। वे अनेक बार मन में केवल आभास ही उत्पन्न करती हैं, जिससे हमें दृष्टिभ्रम हो जाता है अति भ्रम हो जाता है। अतएव हमें बाह्य-सृष्टि का सच्चा ज्ञान नहीं होपाता। हमारी बुद्धि भी निरपेक्ष विश्वास के योग्य नहीं। कई बार यह असत्य निर्णयों को सत्य सिद्ध कर देती है। इसी तरह गणित शास्त्र के सिद्धान्तों के सच्चे होने म भी सन्देह उत्पन्न हो जाता है और इस प्रकार अन्त में हम 'संशयवाद' के सिद्धान्त पर आ जाते हैं परन्तु इस संशयवाद में केवल एक पदार्थ के लिए सन्देह नहीं रहता। सन्देह होने के लिए सन्देही का होना आवश्यक है। "मैं विचार करता हूँ।" इसमें भी मैं का अस्तित्व है। अतएव इस सन्देहवाद में से भी आत्मा के अस्तित्व का सुदृढ़ प्रमाण मिल जाता है। इस एक सत्य के सहारे शेष सत्य वस्तुएँ भी सिद्ध हो जाती हैं। आत्मा की सन्देह वृत्ति के द्वारा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। परन्तु सन्देह वृत्ति से युक्त आत्मा अपूर्ण और सदोष होती है। अपूर्ण और सदोष आत्मा की कल्पना सापेक्ष है। उसे जानने के लिए पूर्ण और दोष-रहित आत्मा की कल्पना अवश्य ही करनी होती है। यही कल्पना पूर्ण और दोष रहित परमेश्वर की कल्पना है।

इस प्रकार दो तत्त्व हमारे सामने उपस्थित होते हैं। एक जीवात्मा और दूसरा परमात्मा। अब रह गई बाह्य सृष्टि। उसका अस्तित्व भी स्पष्ट सिद्ध होता है। क्योंकि परमात्मा सर्वगुण सम्पन्न है, तो उसके गुणों में सत्य के गुण का अन्तर्भाव सिद्ध होता है। अतएव सर्व गुण सम्पन्न परमात्मा किसी को धोखा नहीं देता। इसीलिए हमारी इन्द्रियों को जो पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं वे सत्य होना ही चाहिए। नहीं तो यह आपत्ति हो गी कि परमात्मा ने हमें धोखा देने वाली इन्द्रियाँ देकर भ्रम में डाल दिया है। इस प्रकार इस सृष्टि में मौलिक रूप से तीन पदार्थ सिद्ध होते हैं। जीवात्मा परमात्मा और जड़ सृष्टि। परमात्मा पूर्ण है। उसी ने जीवात्मा और जड़ सृष्टि का निर्माण किया है। जीवात्मा ज्ञानमय और अवकाश रहित पदार्थ है और जड़ सृष्टि अज्ञान एवं अवकाश सहित है।

डेकार्ट का यह तत्त्वज्ञान 'विवेकवाद' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

जॉन लॉक

बेकन और डेकार्ट की विचारधारा के साथ इंग्लैंड के जानलॉक नामक तत्त्वज्ञानी की एक तीसरी विचारधारा भी उस समय प्रचलित थी। यह इंग्लैंड का रहनेवाला था। जॉनलॉक जैसे संवेदनावाद के समन्वय में बेकन का ही टीकाकार था। फिर भी इसके कुछ ऐसे भी सिद्धान्त थे जो बेकन से भिन्न थे।

लॉक ने प्रतिपादन किया है कि मनुष्य को सम्पूर्ण ज्ञान इन्द्रिय संवेदना के द्वारा ही प्राप्त होता है। यह मनुष्य की विवेक शक्ति के अस्तित्व को मानता जरूर है मगर साथ ही यह भी कहता है कि ज्ञान के विषय में विवेक का स्थान गौण है। इतना जरूर है कि संवेदना के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है विवेक उस ज्ञान के संयोग से अधिक ज्ञान प्राप्त करता है।

लॉक का कथन है कि मनुष्य का मन शुरू में कोरे कागज के समान होता है। सबसे पहले इन्द्रिय संवेदना के द्वारा ही उसमें संस्कार होते हैं और फिर उसके द्वारा विचार बनते हैं।

डेकार्ट के समान लॉक भी सृष्टि में तीन पदार्थ मानता है। इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त संवेदना के द्वारा हमें जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है वह बाह्य सृष्टि है। हमारी सारी संवेदना और ज्ञान के अन्दर आत्मा के अस्तित्व का बोध होता है इसलिए दूसरा तत्त्व "आत्मा" हुआ। और कार्य्य कारण की परम्परा को मानने से इस कार्य्य रूप महान् सृष्टि का कोई कारण अवश्य होना चाहिए इस तर्कना से हमें सबके कारण रूप परमात्मा के अस्तित्व का बोध होता है।

ह्यूम का सन्देहवाद

चौथी विचारधारा ह्यूम की थी। उसकी सारी विचार धारा का अन्त संशयवाद में होता था। संवेदना आत्मा परमात्मा किसी भी तत्त्व के अस्तित्व को वह नहीं मानता था। वह कार्य कारण भाव की परम्परा को भी नहीं मानता था। सारी हैंड खोज के बाद उसने कहा कि "मानवीय मन के लिए ज्ञान का प्राप्त होना असाध्य है इसलिए सन्देहवाद ही सच्चा है।"

कान्ट की विचारधारा

तत्वज्ञान की इन विभिन्न विचार प्रणालियों का अध्ययन करने का अवसर कान्ट को अपूर्व मिला। उसने वह ह्यूम के विचारों को पढ़ा जो कि दर्शन शास्त्र की मूल नींव पर ही कुठाराघात करने वाले थे। तब उसे अनुभव होने लगा कि इन सब प्रणालियों में कहीं न कहीं कोई मौलिक भूल अवश्य हो गई है। अतएव उसने तत्व ज्ञान का मूल स्रोत से अध्ययन किया और एक बिलकुल नवीन और मौलिक विचारधारा को जन्म दिया जो परीक्षावाद या आलोचनात्मक दर्शन (क्रिटिकेल फिलोसोफी) के नाम से प्रसिद्ध हुई।

उसने अपने इस तत्वज्ञान को प्रथम ग्रंथ के तीन भागों में प्रतिपादित किया है। पहले ग्रंथ में उसने सबसे पहले "शुद्ध विवेक" की परीक्षा की। यही उसके तत्वज्ञान का मूलग्रन्थ है। उसका दूसरा ग्रन्थ सदसद् विवेक परीक्षा के विषय पर लिखा गया। इस ग्रन्थ में उसने नीतिशास्त्र विषयक विचारों का विवेचन किया। उसका तीसरा ग्रन्थ 'भावना की परीक्षा' पर आधारित है। कान्ट का यह ग्रंथ उसके तत्वज्ञान का आधार स्तम्भ है। तीनों ग्रन्थों में मानवीय मन की तीन शक्तियों अर्थात् विवेक शक्ति, इच्छा शक्ति और भावना शक्ति का विवेचन किया गया है।

विवेक शक्ति का विवेचन करते हुए कान्ट ने लिखा है कि मनुष्य की विवेक शक्ति एक पृथक्करणात्मक शक्ति है विधायक शक्ति नहीं। विवेक की शक्ति इतनी ही है कि वह संवेदनाओं का पृथक्करण करके उसमें से अनुमान के द्वारा सिद्धान्तों का निष्कर्ष कर ले। मगर विवेक के द्वारा नूतन ज्ञान की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। अतएव यह कहना कि सम्पूर्ण ज्ञान विवेक के द्वारा होता है भ्रमपूर्ण है।

इन्द्रिय संवेदना के सम्बन्ध में कान्ट का मत है कि यह बात सत्य है कि सम्पूर्ण *मानवीय ज्ञान का प्रारम्भ इन्द्रिय* संवेदना से होता है किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि सम्पूर्ण ज्ञान संवेदनात्मक ही है। संवेदना ज्ञान का एक अंग है। इस अंग को बुद्धि की सहायता मिले बिना उसे ज्ञान का रूप प्राप्त नहीं हो सकता। संवेदना और बुद्धि के संयोग से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार उसने अपने परीक्षणात्मक तत्वज्ञान में विवेकवाद और संवेदनावाद दोनों प्रणालियों को एक दूसरे का पूरक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उसने संवेदनावाद और विवेकवाद दोनों से सत्य का अंश अपने तत्व- ज्ञान में ग्रहण किया और भली प्रकार सिद्ध कर दिया कि मानवीय ज्ञान में संवेदना और विवेक दोनों ही वस्तुओं का अस्तित्व है और उनकी समान उपयोगिता है।

इसके पश्चात् कैन्ट का दर्शन ह्यूम ही की तरह अज्ञेय वाद के सिद्धान्त पर आता है। वह विवेकवादियों के इस मत को स्वीकार नहीं करता जिसमें वे कहते हैं कि बाह्य सृष्टि आत्मा का अमरत्व और परमात्मा का ज्ञान हमें विवेक के द्वारा प्राप्त हो सकता है। कान्ट का मत है कि *आत्मा का मूल स्वरूप क्या है? उसके गुण क्या हैं?* यह नाशवान है या अमर है? यह शरीर के आधार पर ही रहता है या शरीर के आधार के बिना भी रह सकता है? ये सब प्रश्न ऐसे हैं जिनको मनुष्य की बुद्धि हल नहीं कर सकती। ये प्रश्न अतीन्द्रिय ज्ञान के हैं और ऐसा ज्ञान होना हमारी बुद्धि के लिए असम्भव है। हमारी बुद्धि इन्द्रियों की संवेदना से मर्यादित है वह स्वतन्त्र शक्ति नहीं है। बुद्धि का काम तो इतना ही है कि वह संवेदनाओं का इन्द्रियों पर संस्कार कर देती है। इसी प्रकार बाह्य सृष्टि का वास्तविक ज्ञान भी हमें संवेदनाओं के द्वारा सम्पूर्ण रूप से नहीं हो सकता।

इस तरह कान्ट ने सिद्ध किया है कि तत्वज्ञान को बुद्धि के द्वारा प्राप्त होना असम्भव है। यद्यपि यह बात सत्य है कि मानवीय ज्ञान के द्वारा विवेक शक्ति को आत्मा सृष्टि का स्वरूप और परमेश्वर की कल्पनाएँ सूझती हैं तथापि ये कल्पनाएँ अतीन्द्रिय होने के कारण इनका वास्तविक ज्ञान मनुष्य को होना असम्भव है। कान्ट की इस विचारधारा को "नैतिक अज्ञेयवाद" कहा जाता है।

इस प्रकार कान्ट ने इस नैतिक अज्ञेयवाद के द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि सृष्टि आत्मा और परमात्मा का ज्ञान बुद्धि के द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। मगर इसके सिवाय भी मनुष्य के अन्दर कोई ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा इन अज्ञेय तत्वों पर विश्वास उत्पन्न हो सके। इस पर कान्ट का कहना है कि बुद्धि द्वारा इन प्रश्नों का हल न

होने पर भी मनुष्य के मन की अन्य शक्तियों के द्वारा इन प्रश्नों का हल किया जा सकता है और इसके साथ ही कान्ट का तत्त्वज्ञान नैतिक प्रश्नों की ओर मुड़ जाता है।

कान्ट का कथन है कि मनुष्य में अनेक प्रकार की वासनाएँ होती हैं। मगर पशुओं से उसको अलग करने वाली उसकी विवेकशक्ति उन वासनाओं को हमेशा नैतिक नियन्त्रण में रखती है। मनुष्य की विवेक शक्ति उसे आज्ञा देती रहती है कि विवेकी मनुष्य होने के कारण तुम्हारे कुछ निश्चित कर्त्तव्य हैं जिन्हें बिना किसी प्रकार के पक्ष की आशा किये करना चाहिए। इस प्रकार मनुष्य वासनाओं पर नियन्त्रण करके विवेक की पूजा करता है। इसी स्थान से नीतिशास्त्र का उद्गम होता है। इस बिना शर्त की आज्ञा से ही सम्पूर्ण नीति के नियम निकले हैं।

नीतिशास्त्र का पहला सिद्धान्त यह है कि मनुष्य को अपने कर्त्तव्य कर्म का ज्ञान होना चाहिए। 'मुझे अमुक कार्य करना ही चाहिए क्योंकि यह मेरा कर्त्तव्य है। बाह्य सृष्टि में लागू होने वाला कार्य कारणभाव मुझ पर नहीं लग सकता क्योंकि मैं विवेकी मनुष्य हूँ। बाह्य सृष्टि से भिन्न सद्सद् विवेक का निर्णय देने वाली कोई शक्ति मेरे में है और वह शक्ति मेरी आत्मा है। इस प्रकार नीति विषयक सद्सद् विवेक शक्ति की आज्ञा द्वारा आत्मा का स्वतन्त्र एवं कार्य कारण भाव रहित अस्तित्व सिद्ध होता है। आत्मा के सम्बन्ध में हमारी बुद्धि ऐसा सिद्धान्त नहीं निकाल सकती क्योंकि आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना ही अतीन्द्रिय है। इसी प्रकार इसी नीति विषयक भावना से हमारी अतीन्द्रिय शक्ति आत्मा के अमरत्व की भी खोज निकालती है।

इसी प्रकार जब हमारी विवेक शक्ति यह कहती है। कि सद्गुणी और सदाचारी मनुष्य को हमेशा सुखी और दुराचारी और दुरात्मा को हमेशा दुःखी रहना चाहिए। मगर वास्तविक संसार में हम ऐसा दिखाई नहीं पड़ता। कई बार देखा जाता है कि दुराचारी और दुरात्मा पुरुष अन्त तक सुख शान्ति और गौरव को भुगतते हैं और सदाचारी और धर्मात्मा मनुष्य जीवन भर दुःख उठाते रहते हैं। तब हमारी विषयबुद्धि इसका कारण नहीं बतला सकती और वह निरुत्तर हो जाती है। उस समय हमारी भावना सहज ही में पुनर्जन्म और परमेश्वर का अस्तित्व मानने को तैयार हो जाती है और हमारी अतिन्द्रिय शक्ति परमात्मा के अस्तित्व का स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाती है।

सारांश यह कि जो बातें बुद्धि के द्वारा, शास्त्र के द्वारा और सवेंदनात्मक ज्ञान के द्वारा सिद्ध नहीं होती, वे बातें हम अपने नैतिक अनुभव के द्वारा सिद्ध कर सकते हैं।

अतएव तत्त्वज्ञान का महल भौतिक अनुभव पर खड़ा न करके (क्योंकि वहाँ हमें अज्ञेयवाद और अध्यात्म निरुत्तर कर देते हैं) नैतिक अनुभव की पुख्ता नींव पर पर उठाना चाहिए। ऐसा न कहना चाहिए कि हमें "आत्मा परमात्मा, सृष्टि आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान हो गया है बल्कि यह कहना चाहिए कि इनके विषय में हमारी विवेक श्रद्धा उत्पन्न हो गई है।'

इसके बाद अपने तीसरे ग्रंथ (क्रीटिक ऑफ जजमेंट) में कान्ट ने जड़ और चेतन जगत् में जो सौन्दर्य विन्यास प्रयोजन और रचना चातुर्य नजर आता है उसका विवेचन किया है। इस विवेचन से मनुष्य को मालूम होने लगता है कि इस कलापूर्ण जगत् का कोई न कोई कर्त्ता अवश्य है। अतएव जैसे हमें अपने नैतिक अनुभव द्वारा आत्मा और परमात्मा में श्रद्धा उत्पन्न होती है। उसी प्रकार सौन्दर्यानुभूति के द्वारा भी हम परमात्मा का अतीन्द्रिय अनुभव कर सकते हैं। थोड़े से शब्दों में कान्ट के तत्त्वज्ञान को हम इस प्रकार कह सकते हैं—

'हम आत्मा और परमात्मा को दृष्टि द्वारा और बुद्धि द्वारा नहीं देख सकते क्योंकि ये पदार्थ अतीन्द्रिय हैं। इसलिए इनके सम्बन्ध में अज्ञेयवाद स्वीकार करना ही श्रेष्ठ है मगर नीतिशास्त्र और नैतिक अनुभव के द्वारा हमारे मन में आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में अगाध और विवेकपूर्ण श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है और हमारी सौन्दर्यानुभूति विषयक धारणा इस महान सृष्टि को देखकर स्वभावतः उस परमात्मा के सम्मुख हमें नतमस्तक कर देती है और ऐसा भान होने लगता है जैसे वह हमारे सामने साक्षात् खड़ा है।

परमात्मा के विषय में हम सिर्फ इतना ही जान सकते हैं। और इतना जानना भी कुछ कम नहीं है।

कायटोर जार्ज (George Cantor)

जर्मनी के एक प्रसिद्ध गणित शास्त्री जिनका जन्म सन् १८४५ में और मृत्यु सन् १९१८ म हुई।

कायटोर जार्ज का जन्म पीट्रोग्राड के एक यहूदी परिवार म हुआ था। बर्लिन विश्वविद्यालय में इन्होंने गणित शास्त्र दर्शन और भौतिक विज्ञान का अध्ययन किया। सन् १८६७ म गणित के एक अनिर्णीत सवाल के हल करने पर इन्हें पी एच डी की उपाधि प्राप्त हुई।

सन् १८७४ म गणित के सम्बन्ध में इनका कान्टर सिद्धान्त नामक क्रान्तिकारी शोध पत्र प्रकाशित हुआ। इस शोध पत्र के पश्चात् इन्होंने और कई शोध पत्र प्रकाशित किये जिससे गणित संसार में इनकी प्रसिद्धि हो गई।

काठमांडू

स्वाधीन नेपाल-राज्य की राजधानी जो बागमती और विष्णुमती नदी के सम्मिलन पर 'नागार्जुन' पहाड़ी पर अवस्थित है। इसकी ऊँचाई समुद्र की सतह से ४५ फीट है और यहाँ की जन संख्या १ ६६८ है।

ऐसा समझा जाता है कि 'काठमांडू' की स्थापना सन् ७२३ ई म 'गुणकामदेव' नामक व्यक्ति के द्वारा हुई। पहले इसका नाम 'मञ्जुपट्टन' था। सन् १५९६ ई म राजा लक्ष्मणसिंह मल्ल ने नगर के मध्य में सन्यासियों के लिए विशुद्ध काष्ठ का एक विशाल काठ मन्दिर और साधु-मण्डप का निर्माण करवाया। इसी काठ मण्डप से 'काठमाण्डू' नाम निकला।

पहले यह नगर चारों ओर प्राचीर से वेष्ठित था और उस पर बीच-बीच में कई सुन्दर तोरण बने हुए थे मगर अब ये सब खण्डहर की हालत म पड़े हुए हैं।

काठमाण्डू में एक दूसरे प्रकार के मन्दिर भी देखने आते हैं, जो स्तम्भ पर गुम्बज एकदम बनाये गये हैं। 'तलेजू' नामक मन्दिर देखने में भुवनेश्वरी मन्दिर से मिलता है। लोगों के कथनानुसार इसे सन् १५४९ ई में राजा 'महेन्द्र मल्ल' ने बनवाया था। अनेक मन्दिरों के सामने उनके प्रतिष्ठाता प्राचीन राजाओं की, पत्थर की मूर्तियाँ बनी हुई हैं।

उत्तर-पूर्व के सिंहद्वार पर सिंह द्वार से होकर निकलने पर दक्षिण की ओर 'रानी पोखरी' नामक एक विशाल दीर्घिका मिलती है। इस दीर्घिका के मध्यस्थल म एक मन्दिर है। मन्दिर के दक्षिण म एक विशाल प्रस्तर की हस्तिपीठ पर राजा प्रताप मल्ल की मूर्ति बनी हुई है। यही राजा इस मन्दिर और दीर्घिका के निर्माता थे।

इसके बाद दक्षिण की ओर एक मैदान आता है। इस मैदान के पश्चिम म प्राचीन सेनापति 'भीमसेन थापा' का 'दरहरा' नामक २५० फीट ऊँचा पत्थर का स्तम्भ बना हुआ है। इस स्तम्भ की गठन प्रणाली बहुत सुन्दर है। यह स्तम्भ सन १८५६ ई में बिजली के गिरने से टूट गया था। सन् १८६९ में इसकी फिर वापस मरम्मत हुई।

काठमाण्डू नगर में विशेष रूप से नेवारी ठाकुरी, गुरंग और गोरखा—ये चार प्रकार की जातियाँ रहती हैं। गोरखा लोग अपनी युद्ध क्षमता, सैनिक साहस और वीरता के कारण सारे संसार म प्रसिद्ध हैं।

यहाँ के मन्दिरों में पशुपति नाथ भीमनाथ स्वयंभूनाथ तथा हनुमानढोका दर्शनीय हैं। पशुपतिनाथ नेपाल-राज्य के इष्टदेव हैं और इनके वार्षिक मेले म दूर दूर के यात्री दर्शन करने आते हैं। यहां के घरेलू उद्योगों म लकड़ी का उद्योग प्रमुख है। हाल ही म भारत-सरकार की सहायता से भारत को नेपाल से मिलाने के लिए करीब ११ मील लम्बा 'त्रिभुवन राजपथ' रक्सौल से काठमाण्डू तक बनाया गया है। हवाई यात्रा के लिए भी काठमाण्डू के लिए 'हवाई-सर्विस' शुरू हो गई है।

काठियावाड़

भारतवर्ष के पश्चिमी तट पर बसा हुआ एक प्रायद्वीप। इसके उत्तर पश्चिम म कच्छ की खाड़ी तथा दक्षिण पूर्व में खम्भे की खाड़ी है। अंग्रेजी सरकार के समय म यह प्रान्त बम्बई प्रान्त के अन्तर्गत था। और इसमें कई देशी रियासतें सम्मिलित थीं। अब यह सौराष्ट्र के नाम से प्रसिद्ध है और गुजरात प्रान्त का एक अङ्ग है। इसका ऐतिहासिक परिचय "सौराष्ट्र" नाम के अन्तर्गत इस ग्रन्थ में यथा स्थान दिया जायेगा।

काण्डला बन्दरगाह

काण्डला-बन्दरगाह सौराष्ट्र प्रान्त के समुद्र तट पर नव विकसित किया हुआ बन्दरगाह है। कराची बन्दरगाह के पाकिस्तान में चले जाने से उस कमी को पूरा करने के लिए सन् १९४९ ई० में केन्द्र-बन्दरगाह के नमूने पर काण्डला का निर्माण-कार्य शुरू हुआ। इस बन्दरगाह का अन्तर्विस्तार (Hinterland) तीन लाख वर्ग मील के करीब है। और इसकी सीमा में गुजरात प्रान्त के सिवाय राजस्थान, पंजाब हिमाचल प्रदेश और कश्मीर तक का विस्तार आ जाता है।

सन् १९५५ ई० काण्डला बन्दरगाह सलाहकार-समिति ने काण्डला-बन्दरगाह की उन्नति के लिए इस बन्दरगाह में मुक्त-व्यापार क्षेत्र बनाने की एक योजना केन्द्रीय सरकार के सामने पेश की। इस योजना ने केन्द्रीय सरकार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया और उसने इस बन्दरगाह में मुक्त-व्यापार-क्षेत्र घोषित करना स्वीकार करके १६ जनवरी सन् १९६१ के दिन उसका प्रारम्भ कर दिया।

काण्डला के मुक्त-व्यापार क्षेत्र की सरकारी घोषणा होते ही इस स्थान ने देश भर के तथा विदेशी के उद्योग-पतियों और साहसी व्यापारियों का ध्यान अपनी ओर खींच लिया। इस बन्दरगाह में बड़े बड़े विशाल माल भरने के गोदाम बनाने के लिए तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के कारखाने डालने के लिए खुली हुई जमीन लीज पर दी जाती है। इस मुक्त-व्यापार क्षेत्र में उद्योग और व्यापार दोनों क्षेत्रों के उत्पादन के लिए कच्चा माल और आधा तैयार किया माल आयात करने दिया जाता है। यह मुक्त व्यापार क्षेत्र शुरू में १६ एकड़ भूमि में निर्मित किया गया। आवश्यकतानुसार इस क्षेत्र में वृद्धि होती जायेगी। इस क्षेत्र के आसपास चारों ओर तारों की ऊँची बाड़ लगाई हुई है। इस क्षेत्र से जानेवाले और यहाँ आनेवाले माल पर कस्टम अधिकारियों की पूरी निगरानी रहेगी।

यह बन्दरगाह सभी प्रकार की आधुनिक सामग्रियों से सुसज्जित है। इसमें २७ फुट गहरी गहरा पानी की जेटी है जिस पर चार जहाज आसानी से लग सकते हैं। इस बन्दरगाह से प्रतिवर्ष दस लाख टन का आयात निर्यात होता है।

काण्डला के समीप ही "गांधीधाम" नामक एक नवीन नगर की स्थापना ७ एकड़ भूमि पर की गई है। इस नगर की जनसंख्या चालीस हजार से अधिक होगई है। पन्द्रह करोड़ से अधिक रुपया इस बन्दरगाह और गांधीधाम के निर्माण कार्य में खर्च हो चुका है।

काणे पाण्डुरंग वामन

(डाक्टर, महामहोपाध्याय)

दक्षिणी भारत के सुप्रसिद्ध विद्वान, भाषाशास्त्री और इतिहासकार, महामहोपाध्याय डा० पाण्डुरंग वामन काणे जिनका जन्म ७ मई सन् १८८० को रत्नागिरि जिले में परशुराम नामक स्थान पर हुआ।

डॉ० काणे संस्कृत-भाषा, साहित्य वेद, धर्मशास्त्र प्राचीन भारतीय इतिहास, मीमांसा और पुरातत्व विद्या के प्रकाण्ड पण्डित हैं। इनका सबसे अधिक अध्ययन पूर्ण ग्रन्थ "धर्म शास्त्र का इतिहास" है जिसके बहुत बड़े-बड़े पाँच भाग तो निकल चुके हैं और अभी और निकलना बाकी है। धर्मशास्त्र का इतिहास, उन के गम्भीर अध्ययन प्रकाण्ड पाण्डित्य और बहुमुखी प्रतिभा का प्रमाण है। पूर्व और पश्चिम के कई विद्वानों ने इसे "विश्व-ज्ञान-कोष" की संज्ञा दी है।

डॉ० काणे ने सन् १९०१ में अंग्रेजी और संस्कृत में एम ए परीक्षाएँ पास कीं। सन् १९०८ में उन्होंने लॉ की परीक्षा (L L B) पास की तथा १९१२ में उन्होंने हिन्दू मुसलिम कानूनों में मास्टर ऑफ-लॉ (L. L. M) की डिग्री प्राप्त की। सन् १९१७ में १९११ तक वे बम्बई लॉ कॉलेज में प्राध्यापक रहे। साथ ही बम्बई बनारस नागपुर और आगरा विश्वविद्यालयों की बी ए एम ए पी एच डी आदि परीक्षाओं में वे संस्कृत भाषा की परीक्षक भी रहे। सन् १९४१ में उन्हें महामहोपाध्याय की पदवी प्राप्त हुई और उसी समय दो वर्ष के लिए वे बम्बई विश्व विद्यालय के उपकुलपति भी रहे।

इलाहाबाद युनिवर्सिटी ने उन्हें डाक्टर आफ लिटरेचर की उपाधि से विभूषित किया। डा. काशी प्रसाद अखिल भारतीय प्राच्यविद्या-सम्मेलन नागपुर और अखिल भारतीय इतिहास-सम्मेलन बीकानेर के अध्यक्ष भी रहे।

डा. काशी का जीवन—सादाजीवन और उच्चविचार (Simple living & high thinking) का प्रत्यक्ष उदाहरण है। उनका जीवन अत्यन्त सादा और नियमित है।

कात्यायन-वररुचि

पाणिनी के व्याकरण पर सुप्रसिद्ध वार्तिक लिखने वाले आचार्य जिन्होंने कुछ अन्य ग्रन्थों की भी रचना की थी और जिनके सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि वे मगध नरेश नन्द के मन्त्री भी थे। इनका समय ईसापूर्व चौथी शताब्दी माना जाता है।

कात्यायन वररुचि के सम्बन्ध में किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचने में इतिहासकारों को बड़ी कठिनाई पड़ती है क्योंकि कात्यायन और वररुचि नामों के कई व्यक्ति संस्कृत साहित्य में हुए।

पाणिनी व्याकरण पर वार्तिक लिखने वाले कात्यायन मुनि का नाम भी वररुचि था दूसरा तरफ प्राकृत प्रकाश नामक प्राकृत भाषा के प्राचीन व्याकरण बनाने वाले का नाम भी वररुचि था और एक ऐसे वररुचि भी हुए जो कवि थे और जिनके पद्य कई सूक्ति ग्रन्थों में संग्रहीत हैं।

कथा सरित्सागर नामक ग्रन्थ में कात्यायन वररुचि के के जन्म का वर्णन करते हुए लिखा है कि "पुष्पदन्त नामक महादेव के एक अनुचर ने शापित होकर कौशाम्बी नगरी में सोमदेव ब्राह्मण के घर में जन्म लिया वही कात्यायन वररुचि के नाम से विख्यात हुआ।"

इसी कथा सरित्सागर में आगे चलकर लिखा है कि "वररुचि कात्यायन पाटलिपुत्र के नन्द राजा के मन्त्री थे। इन्होंने "वररुचि" नामक परिच्छेद से इन प्रकार की नियमपूर्व की। व्याकरण के ही ये आचार्य हो गये।"

डा. भण्डारकर ने कथा सरित्सागर से उल्लिखित कथा को प्रामाणिक मानकर वररुचि का समय ईसा से ४ पूर्व चौथी सदी में माना है।

कात्यायन वर रुचि द्वारा रचित वार्तिक पाणिनी-व्याकरण के लिए अत्यन्त महत्व पूर्ण साबित हुए हैं। इन्हीं वार्तिकों के आधार पर आगे चलकर पातञ्जलि ने महा भाष्य की रचना की। पातञ्जलि ने अपने महाभाष्य में वर रुचि द्वारा रचित एक "वररुचमरस" नामक काव्य का भी उल्लेख किया है जो इस समय अनुपलब्ध है। इससे पता लगता है कि कात्यायन वररुचि अपने समय के महाकवि भी रहे थे।

प्राकृत प्रकाश ग्रन्थ के रचयिता वररुचि कात्यायन इन वररुचि से भिन्न थे। इनका समय सम्भवतः ईसा की छठी शताब्दी में था।

कातो (Kato)

लैटिन भाषा के गद्य का पहला गद्यकार जो रोम का निवासी था। जिसका समय ई. पू. २३४ से ई. पू. १४६ तक है।

कातो का दूसरा नाम सेन्सोर (Censor) भी था वह प्रसिद्ध वक्ता और लेखक था। रोम की राष्ट्रीय परम्परा का वह कट्टर समर्थक था। ग्रीक विचार धारा उसे पसन्द नहीं थी। उसकी लेखन शैली और भाषण शैली बड़ी तीव्र और तेजस्वी थी।

कातेना

इटली के वेनिस नगर का एक चित्रकार जिसका समय सन् १४७० से १५३१ तक था।

चित्रकला में कातेना जोवानी बालिनी नामक चित्रकार का शिष्य था। इसके चित्रों का संग्रह वेनिस के सेंट मार्सिस चर्च में सुरक्षित है।

कादम्बरी

महाकवि बाणभट्ट रचित संस्कृत का एक महान गद्य काव्य और उपन्यास जिसकी रचना ईसा की सातवीं सदी में हुई।

संसार के साहित्य में कुछ महान् व्यक्तित्व और उनकी कुछ रचनाएँ ऐसी होती हैं जो उस साहित्य का गौरव के

शिखर पर पहुँचा देती है। जो विश्व साहित्य के आँगन में चन्द्रमा की तरह प्रकाश पहुँचाती है। कादम्बरी भी संस्कृत साहित्य के आँगन में एक ऐसे ही प्रकाश पुंज की की तरह है जो सारे साहित्य को प्रकाशित करती है और जो विश्व साहित्य को एक चुनौती है।

कादम्बरी के कथानक का विकास एक प्रेमकथा के रूप में होता है मगर वह प्रेम कथा बीसवीं सदी की प्रेम कथा नहीं है। वह एक ऐसे युग की प्रेम कथा है जिसके एक एक शब्द में एक सम्पन्न संस्कृति के, उच्च नैतिकता के महान् संयम के और अद्भुत बलिदान के दर्शन होते हैं। जिसमें भोग के साथ योग के, वासना के साथ संयम और मेघतम शृंगार और रसिकता के साथ एक मर्यादा के भी दर्शन होते है।

एक छोटी कहानी को लेकर उसमें इस महान् विद्वान ने अपने रचना कौशल से अपने शब्द सौन्दर्य से अलंकारों और उपमानों से और जीवन के गहनतम अनुभवों से जो महान प्राण प्रतिष्ठा की है वह अनुपम है। भिन्न-भिन्न रंगों की कल्पना कूँची से इस महान चितेरे ने जिस महाश्वेता के जिस कादम्बरी के, जिस चन्द्रापीड़ के और जिस वैशम्पायन के चित्रों का अवतरण किया है वह संसार म दुर्लभ है। भिन्न भिन्न अवसरों पर वर्णनात्मक शैली में जीवन के जिन महान सत्यों का इसने दर्शन कराया है वे अद्भुत हैं।

घटना क्रम की विचित्रता भी इस ग्रंथ म बड़े अनूठे ढंग से विकसित हुई है। जो स्थान-स्थान पर पाठक को एक आश्चर्यजनक, एक आनन्ददायक विस्मय में डालती रहती है और पाठक उत्सुकता के साथ आगे की घटना की प्रतीक्षा करता रहता है।

काव्य सौन्दर्य की माधुरी में डूब जाने के कारण कई स्थानों पर कवि का विवेचन इतना विस्तृत हो गया है कि उससे घटनाक्रम शिथिल पड़ जाता है और पाठक कुछ ऊबने की स्थिति में आ जाता है और भाषा भी अलंकारों से कुछ अधिक बोझिल होती हुई दिखलाई पड़ती है। मगर इसमें कवि का दोष नहीं है। उसकी लेखनी भाव मुग्ध होकर जब कल्पना म विचरण करने लगती है तब उसको रोकने की शक्ति किसी में नहीं रहती।

कादम्बरी का कथानक संक्षेप में इस प्रकार है—

महाराज शूद्रक की राजसभा में एक दिन एक चाण्डाल की प्रवीण सुन्दरी कन्या एक तोते के पींजरे को लेकर आती है और निवेदन करती है कि महाराज! यह तोता अत्यन्त ज्ञानी, चमत्कार और विवेकशील है। यह रत्न आपके समान राजाओं के महल में ही शोभा पा सकता है इसलिए इसे मैं आपके पास लाई हूँ।"

राजा ने यह सुनकर जब तोते की तरफ देखा तो तत्काल तोते ने अपना बायाँ पैर उठा कर नमस्कार करते हुए यह श्लोक पढ़ा—

स्तनयुगमश्रु स्नातं समीपतरवर्ति हृदयशोकाग्नेः ।
चरति विमुक्ताहारं, व्रतमिव भवतो रिपु स्त्रीणाम् ॥

तोते के मुँह से यह श्लोक सुनकर राजा बड़ा विस्मित हुआ। उसने उस तोते से उसका जीवन वृत्तान्त कहने को कहा। तोते का जाबालि मुनि के द्वारा बताया हुआ जीवन वृत्तान्त ही इस महान काव्य की मूल कथा है।

तोते ने जाबालि ऋषि द्वारा कही हुई कहानी को बताते हुए कहा—

उज्जयिनी नगरी म तारापीड़ नामक एक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम विलासवती और उसके मंत्री का नाम शुकनास था। राजा और मंत्री दोनों ही निःसन्तान होने के कारण बड़े दुःखी रहते थे। बड़ी मनौतियों के पश्चात् राजा तारापीड़ को चन्द्रापीड़ और मंत्री शुकनास को वैशम्पायन नामक एक एक पुत्र की प्राप्ति हुई। राजा और मंत्री के इन दोनों पुत्रों में बचपन से ही जिस स्नेह भाव का उदय हुआ वह जीवन भर एक सा बना रहा। किशोरावस्था आने पर चन्द्रापीड़ को युवराज पद पर आसीन कर दिया गया। युवराज पद पर आसीन होने के पहले शुकनास मंत्री ने आशीर्वाद देते हुए उसे सत्ता यौवन, धन और लक्ष्मी की मोहकता से सतर्क रहने का जो उपदेश दिया उसका थोड़ा सा वर्णन बाण कवि की भाषा म इस प्रकार है—लक्ष्मी का विवेचन करते हुए मंत्री शुकनास कहते हैं—

कल्याण के अभिलाषी आप पहले लक्ष्मी को ही देखिए। जिस तरह कमल वन में भ्रमरी विचरती है उसी

प्रकार लक्ष्मी वीरों के तलवार रूपी वन में भ्रमण करती है। यह पारिजात की पत्ती से राग, खण्डित चन्द्रमा की कला से वक्रता, इन्द्र के घोड़े उच्चैःश्रवा से चंचलता, कालकूट विष से मोहनी शक्ति, वारुणी मदिरा से मद और कौस्तुभ मणि से अतिशय नैठुर्य्य इन सब अवगुणों को अपने साथ ही लेकर पैदा हुई है। उपरोक्त सब वस्तुएँ समुद्र मथन से लक्ष्मी के साथ ही पैदा हुई थीं और इसी से अपने हर एक साथी का एक-एक गुण इसने ग्रहण कर लिया है।'

'इस तृष्णा (लक्ष्मी) के समान अपरिचित इस संसार में कोई वस्तु नहीं है। पहले तो इसका मिलना ही कठिन है फिर यदि किसी प्रकार मिल भी जाय तो इसका सम्हालना मुश्किल हो जाता है। खूब मजबूत गुणरूपी रस्सियों से बाँधने पर भी यह भाग जाती है। हजारों अति गर्वीले वीरों द्वारा तलवार रूपी सलाखों के पींजरों में बन्द करके रखने पर भी यह निकल जाती है।

यह न परिचय का ख्याल करती है न कुल की मर्यादा देखती है न रूप की ओर निहारती है न शील पर दृष्टिपात करती है न शास्त्र ज्ञान सुनती है न धर्म का पालन करती है न सत्य को कुछ समझती है। यह तो आकाश में दीखने वाले गन्धर्व नगर के समान देखते देखते गायब हो जाती है।

इस प्रकार की यह दुराचारिणी लक्ष्मी जिस राजा को वरण करती है उसी को दुराचार, अत्याचार और अहंकार के पथ पर आरूढ़ कर देती है। माथे पर ताज रखते ही उनकी सत्यप्रियता उड़ जाती है। जयजयकार का कोलाहल सुनते ही उनका मनुष्यत्व स्वप्न हो जाता है।

अतएव हे राजकुमार चन्द्रापीड़! कठोर राजशासन के व्यवहार तथा इस महा मोहकारी यौवन के चक्र में तुम ऐसा प्रयत्न करो जिससे लोग तुम्हारा उपहास न करें, साधु जन तुम्हारी निन्दा न करें, गुरुजन तुम्हें धिक्कार न दें, तुम्हारे मित्रगण तुम्हें उलाहना न देने पावें, कामी लोग तुम्हारी बुराई न करें, चतुर लोग तुम्हें ठगें नहीं, लम्पट जन तुम्हें वश न कर पावें, धूर्त तुम्हें धोखा न दे सकें, स्त्रियाँ तुम्हें लुभा न सकें, लक्ष्मी तुम्हारी विडम्बना न करे, और विषय वासना तुम्हें प्रमादी न बना सके।'

'अन्त में मेरा आशीर्वाद है कि तुम अपने पिता के द्वारा प्रदत्त इस यौवराज्य पद के सभी सुखों का उपभोग करो। अपने कुल क्रम से चले आते हुए राज्यभार का वहन करो, शत्रुओं का मस्तक नीचा करो, अपने बन्धुजनों का उत्कर्ष करो और दिग्विजय के लिए निकल पड़ो।'

मंत्री का आशीर्वाद पाकर युवराज चन्द्रापीड़ दिग्विजय के लिए निकल पड़ता है। दिग्विजय करता हुआ वह हेमकूट पर्वत के पास पहुँचता है। एक दिन कुछ सैनिकों को साथ लेकर वह मृगया के लिए निकलता है। वहाँ पर किन्नर मिथुनों के एक जोड़े को देखकर वह उनका पीछा तेजी से करता है। दूर निकल जाने पर उसके सब साथी छूट जाते हैं और वह आगे बढ़ता हुआ अच्छोद सरोवर नामक एक रमणीक सरोवर के किनारे जा पहुँचता है।

वहीं पर उसे शिवजी के मन्दिर में तपस्विनी के रूप में 'महाश्वेता' नामक युवती सुन्दरी के दर्शन होते हैं। वह शिवजी के सामने एक मनोहर रागिनी का गान कर रही थी।

संगीत समाप्त होने पर उस कन्या ने चन्द्रापीड़ को देखा और उससे कहा 'अतिथि! मैं आपका स्वागत करती हूँ। आप यहाँ कैसे आये? अच्छा अब उठिये और चलकर मेरा आतिथ्य स्वीकार कीजिए।' चन्द्रापीड़ अत्यन्त विनीत भाव प्रदर्शित करता हुआ उसके साथ उसकी कन्दरा पर जाता है। उस कन्दरा में एक तपस्वी की आवश्यकतानुसार एक भिक्षा पात्र और एक तूम्बी रक्खी हुई थी। कन्या ने पत्ते के दोने में कुछ फल मूल और जल देकर अतिथि का सत्कार किया।

अब चन्द्रापीड़ को उसका वृत्तान्त जानने की उत्कण्ठा हुई, वह कहने लगा।

भगवती! आपने जन्म लेकर देवताओं, ऋषियों, गन्धर्वों, यक्षों या अप्सराओं में से किसके कुल को अनुगृहीत किया है? ऐसे पूर्ण तरुण सुकुमार नवयौवन में आपने यह सन्यास व्रत क्यों ले लिया है? कहाँ यह अवस्था, यह सुन्दर आकार, कहाँ यह लावण्य और कहाँ यह कठोर तपस्या!' मुझे तो यह सब बड़ा अद्भुत लग रहा है। अत्यन्त सिद्ध लक्ष्मी ने प्यारे तथा देवलोक में प्राप्य दिव्य

आश्रम को त्यागकर आप निर्जन वन में अकेली क्यों रह रही है और फिर यह कौन सी युक्ति है जिससे इस प्रकार कष्ट सहते हुए भी आप का शरीर गौर और लावण्य युक्त बना हुआ है। अन्यत्र मने ऐसा होते हुए न देखा है और न सुना ही। अतएव आप अपने जीवन का वृतान्त बताकर मेरे कुतूहल को दूर कीजिए।"

चन्द्रापीड के इस प्रश्न को सुनकर वह तपस्विनी कन्या बड़े बड़े आँसुओं की झड़ी लगाती हुई रोने लगी। वह कहने लगी कि राजपुत्र! मुझ जैसी क्रूर हृदया, अभागिनी और पापिनी नारी के वैराग्य की नीरस-गाथा को सुनकर आप क्या करेंगे। फिर भी आपका कुतूहल बढ़ा हुआ है तो सुनिये—

'एक दिन मैं अपनी माता के साथ इसी अच्छोद सरोवर में स्नान करने आई। यहाँ पर अकस्मात् मुझे एक बड़ी मादक सुगन्ध का अनुभव हुआ। उस सुगन्ध की राह में जब मैं आगे बढ़ी तो मुझे दो अत्यन्त सुन्दर ऋषि-कुमारों के दर्शन हुए। उनमें से एक ऋषि कुमार के कान में एक पुष्प-मञ्जरी लगी हुई दिखायी दी। वहीं से उस सुगन्ध का स्रोत उठ रहा था। मैंने उन ऋषि कुमारों को प्रणाम किया और उस सुगन्धित मञ्जरी का विवरण पूछा। तब उनमें से एक ऋषि कुमार ने कहा कि मेरे इस साथी का नाम 'पुण्डरीक' है यह महामुनि 'श्वेतकेतु' के पुत्र हैं और यह मञ्जरी पारिजात की है। तब पुण्डरीक ने वह मञ्जरी अपने कान में से निकालकर मेरे कान में पहना दी। उसी समय उसकी असावधान में उसकी रुद्राक्ष-माला गिर पड़ी। उसे उठाकर मैंने अपने गले में पहन लिया और चलते समय मैंने इस माला के बदले उसे अपना हार दे दिया।

उस समय की महाश्वेता की मनःस्थिति का वर्णन करते हुए महाकवि लिखते हैं कि—

'जब जगत में पुण्डरीक से अलग होकर महाश्वेता अपने घर आ गई तब वह सीधे अपने अन्तःपुर में चली गई। उसके वियोग से शोकाकुल रहने के कारण वह भी न जान सकी कि मैं घर आ गई या वहीं खड़ी हूँ। मैं अकेली हूँ कि परिजनों से घिरी हुई हूँ। मैं चुप हूँ या बोल रही हूँ। मैं जागती हूँ या सो गई हूँ। मैं सुख में हूँ या दुःख में हूँ। यह कोई उत्सव है कि व्यसन है। कामदेव के क्रिया कलाप से अनभिज्ञ होने के कारण मैं यह भी न सोच सकी कि कहाँ जाऊँ क्या करूँ? क्या देखूँ? क्या कहूँ—किससे कहूँ और इसका क्या प्रतिकार हो सकता है?"

उधर पुण्डरीक की भी यही हालत हो रही थी। उसका साथी 'कपिञ्जल' अपने मित्र की खराब हालत देखकर महाश्वेता को उसका सन्देश देने के लिए माला लेने का बहाना करके महाश्वेता के द्वार पर आता है और महाश्वेता के पास अपना सन्देश भेजता है। पुण्डरीक के साथी कपिञ्जल का वर्णन करते हुए महाकवि लिखते हैं कि—

'जैसे रूप का साथी यौवन यौवन का साथी कामदेव, कामदेव का साथी वसन्त और वसन्त का साथी दक्षिणी पवन होता है उसी प्रकार पुण्डरीक का साथी कपिञ्जल महाश्वेता की 'कञ्चुकी' के पीछे चन्द्रमा की चाँदनी के पीछे-पीछे बालरवि के सुनहले प्रकाश सा चल रहा था।"

जब महाश्वेता ने उसके आने का कारण पूछा तो कपिञ्जल ने महाश्वेता के वियोग में मदहोश अपने साथी की दुरवस्था का वर्णन करते हुए कहा— 'राजकन्ये! मैं क्या कहूँ! लज्जा के वशीभूत होने के कारण मेरी वाणी मनोगत भावों को व्यक्त करने में समर्थ नहीं हो रही है। कहाँ तो कन्द मूल खाकर वनवास करने वाले शान्त प्रकृति के मुनि जन और कहाँ यह कामदेव की विविध कामचेष्टाओं से युक्त राग बहुल प्रपंच! पर वास्तविकता यह है कि अनुचित होते हुए भी पुण्डरीक आपके विरह में अत्यन्त दुर्दशाग्रस्त हो गया है। जब मैंने उसकी इस कर्म के लिए भर्त्सना की तब उसने मेरा हाथ थाम कर कहा कि—

"मित्र! अधिक कहने से क्या मतलब! तुम सब तरह से स्वस्थ हो क्योंकि अभी सर्प विष के समान भयंकर काम बाणों के लक्ष्य नहीं बने हो। औरों को उपदेश देना सरल काम है, किन्तु उपदेश ऐसे व्यक्ति को देना चाहिए, जिसकी इन्द्रियाँ और मन काबू में हो। जो भला-बुरा देख सकता हो। देख-सुनकर उस पर विचार कर सकता हो और यह निर्णय कर सकता हो कि क्या शुभ है और क्या अशुभ। लेकिन मित्र! मेरी तो यह सारी बातें समाप्त हो

चुकी है। उपदेश देने का समय बीत गया। विवेचन की वेला भी अब नहीं रही। मेरे अंग अंग जैसे जले जा रहे हैं। हृदय उबल रहा है। आँखें धधक रही हैं। सारा शरीर जला जा रहा है। ऐसी दशा में जो तुम उचित समझो करो।"

कपिञ्जल के द्वारा पुण्डरीक की यह हालत सुनकर महाश्वेता जैसे आनन्द के अमृतमय सरोवर में डूब गयी। मानो रति-रस-सम्पन्न समुद्र में उतर गयी। मानो समस्त सुखों के ऊपर जा बैठी और सभी उत्सवों की पराकाष्ठा पर पहुँच गयी। वह सोचने लगी कि यह मेरे लिए बड़े सौभाग्य की बात है कि मेरी तरह ही मदन उन्हें भी सता रहा है। वह उसी रात 'तरलिका' से परामर्श करके पुण्डरीक से मिलने चली किन्तु सरोवर के समीप पहुँचते ही उसने कपिञ्जल का विलाप सुना। जब पास पहुँची तो देखा कि पुण्डरीक एक शिलापट्ट पर मृतक होकर पड़ा हुआ है और कपिञ्जल उसे सँभाले हुए रो रहा है।

महाश्वेता यह कहते २ मूर्छित हो गयी। सचेत होने पर फिर महाश्वेता कहने लगी कि 'पुण्डरीक को मृत जानकर मैंने तरलिका से चिता तैयार करने को कहा। उसी समय दिव्य देह से युक्त एक तेजस्वी पुरुष आकाशमण्डल से उतरा और उसने कहा कि—"पुत्री महाश्वेता! तुम अपने प्राण मत छोड़ना। क्योंकि इसी जन्म में तुम्हारी पुण्डरीक से फिर भेंट होगी।" यह कह कर वह दोनों हाथों से पुण्डरीक का शव उठाकर आकाश में उड़ गया। पुण्डरीक का साथी भी उसके साथ-साथ आकाश में उड़ गया।

महाश्वेता बोली कि— हे राजकुमार! तभी से तपस्या का व्रत लेकर अपने प्रियतम के इन्तजार में शंकर भगवान की आराधना करती हुई इसी स्थान पर रह रही हूँ। यहाँ तरलिका के सिवाय कोई दूसरा मेरे साथ में नहीं रहता।

चित्ररथ गन्धर्व की कन्या 'कादम्बरी' मेरी सखी है। उसने जब मेरा यह हाल सुना तो उसने भी यह प्रतिज्ञा कर ली कि जब तक मेरी सखी ऐसा महान दुःख भोगेगी तब तक मैं भी विवाह न करूँगी। उसके इस हठ पर उसके माता पिता बड़े दुखी हो रहे हैं और कादम्बरी को समझाने के लिए मुझे बुलाया है।"

दूसरे दिन महाश्वेता चन्द्रापीड को लेकर कादम्बरी के यहाँ गई। कादम्बरी चन्द्रापीड को देखते ही उस पर मोहित हो गई। चन्द्रापीड ने कादम्बरी को प्रणाम किया। उसके बाद चन्द्रापीड को एक सुसज्जित भवन में क्रीडा-पर्वत पर ठहरा दिया गया। रात्रि में कादम्बरी चन्द्रापीड से मिलने गई। चन्द्रापीड अभी सोया ही था कि 'केयूरक' ने आकर उसे खबर दी कि देवी 'कादम्बरी' उससे मिलने आ रही है।

चन्द्रापीड उसे देखकर शिला शयन से उतर आया। उसके पश्चात् चन्द्रापीड ने कहा—"देवि! केवल दृष्टि पात से सन्तुष्ट होजाने वाले हम जैसे सेवकों को तो सम्भाषण का अवसर ही न मिलना चाहिए। फिर इतनी बड़ी अनुग्रह की तो बात ही न्यारी है। आपकी कृपा और स्नेह प्राप्त करने के योग्य मैं अपने में कोई ऐसा गुण नहीं देखता। आपकी अकृत्रिम सरल एवं अभिमान शून्य मधुर सुजनता ही हम जैसे नवागन्तुक सेवकों पर भी इतनी अधिक वात्सल्यकृपा बरसाती है—इसे मैं अपना अहोभाग्य समझता हूँ। यह सेवक जन्म है जिस पर आपका अधिकार हो। यह शरीर तो बस परोपकार के लिए ही है। पर यह जीवन अर्पण करने में भी मैं लज्जा का अनुभव करता हूँ। फिर भी मैं यह बैठा हूँ। यह मेरा शरीर है—यह जीवन है और यह समस्त इन्द्रियाँ समक्ष उपस्थित हैं। इनमें से आपको जो रुचे उसे स्वीकार करके मुझ जैसे सेवक का मान बढ़ाइये।"

आज बीसवीं सदी के प्रेम-कथा-नायकों के साथ जब हम इस प्राचीन युग के प्रेम नायक की तुलना करते हैं तो कितना महान अन्तर मालूम होता है। यौवनावस्था में स्वाभाविक युवक का कामनापूर्ण हृदय 'चन्द्रापीड' ने भी पाया था। सौन्दर्य का आकर्षण भावनाओं का प्रवेग, विकारों की उत्तेजना उसके अन्दर भी थी। मगर इन सब चीजों के साथ मर्यादा का एक बन्धन था। नदी कलकल नाद करती हुई बह रही थी मगर उसके दोनों किनारे सुरक्षित थे। आज की प्रेम कहानियों में वे किनारे और वे

मर्य्यादाएँ टूट चुकी हैं। उस समय की प्रेम-कथाओं में में और आज की इन प्रेम कथाओं में सबसे बड़ा यही मौलिक अन्तर है।

उसके बाद चन्द्रापीड महल में आकर कादम्बरी से मिला और महाश्वेता से अनुमति माँगकर अपनी छावनी में लौट आया।

दूसरे दिन उसकी छावनी में फिर कादम्बरी का सन्देश आया और वह फिर कादम्बरी से मिलने के लिए गया। वहाँ से जब वह अपने शिविर में लौटा तो उसे तुरन्त उज्जयिनी लौट आने के लिए उसके पिता का आदेश मिला।

तब चन्द्रापीड ने वैशम्पायन को बुलाकर कहा कि "पिताजी की आज्ञा से मैं उज्जयिनी जा रहा हूँ। तुम सेना को साथ में लेकर बाद में आजाना और वह तत्काल उज्जयिनी के लिए रवाना हो गया।

कई दिन बाद उज्जयिनी में भी कादम्बरी का दूत 'केयूरक' आ पहुँचा और चन्द्रापीड के वियोग में कादम्बरी की विरह-अवस्था का चन्द्रापीड से वर्णन किया। जिसे सुन कर चन्द्रापीड अत्यन्त व्यथित हुआ और उसने केयूरक के साथ 'पत्रलेखा' को हेमकूट भेजते हुए कहा कि—"केयूरक! तुम चलो मैं वैशम्पायन से मिलकर तुरन्त वहाँ आता हूँ। मगर जब उसे मालूम हुआ कि वैशम्पायन सेना के साथ न आते हुए 'अच्छोद-सरोवर" पर ही रह गया है तो वह सीधा महाश्वेता के आश्रम में अच्छोद सरोवर पर जा पहुँचा।

वहाँ जाकर उसने देखा कि महाश्वेता अत्यन्त उदास भाव से बैठी हुई आँसू बहा रही है। जब चन्द्रापीड ने उससे रोने का कारण पूछा तो उसने कहा कि—'एक दिन एक ब्राह्मण का पुत्र मेरे समक्ष आकर काम सम्बन्धी अनर्गल बातें करने लगा। मैंने उसे बहुत समझाया और रोका। फिर भी जब उसने नहीं माना तब मैंने उसे पक्षी बन जाने का शाप दिया। मेरे शाप देते ही वह धरती पर गिरकर मर गया। बाद में मुझे मालूम हुआ कि वह आप का मित्र वैशम्पायन था।"

वैशम्पायन की मृत्यु का हाल सुनते ही चन्द्रापीड बेहोश हो गया और तत्काल उसके प्राण निकल गये। कादम्बरी ने जब वहाँ आकर चन्द्रापीड की यह हालत देखी तो वह भी मूर्छित होकर गिर पड़ी।

इसी समय चन्द्रापीड के शरीर से एक दिव्य ज्योति निकली और उसने कहा कि—'बेटी महाश्वेता! कादम्बरी! धीरज मत छोड़ना। तुम दोनों के प्रियतम इसी जन्म में तुमसे फिर मिलेंगे। चन्द्रापीड के शरीर को तुम जलाना या गाड़ना मत। इसे कहीं सुरक्षित रखना!"

इतनी कथा कहने के बाद महर्षि जाबालि बोले कि—'तपस्विनी महाश्वेता ने जिस वैशम्पायन को पक्षी हो जाने का शाप दिया था—वह पक्षी यही तोता है। उनकी यह बात सुनते ही मुझे अपने पूर्वजन्म की सभी बातें स्मरण हो आईं और पंख निकलते ही एक दिन मैं घूमने-फिरने का बहाना करके महाश्वेता के आश्रम की ओर उड़ा मगर रास्ते में एक बहेलिए ने मुझे अपने मजबूत जाल में फँसा लिया और एक पींजड़े में बन्दकर मुझे इस चाण्डाल कन्या के हाथों में सौंप दिया। कुछ दिनों बाद यह चाण्डाल कन्या मुझे इस सुनहरे पींजड़े में रखकर आप की सेवा में ले आई।"

राजा शूद्रक ने तोते के मुँह से यह कहानी सुनकर उस चाण्डाल-कन्या को बुलवाया। चाण्डाल-कन्या ने राजा के सामने आकर कहा कि—'हे चन्द्रदेव के अवतार शूद्रक! आपने अपना और इस तोते का सारा वृतान्त सुन लिया। मैं इसकी माता 'लक्ष्मी' हूँ। अब तक वैसे बनी मैंने इसकी रक्षा की। अब आप दोनों दिव्य पुरुष अपना अपना यह कलेवर त्यागकर संसार के सुखों का उपभोग करें!"

चाण्डाल कन्या की बात सुनते ही राजा को अपने पूर्व भव का स्मरण हो आया।

इसके पश्चात् ही महाश्वेता के आश्रम में कादम्बरी के द्वारा सेवित चन्द्रापीड के शरीर में पुनः प्राणों का संचार हो आया। और उसी समय पुण्डरीक भी स्वर्गलोक से पृथ्वी पर उतर आया। शुभ लग्न के बीच तमाम परिजनों की उपस्थिति में कादम्बरी का चन्द्रापीड के साथ और महाश्वेता का पुण्डरीक के साथ अत्यन्त सुन्दर वातावरण में विवाह सम्पन्न हुआ और इसी आनन्द पूर्ण वातावरण

में वातामङ्ग' के महान गवराज्य "कादम्बरी" का भी पदार्पेप हुआ।

संस्कृत-साहित्य की यह महानिधि आज भी संसार में महाकवि बाण की कीर्ति को अक्षुण्ण बनाये हुए है।

कादूसी

इटली के सुप्रसिद्ध 'फ्लोरेंस नगर का एक प्रसिद्ध चित्रकार, जिसका जन्म सन् १६६ ई म और मृत्यु सन् २६१ ई में हुई।

कादूसी सुप्रसिद्ध चित्रकार 'जुक्रो' का शिष्य था। एक बार जुक्रो के साथ वह स्पेन की राजधानी 'मैड्रिड' गया। वहाँ पर उसकी कला को देखकर स्पेन का राजा 'फिलिप द्वितीय बड़ा खुश हुआ और उसको उसने अपने पास ही रख लिया। उसके बनाये हुए चित्रों का समह मैड्रिड के चित्रघर में सुरक्षित है।

कादीस

दक्षिणी स्पेन का एक अति सुन्दर नगर और बन्दरगाह। यह नगर ५ मील समुद्र में घुसे हुए एक भूभाग पर स्थित है। अपनी सुरक्षित स्थिति के कारण यह नगर स्पेन का एक प्रधान व्यवसायिक केन्द्र बन गया है। इस नगर के विशाल और सुन्दर भवन एक ही आकार के और व्यवस्थित ढंग से बने हुए होने के कारण स्पेन के सुन्दरतम नगरों में इसकी गणना है।

कानपुर

समस्त भारत में पाँचवें नम्बर का और उत्तर प्रदेश में सबसे बड़ा औद्योगिक नगर। जो दिल्ली मुगलसराय मेन लाइन पर गंगा-नदी के दाहिने किनारे पर बसा हुआ है। यह नगर लखनऊ से ४२ मील और इलाहाबाद से ११५ मील दूरी पर अवस्थित है।

इस नगर से लगा हुआ पुराना कानपुर नामक एक स्थान है। इसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि यह राजा 'कन्ह' के द्वारा बसाया गया था। फिर भी प्राचीन इतिहास की दृष्टि से इस नगर का अधिक महत्व नहीं है।

सन् १७६४ ई में अवध के नवाब 'शुजाउद्दौला' के 'बक्सर' के प्रसिद्ध युद्ध में पराजित होने पर नवाबी शासन में इस नगर ने अधिक महत्व पकड़ा।

उसके बाद कानपुर नगर का वास्तविक महत्व तब प्रकट हुआ जब नाना साहब ने इस स्थान को विद्रोह का केन्द्र बना कर सन् १८५७ ई के 'स्वाधीनता-युद्ध' का संचालन किया। सन् १८५७ ई के स्वतंत्रता-युद्ध में मेरठ और कानपुर ये दोनों शहर बहुत ही अग्रगण्य रहे थे।

फिर भी कानपुर नगर का वास्तविक महत्व उसके औद्योगिक विकास के कारण ही है। सबसे पहले सन् १८६१ ई में यहाँ पर सूती-वस्त्र बनाने की पहली मिल खुली और ज्यों-ज्यों रेलवे का प्रसार होता गया त्यों-त्यों यहाँ पर नये-नये कारखाने खुलते गये।

"ब्रिटिश इण्डिया-कारपोरेशन नामक अंग्रेज-कम्पनी ने यहाँ पर 'लाल इमली' नामक ऊनी-कपड़े की मिल तथा चमड़े और सूती वस्त्र के कारखाने खोले।

उसके बाद राजस्थान के प्रसिद्ध उद्योग-पति सेठ कमलापति सिंहानियाँ और उत्तर प्रदेश के उद्योगपति जे पी श्रीवास्तव ने कानपुर के औद्योगिक विकास में अपना महत्वपूर्ण भाग अदा किया।

सेठ कमलापति सिंहानिया ने सन् १६११ ई में एक कपड़े की मिल और उसके कुछ समय पश्चात् एक जूट मिल की स्थापना की, जो सारे उत्तर प्रदेश में पहली जूट मिल थी।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् कानपुर नगर का औद्योगिक विकास बहुत तेजी के साथ हुआ। चमड़े के व्यापार में यह उत्तर प्रदेश का सबसे बड़ा केन्द्र बन गया। फिर भी यहाँ का प्रधान उद्योग सूती वस्त्र का ही माना जा सकता है। सूती वस्त्रों की यहाँ पर १६ मिलें हैं। जिनमें 'स्वदेशी मिल' नामक मिल तो मजदूरों की बहुत बड़ी संख्या मिलों में से एक है।

इसी प्रकार प्लास्टिक-उद्योग, इन्जीनियरिंग उद्योग, साबुन-उद्योग और काँच उद्योग से सम्बन्ध रखनेवाले भी

यहाँ अनेक कारखाने हैं। मतलब यह कि औद्योगिक दृष्टि से यह नगर भारतवर्ष का अत्यन्त महत्वपूर्ण केन्द्र स्थान है। यहाँ की जनसंख्या ६४७७६१ है।

कापालिक

शैव सम्प्रदाय के पाशुपत-मत की एक शाखा, जिसे 'कापालिक' कहते हैं। इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति का समय ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी में माना जाता है।

कापालिक सम्प्रदाय शैव सम्प्रदाय का वह भाग है जिसमें वामाचार अपनी परम सीमा में पाया जाता है। कापालिक सम्प्रदाय की साधनाएँ वज्रयानी—सम्प्रदाय की साधनाओं से बहुत मिलती-जुलती हैं। इस सम्प्रदाय में स्त्रियों को 'कपालिनी' नाम से सम्बोधित किया गया है। यह सम्प्रदाय शिव और शक्ति के संयुक्त रूप को ही समर्थ और प्रभाव शाली मानता है। शिव और शक्ति के इस मिलन-सुख को कापालिक अपनी कपालिनी के माध्यम से अनुभव करता है और उसी सुख को 'महासुख' की संज्ञा देता है। मदिरा या सोम को कापालिक शक्ति-सहित शिव का प्रतीक मानता है और उसको पीकर मदोन्मत्त हो वह कपालिनी के साथ विहार करते हुए अपने को कैलास-स्थित शिव उमा का तरह अनुभव करता है। मद्य, मांस मत्स्य मुद्रा और मैथुन—इन 'पंचमकारों' के साथ कापालिक शाक्त और वज्रयानी सिद्धों का समान रूप से सम्बन्ध था।

कापालिक सम्प्रदाय का संस्थापक 'लकुलीश' या 'नकुलीश' नामक सिद्ध माना जाता है।

(ना मि को)

कापिजा पीटर

रूस के एक सुप्रसिद्ध परमाणु शक्ति विशेषज्ञ और वैज्ञानिक, जिनका जन्म सन् १८९४ ई० में 'क्रोन्स्टाट' नामक स्थान में हुआ।

अपनी प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर के 'कांब्रिज' कैम्ब्रिज में प्रसिद्ध परमाणु शक्ति के आविष्कारक स्वर्गीय लार्ड 'रदर फर्ड' के शिष्य हो गये और वहाँ इन्होंने परमाणु-विघटन-अनुसन्धान के क्षेत्र में विशेष दक्षता प्राप्त करली। सन् १९२४ ई० में इनकी नियुक्ति कैवेंडिश की प्रयोगशाला में चुम्बकीय अनुसन्धान के सहायक निर्देशक के रूप में हुई और सन् १९३२ ई० तक ये वहाँ काम करते रहे।

सन् १९३४ ई० में जब आप रूस गये तो सोवियट सरकार ने इनको पुनः देश से बाहर जाने की अनुमति नहीं दी और उनके लिए मास्को में ही कैवेंडिश प्रयोग-शाला के मुकाबले की प्रयोग शाला बनवादी गई। जिससे कि वह अपना अनुसन्धान कार्य बराबर कर सकें।

कुछ समय के बाद वह 'मास्को' की 'इन्स्टीट्यूट फार फिजिकल प्रोब्लेम्स' के डाइरेक्टर भी बना दिये गये।

कॉफ़ी

एक पेय पदार्थ जो चाय की तरह बनाकर पिया जाता है, और जो मानवीय शरीर में चाय की अपेक्षा अधिक स्फूर्तिदायक असर करता है। यह वस्तु काफ़ी (Coffea Arabica) वृक्ष के फलों को भूनकर उनकी बुकनी बनाकर तैयार की जाती है।

जब तक संसार में चाय का अधिकतम रूप में प्रचार नहीं हुआ था तबतक संसार के कई देशों में उत्तेजक पेय पदार्थ के रूप में काफी का प्रयोग किया जाता था।

काफी का प्राचीन इतिहास पन्द्रहवीं सदी के मध्य से प्रारम्भ होता हुआ मालूम पड़ता है। जब शेख शहाबुद्दीन धमानी नामक एक व्यक्ति ने दक्षिण अफ्रीका के उपकूल में काफी का व्यापार होते देखकर अदन में सबसे पहले कॉफी की एक दुकान खोली थी। शेख शहाबुद्दीन की मृत्यु सन् १४७० में हो गई। इससे पता चलता है कि पन्द्रहवीं सदी में अरब में इस वस्तु का प्रचार हो गया था।

सन् १५५४ ई० में कुस्तुन्तुनिया में काफी के एक होटल की स्थापना हुई और सन् १५७१ तक यह वस्तु यमन मक्का दमास्कस और अलेपो में फैल गई। सन् १५७१ में रावल्फ नामक यूरोपियन को इस वस्तु का परिचय मिला।

अरब देशों में काफ़ी का प्रचार होने से इस्लाम के धर्म प्रचारकों ने कॉफ़ी के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाना प्रारम्भ किया। क्योंकि मसजिद और दरगाह की अपेक्षा लोग कॉफ़ी हाउसों में बहुत अधिक जाने लगे थे। इस जोश के प्रचार को रोकने के लिए वहाँ की सरकार ने काफ़ी के आयात पर काफ़ी टैक्स भी लगा दिया।

ग्रेट ब्रिटेन में सबसे पहली कॉफ़ी की होटल चाय की होटल से पाँच वर्ष पूर्व सन् १६५२ में खुली। उसके बाद धीरे धीरे इन होटलों की संख्या बढ़ने लगी और इनमें आदमियों की भारी भीड़ इकट्ठी होने लगी। यह देखकर इंगलैंड के बादशाह चार्ल्स द्वितीय ने सन् १६७५ में काफ़ी होटलों के विरुद्ध एक राजाज्ञा निकाली।

फ़्रान्स में सन् १६४४ से कॉफ़ी का प्रचार शुरू हुआ और सन् १६६६ में पैरिस नगर में पहला कॉफ़ी हाउस खोला गया। उसके पश्चात् सारे यूरोप में काफ़ी का प्रचार बड़ी तेज़ी से होने लगा। मगर सन् १८७० से चाय का प्रचार अधिक बढ़ जाने से इसका प्रचार कम हो गया।

भारतवर्ष में काफ़ी का प्रचार कैसे हुआ इसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि बाबा बूदन नामक एक मुसलमान फ़कीर अनुमानतः अठारहवीं सदी में मक्का से वापिस लौटते हुए अपने साथ काफ़ी के ७ बीज लेकर आये थे और मैसूर में जिस पहाड़ी पर उनका स्थान था वहाँ पर उन्होंने इन बीजों को बो दिया। वह पहाड़ी अब भी बाबा बूदन की टेकरी के नाम से प्रसिद्ध है। उसके बाद इन वृक्षों की बहुत वृद्धि होने लगी और कैनान नामक एक अंग्रेज़ ने बाबा बूदन की पहाड़ी से दक्षिण में काफ़ी का बगीचा लगाया।

इसके बाद तो काफ़ी की खेती का बहुत विस्तार हुआ। और सन् १८८१–८३–८६ में भारत के दक्षिण भाग में १८६५ एकड़ भूमि में कॉफ़ी की फ़सल बोई गई।

काफ़ी की खेती का सबसे अधिक विस्तार अमेरिका में हुआ। ब्राज़ील इसकी उत्पत्ति का सबसे बड़ा केन्द्र है। उसके पश्चात् कोस्टारिका ग्वाटेमाला वेनेज़ुएला जमैका पेरू, मेक्सिको इत्यादि स्थानों पर भी इसकी पर्याप्त उत्पत्ति होती है।

इसके अतिरिक्त आस्ट्रेलिया के क्वीन्सलैंड में तथा दक्षिणी पूर्वी एशिया के जावा सुमात्रा, फ़िलीपाइन, मलाया, स्याम, सिंगापुर इत्यादि स्थानों में भी काफ़ी का बड़ा उत्पादन होता है।

लेकिन काफ़ी के लिए जावा और ब्राज़ील की ज़मीन सबसे उत्तम साबित हुई है। वहाँ की ज़मीन में काफ़ी का उत्पादन भी बहुत होता है और वहाँ की पैदा हुई काफ़ी क्वालिटी में भी सब श्रेष्ठ होती है।

चाय के उद्योग से काफ़ी के उद्योग को बहुत धक्का लगा। फिर भी ज्यों-ज्यों समय बीतता जा रहा है त्यों-त्यों अब लोग वापस कॉफ़ी की तरफ़ आकृष्ट होते जा रहे हैं। पाश्चात्य सभ्यता के ऊँचे सर्कलों में अब फिर से चाय का स्थान कॉफ़ी लेने लगी है और ऊँचे घरों में अब अतिथि का सत्कार भी चाय की अपेक्षा कॉफ़ी से अधिक किया जाता है।

इसका कारण यह है कि कॉफ़ी में स्फूर्तिदायक गुण चाय से अधिक मात्रा में रहता है। इसमें "कैफ़ीन" नामक स्नायुमण्डलों को उत्तेजना देने वाला पदार्थ चाय से अधिक मात्रा में रहता है तथा चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से भी यह चाय की अपेक्षा अधिक उत्तम सिद्ध हुई है इसलिए इसका प्रचार बढ़ना स्वाभाविक है।

काफ़ूरमलिक

अलाउद्दीन ख़िलजी का एक बहादुर और विजेता सेनापति। जो शुरू में गुजरात के राजा कर्ण बघेला का नौकर था।

जब कर्ण बघेला की सेना को अलाउद्दीन की सेना ने पराजित कर दिया तो सिपाही लूट के धन के साथ गुजरात के राजा कर्ण बघेला की रानी कमला देवी और उसके इस नौकर को भी लूट के माल में ले गये। यह नवयुवक बड़ा होशियार और दीखने में सुन्दर था। अलाउद्दीन ने इसको देखते ही इस पर अपने संरक्षण का हाथ रख दिया और उसकी कृपा से इसका तेज़ी से विकास होने लगा। अला

द्दीन ने इसको "मलिक" की उपाधि भी प्रदान की। और उसे अपनी सेना में एक बड़ा पद दे दिया।

उन दिनों देवगिरि में यादववंश के राजा रामचन्द्रदेव राज्य करते थे। वे अलाउद्दीन के संरक्षण में थे और उसको एक निश्चित कर दिया करते थे। मगर इन दिनों उन्होंने कर देना बन्द कर दिया था। तब सन् ११०७ में अलाउद्दीन ने मलिक काफूर के सेनापतित्व में उनके खिलाफ एक सेना भेजी। इस युद्ध में मलिक काफूर ने बड़ी बहादुरी से यादव सेना को पराजित कर पूरे राज्य को बुरी तरह से लूटा और यादव राजा को पूर्ण अपमानयुक्त सन्धि करने को मजबूर किया।

इस विजय से मलिक काफूर का सितारा एकदम ऊरूज पर आगया। बादशाह अलाउद्दीन ने इसकी वीरता से प्रभावित हो इसे वारंगल के राजा प्रतापरुद्रदेव के विरुद्ध सन् ११०९ में, द्वारसमुद्र के राजा वीर बल्लाल के विरुद्ध सन् ११११ में मदुरा के पाण्ड्य राजा वीरसेन के विरुद्ध सन् ११११ में युद्ध करने को भेजा। मलिक काफूर ने इन सब राजाओं को बुरी तरह से हराया। इनके राज्यों को निर्दयता पूर्वक रौंदा और लूटा। देवमन्दिरों का विध्वंस कर उनकी अपार सम्पत्ति को लूटा और करीब करीब सारे दक्षिणापथ में सुलतान के झण्डे को गाड़कर अलाउद्दीन के वैभव को आसमान पर पहुँचा दिया।

इन सारी बातों से काफूर का दिमाग आसमान पर पहुँच गया। वह सुलतान अलाउद्दीन को कठपुतली की तरह नचाने लगा। अन्त में उसे स्वयं बादशाह बनने की धुन हुई। जिसके परिणाम-स्वरूप उसने किसी षड़यन्त्र के द्वारा कुछ विष खिलाकर अलाउद्दीन को सन् १११६ में इस लोक से विदा कर दिया।

अलाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् मलिक काफूर ने उसके तीन बड़े शाहजादों को राज्य से वंचित कर छोटे शाहजादे को गद्दी पर बैठाया और उसके खिलाफ भी षड़यन्त्र करने लगा। इस प्रकार इसने अपने दुश्मनों की संख्या बढ़ाली जिसके परिणामस्वरूप एक दिन अकस्मात् ही इसकी हत्या कर डाली गई।

काबुल

अफगानिस्तान की राजधानी और वहाँ का एक प्रसिद्ध और प्राचीन नगर। जो एक लम्बे समय तक भारतीय शासन के अधीन रहा। इसके उत्तर में हिन्दुकुश पर्वत और पश्चिम में कन्दहार के दर्रे हैं।

काबुल का क्षेत्र भारतवर्ष में प्रवेश करने वाले विजेता आक्रमणकारियों के प्रवेश द्वार की तरह रहा है। सिकन्दर महान्, बाबर तथा नादिरशाह के आक्रमण इसी मार्ग से होकर हुए।

सम्राट् कनिष्क के समय में यह क्षेत्र भारतीय साम्राज्य के अन्तर्गत था। उसके बाद मुगल साम्राज्य में भी बाबर से लेकर नादिरशाह के आक्रमण तक यह क्षेत्र मुगल साम्राज्य का अंग था। नादिरशाह के आक्रमण के पश्चात् अफगानिस्तान का एक स्वतंत्र राज्य के रूप में उदय हुआ।

काबुल का नगर आधुनिक युग की सब प्रकार की साज सज्जाओं से युक्त एक सुन्दर नगर है। सुन्दर राजमार्गों, आलीशान इमारतों और बढ़िया सड़कों के कारण नगर रचना की दृष्टि से यह नगर परिपूर्ण है। यह नगर टर्की, ईरान, पाकिस्तान इत्यादि सभी स्थानों से सड़कों के द्वारा सम्बन्धित है।

काबुल का ऐतिहासिक वर्णन इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में "अफगानिस्तान" नामके अन्तर्गत दिया गया है।

काबेट विलियम

इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध लेखक राजनीतिज्ञ और उदार विचारों के पोषक विद्वान। जिनका जन्म सन् १७६२ में और मृत्यु सन् १८३५ में हुई।

काबेट का जन्म एक किसान परिवार में हुआ था। इस-लिए किसानों के प्रति उनके हृदय में स्वाभाविक सहानुभूति थी। उन दिनों इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात हो रहा था और बड़े-बड़े कारखानेदार, जमींदारों और किसानों की जमीनों को लेकर अपनी औद्योगिक जमींदारियों का विस्तार कर रहे थे।

कावेट विलियम की यह बुरी स्थिति देखकर बड़ा मानसिक आघात पहुँचता था और वे उसके निवारण का उपाय सोचते रहते थे। अन्त में वे किसी तरह अपने गाँव से निकलकर अमरीका चले गये। आठ बरस तक वहाँ पर उन्होंने अपने सिद्धान्तों का खूब प्रचार किया और आठ वर्ष पश्चात् इंग्लैंड आकर सन् १८०२ में उन्होंने 'दी पोलिटिकल रजिस्टर' नामक पत्र का सम्पादन प्रारम्भ किया। सन् १८३२ में वे पार्लमेंट के सदस्य चुने गये और वहाँ पर भी उन्होंने किसानों का पूरी तरह समर्थन किया। कावेट के लेखों का संग्रह ५० बड़े भागों में प्रकाशित हुआ। इनमें 'रूरल राइड्स' "लिगेसी टू लेबर्स" 'काटेज इकानमी" इत्यादि ग्रन्थ विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। इंग्लैंड के औद्योगिक क्रान्तियुग के इतिहास में इस व्यक्ति का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। कई बड़े-बड़े लेखकों ने "कावेट" की जीवनी और उनके साहित्य पर बड़े बड़े ग्रन्थों की रचना की है।

काम-सूत्र

महर्षि वात्स्यायन के द्वारा लिखित संस्कृत साहित्य में कामशास्त्र का प्रधान और उत्कृष्ट ग्रन्थ।

कामशास्त्र के ज्ञान को प्राप्त करने की उत्कण्ठा मनुष्य जाति के अन्तर्गत आदिम काल से चली आती है। पुरुष और स्त्री के बीच होने वाले यौन सम्बन्धों में प्रकृति ने एक ऐसा दुर्दमनीय आकर्षण रख दिया है कि मनुष्य क्या धर्म से क्या शिक्षा से और क्या नैतिक सिद्धान्तों से उसका प्रतिकार करने में असमर्थ रहा है। फिर प्रकृति ने इस यौन सम्बन्ध के द्वारा प्रजनन की उस महान् शक्ति का आविष्कार किया है, जिस पर सारे संसार की उत्पत्ति का दारोमदार है।

ऐसे महत्वपूर्ण विषय को शास्त्रीय ज्ञान की परिधि में लेने की प्रवृत्ति का उदय भी विवेकशील मनुष्यों में समय समय पर प्रकट हुआ है। जिसके द्वारा मनुष्य की इस अनियन्त्रित प्रवृत्ति को किसी रूप में नियन्त्रित किया जा सके।

भारतवर्ष के अन्तर्गत भी मनुष्य-जाति की यौन-प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में शास्त्रीय ज्ञान की प्राप्ति के लिए मनुष्य पुरातन समय से प्रयत्न हो रहे हैं।

कामशास्त्र की उत्पत्ति और उसकी परम्परा का विवेचन करते हुए वात्स्यायन मुनि ने अपने काम-सूत्र के प्रथम अध्याय में लिखा है कि—"प्रजापति ने संसार की उत्पत्ति करके उसकी उन्नति और सन्तान-परम्परा को कायम रखने के हेतु, धर्म अर्थ और काम की प्राप्ति के निमित्त एक लाख अध्यायों में उपदेश दिया। इसमें से 'मनु' ने धर्म सम्बन्धी तत्त्वों को लेकर धर्म-शास्त्र की और बृहस्पति ने अर्थ शास्त्र के सिद्धान्तों को लेकर अर्थशास्त्र की स्वतंत्र रूप में रचना की। इसी प्रकार भगवान् महादेव के अनुचर नन्दी ने उसमें से कामसूत्र के तत्त्वों को ग्रहण कर एक हजार अध्यायों में कामसूत्र का उपदेश दिया।

इस प्रकार इस शास्त्र का प्रवर्तक मूल रूप से नन्दी को ही मानना चाहिये। नन्दी के इस कामसूत्र का संक्षेप महर्षि उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु ने पाँच सौ अध्यायों में किया और उसके पश्चात् पाञ्चाल निवासी बाभ्रव्य ने उसे और संक्षिप्त करके कामसूत्र को एक सौ पचास अध्यायों में निर्मित किया। बाभ्रव्य के पश्चात् इस क्षेत्र में चारायण, सुवर्णनाभ, घोटक मुख, गोनर्दीय गोणिका पुत्र और कुचुमार नामक आचार्य भी हुए। लेकिन इनकी कृतियाँ एकांगी तथा बाभ्रव्य की की रचना अत्यन्त विस्तृत होने के कारण वात्स्यायन मुनि ने इन सबका सारांश लेकर सर्वसाधारण के लिए इस 'कामसूत्र' की रचना की।

काम के स्वरूप की व्याख्या करते हुए वात्स्यायन मुनि लिखते हैं कि—"कामशास्त्र में काम शब्द से तात्पर्य उस सुखानुभव से होता है, जो स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्ध से प्राप्त होता है।"

कामसूत्र के अध्ययन की आवश्यकता बतलाते हुए वात्स्यायन मुनि कहते हैं कि 'मनुष्य के अन्तर्गत काम प्रवृत्ति इतनी उत्तेजक अनियन्त्रित और वेगवती होती है कि यदि उस पर किसी प्रकार का शास्त्रीय या सामाजिक नियन्त्रण न रखा जाय या मनुष्य इस प्रवृत्ति का शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त किए बिना अनियन्त्रित रूप से इसका प्रयोग करे तो समाज में अनाचार और व्यभिचार का दौर चालू हो जाता है। क्योंकि मनुष्य केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए ही नहीं आनन्द के लिए निरन्तर सम्भोग की क्रिया में प्रवृत्त रहता है। आनन्द की सम्यक् रूपेण प्राप्ति के लिए

कतिपय प्रक्रियाओं की आवश्यकता होती है उनका ज्ञान शास्त्र के बिना कैसे हो सकता है। अतः कामसूत्र का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। जो व्यक्ति इन काम कलाओं में जितना ही निपुण होगा उतनी ही सफलता उसको अपने दाम्पत्य-जीवन में प्राप्त होगी।'

वात्स्यायन के काम-सूत्र में ७ अधिकरण हैं। पहले अधिकरण में ५ अध्याय हैं। इस अधिकरण में कामसूत्र के अध्ययन की आवश्यकता स्त्रियों के लिए ६४ कलाओं का विवेचन रसिक-व्यक्ति की दिनचर्या और रात्रिचर्या तथा भिन्न भिन्न प्रकार की नायक और नायिकाओं का वर्णन किया गया है।

रसिक पुरुष की दिनचर्या का वर्णन करते हुए वात्स्यायन मुनि लिखते हैं कि "नागरिक को चाहिए कि प्रतिदिन स्नान करे, दूसरे दिन उबटन करे, तीसरे दिन साबुन का का प्रयोग करे। दिन में बारह बजे और रात्रि में भोजन करे, सायंकाल में संगीत की गोष्ठी करे। कमरे को पराग गुग्गुल और धूप आदि सुगन्धित द्रव्यों से सुरभित कर दे और शुभ्रशय्या पर बैठकर प्रमिका की प्रतीक्षा करे।"

नायक के निवास स्थान का वर्णन करते हुए बताया गया है कि नायक का वासस्थान जलाशय के समीप या ऐसी जगह बना होना चाहिये जहाँ अन्य किसी साधन से जल सुलभ हो। इस निवास के आसपास गृह-वाटिका भी होनी चाहिए। जिसमें काम-क्रीडार्थ लताकुंज तथा रति-गृह आदि भी यथास्थान बने हों। शयन गृह में पलंग के शिरोभाग की ओर लकड़ी की चौकी पर इष्ट देवता की मूर्ति की स्थापना करे। पलंग की ऊँचाई के बराबर एक वेदिका होनी चाहिए। जिस पर सुगन्धित लेप इत्र पुष्पमाला ताम्बूल और शृंगार की अन्य सामग्रियाँ रखी हुई हों। संगीत के लिए वीणा खूँटी पर लटकी हुई हो। चौपड़ पासा शतरंज इत्यादि खेलने का सामान भी वहाँ हो। कमरे के बाहर मैना तोता बुलबुल इत्यादि पक्षियों के पिंजरे लटके हुए हों। बाहर वाटिका में किसी वृक्ष की सघन डाली में झूला पड़ा हुआ हो—ऐसे सुन्दर निवास में भाग्यवान् नायक अपनी अनुकूल प्रमिकाओं के साथ जीवन के सर्वोच्च आनन्द का उपभोग करते हैं।

कामसूत्र के दूसरे अधिकरण में १ अध्याय और १७ प्रकरण हैं।

इस अधिकरण में महर्षि वात्स्यायन ने अनुकूल यौन सम्बन्ध का वर्णन करते हुए प्रतिपादित किया है कि संसार में स्त्री और पुरुषों के यौन सम्बन्ध की अनुकूलता मिलना ही सबसे बड़ी समस्या है। जिस भाग्यवान मनुष्य को अनुकूल यौन की पत्नी या प्रेमिका प्राप्त हो जाती है वह संसार के सर्वोच्च सुख का उपभोग करता है। छोटी सी झोंपड़ी में रहकर और रूखा-सूखा खाकर भी अपनी पत्नी के साथ उसे जिस स्वर्गोपम आनन्द का अनुभव होता है वह बड़े बड़े राजमहलों में लाखों की सम्पदा के साथ रहने वाले राजपुरुषों को भी नहीं होता। जिस प्रकार अनुकूल यौन सम्बन्ध विधाता के आशीर्वाद की तरह प्राप्त होता है उसी प्रकार प्रतिकूल यौन सम्बन्ध वाले दम्पतियों को जीवन के अन्यान्य सब सुख उपलब्ध होने पर भी जीवन का वास्तविक आनन्द उन्हें प्राप्त नहीं होता और स्वस्थ हालत में होते हुए भी वे एक प्रकार की गहरी निराशा अशान्ति और अतृप्ति के कारण जीवन में गहरी उदासीनता का अनुभव करते हैं।

इस प्रकार अनुकूल यौन-संबंध की प्राप्ति के लिए कामसूत्रकार ने 'चण्डवेग' 'मध्यवेग और मन्दवेग' के अनुसार समस्त स्त्रियों और पुरुषों को तीन-तीन भागों में विभक्त किया है। मन्दवेग वाले पुरुष को शश, मध्यवेग वाले को वृष और चण्डवेग वाले पुरुष विभाग को अश्व की संज्ञा दी गई है। इसी प्रकार मन्दवेग वाली स्त्री को 'मृगी' मध्यवेग वाली को 'वड़वा' तथा चण्डवेग वाली को 'हस्तिनी' की संज्ञा दी गई है। समरति या अनुकूल सेक्स के लिए शश के साथ मृगी का, वृष के साथ वड़वा का तथा अश्व के साथ हस्तिनी का संयोग श्रेष्ठ माना गया है। इसी प्रकार प्रतिकूल संबंध के उच्चरत और उच्चतर रत और नीचरत तथा नीचतर रत इस प्रकार कई प्रकार के भेद किए गए हैं।

इसी प्रकार इस अधिकरण में यौन सम्बन्ध की पूर्व क्रियाओं का जो कि इस क्रिया के आनन्द को बढ़ाने में सहायक होती है—ऐसी चुम्बन आलिंगन, इत्यादि क्रियाओं का—विस्तार से वर्णन किया गया है।

इसके साथ ही इस अधिकरण में कुछ ऐसी अप्राकृतिक यौन क्रियाओं का भी उल्लेख किया गया है जो आज की समाज-व्यवस्था में हेय और घृणित समझी जाती हैं। इस प्रकार की अनैसर्गिक और घृणित क्रियाओं का प्रयोग ऐसे शास्त्रीय ग्रन्थ में क्यों किया गया—इसका समाधान करते हुए वात्स्यायन मुनि कहते हैं कि—'किसी भी शास्त्रीय पद्धति के अन्तर्गत उस विषय की अच्छी और बुरी सब क्रियाओं का वर्णन किया जाता है। इसलिए मनुष्य को किसी कार्य का अनुकरण केवल इसी आधार पर नहीं करना चाहिए कि वह शास्त्रोक्त है। बल्कि उसकी उपादेयता और आवश्यकता पर भी विचार करना चाहिए। जैसे आयुर्वेद में गो मांस, नर मांस और श्वान-मांस के भी रस गुण, वीर्य और विपाक का वर्णन किया गया है मगर केवल इसी कारण से ये वस्तुएँ मनुष्यों के उपयोग में नहीं आ सकतीं। उसी प्रकार कामसूत्र के अन्दर वर्णित अप्राकृतिक क्रियाएँ भी मानव जाति के लिए त्याज्य ही हैं।

कामसूत्र के तीसरे अधिकरण में सब प्रकार की विवाह पद्धतियों का विवेचन करते हुए वर और कन्या का चुनाव किस प्रकार और किन गुणों के आधार पर करना चाहिए—इसका विवेचन किया गया है। विवाह के पश्चात् प्रथम मिलन या सुहागरात के समय नवोढ़ा पत्नी को किस प्रकार विश्वास में लिया जाय इस विषय का विवेचन किया गया है।

सुहाग रात का यह विवेचन बड़ा महत्वपूर्ण है। जीवन का यह अवसर अत्यन्त सुन्दर होने पर भी अत्यन्त नाजुक है और अत्यन्त आनन्द पूर्ण होने पर भी मनुष्य के काम शास्त्र सम्बन्धी अज्ञान की वजह से कभी-कभी जीवन भर के लिए दुःख पूर्ण हो जाता है।

काम सूत्र के चौथे अधिकरण में पत्नी का कर्तव्य और अपनी सपत्नियों के साथ उसके व्यवहार का वर्णन किया गया है। जिस घर में पति की कई पत्नियाँ रहती हैं उसमें आपस के झगड़े से हमेशा अशान्ति रहती है। इस अशान्ति को कैसे मिटाया जाय। बड़ी पत्नी, छोटी पत्नियों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करे और पति उन सबको किस प्रकार समान दृष्टि से देखे इस विषय में आवश्यक निर्देश दिये गये हैं।

पाँचवें अधिकरण में पर-स्त्री सम्बन्धी विषयों का विवेचन किया गया है। बतलाया गया है कि परस्त्री का सम्बन्ध नैतिक दृष्टि से एक दम त्याज्य है। आचार्य कहते हैं कि 'मनुष्य की उन्मादावस्था जब काम की दसों अवस्थाओं को पार कर चरमावस्था को प्राप्त हो जाय और मरणासन्न स्थिति उत्पन्न हो जाय तब केवल प्राण की रक्षा के लिए ही यह दुष्कर्म क्षम्य समझा जा सकता है।"

इसके पश्चात् इस अधिकरण में हम पर दाम्पत्य-कामिनियों के स्वभाव, वासना और उनको आकर्षित करने के तरीकों का वर्णन किया गया है और ऐसे सम्बन्धों को स्थापित करने के लिए जो मध्यस्थ दूतियाँ प्रयुक्त होती हैं उनके सम्बन्ध का विस्तृत विवेचन किया गया है।

छठे अधिकरण में वेश्याओं के आचरण उनके क्रिया-कलाप और धनी लोगों को ठगने की कला इत्यादि का विवेचन किया गया है।

और सातवें अधिकरण में कामोत्तेजक सौन्दर्य वर्धक उबटन आदि अनेक प्रकार की उपयोगी औषधियों का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार महर्षि वात्स्यायन का काम-सूत्र सम्बन्धी यह ग्रन्थ प्राचीन साहित्य में अपने विषय का बेजोड़ ग्रन्थ है। मगर आज के युग में जबकि संसार के स्त्री पुरुष वासनाओं की घुड़ दौड़ में तेजी के साथ आगे बढ़ते जा रहे हैं और मर्यादाएँ टूटती जा रही हैं ऐसे युग में यह ग्रन्थ कहाँ तक सहायक होगा। यह नहीं कहा जा सकता।

कामशास्त्र के क्षेत्र में पश्चिम के विद्वानों ने वैज्ञानिक दृष्टि से जो अनुसन्धान किये हैं उनके सम्मुख यह ग्रन्थ यदि पुराना मालूम पड़े तो कोई आश्चर्य नहीं, मगर पुराना पन ही इसकी वह विशेषता है जो इसके महत्व को कायम रखे हुए है।

काम विज्ञान

मनुष्य की सैक्स (यौन सम्बन्ध) सम्बन्धी प्रवृत्तियों और प्रजनन क्रिया के वैज्ञानिक रूप का दिग्दर्शन कराने वाला विज्ञान।

प्राणी की सृष्टि करने के साथ ही प्रकृति ने उसमें भूख, नींद और कामवासना की तीन ऐसी दुर्दमनीय मह

त्तियों को रख दिया है कि इन प्रवृत्तियों ने कभी उसे शान्ति से न रहने दिया। इन दुर्दमनीय प्रवृत्तियों के कारण मनुष्य को हमेशा सघर्ष की स्थिति में से गुजरना पड़ा। मानव समाज का सारा इतिहास इन्हीं संघर्षों से भरा पड़ा है।

सेक्स की समस्या मानवजाति के लिए हमेशा एक गम्भीर, प्रधान और ज्वलन्त समस्या के रूप में उपस्थित रही है। प्रकृति ने मनुष्य के सेक्स सम्बन्धी अङ्गों की रचना, बनावट और उससे सम्बन्धित मनोरचना ऐसे अनोखे ढंग से की है कि उसमें से अनुकूल सेक्स की खोज एक बड़ी समस्या बन गई है। जिन स्त्री पुरुषों को भाग्य वशात् अनुकूल सेक्स की प्राप्ति हो जाती है उनके मिलन आनन्द की उपमा दूसरे किसी आनन्द से नहीं दी जा सकती। इस धरती पर रहकर भी वे स्वर्ग के आनन्द का उपभोग करते हैं। और जो दम्पत्ति दुर्भाग्यवश प्रतिकूल सेक्स से सम्बन्धित हो जाते हैं उनके पास सब प्रकार के सुख वैभव और उत्तम स्वास्थ्य के रहते भी वे जीवन का सच्चा आनन्द उठाने में असमर्थ रहते हैं। उन्हें अपने जीवन में हमेशा एक ऐसा अभाव और उदासीनता अनुभव होती है जिसका वे निदान नहीं कर पाते। और इसी अभाव और उदासीनता को दूर करने के लिए वे समाज में अनैतिक परम्पराएँ कायम कर बैठते हैं।

मनुष्य का विवेक युगयुगान्तरों से सेक्स प्रवृत्ति के इन गूढ़ रहस्यों को खोजने में प्रयत्नशील है और उसका यह प्रयत्न ही कामशास्त्र की उत्पत्ति का उद्‌गम स्थान है। मनुष्य जब इस प्रयत्न को एक सुव्यवस्थित और शास्त्रीय रूप देता है तो वही कामशास्त्र बन जाता है।

संसार के सब देशों और सब सभ्यताओं में इस विषय पर अनुसन्धान हुए हैं।

भारतवर्ष के अन्तर्गत प्राचीन काल में कामशास्त्र के कई प्रसिद्ध आचार्य हुए। इनमें महर्षि वात्स्यायन का नाम सबसे प्रधान है। उन्होंने कामसूत्र नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं।

मध्यकाल में भी भारतवर्ष में कई लोगों ने इस विषय पर रचनाएँ की हैं। इनमें काश्मीर के अन्तर्गत दामोदर गुप्त और कोका पण्डित का (कोकशास्त्र या रतिरहस्य के रचयिता) तथा अनंग रंग के रचयिता कल्याणमल्ल, नागर सर्वस्व के रचयिता पद्मश्री, शृंगार दीपिका के रचयिता हरिहर और शृंगार सार के रचयिता 'जिनधर' का नाम उल्लेखनीय है।

सिगमण्ड फ्रायड

पश्चिम में भी इस विषय पर सैकड़ों विद्वानों ने एक बहुत बड़े साहित्य का निर्माण किया है मगर इन सब में "फ्रायड" का नाम बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। फ्रायड ने पूर्ण वैज्ञानिक पद्धति से मनुष्य की सेक्स प्रवृत्ति का अध्ययन कर प्रथम सिद्धान्तों की स्थापना की है। फ्रायड की इन खोजों से कई प्राचीन मान्यताएँ असत्य सिद्ध हो गई हैं। फ्रायड के अतिरिक्त 'मेरी स्टोप्स' नामक महिला लेखिका का नाम भी इस विषय की खोजों के सम्बन्ध में उल्लेखनीय समझा जाता है। इनके अतिरिक्त "फिजियालॉजी ऑफ सेक्स" के रचयिता 'कैनेथ वाकर' तथा 'सेक्सुअल साइड ऑफ मेरिज" के रचयिता डॉ० एम० जे० एक्सनर का नाम भी उल्लेखनीय है।

फ्रायड का कथन है कि—संसारभर में मनुष्य की सेक्स प्रवृत्ति के सम्बन्ध में अत्यन्त गोपनीयता, और अप्राकृतिक दमनकारी रुख रखने से समाज की भयंकर हानि हुई है। संसार के सभी धर्मों ने मनुष्य की सेक्स प्रवृत्ति को अत्यन्त भयंकर समझकर तरह-तरह से उसको दबाने का प्रयत्न किया है।

मगर इतिहास बतलाता है ज्यों-ज्यों इस प्रवृत्ति को दबाने और इसको गोपनीय रखने का प्रयत्न किया गया है त्यों-त्यों इस प्रवृत्ति ने उतने ही प्रबल वेग से विस्फोटक रूप ग्रहण किया है। जिसके परिणामस्वरूप समाज में अनाचार और व्यभिचार का बोलबाला हुआ है। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप संसार के अनेक धर्मों में लिंग पूजा और योनि पूजा का व्यापक प्रचार हुआ। और इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप मन्दिरों में देवदासियों और रोमन कैथोलिक धर्मों में भिक्षुणियाँ (Nuns) अस्तित्व में आई और इन्होंने उन पूजा घरों को व्यभिचार के केन्द्र बना दिये।

इन बातों से स्पष्ट जाहिर है कि सेक्स की प्रवृत्ति पर तरह-तरह के बन्धन लगा देने पर भी और इसको संसार का सबसे बड़ा पाप घोषित कर देने पर भी, इस प्रवृत्ति ने

धर्म के प्रधान स्थानों पर ही अपनी विजय का झण्डा गाड़ दिया। इससे मालूम होता है कि मनुष्य की दुर्दमनीय सेक्स प्रकृति नैतिक और धार्मिक बन्धनों से दबाई नहीं जा सकती। इसे तो उचित मार्ग देना ही होगा।

इसलिए इस वास्तविक तथ्य को समझना आवश्यक है कि समाज को इन दुर्घटनाओं से बचाने के लिए सेक्स प्रकृति से सम्बन्धित पूर्ण जानकारी स्वस्थ शिक्षा का एक आवश्यक अंग होना चाहिए।

सेक्स के मुख्य उद्देश्य की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि सेक्स का मूल उद्देश्य संसार के अनेक मार्गों में प्रजनन या सन्तान की प्राप्ति माना गया है मगर प्राणी-विज्ञान की दृष्टि से यह बीज लिंग भेद रहित प्राणियों के लिए सच होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वहीं भी कोई प्राणी सिवाय सुखप्राप्ति के और किसी कारण से यौन-सम्बन्ध करते हैं। सेक्स का असली उद्देश्य तो आनन्द प्राप्ति ही रहता है। आनन्द प्राप्ति को गौण करार देकर प्रजनन को ही सेक्स का मुख्य उद्देश्य बतलाने की चेष्टा एक धार्मिक विचारको विज्ञान के सिर पर जबर्दस्ती लाद देना है।

मनुष्य की सेक्स प्रक्रिया की अनुभूति जननेन्द्रियों से प्रारम्भ होकर शरीर के प्रत्येक अङ्ग और सम्पूर्ण शरीर पर ही आनन्द को विकसित करता हुआ पहरा कर खत्म नहीं होती बल्कि मन के राज्य में भी शान्ति और सहज आनन्द में यह आनन्द को प्रवाहित कर देती है। मगर इसमें सबसे बड़ी शर्त यह है कि ऐसे स्त्री पुरुषों के यौन-जीवन में अनुकूलता और भार साम्य हो। एक ऐसा व्यक्ति जो अन्य सब तरह से सुखी और स्वस्थ है पर यदि उसे यह आभास होता है कि वह अपनी स्त्री को यौन क्रिया में सन्तुष्ट नहीं कर पाता या वह स्वयं उसकी स्त्री से आनन्द और सन्तोष की प्राप्ति नहीं कर सकता तो उसका जीवन कभी सुखी नहीं हो सकता। उसकी अन्तरात्मा को कभी सन्तोष नहीं मिल सकता।

डॉ॰ जी वी हैमिल्टन अपने ग्रन्थ "ए रिसर्च इन मैरिज" में लिखते हैं कि सेक्स प्रक्रिया के जो अवसरों में से कम से कम बीस अवसरों में भी मनुष्य को पूर्ण तृप्ति और आनन्द की पराकाष्ठा प्राप्त नहीं होती हो तो यह समझना चाहिए कि उनके आगे का जीवन विपत्ति पूर्ण है।"

बात यह है कि यदि सेक्स प्रक्रिया में स्त्री और पुरुष दोनों का सम्पूर्ण रूप से सक्रिय सहयोग न हो तो वह स्थिति आनन्द दायक नहीं हो सकती। उस स्थिति में पुरुष और स्त्री दोनों को पूर्ण असन्तोष में से गुजरना पड़ता है। जिसके फल स्वरूप अनेक प्रकार के स्नायविक और मानसिक रोग हो जाते हैं।

इसलिए सेक्स की पूर्ण सफलता के लिए जहाँ स्त्री और पुरुष का अनुकूल सेक्स होना जरूरी है, वहाँ उसके साथ ही सेक्स प्रक्रिया के पूर्व स्त्री और पुरुष दोनों को शक्ति और पूर्ण रूप से उत्तेजित करने के लिए चुम्बन आलिंगन इत्यादि प्राथमिक क्रियाओं का होना अत्यन्त आवश्यक है। पूर्वी और पश्चिमी दोनों स्थानों के काम शास्त्रियों ने इन पूर्व प्राथमिक क्रियाओं के महत्व को समझ कर इनका विस्तृत विवेचन किया है। इन प्राथमिक क्रियाओं के बिना सेक्स प्रक्रिया एक भद्दी पाशविक क्रिया मात्र रह जाती है और उसमें वह तृप्ति पैदा नहीं हो सकती।

सेक्स क्रिया के सम्बन्ध में सबसे बड़ी गलती जो पुरुष करता है वह यह है कि वह बिलकुल शारीरिक तरीके से चलता है। और अपनी साथिन को मानसिक रूप से पूर्व तैयार किये बिना ही वह इस प्रक्रिया में लग जाता है। इसके परिणाम स्वरूप तृप्ति के अभाव में स्त्रियाँ उदासीन और चिड़चिड़ी हो जाती हैं और पुरुष को समझ में नहीं आता कि वह क्या करे?

इस प्रकार काम जीवन की अव्यवस्था और अज्ञान के कारण लाखों मनुष्य जीवन के वास्तविक आनन्द से वंचित रह जाते हैं। इसलिए अनुकूल सेक्स और काम शास्त्र के के पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति जीवन के वास्तविक आनन्द के लिए प्रत्येक स्त्री पुरुष के लिए आवश्यक है।

कामशास्त्र और ब्रह्मचर्य

मनुष्य की काम प्रवृत्ति का दमन करने के लिए संसार के अनेक धर्मों में ब्रह्मचर्य की किसी न किसी रूप में व्यवस्था रक्खी गई है मगर भारतीय शास्त्रों में इस बात

के महत्त्व का जितनी गहराई और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रतिपादन किया गया है उतना अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिलेगा।

हिन्दू धर्मशास्त्रों में बतलाया गया है कि मनुष्य की काम-प्रवृत्ति उसकी शक्ति का ही एक रूप है। मानवीय शक्ति जिस प्रकार एक गलत रास्ते पर जाकर बड़े बड़े अनर्थ कर सकती है उसी प्रकार यदि उसको सही रास्ते पर लगा दिया जो उससे बड़े-बड़े कल्याणकारी कार्य भी हो सकते हैं। काम शक्ति भी एक बड़ी प्रबल शक्ति है। इसलिए मनुष्य अपनी इस शक्ति को सेक्स प्रवृत्ति से हटाकर यदि इसका उदात्तीकरण कर ले या इस शक्ति को उघ्वरेता करके, इसका मार्ग भोग से हटाकर योग की तरफ कर दे, काम से हटाकर इसको निष्काम की तरफ मोड़ दे तो यही शक्ति उसके कल्याण का सर्वाच्च साधन बन सकती है। यह परिवर्तित शक्ति मनुष्य के अन्तर्गत स्वास्थ्य दिव्य तेज और पारदर्शी ज्ञान की उत्पत्ति कर देती है। इसी शक्ति के द्वारा भीष्म पितामह ने मृत्यु पर विजय प्राप्त कर इच्छा-मृत्यु की स्थिति प्राप्त कर ली थी।

सिद्धान्त रूप से यह वस्तु अत्यन्त उत्तम और मानव मनःस्थिति को उच्चता प्राप्त करने वाली मालूम होती है और इसकी सचाई पर भी कोई सन्देह नहीं हो सकता। मगर इस पर आचरण करने वाले ब्रह्मचारियों का जब इतिहास देखा जाता है तो मुट्ठी भर लोगों को छोड़कर ब्रह्मचर्य के दिव्य तेज के उदाहरण बहुत कम देखने को मिलते हैं और यही कारण है कि ब्रह्मचर्य का गुणगान करने वाले बड़े बड़े ऋषि भी अपने आश्रम में पत्नियों को रखते थे।

आधुनिक युग में भारत के अन्तर्गत उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य का एक तेजपूर्ण उदाहरण स्वामी दयानन्द में देखने को मिलता है। जिनके महान् तेज से आसपास की धरा काँपती थी। मगर करोड़ों मनुष्यों में केवल एक या मुट्ठी भर उदाहरणों से किसी भी वस्तु को नियम रूप से नहीं माना जा सकता।

बात यह है कि काम प्रवृत्ति को केवल दमन करने से ही वास्तविक "ब्रह्मचर्य" की प्राप्ति नहीं हो सकती। वास्तविक ब्रह्मचर्य की प्राप्ति तो तभी हो सकती है जब उस काम शक्ति को योगबल के द्वारा पूर्ण रूप से उर्ध्वरेता कर दिया जाय। मगर यह शक्ति हर एक व्यक्ति को प्राप्त नहीं हो सकती। परिणाम यह होता है कि दमन की हुई यह काम शक्ति, कहीं क्रोध के रूप में, कहीं चिड़चिड़ाहट के रूप में और कहीं ब्रह्मचर्य के झूठे अहंकार के रूप में प्रकट होकर मनुष्य के स्वास्थ्य और उसके मनोबल को गिरा देती है और ऐसे ब्रह्मचारी की हालत साधारण गृहस्थ से भी गई बीती हो जाती है।

डॉ मारेस्तां नामक फ्रेंच वैज्ञानिक का कथन है कि—"पूर्ण ब्रह्मचर्य शारीरिक या मानसिक किसी भी दृष्टि से हितकर नहीं है। जबर्दस्ती कामेच्छा को दमन करने वाला व्यक्ति दिनरात 'सेक्स' सम्बन्धी विषय पर सोचा करता है। जिस प्रकार भूख से पीड़ित मनुष्य खाने के विषय में ही अधिक सोचते हैं उसी प्रकार वे अभागे दिन में चौबीस घंटे कामोत्तेजक विचारों, स्वप्नों तथा उफानों में निमग्न रहते हैं। उनको अपनी सारी शक्ति इस शक्ति का प्रतिरोध करने में लगा देना पड़ती है। इसलिए किसी भी अच्छे कार्य को करने का न तो इन्हें समय रहता है और न शक्ति ही रहती है।' ऐसे लोगों को ब्रह्मचारी के अपेक्षा 'कुँआरे' कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।

कामशास्त्र और गोपनीयता

यद्यपि संसार के कामशास्त्र के आचार्यों ने कामशास्त्र के ज्ञान को गोपनीय रखने की निन्दा की है और इसको बड़े-बड़े अनर्थों की जड़ बतलाया है। फिर भी संसार के समाजशास्त्रियों धर्माचार्यों और राज्य व्यवस्थापकों ने इस शास्त्र को विशेषतया गोपनीय रखने में ही समाज का कल्याण समझा। यहाँ तक कि साम्यवादी समाज-व्यवस्था को छोड़कर आधुनिक युग की उत्कृष्ट समाज व्यवस्थाओं में भी इस शास्त्र पर कम या ज्यादा किसी प्रकार का प्रतिबन्ध रक्खा गया है। खासकर इसके अश्लील कहे जाने वाले अंश पर तो कठोर प्रतिबन्ध है।

बात यह है कि प्रकृति ने सेक्स के सम्बन्ध में मनुष्य को इतना उतावला और आवेगपूर्ण बनाया है कि जवानी के प्रारम्भ होते होते उसका दौड़ता खून उसके उठते हुए अंग और उसकी भीगती हुई मस उसमें सेक्स की भावना को अपने आप जाग्रत कर देती है। एक तरुण पुरुष के

अन्तर्गत एक नग्न स्त्री को देखकर, एक युवती के अन्दर एक युवक को देख कर, स्वयमेव एक ऐसी भाव जागृती हो जाती है जिसे किसी शास्त्रीय ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती। फिर उन लोगों के आस पास का वातावरण उनके माई भौजाइयों की रंगरेलियां व सब चीज उनको स्वयमेव इस वस्तु का ज्ञान करा देती है। इस ज्ञान के लिए इन्हें किसी भी ग्रन्थ को पढ़ने की आवश्यकता नहीं होती।

ऐसे स्वयमेव उत्तेजना पूर्ण विषय को शास्त्रीय ज्ञान के द्वारा और उत्तेजना पूर्ण बना देना शायद राज व्यवस्थापकों और समाज शास्त्रियों ने उचित नहीं समझा और इस विषय की निर्बन्धता में इनमें में ही उन्होंने शायद समाज का कल्याण समझा। यही कारण है कि काम शास्त्रियों को इन ग्रन्थों के बावजूद भी उन्होंने मनुष्य की सेक्स प्रवृत्ति सम्बन्धी साहित्य का खुला रूप न देने में ही हित समझा हो।

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि कामशास्त्र सम्बन्धी इस गोपनीयता और प्रतिबन्ध से मानव समाज का कल्याण साधन हुआ हो बल्कि इस ज्ञान की अपूर्णता से समाज का अकल्याण ही अधिक हुआ है। इस विषय का विवेचन ऊपर किया जा चुका है।

कामरूप

भारत के आसाम प्रान्त का पौराणिक युग का प्राचीन नाम जो अपनी तंत्र विद्या और जादू टोने के लिए हमेशा प्रसिद्ध रहा है।

प्राचीन काल का कामरूप आजकल के आसाम से अधिक विस्तृत था और उसमें उत्तरी बंगाल और भूटान का हिस्सा भी शामिल था। इस प्रदेश की राजधानी "प्रागज्योतिषपुर" म भी जो गौहाटी के आसपास बसा हुआ था।

कामरूप एक अत्यन्त प्राचीन देश था। हिन्दू पुराण ग्रन्थों म इस प्रदेश का उल्लेख कई स्थानों पर कई प्रकार से आया है।

कालिका पुराण क अनुसार कामदेव को महादेव क क्रोधानल से भस्मीभूत होने के पश्चात् यहीं पर फिर से अपना रूप प्राप्त हुआ था इसी से इसका नाम "कामरूप पड़ा।"

इसी प्रदेश म बैठकर ब्रह्मा ने नक्षत्रों की रचना की थी अतः उस स्थान का नाम "प्रागज्योतिषपुर" पड़ा। उस युग में कामरूप प्रदेश अत्यन्त पवित्र माना जाता था। कालिका पुराण म इस सम्बन्ध की एक कथा इस प्रकार लिखी हुई है।

प्राचीन काल में महापीठ कामरूप में जाकर वहाँ के देवताओं की पूजाकर और वहाँ की नदियों में नहाकर अनेक व्यक्ति स्वर्ग चले जाते थे। पार्वती के भय से वहाँ पर यम-राज का प्रवेश निषिद्ध हो गया था। जिससे यमराज के स्वाभाविक कर्म को बड़ा धक्का पहुँच गया था। तब यम राज ने ब्रह्मा से कहा—"हे विधाता। मनुष्य कामरूप में नहाकर, वहाँ का जल पीकर, मरने के बाद कामाख्या देवी और शिव के पार्श्वचर हो जाते हैं। हमारा वहाँ पर अधिकार न होने से हम उन्हें किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचा सकते। इससे सृष्टि का व्यतिक्रम भंग हो रहा है। इसका कोई उचित उपाय होना चाहिए।"

तब ब्रह्मा यमराज को लेकर विष्णु के पास गए और वे सब मिलकर शिव के पास गये। सब बात सुनकर शिव अपने गणों के साथ कामरूप गये। वहाँ जाकर उन्होंने देवी उग्रतारा और अपने गणों से कहा कि यहाँ से तुरन्त सब लोगों को भगा दो। शिव की आज्ञा पाते ही देवी उग्रतारा ने सब लोगों को भगाना शुरू किया। इसी चक्कर में वहाँ पर बसे हुए वशिष्ठ मुनि को भी निकालने देवी पहुँच गई। इस अपमान से वशिष्ठ मुनि अत्यन्त क्रोधित हुए और उन्होंने देवी को शाप दिया—

"हे वामे! हम मुनि हैं। फिर भी तुम हम भगाने की चेष्टा कर रही हो। इसलिए हमारा अभिशाप है कि तुम मातृ गण के साथ इस प्रदेश में वाममत से वेद विरुद्ध पूजित होओगी। तुम्हारे प्रमथगण म्लेच्छ रूप से इस कामरूप म वास करेंगे। हम ब्राह्मण हम शुद्ध विशिष्ट तपो निरत मुनि हैं। महादेव ने किया अनुसार निवेक के म्लेच्छों की भाँति हम भगाने की आज्ञा दी है। इसलिए वे भी म्लेच्छों की भाँति भस्म और अस्थि धारण कर इस कामरूप में रहेंगे और यह कामरूप देश तब तक

म्लेच्छ परिवृत रहेगा और इसके सारे तंत्र बेकार हो जाएँगे जब तक स्वयं विष्णु यहाँ पर नहीं आवेंगे।"

वशिष्ठ के इस शाप से कामरूप के नागरिक म्लेच्छ बन गये। उग्रतारा वामा हुई और महादेव भी म्लेच्छ की तरह फिरने लगे। एकदम कामरूप देव मन्त्र हीन हो गया। तब विष्णु ने आकर उस शाप से कामरूप को मुक्त किया।'

कालिका पुराण में ही कामरूप के पहले राजा 'नरकासुर" का विस्तार से वर्णन दिया हुआ है। इससे मालूम होता है कि सबसे पहले नरकासुर ने ही कामरूप में देवी कामाख्या के मन्दिर का निर्माण करवाया था।

नरकासुर के बाद उसके पुत्र भगदत्त को श्रीकृष्ण ने कामरूप की राजगद्दी पर बिठाया था। भगदत्त ने महाभारत के युद्ध में कौरवों के पक्ष में पाण्डवों से युद्ध किया था।

इसके पश्चात् इस प्रदेश पर पुष्यवर्मन नामक व्यक्ति ने वर्मन राजवंश की स्थापना कर यहाँ का राज्य प्राप्त किया। पुष्यवर्मन के पश्चात् इस राजवंश में समुद्रवर्मा, बलवर्मा, कल्याण वर्मा, गणपति वर्मा, महेन्द्र वर्मा, नारायण वर्मा, मूर्तिवर्मा, स्थिरवर्मा और सुस्थित वर्मा नामक राजा हुए। सुस्थित वर्मा का पुत्र भास्कर वर्मन इस राज्य में बड़ा प्रतापी नरेश हुआ। भास्करवर्मन कन्नौज नरेश हर्षवर्द्धन का परम मित्र और मालवराज देवगुप्त का परम शत्रु था।

भास्कर वर्मन तथा उसके बाद का ऐतिहासिक वर्णन इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में आसाम के वर्णन में दिया गया है।

कामाख्या-देवी

कामरूप प्रदेश में गौहाटी के समीप कामाख्या नामक पहाड़ी पर बना हुआ देवी कामाख्या का मंदिर जो समस्त भारत के प्रधान शक्ति पीठों में से एक है।

कालिका पुराण में कामाख्या पीठ की स्थापना का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

"दक्ष के यज्ञ में महादेव का अपमान होने पर सती यज्ञ के हवन कुण्ड में कूद पड़ी। महादेव उसके शरीर को कन्धे पर उठाकर पागलों की तरह सब दूर घूमने लगे। सती के उस शरीर में से उसके अंग टूट-टूट कर जिन स्थानों पर गिरे उन सभी स्थानों पर शक्ति पीठों की स्थापना हो गई। उसका एक अंग कामरूप में भी गिरा और उसी स्थान पर देवी कामाख्या के शक्ति पीठ की स्थापना हुई।

कामाख्या का शक्ति पीठ तान्त्रिक लोगों का अत्यन्त पुनीत क्षेत्र रहा है। बड़े बड़े प्रसिद्ध तान्त्रिकों ने इस क्षेत्र में तन्त्र विद्या की सिद्धि प्राप्त की। सारे आसाम और बंगाल के एक हिस्से में कामाख्या देवी की पूजा का बड़ा महत्व है।

कामाख्या देवी की कृपा से आसाम की नारियों ने भी बड़ी तान्त्रिक शक्ति प्राप्त कर ली थी और ऐसा कहा जाता है कि किसी समय में यहाँ पर एक बड़े प्रभावशाली स्त्री राज्य की स्थापना भी हुई थी। यहाँ की स्त्रियों के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की चमत्कार पूर्ण कहानियाँ सारे देश के स्त्री समाज में फैली हुई हैं और लोक गीतों में भी इन चमत्कारों का वर्णन आया है।

सन् १५५५ में प्रसिद्ध हिन्दू द्वेषी "काला पहाड़ कामरूप में कामाख्या देवी के मन्दिर को तोड़ने गया। उस समय यह स्थान कूच बिहार के राजा नरनारायण के अधीन था। मगर राजा काला पहाड़ से उस मन्दिर की रक्षा न कर सके। काला पहाड़ ने कामाख्या देवी के सारे मन्दिर और पीठ स्थान को तोड़-फोड़ कर नष्ट कर दिया उसके बाद राजा नरनारायण ने अपने भाई के सहयोग से इस मन्दिर का पुनः निर्माण करवाया।

कामरान मिरज़ा

मुगल बादशाह बाबर का दूसरा पुत्र हुमायूँ का छोटा भाई। जिसकी मृत्यु सन् १५५७ में हुई।

सम्राट बाबर ने कामरान को अपने शासन काल में ही कन्धार का शासक बना दिया था। बाबर की मृत्यु के बाद हुमायूँ ने उसे पंजाब और काबुल तथा कन्धार का प्रान्त भी

पन को लेकर उसे विदा कर दिया। मगर कामरान बराबर अपने भाई हुमायूँ के खिलाफ विद्रोह करता रहा। अन्त में शेरशाह से पराजित होकर हुमायूँ सन् १५४५ में काबुल की ओर चला तो कामरान ने पहले ही वहाँ पहुँचकर काबुल पर अधिकार कर लिया।

सन् १५४५ में हुमायूँ ने ईरान के सम्राट तहमास्प की सहायता से आक्रमण कर काबुल और कन्दहार के प्रदेश जीत लिये। मगर अगले साल कामरान ने फिर इस प्रदेश पर अधिकार कर लिया। तब हुमायूँ ने फिर आक्रमण कर कामरान को हराकर उसे बन्दी बना लिया। मगर कामरान के क्षमा माँगने पर फिर उसे छोड़ दिया।

इस प्रकार कामरान के प्रति हुमायूँ बराबर भाई के कर्तव्य को निभाता रहा मगर कामरान हमेशा उसके साथ विद्रोह करता रहा। अन्तिम बार तंग आकर उसने कामरान को पकड़ कर उसकी आँखें निकलवा कर मक्का भेज दिया जहाँ सन् १५५७ में उसकी मृत्यु हो गई।

कामबख्श

मुगलसम्राट औरंगजेब आलमगीर का छोटा पुत्र जिसका जन्म सन् १६६७ में और मृत्यु सन् १७०८ में हुई।

कामबख्श बादशाह औरंगजेब की उदयपुरी महल नामक बेगम का पुत्र था। प्रारम्भ में इसको औरंगजेब ने दक्षिण का सूबेदार बनाकर भेजा था किन्तु इसने अपने बड़े भाई बहादुर शाह को अधीनता स्वीकार न कर अपने नाम का सिक्का चला दिया। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् भाइयों के साथ संघर्ष में सन् १७० ८ में यह मारा गया।

कामराज

मद्रास प्रान्त के रहने वाले कांग्रेस के एक प्रमुख नेता कांग्रेसी शासन में मद्रास के मुख्यमंत्री, कामराज योजना के प्रवर्तक, और सन् १९६४ में अखिल भारतीय कांग्रेस के अध्यक्ष।

कांग्रेस के इतिहास में एक योग्य और सच्चे कार्यकर्ता की दृष्टि से "कामराज" का अच्छा नाम है। एक मुख्यमंत्री की हैसियत से इन्होंने मद्रास के शासन का बड़ी दक्षता से संचालन किया।

मगर "कामराज" की विशेष प्रसिद्धि तब हुई जब वे कांग्रेस का आन्तरिक सुधार करने के लिए मुख्यमन्त्री पद को छोड़कर "कामराज योजना" के नाम से एक योजना लेकर देश के सम्मुख आये। इस योजना का मूल उद्देश्य यह था कि राज्यशासन में फँसे हुए योग्य और अनुभवी व्यक्ति राज्य-पदों को छोड़कर कांग्रेस संगठन में आकर संस्था का आन्तरिक सुधार करने में अपना जीवन भी लगा दें।

इस योजना के अनुसार देश के प्रायः सभी केन्द्रीय मन्त्रियों, राज्य के मुख्य मन्त्रियों और अन्य मन्त्रियों ने अपने इस्तीफे प्रधान मन्त्री पं. जवाहर लाल नेहरू के पास पेश कर दिये।

पं. नेहरू ने इन इस्तीफों में से केन्द्रीय मन्त्री मुरार जी देसाई, जगजीवन राम और लाल बहादुर शास्त्री के तथा राज्यमन्त्रियों में से बख्शी गुलाम मुहम्मद, पटनायक, चन्द्रभान गुप्त और मण्डलोई राम मंत्रालय के इस्तीफे मंजूर कर उन्हें संगठन में काम करने को भेज दिया।

देश के राजनैतिक इतिहास में उस समय "कामराज-योजना" का बड़ा नाम हो गया। मगर आगे चलकर इसके कोई ठोस परिणाम निकले हों, और कांग्रेस संगठन में इसके कोई क्रान्तिकारी असर हुए हों ऐसा नहीं कहा जा सकता।

सन् १९६४ के मई मास में पं. जवाहर लाल नेहरू के देहान्त के पश्चात्, देश के नवीन प्रधान मंत्री के चुनाव के समय में भी कांग्रेस अध्यक्ष कामराज ने बड़ी दक्षता बुद्धिमानी और दूरदर्शिता का परिचय दिया और उन्हीं के प्रयत्न से नवीन प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री का निर्विरोध चुनाव बड़ी शान्ति के साथ सम्पन्न हो गया जिससे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई।

कामराज एक शुद्ध नीति के बुद्धिमान और दूरदर्शी व्यक्ति हैं।

कामा भीकाजी

पारसी जाति की एक प्रसिद्ध क्रान्तिकारिणी महिला श्रीमती कामा। जिनका जन्म सम्भवतः सन् १८७५ के करीब बम्बई में हुआ था।

श्रीमती कामा के पिता का नाम सोराबजी फ्रामजी पटेल था। कामा का पूरा नाम भिकाजी था और पिता इन्हें भिकू कहकर पुकारते थे। किशोर अवस्था से ही इस लड़की की राजनैतिक और सामाजिक कार्यों में प्रवृत्ति होने से चिन्तित होकर इनके पिता ने इनका विवाह रुस्तमजी कामा से कर दिया। मगर इनकी प्रवृत्तियों से इनके पति की प्रवृत्तियाँ न मिल सकीं जिससे इन्हें पति से अलग होने को मजबूर होना पड़ा।

इसके पश्चात् श्रीमती कामा चिकित्सा के लिए लन्दन गयीं। वहाँ प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्यामजीकृष्ण वर्मा से उनका परिचय हो गया। उन दिनों श्यामजीकृष्ण वर्मा ब्रिटिश प्रगतिवादी वर्गों में भारतीय आजादी के पक्ष में प्रचार कर रहे थे। कामा उनके भाषणों से बड़ी प्रभावित हुई। और शीघ्र ही लन्दन के 'हाइड पार्क' में भारतीय स्वाधीनता पर श्रीमती कामा के भी भाषण होने लगे। ब्रिटिश अधिकारी उनके इन भाषणों से चौकन्ने हो गये और उन्होंने श्रीमती कामा को गिरफ्तार करने का निश्चय किया।

मगर इसकी भनक पड़ते ही श्रीमती कामा ब्रिटिश चैनल को पारकर फ्रान्स चली गईं। वहाँ पर उन्होंने एक छोटा सा बोर्डिंग हाऊस खोल दिया और ३५ वर्ष तक वह यहीं पर रहीं। यहीं से उन्होंने भारत के पक्ष में लोकमत जाग्रत करने के लिए पूरे यूरोप का दौरा किया और जगह-जगह के क्रान्तिकारियों से मिलीं।

उनकी इन प्रतिक्रियाओं से ब्रिटिश सरकार अत्यन्त सशंकित थी। पहले तो उसने फ्रांस की सरकार से इन्हें माँगा, मगर फ्रांस सरकार के इन्कार करने पर ब्रिटिश सरकार ने इनके भारत प्रवेश पर पाबन्दी लगा दी। इस कार्यवाही का उत्तर श्रीमती कामा ने 'वन्दे मातरम्' नामक पत्र का प्रकाशन करके दिया।

उन दिनों अर्थात् सन् १९०८ के आसपास कामा का छोटासा बोर्डिंग हाउस प्रसिद्ध भारतीय क्रान्तिकारियों का तीर्थ बना हुआ था। बहुत से भारतीय क्रान्तिकारी उनसे सलाह करने यहाँ आया करते थे। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी वीर सावरकर, लाला हरदयाल, श्यामजीकृष्ण वर्मा वीरेन्द्र नाथ चट्टोपाध्याय, एम पी टी आचार्य इत्यादि व्यक्तियों ने कई बार उनसे भेंटें की थीं।

सन् १९०८ में जर्मनी में अंतरराष्ट्रीय समाजवादी सम्मेलन हुआ, जिसमें भारतीय प्रतिनिधि की हैसियत से श्रीमती कामा को भी निमन्त्रण मिला। वहाँ पर पूरी बाहों के ब्लाउज और साड़ी में लिपटी हुई श्रीमती कामा जब भाषण देने को खड़ी हुईं तो इस भारतीय नारी को देखकर वहाँ के दर्शक चकित हो गये।

स्वाधीन भारत का पहला राष्ट्रीय झण्डा

श्रीमती कामा ने भारत में ब्रिटिश सत्ता के अत्याचार के विरुद्ध एक कठोर भाषण देते हुए सम्मेलन के संयोजकों के प्रति आभार प्रदर्शन किया और अकस्मात् साड़ी की लपेट में से एक वस्तु निकाला और १८ अगस्त १९०८ के दिन तालियों की गड़गड़ाहट के बीच में उस वस्तु में से एक तिरंगा झण्डा' निकालकर स्टट गर्ट (जर्मनी) में फहरा दिया। इसी झण्डे ने भविष्य में भारत के स्वतंत्रता प्रेमियों को संगठित होने और संग्राम में कूद पड़ने को प्रेरित किया। झण्डा फहराने के साथ ही उन्होंने जोरदार शब्दों में कहा कि "अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करो—यह ईश्वर की आज्ञा है।"

प्रथम महायुद्ध के समय ब्रिटिश सरकार के पुनः अनुरोध करने पर फ्रान्स की सरकार ने श्रीमती कामा को पेरिस के पास ही एक पुराने किले में कैद कर दिया। वहाँ से वह शान्ति सन्धि होने पर छोड़ी गई।

सन् १९३५ में वृद्ध और अशक्त हो जाने पर उन्होंने अपनी मातृभूमि का दर्शन करना चाहा। उन्होंने भारत के वाइसराय को लिखा कि 'मैं पराधीन भारत में जीवित नहीं रहना चाहती, बल्कि मैं यहाँ आकर मरना चाहती हूँ जहाँ पर मेरा जन्म हुआ था" इस पर भारत-सरकार ने उनसे राजनैतिक कार्य न करने की प्रतिज्ञा लेकर भारत आने की इजाजत दे दी। भारत पहुँचने के समय वे बहुत बीमार थीं। इससे उन्हें 'बी डी पारसी जनरल अस्पताल' में

मरवा करवा दिया गया। यहीं पर अगस्त १९११ ई॰ में उसकी मृत्यु हो गई।

कामाकुरा शोगनशाही

जापान का एक प्रसिद्ध राजवंश जिसने जापान में 'शोगुन' की प्रसिद्ध प्रथा को कायम किया। यह शोगुनशाही सन् ११५९ में स्थापित हुई और करीब सात सौ वर्षों तक जापान के शासन पर पूर्ण अधिकारों के साथ छाई रही।

शोगुन प्रथा स्थापित होने के पहले जापान सम्राट के प्रतिनिधि रूप में वहाँ पर फूजीवारा राजवंश शासन कर रहा था। सम्राट को इसने एक कठपुतली की तरह बना रक्खा था। जिससे सम्राट् और दाइम्यो नामक जमींदार लोग फूजीवारा वंश से बड़े असन्तुष्ट थे।

इन्हीं दाइम्यो नामक जागीरदार लोगों में 'योरीतोमा नामक एक बड़ा प्रभावशाली व्यक्ति हुआ। इसने सन् ११५२ में फूजीवारा वंश की सारी शक्ति को समाप्त कर दी। इससे प्रसन्न होकर सम्राट् ने इसको सी-इ-ताई शोगुन की पूर्ण सत्तासम्पन्न उपाधि प्रदान की और साम्राज्य की वास्तविक सत्ता "योरीतोमा" को सौंप दी।

उस समय जापान की राजधानी "क्योटो" में थी। मगर वहाँ के लोगों का जीवन अत्यन्त विलासपूर्ण हो गया था। इसलिए "योरीतोमा" ने अपनी सैनिक राजधानी क्योटो से हटाकर "कामाकुरा" नामक स्थान पर बनाई। इसी राजधानी के नाम पर यह कामाकुरा शोगुनशाही के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस वंश की सत्ता सन् १३३३ तक अर्थात् डेढ़ सौ वर्षों तक कायम रही। उसके बाद योरीतोमा के वंश से निकलकर यह शोगुनशाही दूसरे वंश के हाथ में चली गई।

कामाकुरा शोगुनशाही के समय में जापान की सर्वतो मुखी उन्नति हुई। उस युग में कामाकुरा वैभव के शिखर पर पहुँच गया था। कई स्थानों पर मन्दिरों का निर्माण हो रहा था। धार्मिक व्याख्यान और रचनाएँ प्रस्तुत हो रही थीं। जापान के सैन्य नायक और जनता में बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार हो रहा था और उसके साथ ही साथ साहित्य चित्रकला मूर्तिकला भवन निर्माण कला सभी क्षेत्रों में खूब विकास हो रहा था।

इस काल में जापानी साहित्य में भी एक युगान्तर हो रहा था। चीन और जापान के समन्वय से एक राष्ट्रीय मिश्रित भाषा का भी इसी काल में विकास हो रहा था। इस समय की दो प्रसिद्ध साहित्यिक कृतियाँ हैं—के मोनो-गातारी" और गेनपेसी सेसी सुई की बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें हेई (क्लटो) और गेंजी के उत्थान पतन का करुण चित्र कविता में व्यक्त किया गया है। इस युग के साहित्य में बौद्ध धर्म की छाया होने से उसमें नैराश्य का पुट अधिक पाया जाता है।

इसी काल में जापान में कामा नो-चोमेई नामक प्रसिद्ध कवि हुआ। इसकी रचना होजोकी बड़ी प्रसिद्ध है जिसमें उस काल की करुण वेदना और नैराश्य का सजीव चित्र अंकित किया गया है।

कामायनी

हिन्दी काव्य साहित्य में छायावाद के महान् कवि श्री जयशंकर प्रसाद का एक सुन्दर और दार्शनिक भावों से युक्त प्रसिद्ध काव्य। जिसका प्रकाशन सन् १९११ में हुआ।

हिन्दी काव्य साहित्य को कामायनी छायावादी युग की एक महान् और गौरवपूर्ण देन है। इसके द्वारा एक मधुर काव्यधारा के साथ २ एक सुन्दर दर्शन परम्परा को कवि ने उपस्थित किया है।

मनु, श्रद्धा और इडा के द्वारा कवि ने मानवीय मन और उसमें श्रद्धा (विश्वास) और इडा (बुद्धि) के द्वारा होने वाले उत्थान और पतन और इस उत्थान और पतन से उस मन में उत्पन्न होने वाली अनेक भावनाओं की लहरों का बड़ी अभिराम और रोचक शैली में वर्णन किया है। इस वर्णन में सृष्टि की आदि से अभी तक होने वाले मानवीय मन के विकासक्रम का इतिहास भी आ गया है।

कामायनी काव्य का प्रारम्भ एक विनाश कारी प्रलय की घटना से प्रारम्भ होता है। इस जल प्रलय में सारा देवलोक और उसकी भव्य समृद्धि नष्ट हो जाती। केवल एक मनु किसी प्रकार उस जल प्रलय से बचते हैं। वे एक

नौका पर बहते बहते हिमालय के एक शिखर पर जा पहुँचते हैं। इसी घटना के प्रारम्भ से इस काव्य का प्रारम्भ होता है। और ऐसे समय में मानवीय मन में उठने वाली अनेक प्रकार की भावनाओं का पन्द्रह सर्गों के रूप में कवि ने चित्रण किया है। ये पन्द्रह सर्ग—(१, चिंता (२) आशा (३) श्रद्धा (४) काम (५) वासना (६) लज्जा (७ कर्म (८) ईर्ष्या (९) इड़ा (१ स्वप्न (११) संघर्ष (१२) निर्वेद (१३ दर्शन (१४) रहस्य (१५) आनन्द नाम से इस काव्य में जुड़े हुए हैं। इस प्रकार चिंता से इस काव्य का प्रारम्भ होकर आनन्द में इसकी समाप्ति होती है।

चिंता—इस विराट जल प्रलय को देखकर तथा सारे विश्व में अपने आपको एकाकी समझकर मनु के मन में तरह तरह की चिंतायें पैदा होती हैं।

ओ चिंता की पहली रेखा अरी विश्ववन की व्याली।
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कम्पसी मतवाली ॥
हे अभाव की चपल बालिके। री ललाट की खलरेखा।
हरी भरी सी दौड़धूप ओ जल माया की चलरेखा।

आशा—मनु के मन में छाई हुई चिन्ता के इस निबिड़ अन्धकार में अकस्मात् प्रकाश की एक पतली रेखा की तरह आशा की एक किरण चमक जाती है।

उषा सुनहले तीर बरसती जय लक्ष्मी सी उदित हुई।
उधर पराजित कालरात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई॥
वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का आज लगा हँसने फिर से।
वर्षा बीती हुआ सृष्टि में शरद विकास नये सिर से॥

आशा की इस किरण को पाकर मनु में एक नवीन चेतन का संचार हुआ। उन्होंने सोचा कि हो सकता है मेरी ही तरह और भी कोई व्यक्ति इस महाप्रलय से बच गया हो? वे प्रतिदिन ऐसे व्यक्ति की खोज म रहने लगे। उनको अपना एकाकी पन बुरी तरह से अखर रहा था। उनकी एकमात्र वासना किसी साथी को पाकर उस एकाकी जीवन को पूर्ण बनाने की प्रेरणा दे रही थी।

श्रद्धा—इसी तरह एक दिन जब मनु आशा और निराशा के बीच झूल रहे थे उन्हें अचानक एक मीठी संगीतपूर्ण आवाज सुनाई पड़ी—

कौन तुम? संसृति जलनिधि के तीर तरंगों से फेंकी मणि एक
कर रहे निर्जन का चुपचाप प्रभा की धारा से अभिषेक'

मनु इस मोहिनी आवाज को सुनकर चौंक पड़े। उन्हें आगन्तुक की वाणी म संगीत की सी मादकता का अनुभव हुआ। मनु ने अपनी दुःख पूर्ण कहानी 'श्रद्धा" को कह सुनाई और उससे उसका परिचय पूछा। श्रद्धा ने अपना परिचय दिया और फिर मनु से पूछा—

तपस्वी! क्यों हो इतने क्लान्त? वेदना का यह कैसा वेग
आह! तुम कितने अधिक हताश बताओ यह कैसा उद्वेग

फिर जब मनु अपनी अधीरता का वर्णन करते हैं तब—

कहा आगन्तुक ने सस्नेह 'अरे तुम इतने हुए अधीर,
हार बैठे जीवन का दाँव जीतते मरकर जिसको वीर।
तप नहीं केवल जीवन स म करुण यह क्षणिक दीन अवसाद
तरल आकांक्षा से है भरा सोरहा आशा का आह्लाद॥

उसके बाद श्रद्धा मनु को आश्वासन देती है। कहती है मैं तुम्हारी सहचरी बनकर, तुम्हारे जीवन पथ में सहायता दूँगी। मेरे हृदय समुद्र में दया माया ममता आदि कोमल भावों के अनेक रत्न भरे हैं। उन्हें तुम ग्रहण करो और फूल की तरह तुम महक उठो।

और यह क्या तुम सुनते नहीं विधाता का मंगल वरदान
शक्तिशाली हो विजयी बनो विश्व मे गूँज रहा जयगान।
डरो मत अरे अमृत सन्तान अग्रसर है मंगलमय वृद्धि
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र खिंची आवेगी सकल समृद्धि।

इस प्रकार मनु और श्रद्धा परस्पर परिचय म आते हैं।

काम—इस के पश्चात् काव्य की रंगभूमि में "काम" का प्रवेश होता है। कामदेव ने स्वय अपना परिचय और साथ ही अपनी पुत्री कामायनी या श्रद्धा का परिचय भी दिया। उसने कहा —"हे मनु संसार की वास्तविक शक्ति प्रेम में ही है। उसी प्रेम का सन्देश सुनाने के लिए पवित्रता की प्रतिमूर्ति इस श्रद्धा कामायनी ने हमारे यहाँ जन्म लिया है। यही इस संघर्ष और संताप मय जीवन में शान्ति और शीतलता प्रदान करती है। यदि तुम उसे पाना चाहो तो अपने को उसके योग्य बनाओ।

इसके बाद मनु और श्रद्धा न अपनी गृहस्थी बसाना प्रारम्भ किया। देखते ही देखते चारों और धान के खेत,

दूध देनेवाले पशु और अन्य सब सामग्रियों का संग्रह हो गया। मनु सामग्री जुटाते और श्रद्धा उसको सजाती। इस प्रकार उनकी गृहस्थी चल निकली। मगर अभी तक उनके जीवन में वासना का प्रवेश नहीं हुआ था।

वासना—जब जीवन में शान्ति बढ़ती गई तब वासना का उदय होना स्वाभाविक था। एक दिन जब उनकी वासना पूर्ण दृष्टि ने श्रद्धा को देखा तो बोल उठे।

कहा मनु ने तुम्हें देखा अतिथि कितनी बार,
किन्तु इतने तो न थे तुम दबे छवि के भार।
पूर्व जन्म कहूँ कि था स्पृहणीय मधुर अतीत
गूँजते जब मधुर घन में वासना के गीत॥

मनु के मधुर वचनों को सुनकर श्रद्धा का नारी हृदय मधुर भावनाओं से ओतप्रोत हो गया। वह बोली हे प्रेम रूप! अब सम्पूर्ण आत्म समर्पण ही मेरे जीवन का प्रधान लक्ष्य हो गया है। और वह लज्जा से अवनत हो गई।

लज्जा—इसी समय 'लज्जा' उन दोनों के बीच में आकर खड़ी हो जाती है। श्रद्धा उसे देखकर चौंक पड़ती है और कहती है तुम कौन हो, जो दो प्रेमियों के बीच में बाधा बनकर आई हो। लज्जा कहती है—

'उज्ज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं,
जिसमें अनन्त अभिलाषा के सपने सब जगते रहते हैं।
मैं उसी चपल की धात्री हूँ गौरव महिमा हूँ सिखलाती,
ठोकर जो लगने वाली है उसको धीरे से समझाती॥

तब श्रद्धा उससे पूछती है कि क्या मेरे जीवन पथ का तुम ठीक से पथ निर्देश कर सकोगी। अब मेरे मन में में अपने आप को सुखकर पूर्ण आत्म समर्पण कर देने की इच्छा हो रही है।

लज्जा ने कहा—हे श्रद्धा। तुम यह क्या कह रही हो। अखिल मानव जाति के कल्याण के लिए तुम अपना यह सुन्दरमा जीवन तो पहले ही अर्पित कर चुकी हो। इसलिए हे देवी! मानव के मन में निरन्तर जो देवासुर संग्राम चल रहा है उसे अपने जीवन के अमृत से सींच दो।

कर्म—वासना की परितृप्ति के साथ-साथ कर्म की भावना का उदय हुआ। मनु की इच्छा एक "यज्ञ" करने की हुई, मगर यज्ञ करने के लिए उसे कोई "पुरोहित" नहीं मिल रहा था। इसी समय जल प्रलय से बचे हुए किलात और आकुलि नामक दो असुर जो बहुत दिनों से मद्य और मांस के अभाव से कुण्ठित हो रहे थे वहाँ आये और वे मनु के यज्ञ के पुरोहित बन गये। उस यज्ञ में सैकड़ों पशुओं का बलिदान कर दिया गया। पशुओं की आर्त पुकार, रुधिर की बहती हुई नदी और हड्डियों के ढेर से वह स्थान बड़ा भयावना हो गया था।

श्रद्धा को मनु की इस प्रवृत्ति से बड़ी घृणा हुई। वह यज्ञ में सम्मिलित नहीं हुई। वह अपनी गुफा में जाकर पड़ गई। फिर भी यौवन की तीव्र वासना उसे उत्तेजित कर रही थी। मनु सोमरस से भरा हुआ पात्र लेकर उसे मनाने को गये। श्रद्धा को उस समय झपकी आ रही थी मनु ने अपने कोमल स्पर्श से उसे जगा दिया।

श्रद्धा ने जागकर मनु के द्वारा यज्ञ में की हुई पशु बलि की कड़ी निन्दा की। उसने कहा संसार के प्राणियों का अपने प्राणों पर क्या कुछ भी अधिकार नहीं है। क्या तुम्हारी नवीन मानवता का यही रूप होगा।

मनु ने कहा— श्रद्धा! मगर क्या अपने जीवन के आनन्द का कुछ भी मूल्य नहीं है। इस दो दिन के जीवन में इन्द्रिय सुख ही वास्तविक सुख है। जीवन की समाप्ति के साथ ही सब कुछ समाप्त हो जाता है।

श्रद्धा ने कहा—मनुष्य की यह स्वार्थ वृत्ति तो विनाश कारक है। वास्तविक मानवता तो इसमें है कि हम स्वयं सुखी रहें और सारे प्राणिजगत् के सुख की अभिलाषा करें।

खैर! मनु ने किसी प्रकार समझौता कर श्रद्धा को मनाया और अपने हाथ से सोमरस का पात्र श्रद्धा के ओठों पर लगाया और फिर दोनों ही मदोन्मत्त हो वासना के मद में खो गये।

ईर्ष्या—श्रद्धा के साथ सुख का उपभोग करते हुए मनु को धीरे धीरे विरक्ति होने लगी। इस विरक्ति को दूर करने के लिए वे शिकार खेलने में लीन हो गये। इधर श्रद्धा को गर्भ रह गया। उस गर्भ की सुरक्षा के निमित्त वह तकली कातकर अपना समय व्यतीत करने लगी। एक दिन जब मनु शिकार से लौटकर आए तो श्रद्धा ने मनु का हाथ पकड़ कर कहा—"आओ मैं तुम्हें अब नयी दुनिया

दिखाऊँ जो मैंने बनाई है। मनु को लेकर वह गुफा में गई और उसने आने वाले बालक के लिए बनाया हुआ कुंज कुटीर और बेंत का बनाया हुआ झूला दिखलाया और कहा— 'यह घौंसला तो बनकर तैयार हो गया मगर इसमें चहचहाने वाला पक्षी अभी तक नहीं आया। उसीके इन्तजार में मैं तकली चलाकर अपना समय काटती हूँ। मेरा यह आगन्तुक जब आवेगा तब उसके मधुर कलरव से यह कुटिया संगीतमय हो जावेगी।"

यह सुनते ही मनु का हृदय ईर्ष्या से ओतप्रोत हो गया उसने कहा हे श्रद्धा! तुम तो अपने बच्चे को लेकर अपने जीवन को भरा पूरा कर लोगी और मैं मृगतृष्णा की तरह शान्ति की खोज में भटकता रहूँगा।

"तुम फूल उठोगी लतिकासी कंपित कर सुख सौरभ तरंग
मैं सुरभि खोजता भटकूंगा बन-बन बन कस्तूरी कुरंग।

यह मुझ से नहीं होगा। तुम अपने सुख में सुखी रहो मुझे अपने दुःख के साथ अकेला छोड़ दो। यह कहकर मनु श्रद्धा को वहीं अकेली छोड़कर, किसी अज्ञात देश की यात्रा पर निकल गये।

इसी समय कामदेव का भीषण अभिशाप उन्हें आकाशवाणी की तरह सुनाई पड़ा। 'अरे मनु! श्रद्धा के महत्व को न समझने के कारण तुमने उसे तिलांजलि दे दी। तुमने जीवन के वास्तविक महत्व को नहीं समझा। इन्द्रियों का भोग विलास ही तुम्हारे लिए परम सत्य हो गया। तुम्हारी यह विपरीत बुद्धि ही तुम्हें पथभ्रष्ट कर रही है। तुम्हारी यह नवीन सृष्टि कभी शान्ति प्राप्त नहीं करेगी और नित्य नयी समस्याएँ तुम्हारी सृष्टि को उलझाती रहेंगी।

श्रद्धा से वंचित मनु के हृदय को तब एकाएक सरस्वती नदी के किनारे पर बुद्धिरूपिणी "इड़ा" के दर्शन होते हैं।

"इड़ा" साक्षात् बुद्धि का अवतार थी। वह अपने एक हाथ में कर्म और दूसरे हाथ में विज्ञान को सम्हाले हुए थी। 'इड़ा" ने जब मनु का परिचय जान लिया तो उसने कहा कि 'मैं तुम्हारा स्वागत करती हूँ। मुझे ऐसे ही कर्मशील पुरुष की आवश्यकता थी। देखो मेरा यह सारस्वत प्रदेश भूकम्प के धक्के से नष्ट भ्रष्ट होगया है। इसका फिर से निर्माण करना है। क्या तुम इस कार्य में मेरा सहयोग कर सकते हो?'

मनु ने कहा—मैं तैयार हूँ। मगर मेरी बुद्धि कुछ काम नहीं कर रही है। भाग्य की ठोकरें खाते खाते मैं मैं बहुत निराश हो गया हूँ। इसलिए तुम मेरा पथ-प्रदर्शन करो।

इड़ा ने कहा—मनुष्य को अपनी शक्ति के अतिरिक्त किसी दूसरे पर निर्भर न रहना चाहिए। जो मनुष्य अपनी बुद्धि पर भरोसा रखकर कर्मक्षेत्र में चल पड़ता है उसे रोकने की ताकत किसी में नहीं है। यह प्रकृति अनेक विधि पदार्थों की समष्टि है। पर उनका आविष्कार करने वाला कोई होना चाहिये। अपने भाग्य के निर्माता और नियामक तुम अपने आप हो। विज्ञान के बल पर तुम जड़ में भी जीवन फूंक सकते हो।

इड़ा से प्रेरणा पाकर मनु उत्साहित हो गये और उस उजड़े हुए देश का पुनर्निर्माण करने में लग गये।

स्वप्न—इधर मनु इड़ा से प्रेरणा पाकर पूरे उत्साह के साथ सारस्वत नगर का निर्माण करने में लग थे। उधर श्रद्धा उस गुफा में अत्यन्त उदासीन अवस्था में अपना जीवन व्यतीत कर रही थी। एक दिन उसने एक अद्भुत स्वप्न देखा। उस स्वप्न में उसने देखा कि—"मनु ने इड़ा के निर्देश पर चलकर उजड़े हुए नगर को फिर से बड़ा सुन्दर बना लिया है। विज्ञान के बल से उन्होंने देश और काल पर विजय पाली है। और ऊँचे भवन में मनु इड़ा के साथ आसव ढाल रहे हैं—

इड़ा ढालती थी वह आसव जिसकी बुझती प्यास नहीं।
तृषित कंठ को पीपीकर भी जिस पर है विश्वास नहीं॥

इसके बाद श्रद्धा ने देखा कि मनु मदिरा के नशे में मस्त होकर 'इड़ा' के प्रति वासना प्रकट करते हैं। इड़ा उनके प्रेम को ठुकरा देती है और मनु उसका बलपूर्वक आलिंगन पाश में बाँध लेते हैं। वह भय से चिल्ला उठती है और सब दूर भयंकर अशान्ति का कोलाहल मच जाता है।'

श्रद्धा इस अद्भुत स्वप्न को देखकर काँप उठती है। उधर सारस्वत नगरी के निर्माण के पश्चात् मनु को घमण्ड सवार हो जाता है और वे स्वेच्छाचार पूर्ण शासन में

मग्न हो जाते हैं। इससे उनकी प्रजा एक दम विद्रोह कर देती है। मनु अपनी आसुरी शक्ति से प्रजा के विद्रोह को निर्ममता पूर्वक दबा देते हैं मगर अन्त में महान् शक्ति भगवान शङ्कर का वाण आकर मनु को घायल कर देता है।

निर्वेद—विद्रोह समाप्त हो जाता है। मनु के घायल शरीर के पास अत्यन्त उदास भाव से इडा बैठी हुई है। इसी समय एक बालक का हाथ पकड़े हुए श्रद्धा वहाँ प्रवेश करती है। मनु को घायल अवस्था में देखकर वह उनके शरीर पर हाथ का स्पर्श करती है। मनु की मूर्छा टूटती है और अपने पास श्रद्धा को देखकर उनकी आँखों से आँसू बहने लगते हैं। उसी समय श्रद्धा पुत्र से पिता का परिचय करवाती है। पास ही खड़ी "इडा" को देखकर मनु का मन घृणा से भर जाता है। और वे श्रद्धा से कहते हैं— "हे श्रद्धा! मुझे तू यहां से दूर बहुत दूर कहीं लेकर चल। वास्तव में बात यह है कि मेरे हृदय के छुद्रपन ने तुम्हारा यह स्नेह दान लिया नहीं उस भाव में अपने को सर्वथा निराधार और निस्सहाय पाता हूँ।"

इसके बाद जब सब लोग सो जाते हैं तब मनु उनको छोड़कर किसी अज्ञात दिशा को निकल पड़ते हैं। सवेरे उनको वहाँ न देखकर श्रद्धा और उसका पुत्र उनकी खोज में निकल पड़ते हैं। इडा भी पीछे पीछे चलती है। श्रद्धा ने देखा कि इडा किसी विशेष उद्देश्य को लेकर उसके पीछे पीछे आ रही है। तब श्रद्धा ने अपने बालक को सम्बोधित कर कहा हे वत्स! तुम इडा के साथ रहकर यहीं नीतिपूर्वक राष्ट्र का संचालन करो। "इडा विज्ञानमयी है तुम श्रद्धामय हो "इडा" विज्ञान है, तुम ज्ञान हो। तुम दोनों एक दूसरे के पूरक हो इसलिए निर्भय होकर कर्म करो।

सरस्वती नदी के तट पर श्रद्धा का मनु से पुनर्मिलन होता है। मनु कहते हैं—श्रद्धा तुम अपने सर्वस्व उस बालक को इडा के हाथ सौंपकर भी किस प्रकार धीरज रखते हुए हो

श्रद्धा ने कहा हे मनु! मनुष्य देकर कभी रंक नहीं होता। सुख दुख से देना और सुख दुख से ग्रहण करना यही तो जीवन है। इतना कह कर श्रद्धा ने मनु को एक अद्भुत दृश्य दिखलाया।

सामने अन्तरिक्ष म एक महान् प्रकाश फैल गया और उस प्रकाश के बीच ताण्डव नृत्य करते हुए नटराज शिव की कल्याण मूर्ति दिखलाई पड़ी। उनके दोनों चरणों की गतिविधि में सृजन और संहार की शक्ति भरी हुई थी और समस्त पाप-पुण्य उस शक्ति पुंज के दिव्य प्रकाश में भस्मीभूत हो रहे थे।

इसके बाद श्रद्धा और मनु उन नटराज के समीप पहुँचने को चल पड़े। वहाँ पहुँच कर श्रद्धा ने मनु को इच्छा ज्ञान और कर्म के प्रतीक तीन प्रकाशमान बिन्दुओं के दर्शन कराये।

रहस्य—श्रद्धा ने कहा लाल रंग का मध्य बिन्दु मनुष्य की इच्छा का प्रतीक है। शब्द स्पर्श रस, रूप गंध ये पाँचों चीजें इस इच्छा को ही मध्य बिन्दु बनाकर घूमती रहती हैं। इसीसे मानवीय मन में वासना और लालसा की लहरें उठती रहती हैं समस्त मनोभावों का चक्र इस इच्छा के द्वारा ही चलता है।

दूसरा जो श्याम रंग का बिन्दु है वह मनुष्य का कर्म है। इस क्षेत्र में मनुष्य का जीवन मशीन के पुर्जे की तरह घूमता रहता है। इच्छा लोक के वे आनन्दपूर्ण और कल्पनाकार विषय यहाँ अभिशाप की तरह सिद्ध होते हैं। इस क्षेत्र में संघर्ष का निरन्तर कोलाहल मनुष्य को चैन नहीं लेने देता। बड़े बड़े आयोजनों के उत्तरदायित्व का भार धारण करने कन्धे पर ढोता हुआ मनुष्य शान्ति प्राप्त नहीं कर पाता।

श्रद्धा ने कहा—हे मनु! यह अत्यन्त श्वेत और उज्ज्वल जो तीसरा बिन्दु है वह ज्ञानलोक है। यहाँ के वासी सृष्टि के रहस्य और किसी अलौकिक सत्ता का दर्शन करने में दत्तचित्त हैं। त्याग और तपस्या ही इनका परम ऐश्वर्य है। पर ऊपर से शान्त दिखाई पड़ने पर भी इनका मन विकारों की ओर से शंकाकुल बना रहता है। सब कुछ प्राप्त होने पर भी जीवन के रस से ये अछूते हैं।

संसार में इच्छा कर्म और ज्ञान का सामञ्जस्य नहीं होता यही जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना है। इतना कह कर श्रद्धा मुसकराई। उसकी मुसकराहट में वे तीनों लोक

करीब २५ वर्षों तक कश्मीर में वैभवपूर्ण राज्य किया और विक्रमादित्य के समान परम प्रतापी राजा हुआ था वह वश कायस्थ जाति की ही एक शाखा था। इसी प्रकार कायस्थों से रुष्ट होकर कश्मीर के राजा उच्चल ने कायस्थों को नष्ट करने और उनको अपमानित करने का जो भारी अभियान किया और इस सम्बन्ध में स्वयं क्षेमेन्द्र कवि ने कायस्थों के सम्बन्ध में अपने अभिमत प्रकट किये हैं उससे स्पष्ट मालूम होता है कि उस समय कायस्थ लोग कश्मीर में एक सशक्त जाति के रूप में विद्यमान थे और उनकी व्यावहारिकता से तंग आकर ही राजा प्रजा उनके विरुद्ध हो गये थे।

इसके अतिरिक्त यह भी मालूम होता है कि उस समय कायस्थों में गोत्रों की स्थापना भी हो चुकी थी। खासकर श्री वास्तव गोत्र के सम्बन्ध में कई उल्लेख पाये जाते हैं। अवयपक दुर्ग के राजा सोमवर्मा के समय की बारहवीं सदी की दो शिलालिपियाँ मिली हैं। जिनमें श्रीवास्तव वंश का परिचय दिया हुआ है। श्री वास्तव कायस्थों के सिवा माथुर, भटनागर, सक्सेना निगम गौड़ इत्यादि विभिन्न गोत्रों के कायस्थ पौरहवीं सदी तक ऊँचे ऊँचे राजपदों पर रहे थे। इण्डियन एण्टिक्वायरी तथा एपिग्राफिया इण्डिका इत्यादि के द्वारा संग्रहीत शिलालेखों में माथुर सक्सेना निगम इत्यादि राज्याधिकारियों के उल्लेख आये हैं।

फिर यदि बारहवीं सदी तक कायस्थ जाति के रूप में अस्तित्व में नहीं आया थी तो फिर इसका कौन से समय में जाति के रूप में अस्तित्व आया कौन उसका संस्थापक था और किस प्रकार इन भिन्न २ गोत्रों का निर्माण हुआ इसका कोई प्रमाण भूत उत्तर इतिहासकारों के पास नहीं है।

इसलिए यह मानना ही युक्ति संगत मालूम होता है कि बारहवीं सदी के पहले भी जातिरूप में कायस्थ जाति का अस्तित्व था। इनके गोत्रों का निर्माण हो चुका था। भारत वर्ष के एक बहुत बड़े विस्तार में इनका विस्तार हो चुका था। जिसमें कश्मीर पंजाब उत्तर प्रदेश और बंगाल में इनका विस्तार अधिक हुआ। बंगाल और उत्तर प्रदेश के कायस्थों में कुछ मौलिक भेद भी हो गये।

बंगाल के कायस्थ

बंगाल के कायस्थ यज्ञोपवीत धारण नहीं करते। ऐसा कहा जाता है कि पाल राजवंश के शासन काल में बंगाल का रामवल्लभ नामक कायस्थ वैदिक आचार छोड़ कर बौद्ध तान्त्रिक हो गया था तभी से वहाँ की कायस्थ जाति ने यज्ञोपवीत संस्कार छोड़ दिया था। इसी से बंगाली समाज के कई पण्डितों ने बंगाली कायस्थों को शूद्र करार घोषित किया था।

बंगाल के कायस्थों में १५ वीं शताब्दी में श्री शंकर देव" नामक एक प्रसिद्ध महात्मा हुए। आसाम में बहुत से लोग इनके अनुयायी हो गये थे। इनके प्रधान शिष्य माधवदेवने 'महा पुरुषीय' नामक एक सम्प्रदाय की स्थापना की थी।

बंगाली कायस्थों में कई छोटे-छोटे राजवंश भी थे। बंगाल के कायस्थ गोत्रों में 'सिंह दत्त' "घोष" दास मित्र, वसु इत्यादि गोत्र प्रसिद्ध है।

उत्तर प्रदेश के कायस्थ

उत्तर प्रदेश के कायस्थ भी अपने को चित्रगुप्त के वंशज बतलाते हैं। इन लोगों की परम्परा के अनुसार चित्रगुप्त को उनकी इरावती और सुदक्षिणा नामक पत्नियों से कुल बारह पुत्र हुए। इरावती के चार पुत्र, चित्राक्ष, मतिमान चित्रचारु अरुण और अतीन्द्रिय नामक और सुदक्षिणा के भानु, विभानु, विश्वभानु और वीर्यभानु नामक चार पुत्र हुए।

इन बारह पुत्रों में से चारु मथुरा गये और इनके वंशज 'माथुर' नाम से प्रसिद्ध हुए। सुचारु गौड़ में जाकर रहने लगे और उनके वंशज 'गौड़' कहलाये। चित्राक्ष भट्टनदी के किनारे पर जाकर रहे और उनके वंशज भट नागर कहलाये। भानु 'श्रीवास' नामक स्थान में जाकर रहे और उनके वंशज श्रीवास्तव के नाम से प्रसिद्ध हुए। इसी प्रकार हिमवान् से अम्बष्ठ मतिमान से सक्सेन और विभानु से सूर्यध्वज नामक शाखाएं निकलीं।

आजकल उत्तर प्रदेश के कायस्थ प्रधानतः १२ श्रेणियों में विभक्त है (१) श्रीवास्तव (२) भटनागर (३)

सकसेन (४) अम्बष्ठ (५) भटनागर (६) वाल्मीक (७) माथुर, (८) सूर्यध्वज (९) कुलश्रेष्ठ (१०) करण (११) गौड और (१२) निगम। इनके अतिरिक्त उन्नाव ज़िले में एक उनाई शाखा भी देखी जाती है।

उत्तर प्रदेश के कायस्थों में अकबर के राजस्व सचिव टोडरमल, महाराज नवलराय पन्ना के शासनकर्ता राजा रामनारायण इत्यादि के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं।

बिहार

उत्तरप्रदेश के कायस्थों की तरह बिहार में भी कायस्थों की बारह श्रेणियां हैं। बिहारी कायस्थ यज्ञोपवीत धारण करते हैं। बिहारी कायस्थों की बारह शाखाओं के नाम एक दो नामों को छोड़कर उत्तर प्रदेश के नामों ही की तरह हैं और इनके रीति रिवाज भी प्रायः समान ही हैं। दो देश में रहने से उनमें कुछ अन्तर ज़रूर पड़ गया है।

इसी प्रकार मिथिला उड़ीसा राजपूताना मध्यप्रदेश, मद्रास गुजरात इत्यादि प्रान्तों में भी कायस्थ जाति की कई श्रेणियां पाई जाती हैं। दक्षिण में पाई जाने वाली 'प्रभु' जाति भी कायस्थों की एक शाखा है। यह प्रभु जाति चार श्रेणियों में विभाजित है। चान्द्रसेनी प्रभु, धुव प्रभु, दमन प्रभु और पत्ने प्रभु।

चान्द्र सेनी प्रभु कायस्थ अपने आपको अयोध्या के क्षत्रिय राजा चन्द्रसेन के वंशज बतलाते हैं। इनके सम्बन्ध में स्कन्द पुराण के रेणुका महात्म्य में लिखा है कि परशुराम ने क्षत्रिय संहार की अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए सहस्रार्जुन और चन्द्रसेन को मार डाला। परन्तु चन्द्रसेन की गर्भवती रानी भागकर दाल्भ्य ऋषि के आश्रम में चली गई। परशुराम उसकी खोज में वहां गए। तब दाल्भ्य ऋषि ने उस रानी को उनके समक्ष उपस्थित कर दिया और उसके गर्भस्थ पुत्र की प्राण भिक्षा मांगली। परशुराम ने इस शर्त पर माफ किया कि उसके वंशज खड्ग से व्यापार न करके लेखनी से जीविका करेंगे और क्षत्रिय के स्थान पर कायस्थ के नाम से प्रसिद्ध होंगे। उस रानी का सोमराज नामक पुत्र उत्पन्न हुआ और इसी सोमराज के वंशज प्रभु-कायस्थ नाम से प्रसिद्ध हुए।

कॉरडोवा

प्राचीन स्पेन का एक सुप्रसिद्ध नगर जिसका वैभव ८ वीं शताब्दी से ११ वीं शताब्दी के मध्य तक मूर' लोगों के शासन में अत्यन्त उन्नत पर रहा।

सन् ७११ ई० में अरब-सेनापति 'तरीक' समुद्र पारकर के अफ्रीका से स्पेन में पहुँचा और जिब्राल्टर' पर आकर उतरा। उसी तरीक के नाम पर इस स्थान का नाम 'जबुलत्तरीक' या जिब्राल्टर पड़ा।

अपनी धुंआधार शक्ति से दो साल के भीतर ही अरब लोगों ने सारा स्पेन जीत लिया और कुछ दिनों के बाद 'पुर्तगाल' को भी अपने राज्य में मिला लिया।

इस प्रकार स्पेन उस वक्त इस्लामी साम्राज्य का अंग बन गया जो अफ्रीका के एक सिरे से लगाकर ठेठ मंगोलिया की सरहद तक फैला हुआ था।

मगर सन् ७४९ ई० में अरबस्तान के अन्तर्गत उमैय्या खलीफों के खिलाफ़ अब्बासी वंश ने विद्रोह करके, उमैय्या वंश को नष्ट कर अब्बासी खिलाफत की स्थापना कर दी। उस समय स्पेन का अरबी गवर्नर उमैय्या वंश का था। उसने अब्बासी खिलाफत को मानने से साफ़ इनकार कर दिया।

इस तरह स्पेन का सम्बन्ध अरब साम्राज्य से बिल्कुल टूट गया और स्पेन के अरब लोग स्वतंत्र रूप से वहाँ का शासन करने लगे। ये लोग वहाँ पर मूर जाति के नाम से मशहूर थे। इनकी राजधानी कुर्तुबा या कारडोवा थी। इस स्थान पर रहकर इन लोगों ने ५०० वर्षों तक स्पेन के एक बहुत बड़े हिस्से पर अपना प्रभुत्व रखा। इन लोगों के शासन काल में कारडोवा का वैभव अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था। उस समय कहा जाता है कि इस नगर में ६ हजार मकान और कोठियाँ थीं, २ लाख छोटे मकान थे ८ हजार दुकानें थीं। १७८ मस्जिद थीं और ७ [illegible] स्नानागार थे, [illegible] अतिशयोक्ति हो सकती है [illegible] की विशालता का [illegible] अनुमान हो जा सकता है। यहाँ बहुत से पुस्तकालय भी थे।

जिनमें अमीर का शाही पुस्तकालय सब में बड़ा था। इसमें ४ लाख किताबें थीं। कॉर्डोवा का विश्वविद्यालय सारे भारत में और पश्चिमी एशिया में मशहूर था। इस विश्वविद्यालय में दूर दूर से विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने आते थे। अरबी ज्ञान का असर पैरिस, ऑक्सफर्ड आदि यूरोप के सब विश्वविद्यालयों और इटली के उत्तरी विश्वविद्यालयों तक फैल गया था। ८ वीं सदी से लेकर ११ वीं शताब्दी के शुरू तक कार्डोवा का साम्राज्य लगभग सारे स्पेन पर फैला हुआ था। दक्षिणी फ्रांस का भी कुछ हिस्सा इसमें शामिल था। मगर उसके बाद धीरे धीरे इस साम्राज्य का पतन होना प्रारम्भ हुआ और अन्त में सन् १२३६ ई० में 'कैस्टाइल' के ईसाई बादशाह ने कॉर्डोवा को पूरी तरह फतह कर लिया।

कॉर्डोवा के इस वैभव के सम्बन्ध में एक इतिहास लेखक ने लिखा है कि—"मूर लोगों ने कॉर्डोवा के उस अद्भुत साम्राज्य को संगठित किया था जो मध्यकाल का एक चमत्कार था। जब सारा यूरप जंगलीपन अज्ञान और लड़ाई झगड़ों में डूबा हुआ था, तब अकेले इसी राज्य ने विद्या और सभ्यता की मशाल से पश्चिमी दुनियाँ को रोशन और चमकदार बनाए रखा।

कान्स्टेन्टाईन

प्राचीन रोम साम्राज्य के पूर्वी भाग का प्रतापी सम्राट जिसका शासन काल सन् ३०६ ई० में प्रारम्भ हुआ।

इस समय रोमन साम्राज्य अस्त व्यस्त हो रहा था। तब कान्स्टेन्टाइन ने जनता की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया। उस समय तक ईसाई मठ अच्छी शक्ति प्राप्त कर चुके थे। कान्स्टेन्टाइन उनके सहयोग से साम्राज्य में शान्ति स्थापन करने में सफल हुआ। इसके समय में राजधर्म हो जाने के कारण ईसाई धर्म ने भी बहुत उन्नति की।

कान्स्टेन्टाइन ने साम्राज्य के पूर्वी प्रदेश में बाइजेन्टियम नामक नगर को अपनी राजधानी बनाया। बाद में इसी सम्राट् के नाम पर यह नगर कान्स्टेन्टिनोपल के नाम से प्रसिद्ध हुआ और रोम साम्राज्य के दो भागों में विभाजित होने पर यह नगर ही पूर्वी रोम साम्राज्य की राजधानी बना।

कार्डिनल

रोम साम्राज्य में ईसाई पादरियों के प्रतिनिधि जो कार्डिनल के नाम से प्रसिद्ध थे।

साधारण जनों के अधिकार से गिरजों के उद्धार का काम द्वितीय निकोलस ने किया। सन् १०५९ में उसने एक व्यवस्था निकाली, जिसके द्वारा पोप के निर्वाचन का अधिकार बादशाह तथा रोम की प्रजा दोनों के हाथ से छीनकर सदैव के लिए कार्डिनलों के हाथ में दे दिया गया। रोमन प्रथा में कार्डिनलों की संख्या असीमित विद्यमान है। जो पोप का चुनाव करती है।

कार्थेज

उत्तरी अफ्रीका के समुद्र तट पर प्राचीन काल का एक समृद्ध और शक्तिशाली नगर और राज्य जिसकी स्थापना ई० पू० ८१४ में हुई थी।

ईसा से पूर्व नौवीं शताब्दी में पैलेस्टाइन के उत्तर में भूमध्य सागर के तट पर फिनिशियन जाति के लोग बसते थे। टायर और सीडोन इनके प्रमुख नगर थे। समुद्र तट पर बसे हुए होने के कारण फिनिशियन लोग जहाज बनाने और समुद्री व्यापार करने में बड़े निपुण थे।

ई० पू० ८१४ में टायर के कुछ फिनिशियन व्यापारी उत्तरी अफ्रीका के समुद्री तट पर कार्थेज नामक बस्ती बसा कर वहीं से अपना व्यापार करने लगे। क्योंकि इनके निजी प्रदेश पर पड़ौसी राज्यों के निरन्तर हमले होते रहने के कारण ये लोग बड़े परेशान रहते थे।

धीरे-धीरे टायर और सीडोन के और भी बहुत से व्यापारी कार्थेज में आकर बस गये। जिनके कारण कार्थेज भूमध्य सागर में व्यापार का बड़ा महत्वपूर्ण केन्द्र होगया और वह एक समृद्ध और शक्तिशाली नगर बन गया।

अब कार्थेज के निवासियों ने तत्कालीन रोम साम्राज्य की विस्तार नीति को अपना कर अफ्रिका के समुद्र तट से स्पेन के समुद्र तट के साथ भूमध्यसागर के विभिन्न द्वीपों को अपनी जल शक्ति के बल से जीतकर अपने साम्राज्य का निर्माण करना प्रारम्भ किया। कार्सिका और सार्डीनिया द्वीपों पर भी उन्होंने अपना अधिकार किया। सिसली द्वीप का भी बहुत बड़ा हिस्सा जीतकर इन्होंने अपने साम्राज्य में मिला लिया।

दूसरी ओर रोम भी इटली में अपना साम्राज्य स्थापित कर चुका था और वह चाहता था कि सिसली को भी जीतकर अपने साम्राज्य म मिला ले।

ऐसी स्थिति में रोम का कार्थेज के साथ संघर्ष प्रारम्भ होना स्वाभाविक था और इन दोनों में संघर्ष प्रारम्भ हो गया। रोम और कार्थेज के ये संघर्ष इतिहास में "प्यूनिक युद्ध" के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये युद्ध ई पू २४१ म प्रारम्भ हुए। रोम की सेना ने इनमें अद्भुत वीरता प्रदर्शित की। अपनी जल शक्ति का विकास करके उसने शीघ्र ही सिसली, सार्डिनिया और कार्सिका को जीत लिया।

मगर कार्थेज इससे निराश नहीं हुआ। हैनिबाल नामक एक वीर सेनापति के नेतृत्व में उसने स्थल मार्ग से इटली पर आक्रमण किया। उत्तरी अफ्रीका स्पेन और फ्रांस होती हुई उसकी सेना ने इटली में प्रवेश किया और उत्तरी इटली को विजय करती हुई वह रोम के समीप जा पहुँची। मगर अन्त में रोम की सेनाओं के सामने हैनीबाल को पराजय होना पड़ा और ई पू १४६ में रोम की सेनाओं ने कार्थेज को बुरी तरह ध्वस्त कर दिया। इस प्रकार सौ बरस के प्रसिद्ध प्यूनिक युद्धों ने कार्थेज की शक्ति को पूरी तरह बरबाद कर दिया और यह सारा साम्राज्य रोम साम्राज्य में मिला लिया गया।

क्रा फर्ड लौंग

ऐलोपैथी चिकित्सा में क्लोरोफार्म के आविष्कारक जिनका जन्म उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ म अमेरिका में हुआ।

डॉक्टर क्रेफर्ड लौंग ऐलोपैथिक चिकित्सा क्षेत्र में प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने मूर्च्छा कारक द्रव पदार्थ या क्लोरोफार्म के द्वारा रोगी को चेतनाहीन कर उसका सफलता पूर्वक ऑपरेशन किया था। यद्यपि इस वस्तु के आविष्कार श्रेय इसके चार वर्ष बाद सन् १८४६ में मैसा चुसटेसा के प्रसिद्ध ऑपरेशनकर्ता डॉ जे सी कोलिन्स और विलियम मार्टिन नामक एक दन्त चिकित्सक को मिला।

मगर इसके चार वर्ष पहले सन् १८४२ में ही डॉ क्रेफर्ड लौंग एक रोगी पर इसका सफलतापूर्वक प्रयोग कर चुके थे। उनके पास गर्दन के पृष्ठ भाग में हुई दो गठानों वाला एक रोगी आया। डॉ क्रेफर्ड ने उसे कहा कि वे ऑपरेशन से पूर्व उसे एक तरल पदार्थ सुँघायेंगे और उन्होंने एक तौलिए पर मूर्च्छाकारक ईथर छिड़क कर रोगी को सुँघा दिया और उसका ऑपरेशन सफलता पूर्वक कर दिया।।

यद्यपि उन्होंने इस प्रकार के ऑपरेशन का दावा नहीं किया। पर संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन की चिकित्सा पत्रिकाओं ने चेतना शून्य करके प्रथम ऑपरेशन करने का श्रेय डॉ क्रेफर्ड लौंग को ही दिया।

कार्ल बर्नहार्ड (Carl Bernhard)

डेनमार्क के साहित्य का एक प्रसिद्ध कहानीकार जिसका जन्म सन् १७९८ में और मृत्यु सन् १८६५ में हुई।

कार्ल बर्नहार्ड डेन साहित्य का प्रसिद्ध कहानी कार था उसकी कृतियाँ डेनमार्क के लोक साहित्य में अपना विशेष स्थान रखती हैं।

कार्नेल पियर
(Pierre Corneille)

सत्रहवीं सदी का एक प्रभाव शाली फ्रेंच नाटककार जो फ्रान्स के प्रतापी सम्राट चौदहवें लुई का समकालीन था। जिसका समय सन १६१२ से सन् १६८४ तक था।

शुरू शुरू में कार्नेल ने कॉमेडी या सुखान्त नाटक लिख कर अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन प्रारम्भ किया। मगर

बाद में ट्रेजिडी (दुःखान्त) और कॉमेडी मिश्रित रचना लिखकर लोगों को चकित कर दिया। उसमें तत्कालीन बहादुर सैनिकों के चरित्र का चित्रण करने में अच्छी सफलता मिली।

कारनेल ने मार्नीय रंगमंच के लिए कई नाटकों की रचना की। इनके नाटकों की सफलता देखकर फ्रेंच रंगमंच के कवि रिशल्यू ने इन्हें अपनी 'पाँचकार दिनास मेकार' के कवि मण्डल में सम्मिलित कर लिया। इनकी सबसे पहले दुःखान्त नाटक 'सिद' ने इनकी प्रसिद्ध को बहुत बढ़ा दिया। इनके दूसरे नाटक 'ले-सिड' की फ्रेंच एकेडेमी ने बड़ी कटु आलोचना की। इस आलोचना के बाद कारनेल विशुद्ध दुःखान्त नाटक लिखने में प्रवृत्त हुए। इन नाटकों में 'होरस' 'सिना' और 'पोलियूट' नामक नाटक बहुत लोक प्रिय हुए।

कारनेल के नाटकों में कल्पना की रंगीनी तथा काव्य-प्रतिभा का अधिक विकास न होकर तर्कवाद का विशेष विकास देखा जाता है। इनकी मृत्यु सन् १६८४ में हुई।

कारामजिन

(Nikolay mikhailovich Karamzin)

अठारहवीं सदी के पुश्किन युग में रूस का एक प्रसिद्ध इतिहासकार, जिसका जन्म सन् १७६६ में और मृत्यु सन् १८२६ में हुई।

रूस में यह एलेक्जेण्डर प्रथम का युग था। जिसने सिंहासन पर आते ही साहित्य सम्बन्धी सभी प्रतिबन्ध उठा दिये। जिससे साहित्यकारों की प्रतिभा के विकास के लिए मुक्त वातावरण तैयार हो गया। इसी वातावरण में कारामजिन की प्रतिभा का विकास हुआ। उसने सन् १८०२ में में अपना एक रिव्यू निकालना प्रारम्भ किया इस रिव्यू में उसने साहित्य और आलोचना को काफी स्थान दिया। उसकी सबसे प्रसिद्ध रचना "रूस का इतिहास" था जो बारह जिल्दों में समाप्त हुआ। पहली बार रूसी गद्य में में लिखे गये इस ग्रन्थ को बड़ी सफलता मिली और उसका नाम रूसी गद्य के इतिहास में अमर हो गया।

कार्टर (हावर्ड कार्टर)

इंगलैण्ड का सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता जिसने मिश्र के प्राचीन तूतन खामेन नामक नरेश की समाधि को खोजकर पुरातत्व के क्षेत्र में अमर कीर्ति प्राप्त कर ली।

हावर्ड कार्टर का जन्म सन् १८७३ में और मृत्यु सन् १९३९ में हुई।

सन् १९०७ में कार्टर ने मिस्र में इस समाधि को की ढूँढने का कार्य प्रारम्भ किया। और ४ नवम्बर १९२२ के दिन वे इस समाधि को खोज निकालने में समर्थ हुए।

यद्यपि गत तीन हजार वर्षों में अनेक खानाबदोश लुटेरों ने मिस्री नरेशों की इन समाधियों को खोद-खोद कर लूट लिया था मगर यह समाधि किसी प्रकार काल के भयङ्कर प्रहारों से बच गई थी।

इस समाधि में सम्राट तूतन खामेन की मोमियाई सोने की पेटिका में रक्खी हुई थी। यह पेटिका लकड़ी की दो सन्दूकों में सुरक्षित थी। ये तीनों पेटियाँ संगमरमर के एक बड़े सन्दूक में बन्द थी। राजा की मोमियाई के गले में सोने का हार और कमर में सोने का कमरबन्द पड़ा हुआ था।

समाधि के अन्दर चार कमरे थे। जिनमें राजसिंहासन की शोभायें, शस्त्रास्त्र तथा राजकीय वैभव की प्रतीक अनेकों प्रकार की विलास सामग्रियाँ बिखरी हुई पाई गईं।

इस समाधि के दरवाजे की एक दीवार पर एक लेख लिखा हुआ था। जिसका अनुवाद इस प्रकार है। "फेरो की समाधि को कोई इसे छेड़ेगा उसे यमराज अपने पंखों पर बैठाकर ले जायेगा।"

जिस समय कार्टर ने इस समाधिगृह में प्रवेश किया उस समय उसके साथ २० व्यक्ति और थे। उनमें से चार पाँच व्यक्तियों की इस लेख के अनुसार अकाल मृत्यु हो गई। कार्टर के सरक्षक लार्ड कैनेरवान एक वर्ष बाद ही चल बसे मगर कार्टर ने उसके बाद भी १७ वर्ष तक जीवन सुख का उपभोग किया।

तूतन खामेन मिस्र के अठारहवें राजवंश के राजा आमेनहोतेप चतुर्थ का दामाद था। आमेन होतेप चतुर्थ ने

कार्ल गेलेरूप को कला और साहित्य का जर्मनी में भी बड़ा सम्मान था। इसलिए जब उन्हें नोबल प्राप्त हुआ तो जर्मनी में बड़ा हर्ष मनाया गया।

कार्ल स्पिटलर

सन् १९१९ में नोबल पुरस्कार विजेता स्विट्जरलैण्ड के प्रसिद्ध साहित्यकार "कार्ल स्पिटलर" जिनका जन्म सन् १८४५ में लीस्टल नामक स्थान में हुआ।

कार्ल स्पिटलर के पिता पास्टर कॉंसिल के एक अधिकारी थे। स्पिटलर बचपन से ही कला और संगीत के प्रेमी थे। उनकी पहली रचना "प्रोमेथियस एपीमेथियस" नाम से प्रकाशित हुई और सन् १८८१ में इनकी "एक्स्ट्रा मण्डना" नामक रचना प्रकाशित हुई। इस रचना में इन्होंने सृष्टि रचना का इतिहास विनोदपूर्ण ढंग से बताया है।

इनकी सबसे प्रसिद्ध और प्रौढ़ रचना "ओलम्पियन स्प्रिंग" है। कई समालोचकों ने उनकी इस रचना को आधुनिक युग की ऐसी रचना कहकर सम्मानित किया है और इसकी तुलना महाकवि शैली के प्रोमेथियस अनबाउण्ड और कीट्स के "हाईपीरियन" नामक काव्यों से की है।

स्पिटलर जर्मन कविता के भी अपने देश में प्रतिनिधि माने जाते हैं। उनके मन पर गेटे और शिलर का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

नोबल पुरस्कार मिलने से पूर्व यूरोप के महान् साहित्यकार रोम्यारोला ने स्पिटलर के विषय में लिखते हुए कहा था कि—"मेरे समझ में स्पिटलर इस समय यूरोप के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं और वही एक ऐसे कवि हैं जो प्राचीन कवियों की पहुँच तक हैं— आश्चर्य तो यह है कि दुनिया इस चमत्कार प्रभा के पास से गुजर कर भी उसके प्रकाश से वंचित है।

सन् १९२४ में इस महाकवि का लूसर्न में देहान्त हो गया।

कार्ल-मार्क्स

कम्यूनिज्म के सिद्धान्तों का वैज्ञानिक ढंग से विवेचना करने वाला महान् विचारक। जिसका जन्म सन् १८१८ में और मृत्यु सन् १८८३ में हुई।

कार्लमार्क्स का जन्म जर्मनी के एक यहूदी परिवार में हुआ था। यह वह समय था जब यूरोप में मशीन युग का आविर्भाव होने से क्रमागत औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात हो रहा था। जिसके कारण पूंजी और मजदूरी के बीच का संघर्ष बढ़ता जा रहा था।

कार्लमार्क्स के दिल पर शुरू से ही इस वातावरण का असर पड़ने लगा और पूंजीपतियों के द्वारा होने वाले श्रमजीवियों के शोषण को देखकर उसके हृदय में क्षोभ विद्रोह की भावनाएं उत्पन्न होने लगी।

अपने इन उग्र विचारों के कारण उसे जर्मनी छोड़ने को बाध्य होना पड़ा और वह वहां से फ्रान्स चला गया। फ्रान्स में उसकी भेंट "ऐंगल्स" नामक व्यक्ति से हुई, जो आगे चलकर जीवन भर उसका साथी और सहायक रहा।

फ्रान्स से कार्ल-मार्क्स लन्दन आया और यहीं पर उसे अपने सिद्धान्तों के अनुकूल, लेखन और प्रचार करने का वातावरण मिला।

कार्ल-मार्क्स ने इतिहास का एक नवीन दृष्टिकोण से अध्ययन किया। उसने इतिहास की भौतिकवादी और आर्थिक (Meteralistic Interpretation of History) व्याख्या करते हुए बतलाया कि धर्म सत्य, नीति, न्याय आदि अमूर्त विचारों की अपेक्षा मनुष्य पर आर्थिक स्थिती का अधिक प्रभाव पड़ता है। इतिहास गतिशील है और वह यह सिद्ध करता है कि उत्पादन, विनिमय तथा वितरण की प्रणाली में परिवर्तन होने से सामाजिक तथा राज नैतिक अवस्था में परिवर्तन होना आवश्यक है। उत्पादन तथा वितरण की पद्धति में परिवर्तन हो जाने से हमारे जीवन-मार्ग और विचारों में भी परिवर्तन होना आवश्यक है।

उसने बतलाया कि धर्म सामन्ती लोगों के द्वारा सिखाया जाने वाला ऐसा अफीम का नशा है जिसे पिलाकर वे मजदूरों को यह समझाने का प्रयत्न करते हैं कि उनकी

आर्थिक दुरावस्था का कारण उनके पूर्व जन्म के पापों का फल है और उन्हें अपनी इसी हीन अवस्था में सन्तुष्ट रहना चाहिए। उसने बतलाया धर्म सम्बन्धी ये सिद्धान्त पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के समर्थक आचार्यों के दिमाग की उपज है। वास्तव में संसार का स्थायित्व आर्थिक सिद्धान्तों पर है और उत्पादन तथा वितरण की भी इस शोषण नीति का ही परिणाम था जिसने साम्राज्यवाद के वेष में पूँजीवादी देशों को सम्पूर्ण संसार को विभाजित करने के लिए युद्ध करना अवश्यम्भावी कर दिया।

वर्ग युद्ध का सिद्धांत

Theory of class Struggle

कार्लमार्क्स ने बतलाया कि मानव-जीवन की भौतिक अवस्थाओं के कारण ही सामाजिक परिवर्तन और राजनैतिक क्रान्तियाँ होती हैं। उसने बतलाया कि हर प्रकार के समाज में दो प्रकार के वर्ग होते हैं। एक शोषक दूसरा शोषित। इन वर्गों के हित परस्पर विरोधी होते हैं और इनके संघर्ष की कहानी में ही इतिहास गति करता है। दास प्रथा के युग तथा सामन्त शाही युग के समाप्त होने पर उसके स्थान पर अब पूंजीवाद का जन्म हुआ। मगर ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि कभी न कभी पूंजीवाद का भी अवश्य अन्त होगा। मूल्य के श्रम सम्बन्धी सिद्धान्त (Labour theory of Value) के अनुसार मूल्य की उत्पत्ति श्रम से होती है। वास्तव में पूंजी एकत्रित श्रम ही है। जिसे अन्याय से पूंजी पतियों ने हथिया रक्खा है और जिसके द्वारा वे *श्रम जीवियों का शोषण करते हैं। पूँजीवादी* केवल समाज के आर्थिक जीवन पर ही नियन्त्रण नहीं रखते वरन देश की सरकार और धर्माधिकारियों पर भी वे अपना नियन्त्रण रखते हैं और श्रमिकों को कुचलने के लिए इनका प्रयोग करते हैं। वे उत्पादित वस्तुओं के मुनाफे पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लेते हैं और बेचारे मजदूर पेट की समस्या से लाचार होकर पूनतम मजदूरी लेने को वाध्य हो जाते हैं और उद्योगपति उत्पादित वस्तु के अधिकांश भाग को स्वयं रख लेता है।

इस प्रकार क्रमशः उद्योग पतियों के प्रति मजदूर वर्ग का असन्तोष बढ़ता जाता है। जो आगे चलकर हिंसात्मक वर्ग संघर्ष का रूप ग्रहण कर लेता है। ज्योंही ये लोग अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठित हो जाएंगे त्योंही क्रान्ति प्रारम्भ हो जावेगी।

इस प्रकार कार्ल-मार्क्स क्रान्ति के द्वारा सम्पूर्ण मानव जाति की मुक्ति का स्वप्न देखता है। यद्यपि यह क्रान्ति सब द्वारा मजदूरों की ओर से की जावेगी। पर इससे सारे संसार में वर्गहीन समाज की स्थापना होगी। इसी क्रान्ति की भूमिका तैयार करने के लिए उसने सन् १८४८ में एक घोषणा-पत्र जारी किया। जो कम्यूनिस्ट—मेनिफिस्टो के नाम से प्रसिद्ध है *इस मैनि फिस्टो में क्रान्तिकारी कार्यों को करने के लिए* एक क्रम भी बतलाया गया है और यह विश्वास दिलाया गया है कि इस महान क्रान्ति में अन्तिम विजय सर्वहारा मजदूर वर्ग की होगी। (पूरा वर्णन कम्यूनिज्म नाम के साथ इसी भाग में देखें)।

कार्ल मार्क्स के अनुसार इस क्रान्ति की दो अवस्थाएँ होंगी (१) सक्ट कालीन क्रान्तिकारी अवस्था जिसमें कुछ समय के लिए राज्य का अस्तित्व रहेगा (२) साम्यवाद की अन्तिम अवस्था जिसमें राज्य का अस्तित्व समाप्त हो जावेगा और देश में वर्गहीन समाज की स्थापना होगी।

कार्ल मार्क्स वैधानिक उपायों द्वारा क्रान्ति की सफलता *में विश्वास नहीं करता। उसके मत से हिंसात्मक क्रान्ति के* द्वारा ही पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का अन्त किया जा सकता है। इसलिए उसका यह दृढ़ विश्वास है कि रक्त रंजित क्रान्ति के द्वारा पूँजीपतियों का दमन करके ही क्रान्ति पूर्ण सफलता को प्राप्त कर सकती है।

कार्ल मार्क्स सकटकालीन स्थिति में प्रजातानिक राज्य का पक्ष पाती नहीं। उसके मत से इस काल में मजदूर वर्ग की ऐसी सर्व शक्तिसम्पन्न अनियमित सरकार होना चाहिए जो पूँजीवाद और साम्राज्यवाद की जड़ों का उच्छेदन करने में मजदूर वर्ग का पूरा पूरा साथ दें।

इसके बाद दूसरी अवस्था में अर्थात् पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का अन्त हो जाने पर राज्य का अस्तित्व भिन्न हुआ अनावश्यक हो जाता है। इसलिए उसके मत से

उत्तर क्रान्तिकारी अवस्था में राज्य को पूर्णतया समाप्त कर देना चाहिए। वर्ग व वर्ग की समाप्ति पर राज्य का अस्तित्व आधारहीन हो जाएगा और वह स्वयं अपनी मौत मर जायेगा (The State will Wither Away and die) इस विषय का पूरा विवेचन 'कार्लमार्क्स' ने अपने सुप्रसिद्ध और विशाल ग्रन्थ 'कैपिटल' में किया है। यह ग्रन्थ कम्यूनिस्ट साहित्य में वेद ग्रन्थों की तरह प्रामाणिक और आदरणीय माना जाता है।

कार्ल मार्क्स की इन घोषणाओं और कैपिटल इत्यादि ग्रन्थों के प्रकाशन ने सारे संसार के मजदूर और किसान वर्ग में जागृति की एक ऐसी प्रबल लहर पैदा की जैसी इससे पहले इतिहास के किसी भी युग में आज तक कभी पैदा नहीं हुई थी। गरीब शोषित और साधनहीन मजदूरवर्ग कार्ल मार्क्स को एक अवतार एक पैगम्बर और एक त्राता के रूप में देखने लगा। सारे संसार में इस विचार धारा की लहर पहुँच गई।

मगर सबसे पहले इस क्रान्ति के आचार्य की विचार धारा को क्रियात्मक रूप इसकी मृत्यु के ३४ वर्ष बाद लेनिन ने रूस में नवम्बर प्रसिद्ध मजदूर क्रान्ति में सर्व प्रथम प्राप्त करके दिया। जारशाही के अत्याचारों से पीड़ित रूस को मुक्ति प्रदान न करके पहले जारशाही का उच्छेद तदनन्तर सोवियट शासन की स्थापना करके इस महान् दार्शनिक के स्वप्न को साकार किया।

कार्ल मार्क्स की विचारधारा एकदम मौलिक और इतिहास के प्रवाह को मोड़ देने वाली है। सी ई एम जोड नामक विद्वान के मतानुसार 'कार्ल-मार्क्स प्रथम सामाजिक दार्शनिक है जिसको स्पष्ट वैज्ञानिक कहा जा सकता है। उसने केवल अपनी इच्छा के समाज की रूप रेखा का ही चित्रण नहीं किया वरन उन स्थितियों का भी भी निरूपण किया है जिनके अनुसार इनका विकास होना चाहिए।

रूस के पश्चात् चीन के समान विशाल देश ने भी इस क्रान्ति को सफल स्वीकार करके वहाँ कम्यूनिस्ट शासन की स्थापना की। और भी कुछ छोटे-छोटे देशों ने इस पद्धति को अपनाया। फिर भी सारे संसार में यह विचारधारा लोक प्रिय नहीं हो सकी और इसके बढ़ते हुए प्रसार को रोकने के लिए प्रजातंत्रीय देशों ने भी संगठित और मजबूत मोर्चा स्थापित किया। जिसने इस प्रवाह की गति को बहुत मन्द कर दिया।

इसका कारण इस विचारधारा में कुछ ऐसी मौलिक त्रुटियों रह जाना था जो मानव-स्वभाव और प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध जाती था। इसलिए संसार के बड़े-बड़े विचारकों ने उन्हें पसन्द नहीं किया। दूसरे सोवियट रूस की स्थापना के ४५ वर्ष और चीनी सरकार की स्थापना के बीस वर्ष के उपरान्त भी मौलिक विज्ञान और शिक्षा के क्षेत्र में अत्यन्त तरक्की कर लेने पर भी, कुछ मूलभूत मानवीय समस्याएँ ऐसी बनी हुई हैं जिनका हल करने में ये राज्य असफल रहे हैं। इन समस्याओं में व्यक्ति स्वातन्त्र्य और विचार-स्वाधीनता का हनन, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोध तथा सहकारी खेती की असफलता के कारण पूँजीपति देशों से अनाज मँगवाना इत्यादि समस्याएँ प्रधान हैं। कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों की रूस और चीन के द्वारा भिन्न भिन्न अर्थ-व्याख्याएँ टीकाएँ तथा इन दोनों महान देशों के गम्भीर मतभेद इत्यादि चीजों ने भी संसार मानव के मस्तिष्क में इस विचारधारा की सफलता के सम्बन्ध में एक गम्भीर प्रश्नवाचक चिह्न लगा कर दिया है। जिसका पूरा विवेचन हम "कम्यूनिज्म" शब्द के अन्दर कर आये हैं।

जो कुछ हो सफलता और असफलता का निर्णय करना इतिहास का काम है मगर यह तो मानना ही पड़ेगा कि कार्ल मार्क्स एक मौलिक विचारक महान दार्शनिक और क्रान्ति का एक महान अग्रदूत था। जिसने सारी मानव-जाति को एक नवीन दिशा का ज्ञान कराया और जिसकी आवाज पर आज भी अर्थात् उसकी मृत्यु की एक शताब्दी के बाद भी एक करोड़ के करीब व्यक्ति अनुप्राणित हो रहे हैं।

कार्ल तावास्तस्त्येना

फिनलैण्ड का एक प्रसिद्ध कवि जिसका जन्म सन् [illegible] में और मृत्यु १८९८ में हुई।

इस कवि ने स्विनबेर्न के साहित्य में नये छन्द का निर्माण कर पुरानी छन्द प्रणाली को तोड़ दिया। नये छन्द में की गई ये कविताएँ भाव, प्रेरणा और सब सभी विषयों में अभी तक प्रचलित कविताओं से भिन्न और नवीन थीं। कविताओं के सिवाय इस साहित्यकार ने कई मौलिक उपन्यासों की भी रचना की। उसने अपने उपन्यासों में नारी की स्वतंत्रता के समान कई महत्वपूर्ण सामाजिक प्रश्नों पर भी विवेचना की।

कार्लफेल्ट एरिक एक्सेल

मृत्यु के पश्चात् सन् १९३१ में नोबल प्राइज प्राप्त करने वाले स्वीडन के महान कवि और साहित्यकार एरिक एक्सेल कार्लफेल्ट जिनका जन्म २० जुलाई सन् १८६४ को और मृत्यु सन् १९३१ में हुई।

कार्लफेल्ट की पहली रचना "सांग्स ऑफ लव एण्ड वाइल्डरनेस (Songs of Love & wilderness) सन् १८९५ में जब वे ३१ वर्ष के थे प्रकाशित हुई। इस रचना में उन्होंने स्वीडन के गावों और वहां के की पुरुषों की भावनाओं का बड़ा पूर्ण ढंग से वर्णन किया।

इस ग्रन्थ का दूसरा और तीसरा भाग फ्रिडोलिन पोयट्री (Fridolin's Poetry) के नाम से सन् १८९८ और १९०१ में प्रकाशित हुए।

कार्लफेल्ट की कुछ कविताएं छः जिल्दों में प्रकाशित हुईं। उनकी अन्तिम कविता ही हार्न ऑफ आउटमन मानी जाती है।

नोबेल प्राइज एकेडेमी ने सन् १९१२ से ही कई बार कार्लफेल्ट को पुरस्कार देने का प्रस्ताव किया। मगर चूंकि कार्लफेल्ट स्वयं इस एकेडेमी के मंत्री और सदस्य थे इसलिए वे बराबर दृढ़ता पूर्वक पुरस्कार लेने से इन्कार करते रहे। अन्त में उनकी मृत्यु पर उन्हें यह सम्मान सन् १९३१ में दिया गया और पुरस्कार की रकम इनके तीनों बच्चों को देदी गई।

कार्वर वाशिंगटन

नीग्रो जाति के एक प्रसिद्ध कृषि विज्ञानशास्त्री। जिनका जन्म सन् १८६२ के करीब अमेरिका की मिसूरी स्टेट के डायमण्ड ग्रोव नामक स्थान पर हुआ और मृत्यु सन् १९४४ में हुई।

जिस समय कार्वर का जन्म हुआ, उस समय अमेरिका में गुलामी की प्रथा बड़े जोरों से प्रचलित थी। कार्वर भी इन गुलाम विक्रेताओं के फन्दे में आ गये और गोरे लोग इन्हें उठाकर गुलामों की मण्डी में बेचने को ले जाने लगे। उसी समय एक दयालु व्यक्ति मोसेज कार्वर को इस लड़के की हालत पर बड़ी दया आई और उसने इस लड़के के बदले में अपना घोड़ा देकर उसे छुड़ा लिया।

मोसेज कार्वर के नाम पर ही इस नीग्रो लड़के का नाम जार्ज कार्वर रख दिया गया और अपने दयालु मालिक की देख रेख में भविष्य का यह वैज्ञानिक बड़ा होने लगा।

बचपन से ही कार्वर को जड़ी बूटियों का बड़ा शौक था। इनके खेत हमेशा तरह-तरह की जड़ी बूटियों से भरे रहते थे और एकान्त में ये उनको बड़े ध्यान से देखते थे। इससे लोग इन्हें पौधों का डॉक्टर" भी कहते थे।

कुछ दिनों बाद दयालु मालिक ने इस लड़के को पढ़ने के लिए नीग्रो लोगों के एक स्कूल में भरती करवा दिया। वहां की पढ़ाई खतम कर कार्वर ने शहरों के बड़े स्कूलों में पढ़ना प्रारम्भ किया और कपड़े धोकर अपनी जीविका चलाने लगे। सन् १८९४ में उन्होंने सिम्पसन कॉलेज से डिग्री प्राप्त करली और वे उसी कॉलेज में वनस्पति विज्ञान के अध्यक्ष बना दिए गये। और वहीं पर उन्होंने कृषि विज्ञान के विषय में अनुसन्धान करना प्रारम्भ किये।

उस समय दक्षिणी अमेरिका में बहुत सी जमीन बंजर पड़ी हुई थी। बराबर एक ही एक कपास की फसल होती रहने के कारण शेष जमीन की उपजाऊ शक्ति भी कम होती जा रही थी। कार्वर ने अनुभव किया कि एक ही एक वस्तु की उपज होने से जमीन की उपजाऊ शक्ति बहुत कम हो जाती है। इसलिए उन्होंने कपास की भूमि में

मूँगफली बोने की किसानों को सलाह दी। उनके इस प्रयोग को बड़ी सफलता मिली और मूंगफली की बहुत बढ़िया फसल तैय्यार हुई।

मगर उस समय मूंगफली की उपयोगिता का लोगों को ज्ञान न था इसलिए मूंगफली को खरीदने वाला किसानों को कोई नहीं मिला और वे लोग इनसे बड़े असन्तुष्ट हो गये।

तब डॉ कार्वर ने मूंगफली की उपयोगिता पर अपने प्रयोग करना प्रारम्भ किये। इसमें उन्हें काफी समय लगा मगर अन्त में सफलता प्राप्त हो गई और १६२१ म वैज्ञानिकों की एक कांग्रेस म उन्होंने अपनी खोजों को बतलाने के लिए भाषण देने की अनुमति मांगी। उन्हें केवल दस मिनिट का समय दिया गया। वे भी भारी थैलों को लेकर मंच पर पहुँचे और मूंगफली तथा शकर कन्द की उपयोगिता पर उन्होंने भाषण देना प्रारम्भ किया।

उनका भाषण इतना विलक्षण था कि लोग आश्चर्य चकित हो गये। दो घण्टे तक लगातार बोलते रहने पर भी न तो अध्यक्ष ने उन्हें समय की सूचना दी और न किसी ने उनको रोका। उन्होंने मूंगफली से ३५ और शकरकन्द से ? उपयोगी चीजों का निर्माण कर डाला था।

उनके इन प्रयोगों के प्रकाशित होने पर मूंगफली और शकरकन्द के भाव बहुत बढ़ गये और ये चीजें बाजार में नकद धान्य बन्द हो गई।

बाद में कार्वर की प्रतिभा का बहुत विकास हुआ। उन्होंने मिट्टी से रंग, कीचड़ से खाद और मामूली जड़ी-बूटियों से कई कीमती दवाओं का आविष्कार कर डाला।

कार्वर की इन खोजों से समाज में तहलका मच गया। कई करोड़ पति व्यवसायी इनके आविष्कारों को पेटेन्ट करवाने के लिए इनके आसपास चक्कर काटते थे मगर उन्होंने अपने किसी आविष्कार को पेटेन्ट नहीं करवाया और जनता के उपयोग के लिए उनको खुला कर दिया।

सन् १६३५ में सरकार ने उन्हें कृषि उद्योग विभाग में बहुत ऊंचा पद दिया जहां वे जीवन भर नई-नई खोजें करते रहे।

सन् १६४ में जब वे बीमार पड़े तब उन्होंने अपनी सारी पूँजी दान में दे दी। उनकी सम्पत्ति से 'कार्वरफाउन्डेशन' नामक प्रसिद्ध संस्था का निर्माण किया गया। जहां पर कृषि विज्ञान पर खोजें की जाती हैं और नीग्रो जाति के विद्यार्थियों को पढ़ने के लिए हर प्रकार की सुविधाएं दी जाती हैं।

कार्डूसी जिओसुए
(Giosue Carducci)

इटालियन भाषा का एक कवि और राजनीतिज्ञ जिसका जन्म सन् १८३५ में और मृत्यु सन् १६ ७ में हुई।

कवि होने के साथ-साथ कार्डूसी गद्य लेखक और समालोचक भी था। वह प्राचीन काव्य और काव्य शास्त्र का गम्भीर विद्वान था। प्राचीन युग की स्मृतियों को पुन जागृत करने के लिए उसने "यूवेनेलिया" नामक काव्य ग्रन्थ की रचना की। उसकी कवि प्रतिभा का सर्वाधिक विकास उसके "रीमे नुओवे" "ओदी बारबरे" इत्यादि कविता संग्रहों म हुआ।

सन् १६ ६ में कार्डूसी को नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। इटली की राजनैतिक विचार धारा में एकरूपता लाने को भी उसने प्रयास किया।

कारावज्जो

इटली का एक प्रसिद्ध चित्रकार जिसका जन्म सन् १५७१ में इटली के मिलान नगर के समीप एक ग्राम में हुआ और मृत्यु सन् १६१ में हुई।

कारावज्जो एक मिस्त्री का लड़का था। १६ वर्ष की उम्र में वह रोम गया और वहाँ पर उसने "दे आरपिनो" को अपना गुरु बनाया। कारावज्जो ने तत्कालीन यूरोपियन चित्रकला में एक नवीन युग का प्रारम्भ किया। सन् १५६८ और १६ बीच उसकी तीन प्रसिद्ध कला कृतियाँ "सेंट मैथ्यू और देवदूत" "सेंट मैथ्यू की पुकार" और "सेंट मैथ्यू का बलिदान" प्रकाश में आईं। जिनकी वजह से

सारे रोम में उसकी कला लोकप्रिय हो गई। इन चित्रों म उसने बिलकुल एक नवीन भावना का सचार किया जिससे इन चित्रों की सारे देश म धूम मच गई।

केवल १७ वर्ष की अवस्था म उसकी मृत्यु हो गई। मगर इस थोड़े से समय में ही उसने पाश्चात्य चित्रकला के इतिहास मे अपना नाम अमर कर दिया।

कार्नवालिस (गवर्नर जनरल)

भारतवर्ष का अंग्रेज गवर्नरजनरल जिसका जन्म सन् १७३८ में लन्दन म हुआ और मृत्यु सन् १८०५ में गाजीपुर में हुई। यह कानवालिस के अर्ल का बड़ा पुत्र था।

लार्ड कानवालिस एक सुयोग्य सैनिक, राजनीतिज्ञ, ईमानदार और कुशल शासक था। शिक्षा को समाप्त कर वह सेना म भरती हो गया। अमेरिकन सिविल वार में कार्नवालिस अंगरेज सेना का सेनापति था। शुरू २ में तो इसने एक दो बार अमेरिकन सेनाओं को पराजित किया पर अन्त में सन् १७८१ म इसको अमेरिकन सेना के सामने आत्म-समर्पण करना पड़ा और उसी समय से अमेरिका में ब्रिटिश राज्य का खात्मा होगया।

सन् १७८६ में कार्नवालिस मेक पुर्सन के पश्चात् भारत का गवर्नर जनरल बनाया गया। यह ईस्टइण्डिया कम्पनी के इतिहास में एक महत्व पूर्ण घटक था।

जिस समय कार्नवालिस यहाँ आया उस समय विलियम पिटका 'इण्डिया ऐक्ट' पास हो चुका था। जिसके अनुसार पार्लमेंट ने गवर्नर जनरल और उसकी कौन्सिल को आदेश दिया कि वे बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल के डायरेक्टरों से अनुमति लिये बिना किसी भी राजा से युद्ध अथवा सन्धि न कर।

मगर उस समय दक्षिणी भारत में टीपू सुलतान अंग्रेजी राज्य को पूरी तरह नष्ट करने का पूरा प्रयत्न कर रहा था और सन् १७८७ में उसने दो बार फ्रान्स में सैनिक सहायता प्राप्त करने के लिए अपने दूत भेजे थे। इसके दो वर्ष बाद उसने अंग्रेजों के मित्र ट्रावनकोर के राजा पर भी हमला कर दिया। यह सारी कार्यवाही लार्ड कार्नवालिस को सहन नहीं हुई और उसने निजाम और पेशवा के साथ मिलकर सन् १७६६ में स्वयं अपने सेना पतित्व में टीपू पर हमला कर दिया। इस लड़ाई में टीपू की सेनाएं हार गईं और उसने तीन करोड़ रुपया हर्जाना देकर कार्नवालिस से सन्धि की।

कार्नवालिस के शासन काल की सबसे महत्व पूर्ण घटना बंगाल में इस्तमुरारी बन्दोबस्त की स्थापना है। इस बन्दोबस्त के द्वारा जमीन की मालगुजारी को जो हमेशा घटती बढ़ती रहती थी एक बार निश्चित कर दी गई। इस बन्दोबस्त से सरकार, जमींदार और किसान तीनों की स्थिति पर प्रभाव पड़ा। सरकार को इससे काफी नुकसान उठाना पड़ा। क्योंकि भविष्य में जमीन की कीमतें बढ़ जाने पर भी वह लगान नहीं बढ़ा सकती थी। जमींदारों को इससे बड़ा लाभ हुआ। उनकी हालत पहले से बहुत अच्छी हो गई जिससे वे अंग्रेजी राज्य के प्रति बड़े राजभक्त बन गये। मगर किसानों को इससे विशेष लाभ नहीं हुआ। जमींदारों के अत्याचार उनपर बराबर चलते रहे। इस अत्याचार से उनकी रक्षा के लिए बाद में सन् १८५६ में बंगाल टैनेन्सी ऐक्ट पास किया गया।

सन् १७६३ में लार्ड कार्नवालिस वापस इंग्लैण्ड चला गया। सन् १७६७ में वह आयर्लैण्ड भेजा गया वहाँ इर्ले के विद्रोह को दबाकर उसने शान्ति स्थापित की। सन् १८०५ में यह दुबारा भारत का गवर्नर जनरल होकर आया किन्तु उसी वर्ष गाजीपुर में उसकी मृत्यु हो गई।

कार्लि-गुफा

पूना बम्बई रोड के मध्य में दक्षिण दिशा म पर्वत की उपत्यका में बनी हुई बौद्ध धर्म के हीनयान सम्प्रदाय की गुफा। इसका निर्माण का समय ई० पू० पहली सदी में माना जाता है।

इस गुफा में एक सुन्दर मन्दिर खुदा हुआ है। भारतवर्ष में पर्वत के अन्दर खुदे हुए मन्दिर कई स्थानों पर विद्यमान हैं। किन्तु कार्लि की तरह गम्भ अचित्य कहीं भी देखने को नहीं मिलते। भिक्षुओं में उपासना करने के लिए भाडमतावनजिसी ने इस बनाया था। गुफा के सम्मुख भाग में सिंह द्वार बना हुआ है। सिंहद्वार के दोनों

तरह पचास फुट के दो स्तम्भ खड़े किये गये थे जिनमें से एक अभी विद्यमान है इनकी बनावट अशोककालीन स्तम्भों की तरह थी।

सिंह द्वार के पार होने पर एक दूसरा द्वार मिलता है उसका विस्तार करीब ६० फीट होगा। उसके दोनों पार्श्व में दो स्तम्भ बने हैं। दोनों स्तम्भ अष्ट पहलू हैं। इसके बाद आगे बढ़ने पर मन्दिर में प्रवेश करने के तीन द्वार हैं। इनमें से बीच का द्वार बौद्ध भिक्षुओं के लिए बना था। इन द्वारों के ऊपर मेहराबदार उद्घाटन बने हुए हैं। जिनसे छन-छन कर बड़ा सौम्य प्रकाश गुफा में प्रवेश करता है।

इन द्वारों में प्रवेश करने के बाद अभ्यन्तर की अपूर्व शोभा देखकर मन में एक अद्भुत भाव का संचार होता है। कैसी शिल्पचातुरी! कैसा असम्भव परिश्रम! दोनों पार्श्व पर दो बरामदे दोनों ओर बने गये हैं। बीच में धर्ममन्दिर का मण्डप है। जिसकी लम्बाई १२४ फीट चौड़ाई ४७ फुट और ऊँचाई ४ फुट है। दोनों तरफ की दीवारों के अन्दर थोड़ी थोड़ी दूर पर बड़े सुन्दर स्तम्भ बने हुए हैं। जिनकी कुल संख्या ३७ है। इन स्तम्भों की कारीगरी अत्यन्त आश्चर्यजनक है। हरएक स्तम्भ के ऊपर दो-दो हाथी के मस्तक बने हुए हैं और प्रत्येक हाथी के मस्तक पर मिथुन शरीर खोदे हुए हैं।

इस गुफा के बाहर के सिंह स्तम्भ पर एक लेख खुदा हुआ है। बौद्ध परम्परा के अनुसार महाराजा भूतिक देवभूति ने लेख के ये अक्षर खुदवाये थे। पाश्चात्य इतिहासकारों के अनुसार भूतिपथ का समय ई० पू० ७८ में माना जाता है।

कारनेगी-एण्ड्रू

अमेरिका के प्रसिद्ध धन कुबेर, उद्योगपति और बड़ी बड़ी संस्थाओं के स्थापक एण्ड्रू कारनेगी जिनका पूरा परिचय इस ग्रन्थ के दूसरे भाग में "एण्ड्रू कारनेगी" नाम के साथ दिया गया है।

कार्लाइल टामस

इंग्लैण्ड के एक सुप्रसिद्ध दार्शनिक, नीतिविज्ञान के आचार्य और इतिहासकार जिनका जन्म सन् १७९५ में और मृत्यु १८८१ में हुई।

कारलाइल के पिता ईसाई धर्म के पादरी या धर्माचार्य थे। प्रारम्भ में उनका प्रधान विषय गणित था मगर बाद में उनका झुकाव दर्शनशास्त्र की तरफ हो गया और इस क्षेत्र में उन्होंने अच्छी कीर्ति सम्पादन कर ली।

इनका सबसे पहला क्रान्तिकारी ग्रन्थ 'सार्टर रिसार्टस' के नाम से प्रकाशित हुआ। कारलाइल ने इस ग्रन्थ में जिन नैतिक और दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया वे इंग्लैण्ड की तत्कालीन जनता के लिए नवीन और दुरूह थे। मगर फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के कारण उनके विचारों को बल मिला और उनकी लोकप्रियता बढ़ी।

उनकी दूसरी रचना 'आन हीरोज एण्ड हीरोवर्शिप" (महान् पुरुष और उनकी पूजा) नाम से निकली। इस ग्रन्थ में भी उन्होंने इतिहास के अध्ययन के साथ अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

उनकी तीसरी रचना 'पास्ट एण्ड प्रेजेण्ट" भी बड़ी लोकप्रिय हुई। इसमें उन्होंने वर्तमान समाज व्यवस्था में पूँजीवाद की आलोचना और मजदूर संगठन की उपयोगिता का समर्थन किया।

कारलाइल का महत्व एक साहित्यकार की अपेक्षा एक दार्शनिक और नैतिक प्रवचनकार के रूप में अधिक है। उन्होंने उस समय की भौतिकवादी प्रवृत्तियों को ललकार कर कहा था कि संसार ईश्वरमय है, मनुष्य एक नैतिक प्राणी है जिसका उत्कर्ष धन और वैभव पर नहीं बल्कि नैतिक और आध्यात्मिक विकास पर निर्भर है।

कार्लाइल की भाषा लम्बे-लम्बे वाक्यों से परिपूर्ण पेचीदी, और चिन्तनशील है। उनके शब्दों की परम्परा अटूट है और उनका प्रवाह अविच्छिन्न है।

काल्विन

सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में यूरोप के अन्तर्गत मार्टिन लूथर द्वारा प्रचारित रिफार्मेशन (Reformation) आन्दोलन का व्याख्याकार प्रसिद्ध दार्शनिक 'जानकाल्विन" जिसका जन्म सन् १५०९ में और मृत्यु १५६४ में हुई।

काल्विन एक फ्रेंच दार्शनिक था। इसका जन्म 'पिकार्डी" नामक स्थान पर एक कैथोलिक परिवार में हुआ था।

जिस समय कालविन जेन में आया उस समय यूरोप एक अभूतपूर्व बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक उथल-पुथल का केन्द्र बना हुआ था। चारों ओर पुनर्जागरण (Renaissance) और सुधार आन्दोलन (Reformation) की लहरें मध्यकाल के समाप्त होने और नवीन-युग के आरम्भ की सूचनाएँ दे रही थीं।

पर मध्य-युग का सब से बड़ा आधार स्तम्भ "रोमन-चर्च" अभी भी अपनी उसी शान के साथ खड़ा था और समय के प्रबल थपेड़ों का उपहास करते हुए उसकी अनियन्त्रित सत्ता अभी भी किसी प्रकार चल रही थी। कन्सीलियर आन्दोलन असफल हो चुका था पर वहां की जनता में चर्च के विरुद्ध जो भावनाएँ पैदा होगई थीं वे बराबर बढ़ती जा रही थीं।

रिफार्मेशन आन्दोलन का सबसे बड़ा नेता मार्टिन लूथर था। इस आन्दोलन ने रोमनचर्च की सार्वभौम सत्ता पर जबरदस्त आक्रमण किया और इस भावना को कि "सारा यूरोप ईसाई धर्म की एक इकाई है और उसका सर्वोपरि प्रधान ईश्वरीय सत्ता द्वारा नियुक्त रोमन चर्च का पोप है" यूरोप की जनता के मन से निकाल दिया।

जॉन कालविन भी इसी रिफार्मेशन आन्दोलन का एक नवका था। यद्यपि मार्टिन लूथर के साथ कई बातों में उसका मत भेद था।

जॉन कालविन का लिखा हुआ इन्स्टीट्यूशन ऑफ क्रिश्चियन रिलीजन (Institutions of Christian Religion) ग्रन्थ बड़ा प्रसिद्ध हुआ। इस ग्रन्थ में उसने प्रोटेस्टेंट धर्म का तर्कसम्मत तथा विचारपूर्ण व्याख्या की है जिसकी तुलना टॉमस एक्वीनास द्वारा की हुई कैथोलिक धर्म की व्याख्या के साथ की जा सकती है।

इस ग्रन्थ का पहला उद्देश्य तो प्रोटेस्टेण्टवाद के खिलाफ उस समय किये जाने वाले उन आक्षेपों का जवाब देना था जिनमें प्रोटेस्टण्टवाद को नास्तिक और जनता का शत्रु कहा जाता था। प्रोटेस्टेण्ट धर्म की सारी सुन्दरी व्याख्या करके उक्त लाञ्छनों से उसे मुक्त करने का इस ग्रन्थ में प्रयास किया गया है।

इस ग्रन्थ का दूसरा उद्देश्य एक ऐसी शक्ति की खोज करना था जो प्रोटेस्टण्टों के लिए भी उसी प्रकार एक आधार स्तम्भ का काम करे जिस प्रकार रोमन चर्च कैथोलिक सम्प्रदाय के आधार स्तम्भ का काम कर रहा था।

कालविन ने इस ग्रन्थ में प्रतिपादित किया है कि मानवीय समाज के लिए ईश्वर द्वारा प्रदत्त कानून के दो भाग हैं। पहले भाग में वे कानून हैं जो ईश्वर के प्रति मनुष्य के कर्त्तव्य का निर्धारण करते हैं और दूसरे भाग में वे कानून आते हैं जो मनुष्य के प्रति मनुष्य के कर्त्तव्य और व्यवहार का निर्णय करते हैं। इन दोनों कानूनों का समाज में सुचारु रूप से योग क्षेम करने के लिए ईश्वरने दो शक्तियों का निर्माण किया है। पहले कानून के योग-क्षेम के लिए धर्माचार्यों का और दूसरे कानून के योग-क्षेम के लिए राजा का।

धर्माचार्यों का कार्य केवल यह देखना है कि शासन की व्यवस्था मनुष्य के आध्यात्मिक लक्ष्य की विरोधी न होने पावे। इसके अतिरिक्त राज्य के लौकिक शासन में में हस्तक्षेप करने का धर्म सत्ता को अधिकार नहीं है।

पर आगे चलकर फिर यही दार्शनिक कहता है कि "राज्य और धर्म भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक दूसरे से पूर्ण रूप से पृथक् नहीं है। स्वाभाविक रूपसे उनके अनुशासन एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। दोनों की स्थापना ईश्वरीय कानून का योग क्षेम करने के लिए हुई है। इसलिए इन दोनों संस्थाओं का सहयोग रहना आवश्यक है। राज्य को मूर्ति पूजा नास्तिकता तथा धर्म की निन्दा करने वालों का दमन करना चाहिए तथा चर्च के बनाये हुए सिद्धान्त तथा नीति के साथ दण्ड का योगक्षेम समाज में करने के लिए मदद देना चाहिए।

कालविन राज्य की शक्ति को भी ईश्वर-प्रदत्त और मोक्ष की प्राप्ति का एक बाध्य साधन समझता था। वह राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि समझता था इसलिए उसके आदेशों की अवज्ञा के वह विरुद्ध था। फिर भी उसने लिखा है कि छोटे छोटे न्याय रक्षकों का कर्तव्य है कि वे राजा की शक्ति को नियन्त्रित रक्खें। उसकी आततायी प्रवृत्तियों का शमन करें और उनसे जनता की रक्षा करें। यदि वे ऐसा नहीं करते हैं तो अपने कर्तव्य से विमुख होते हैं। उसने यह भी कहा कि यदि राजा कोई ऐसा कार्य करता

चाहे वो ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध ही जनता को उसका पालन कदापि नहीं करना चाहिए।

मगर ईश्वर की आज्ञा क्या है, इसका निरपेक्ष निर्णय काल्विन स्वयं भी नहीं कर सका। उस समय भिन्न भिन्न व्यक्ति बाइबिल के आदेशों की भिन्न भिन्न और परस्पर विरोधी व्याख्या करते थे और एक विचारक दूसरे विचारक की व्याख्या को गलत बतलाता था। ऐसी स्थिति में लोगों को काल्विन की व्याख्या से सन्तोष नहीं होता था। इस लिए लोग यह अनुभव करने लगे थे कि एक राज्य में एक ही धर्म को लादने का प्रयत्न शान्ति तथा व्यवस्था के लिए हितकर नहीं है और एक ऐसे धर्म निरपेक्ष राज्य की लोग कल्पना करने लगे थे जिसमें धर्म और न्याय पर्यायवाची शब्द न हों। ये लोग महसूस करने लगे थे कि धर्म के विशेष आधार के बिना भी राजसत्ता अपना काम कर सकती है। इस विचार प्रणाली को काल्विन के पश्चात् प्रसिद्ध दार्शनिक 'स्पिनोज़ा' ने प्रतिपादित किया। जिसे काल्विनवाद का विकास कहा जा सकता है।

काल्विन का प्रभाव उस समय इतना अधिक बढ़ गया था कि सारे यूरोप में इसके सम्प्रदाय कायम हो गये थे। यह सम्प्रदाय ह्यूगीनाट्स (Hugu nots) और प्रसबेटेरियन्स (Presbyterians) के नाम से प्रसिद्ध थे।

कॉन्सीलियर आन्दोलन की असफलता के पश्चात् जॉन काल्विन ने यद्यपि धर्म और राज्य की निरंकुशता का ही समर्थन किया मगर उसके अनुयायी ह्यूगीनाट्स लोगों ने एक हद तक उदारवाद की परम्परा को स्थापित किया। इसी से कहा जाता है काल्विन सिद्धान्त का पहला प्रभाव राजा की सत्ता को निरंकुश करना और उसका अन्तिम प्रभाव व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और जनतंत्र की भावनाओं का पोषण करने में हुआ।

कालिंजर

उत्तरप्रदेश के बान्दा ज़िले में अवस्थित एक गाँव और पहाड़ी किला जो बान्दा से ३५ मील दक्षिण में है।

कालिंजर बहुत प्राचीन काल से हिन्दू लोगों के एक पवित्र तीर्थ स्थान के रूप में रहा है। रामायण उत्तरकाण्ड, महाभारत वनपर्व तथा हरिवंश पुराण, गरुड़ पुराण, मत्स्य पुराण, पद्मपुराण इत्यादि पुराणों में इसका उल्लेख पाया जाता है।

पद्म पुराण के कालिंजर माहात्म्य में लिखा है कि

'अर्ध योजन विस्तीर्ण तत् क्षेत्रं मम मन्दिरम्
कालंजरेति विख्यातं मुक्तिदं शिव सन्निधौ'

अर्थात्—आधे योजन में विस्तृत वह क्षेत्र ही हमारा (शिव का) मन्दिर है। शिव सान्निध्य युक्त यही कालंजर मुक्तिदायक है।

सुप्रसिद्ध मुसलमान इतिहासकार फरिश्ता के अनुसार ईसा की सातवीं सदी में केदार नामक किसी व्यक्ति ने कालिंजर दुर्ग का निर्माण करवाया था।

मौखरी राजवंश और प्रतिहारों के समय में कालिंजर कन्नौज के शासनान्तर्गत था। यद्यपि यहाँ पर चन्देल वंश के लोग राज्य करते थे, पर वे कन्नौज के प्रतिहारों के अधीनस्थ थे। चन्देलों के वंश में राजा हर्ष का पुत्र यशोवर्मन अधिक पराक्रमी हुआ। इसका समय सन् ६३५ से ६५४ तक था। इसी के समय से चन्देल राजवंश एक स्वतन्त्र राजवंश की तरह अस्तित्व में आने लगा और हर्ष के पुत्र धंग ने (९५४–१०१२) इस राजवंश को एक दम स्वतन्त्र कर दिया। चन्देल राजा धंग ने सन् ९९ में महमूद गजनवी के आक्रमण के विरुद्ध भटिण्डा के राजा जयपाल की सैनिक मदद की थी।

धंग का पुत्र गण्ड भी बड़ा प्रतापी और शक्तिशाली था सन् १००८ में उसने महमूद गजनवी के आक्रमण के विरुद्ध राजा आनन्दपाल शाही की बहुत बड़ी मदद की थी।

सन् १०१९ में और उसके बाद कन्नौज पर सुप्रसिद्ध विजेता महमूद गजनवी के दो आक्रमण हुए। दूसरे आक्रमण में कन्नौज के प्रतिहार राजा राज्यपाल ने महमूद गजनवी की आधीनता स्वीकार कर ली।

जब यह बात कालिंजर के राजा गण्ड और ग्वालियर के कछवाहा राजा को मालूम हुई तो उन्होंने राज्यपाल की इस कायरता से क्रोधित हो कन्नौज पर आक्रमण करके राज्यपाल को मार डाला।

जब महमूद गजनवी को राज्यपाल के मारे जाने की बात मालूम हुई तो उसने इसका बदला लेने के लिए कालिंजर के दुर्ग पर सन् १०२१ में आक्रमण किया।

उस समय कालिंजर का दुर्ग अपनी मजबूती में बेजोड़ था। इतिहासकार निजामुद्दीन का कथन है कि मजबूती के लयाल से यह किला हिन्दुस्तान में अपनी सानी नहीं रखता था। फिर भी चन्देल राजा ने ३ हाथी सुलतान को भेंट कर सुलह का पैगाम भेजा और सुलतान ने भी चन्देल राजा को १५ किले देकर सन्धि कर ली। इस चन्देल राजा "गण्ड" का ही दूसरा नाम "चन्द्रराय" था और इसी राजा गण्ड" को निजामुद्दीन ने "नन्द नाम से लिखा है।

इसके पश्चात् सन् १२ २ में कुतुबुद्दीन ने कालिंजर पर विजय प्राप्त कर वहाँ पर एक मसजिद का निर्माण करवाया। लेकिन उसके थोड़े समय पश्चात् ही यह किला फिर चन्देलों के हाथ में आ गया। सन् १२५१ में दिल्ली के सुलतान ने इस पर फिर आक्रमण कर इस पर विजय प्राप्त की मगर उसके तुरन्त बाद ही चन्देलों ने फिर इसे अपने अधिकार में ले लिया।

सन् १५४५ में पठान बादशाह शेरशाह ने कालिंजर के किले पर घेरा डाला। २२ मई को शेरशाह की तोप का गोला पहाड़ से टकरा कर वापस उसी के बारूदखाने में आ गिरा जिससे भयङ्कर विस्फोट के साथ आग लग गई। शेरशाह उसी अग्निकाण्ड में घायल होकर मर गया। मगर कालिंजर का किला उसकी सेना ने जीत लिया।

सम्राट् अकबर के समय में यह किला राजा बीरबल को जागीर के रूप में प्राप्त हुआ। उसके पश्चात् यह स्थान बुन्देलों के अधिकार में आया। काफी समय तक यह किला बुन्देलों के अधिकार में रहा। बुन्देला वीर छत्रसाल की मृत्यु के पश्चात् पन्ना के राजा हरदेव ने इस किले पर अधिकार कर लिया। पन्ना के राजवंश का भी उस समय तक इस किले पर अधिकार रहा। उसके बाद यह किला मराठों के अधिकार में और उसके बाद अंग्रेजों के अधिकार में आया। सिपाही विद्रोह के समय थोड़ी सी अंग्रेज सेना ने इस किले की रक्षा की थी। सन् १८६६ में यह किला तोड़ दिया गया। मध्यकाल में कालिंजर का दुर्ग अपनी मजबूती के कारण सारे भारत में प्रसिद्ध था।

पहले कालिंजर का किला चारों ओर मजबूत प्राचीरों से घिरा हुआ था। इसमें प्रवेश करने के लिए चार सिंह द्वार थे। जिनमें तीन के नाम रेवा फाटक, कामता फाटक और पन्ना फाटक थे।

एक पवित्र तीर्थ स्थान के रूप में भी इस स्थान की बड़ी प्रसिद्धि है। इस क्षेत्र में चट्टान काटकर बनाई हुई नीलकंठ महादेव की विशाल प्रतिमा है। इसके अतिरिक्त भैरव कुण्ड नामक स्थान पर काल भैरव की विशालकाय मूर्ति बनी हुई है। इस मूर्ति के निचले हिस्से में पहाड़ काट कर एक गुफा बनाई हुई है। इसके सिवाय हिरण्य बिन्दु, कोटि तीर्थ पाताल गंगा, सीताकुण्ड आदि पवित्र स्थानों ने भी इस तीर्थ के महात्म्य को बहुत बढ़ा दिया है।

कालहस्ती

मद्रास प्रान्त का एक हिन्दू तीर्थ जो सुवर्णमुखी नदी के तीर पर मद्रास रेलवे की उत्तरी-पश्चिमी शाखा के स्थिपति नामक स्टेशन से थोड़ी दूर पर अवस्थित है।

कालहस्ती एक तीर्थ स्थान है। यहाँ पर कई देव मन्दिर बने हुए हैं। उनमें शिव मन्दिर ही प्रधान है। कालहस्ती के महात्म्य में बतलाया गया है कि ब्रह्मा ने तपस्या करने के लिए कैलास पर्वत के शिखर का एक अंश लाकर यहाँ स्थापित किया था। इससे इस दक्षिण कैलास भी कहते हैं। इस मन्दिर में महादेव की वायुमूर्ति स्थापित है।

शिव मन्दिर से दक्षिण पर्वत के पार्श्व में मणि कुण्डे श्वर का मन्दिर है। इस मन्दिर में आसन्न मृत्यु लोगों को ले जाकर दाहिनी करवट पर सुला देते हैं। यहाँ के लोगों का विश्वास है कि मृत्यु के समय में यह करवट बदल कर बाईं करवट कर देने से दाहिने कान से प्राण निकलता है। और मृत व्यक्ति सद्गति को पाता है। मणि कुण्डेश्वर मन्दिर से दक्षिण की ओर ब्रह्मा का मन्दिर बना हुआ है। माघ महीने में दस दिन तक इस स्थान में मेला लगता है। जिसमें बहुत से लोग एकत्रित होते हैं।

काला पहाड़

मुर्शिदाबाद के पठान नवाब सुलेमान करानी का सेनापति जो हिन्दूधर्म छोड़कर जनता और हिन्दू देवी-

रेशमाओं के मशहूर खिलाफ था और जिसने इनका विध्वंस करने में फिरोज़ सन रेशमाओं को छोड़ दिया।

काला पहाड़ शुरू-शुरू में किसी ब्राह्मण कुल में पैदा हुआ था। उस समय इसका नाम राजू था। कहा जाता है कि किसी मुसलमान लड़की के साथ इसका प्रेम हो गया था और वह उससे विवाह करना चाहता था। मगर ब्राह्मण जाति ऐसे विवाह को स्वीकार करने को तैयार नहीं थी। फलतः यह मुसलमान हो गया और अफगान सुलेमान करोनी की सेना में भर्ती हो गया।

हाथ में कुछ शक्ति आते ही हिन्दू धर्म के खिलाफ इसने मशहूर रूप से जिहाद बोल दिया। मूर्ति भंजन में वह अत्यन्त निर्दयी और दुराग्रही था जिससे उसकी पाशविकता परम सीमा पर पहुँच गई थी।

काला पहाड़ का सबसे पहला आक्रमण उड़ीसा पर हुआ। उस समय उड़ीसा पर मुकुन्द देव के पुत्र आदिवा गोविन्द राज्य करता था। काला पहाड़ का आक्रमण होते ही आदिवा गोविन्द देव जगन्नाथ मन्दिर की निजी प्रतिमा को लेकर दीवाल दूर कर भाग गया। उसके बाद काला पहाड़ ने उस मन्दिर को बुरी तरह से तोड़ फोड़ कर नष्ट कर दिया। सब मूर्तियों को टुकड़े टुकड़े कर दिया और वहाँ का अपार धन लूट कर वह वापस फिरा।

जगन्नाथ मन्दिर को नष्ट करने के बाद वह अपनी सेना लेकर आसाम को चला। आसाम पर उस समय कूचबिहार के राजा नरनारायण का राज्य था। उसके सेनापति शुक्लध्वज को बुरी तरह से हरा कर काला पहाड़ ने कामाख्या देवी के प्रसिद्ध मन्दिर को नष्ट भ्रष्ट कर हाजो के अनेक मन्दिरों को तोड़ा और लूटा। ऐसा कहा जाता है कि पूर्व में आसाम पश्चिम में काशी और दक्षिण में उड़ीसा इस क्षेत्र में शायद ही कोई मन्दिर ऐसा हो जो काला पहाड़ के क्रूर आघात से बचा हो। यह भी कहा जाता है कि उसके नगाड़े की आवाज को सुनते ही देव मूर्तियाँ स्वयं काँप उठती थीं।

फिर जब सम्राट् अकबर की सेना ने दाऊद खाँ पर आक्रमण किया उस समय उस युद्ध में लड़ते हुए काला पहाड़ मारा गया।

कालिदास

संस्कृत भाषा के महान् कवि। रघुवंश, मेघदूत, अभिज्ञान शाकुन्तल इत्यादि महान् काव्यों के रचनाकार। जिनका समय कुछ इतिहासकार ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रम संवत् के प्रवर्तक उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य के समकालीन और कुछ इतिहासकार गुप्त वंशीय सम्राट द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन मानते हैं।

कालिदास का काल निर्णय

यह बात दोनों ही पक्ष के इतिहासकार मानते हैं कि कालिदास विक्रमादित्य नामक किसी राजा के दरबारी नवरत्नों में से एक थे। मगर ये विक्रमादित्य कौन थे और कब हुए इस सम्बन्ध में इतिहासकारों में बड़ा मतभेद है। इस मतभेद के मूल प्रवर्तक अंग्रेज इतिहासकार फर्ग्युसन माने जाते हैं।

हमारे देश में विशेषकर मालवा में, जनश्रुतियों के अन्तर्गत सैकड़ों स्थानों पर वीर विक्रमादित्य का नाम आता है और सब दूर यह विश्वास किया जाता है कि वे बड़े बुद्धिमान, विद्वानों के आश्रयदाता और प्रजा के लिए अपना सर्वस्व निछावर कर देने वाले राजा थे। उन्होंने शक जाति के आक्रमणकारियों को भारी पराजय देकर "शकारि" की उपाधि ग्रहण की और इस विजय के उपलक्ष में अपना एक सम्वत् चलाया जो ईस्वी सन् से ५७ वर्ष पूर्व दिसम्बर की अठारह तारीख गुरुवार को प्रारम्भ हुआ।

मगर डा॰ फर्ग्युसन को इन परम्पराओं पर विश्वास नहीं हुआ। परिणाम स्वरूप इस विषय पर उन्होंने "इण्डियन एण्टिक्वायरी" के कई अंकों में एक लेखमाला लिख डाली और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि इस सम्वत् का जो नाम इस समय चल रहा है पहले वह नहीं था। पहले यह सम्वत् मालव सम्वत् के नाम से प्रचलित था। कई शिलालेखों ताम्रपत्रों इत्यादि के आधार पर उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आठवीं सदी से पहले के लेखों पर कहीं भी विक्रम संवत् का प्रयोग नहीं देखा जाता। उन लेखों में 'मालवानाम् गण स्थित्या' का प्रयोग किया जाता था। आगे इस सम्वत् का नाम

कैसे चलाया गया इस विषय का विवेचन करते हुए डा० कीलहार्न कहते हैं कि—

"छठवीं शताब्दी में यशोवर्मा नामक एक प्रतापी राजा मालवे में राज्य करता था। इसका दूसरा नाम हर्षवर्द्धन भी था। सन् ५४४ ई० में उसने मुलतान के पास करूर नामक स्थान पर हूणों के प्रसिद्ध राजा मिहिरकुल को मारकर हूण जाति का तहस नहस कर डाला। इस महान् विजय के उपलक्ष में उसने विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की और तब से उसका नाम हर्षवर्द्धन विक्रमादित्य हो गया। इसी जीत की खुशी में उसने पुराने प्रचलित मालव सम्वत् का नाम बदल कर अपनी उपाधि के अनुसार "विक्रम संवत्" घोषित कर दिया। साथ ही उसने एक बात और भी की। उसने कहा इस सम्वत् को १ वर्ष का पुराना मान लेना चाहिए क्योंकि नये सम्वत् का ज्यादा आदर न होगा। इसलिए मालव सम्वत् ५४४ में ५६ वर्ष अपनी तरफ से जोड़कर उसने उस सम्वत् को ६०० वर्ष पुराना घोषित कर दिया।

इस विचार पद्धति और कल्पना का खण्डन करते हुए भारत के प्रसिद्ध इतिहासकार राय बहादुर चिन्तामणि राव वैद्य ने लिखा है कि—

'क्या यशोधर्मा के किसी शिलालेख में या किसी शासन पत्र में नया संवत् चलाने की या पुराने संवत् को नये में बदलने की किसी बात का उल्लेख किया हुआ मिलता है? और दूसरा प्रश्न यह होता है कि कोई भी चमत्कार राजा किसी दूसरे के सम्वत् का उल्लेख अपने नाम से क्यों करेगा और क्यों उस सम्वत् की संख्या में ५६ का अङ्क और मिलाकर सारी गणना को ही गड़बड़ कर देगा। किसी विजेता राजा को दूसरे के चलाये हुए सम्वत् को अपना कहने में क्या लज्जा का अनुभव न होगा। जब कि वह आसानी से अपना नया संवत् चला सकता है। किसी के संवत् का नाम बदल कर अपने नाम से चलाना और उस घटना की याद को बिना कारण ६ वर्ष पहले फेंक देना एक अत्यन्त अस्वाभाविक बात है।"

"भारत वर्ष का इतिहास देखने से मालूम होता है कि कितने विजेता राजाओं ने संवत् चलाये हैं सब अपने नाम से नये संवत् ही चलाये हैं। युधिष्ठिर, कनिष्क, शालिवाहन भी हर्ष इत्यादि अनेक राजाओं ने अपने अपने नाम से ही संवत् चलाये थे और यदि यशोवर्मा ने ऐसा किया भी होता तो उसका उल्लेख उस युग के लेखों में कहीं न कहीं जरूर होना चाहिए था।"

'इससे डॉ० कीलहार्न और उनकी दलीलों को युक्ति युक्त नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में यही मालूम होता है कि ईसा से ५७ वर्ष पूर्व मालवा में विक्रमादित्य नामक कोई राजा जरूर था मगर ऐसा सिद्ध करने के लिए प्राचीन साहित्य या लेखों के कुछ प्रमाण भी होना चाहिए जो उसके अस्तित्व की पुष्टि कर सके।"

"ईस्वी सन् ६८ में शात वाहन वंश के 'हाल' नामक एक राजा ने गाथासप्तशती नामक प्राचीन महाराष्ट्रीय भाषा में एक पुस्तक लिखी है। उसके चौंसठवें पद का संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार है—

संवाहन सुख रसतोषितेन ददता तव करे लक्षम्।

चरणेन विक्रमादित्य चरितमनु शिक्षितं तस्याः

इस श्लोक में राजा विक्रमादित्य की उदारता का वर्णन है। इससे पता चलता है कि हाल-नरेश के पहले विक्रमादित्य नामक कोई दानी राजा अवश्य हुआ। अब इस बात का प्रमाण होना आवश्यक है कि उन विक्रमादित्य ने शकों को पराजित किया था या नहीं।"

"विन्सेण्ट स्मिथ ने अपने प्राचीन भारत वर्ष के इतिहास में लिखा है कि ईसा से १५० वर्ष पहले शक जाति ने उत्तर पश्चिम के रास्ते से इस देश में प्रवेश किया। इन शकों की दो शाखाएं होगई। एक शाखा ने तक्षशिला और मथुरा की तरफ अपना अधिकार जमाया और ये क्षत्रप के नाम से प्रसिद्ध हुए। ई० सन् से १०० वर्ष पहले तक इनके सिक्कों से इनका पता चलता है। उसके बाद इनका पता नहीं लगता। दूसरी शाखा वालों ने ईसा की पहली शताब्दी में काठियावाड़ को अपने अधिकार में कर लिया और धीरे धीरे उज्जैन तक का प्रान्त इनके अधिकार में आ गया। बाद में इन्हें गुप्त वंशी राजाओं ने हराकर उत्तर की ओर भगा दिया। मगर विन्सेण्ट स्मिथ ने यह नहीं बतलाया कि पहली शाखा के शकों का विनाश किसने किया। या ये किस तरह से अपना राजपाट छोड़कर चले गए। ऐसी स्थिति में यह सहज ही में कहा जा सकता

है कि इस पहली गाथा का विभाग शकारि विक्रमादित्य ने किया और इसी विजय के उपलक्ष्य में उसने अपना संवत् चलाया।"

इसकी पुष्टि में कि गुप्त साम्राज्य के पहले भी विक्रम संवत् का उल्लेख होता था एक प्राचीन लेख पेशावर के पास 'तख्तबाही' नामक स्थान में प्राप्त हुआ है। यह लेख पार्थियन राजा गुडफर्स के समय का है। यह राजा भारत के उत्तर पश्चिमी भाग का स्वामी था। इस लेख में १ ३ का अङ्क आया है। पर संवत् का नाम नहीं है। डाक्टर फ्लीट और विन्सेंट स्मिथने इस अङ्क को विक्रम संवत् का ही सूचक माना है। इससे मालूम होता है कि विक्रम संवत् ईसा की तीसरे सदी तक भी प्रचलित था और केवल मालवा में ही नहीं कश्मीर और पंजाब में भी इसका प्रचार था।

"इस पर भी यदि कोई इस संवत् का प्रवर्तक मालवाधिपति शकारि विक्रमादित्य को न माने और उसकी उत्पत्ति ईसा की छठी शताब्दी में बतलाने की चेष्टा करे तो इसे हठ और दुराग्रह के सिवा क्या कहा जा सकता है।"

"इस प्रकार यदि शकारि विक्रमादित्य का होना ई० पू० ५७ में सिद्ध होता है तो कालिदास का समय भी वही मान्य करना युक्ति सङ्गत होगा।"

इस प्रकार 'कालिदास' के काल निर्णय पर जो विचार धाराएं विशेष रूप से प्रचलित हैं जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं।

कालिदास का साहित्यिक गौरव

कालिदास के साहित्यिक गौरव के विषय में सुप्रसिद्ध विद्वान और दार्शनिक अरविन्द घोष ने मद्रास के इण्डियन रिव्यू नामक पत्र में एक लेख लिखते हुए लिखा था कि—

"वाल्मीकि व्यास और कालिदास के ग्रन्थों में प्राचीन भारत का इतिहास विद्यमान है। ये तीनों महापुरुष आत्मा की भिन्न २ तीन अवस्थाओं या शक्तियों के उदाहरण हैं। ये शक्तियाँ नैतिक मानसिक और पाञ्चभौतिक हैं। वाल्मीकि के काव्यों में आर्यों की नैतिक अवस्था के व्यास के काव्यों में मानसिक अवस्था के और कालिदास के ग्रन्थों में पाञ्चभौतिक अवस्था के चित्रण हैं।"

"कालिदास की वर्णना शक्ति बहुत अच्छी थी शृंगार और करुणा रस के वर्णन में वे सिद्धहस्त थे। कालिदास में प्रधान गुण यह था कि वे प्रत्येक काव्योपयोगी सामग्री को—काव्य के प्रत्येक अंश को—बड़े ही कौशल से अत्यन्त सुन्दर बना देते थे। अपने वर्णनीय विषयों की हूबहू मूर्ति को पाठकों के सम्मुख खोंची जागती खड़ी कर देने का जैसा कौशल कालिदास में पाया जाता है वैसा दूसरे किसी कवि में नहीं पाया जाता।"

इसी शक्ति के साथ अपनी सौन्दर्य कल्पना की सर्वश्रेष्ठ शक्ति को मिलाकर वे अपने काव्य विषयों की रचना करते थे। वे जैसे उत्तम विषय की कल्पना कर सकते थे वैसे ही उसे पूर्ण खूबी के साथ सम्पन्न कर देते थे।"

'उन्होंने संस्कृत भाषा के भण्डार से बहुत ही ललित शब्दों और भावपूर्ण सरल शब्दों को चुनकर अपनी कविता में उपयोग किया है। इससे उनकी रचना देववाणी की सुधा मालूम होती है। कालिदास की भावोद्बोधन शक्ति इतनी उत्तम थी कि पिछले हजार वर्ष के संस्कृत साहित्य में उसी की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है।"

"कालिदास का कुमार सम्भव बहुत उत्तम काव्य है। उसमें शिव और पार्वती के विवाह की कथा है। वास्तव में कवि ने उसमें पुरुष और प्रकृति के संयोग का चित्र बनाया है। इस काव्य में कवि ने स्पष्ट रूप से बतलाया है कि जीवात्मा किस प्रकार ईश्वर की खोज करता है और कैसे उसे प्राप्त करता है। इस तरह कवि ने जीवन सम्बन्धी दो बड़े आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्वों को इस काव्य के द्वारा प्रकट कर दिया है।"

कालिदास की रचनाएँ

कालिदास की रचनाओं पर बंगला में राजेन्द्रनाथ देव विद्याभूषण नामक विद्वान ने "कालिदास" नामक एक अत्यन्त महत्वपूर्ण समालोचनात्मक ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें उन्होंने बतलाया है कि—

रघुवंश—कालिदास के काव्यों में रघुवंश सबसे श्रेष्ठ है। इसकी श्रेष्ठता का कारण यह है कि इसमें इस महाकवि ने सृष्टि नैपुण्य का सबसे अच्छा चित्र खींचा है। इस काव्य में रघुवंश के स्थापक रघु का जन्म उसकी दिग्विजय

का वर्णन, इन्दुमती का स्वयंवर, रघु पुत्र अज का इन्दुमती से विवाह विमान से एक पुष्पमाला का गिरना और उसकी चोट से इन्दुमती का मरण अजका विलाप तथा दसवें सर्ग से लेकर पन्द्रहवें सर्ग तक रामचन्द्र के चरित्र का वर्णन तथा अन्तिम चार सर्गों में नाना राजाओं के चरित्र का सरसरी वर्णन और अन्तिम उन्नीसवें सर्ग में अग्निवर्ण के कामुक चरित्र का बड़ी मार्मिकता से वर्णन किया गया है। रघुवंश की सारी कथा विशेषकर 'रघु' राम" और 'अग्निवर्ण" के इर्दगिर्द घूमती रहती है। इनमें से 'रघु" शक्ति और साम्राज्य का प्रतीक है। रामचन्द्र कर्तव्यशीलता और प्रजारंजन के प्रतीक हैं, और अग्निवर्ण कामुकता, विलास और वासनाओं का ज्वलन्त प्रतीक है।

मेघदूत—मेघदूत म भी कालिदास की प्रतिभा का चरमोत्कर्ष विकास हुआ है। अभिशाप से ग्रसित होकर यक्ष अपनी प्रिय यक्षिणी से एक वर्ष के लिए अलग कर दिया जाता है। इस विरह काल को यक्ष बड़ी कठिनाई से व्यतीत करता ह मगर जब आषाढ़ के मेघ गरजने लगते हैं और बिजलियाँ चमकने लगती ह तब तो उसका विरह कातर हृदय एकदम विकल हो उठता है और वह मेघ को दूत बनाकर उसके द्वारा अपनी प्रेमिका को जो सन्देश भेजता है वही सन्देश महान् कवि की कल्पनाशक्ति से मेघदूत के रूप में प्रकट हुआ है। पूर्वमेघ में उसने मेघ को अपनी प्रेयसी के पास पहुंचने तक सारे मार्ग का वर्णन किया है। इस वर्णन में भारत की तत्कालीन भौगोलिक परिस्थिति का दिग्दर्शन हो जाता है और उत्तर मेघ में प्रिया के वासस्थान अलकापुरी का अपनी प्रेयसी यक्षिणी का, करुण महाकाव्य में मधुर गति से जो वर्णन किया गया है उसमें उसके हृदय की वेदना झरने की तरह धारा प्रवाहमयी होकर बह निकलती है। संसार के लिरिक काव्यों में मेघदूत वास्तव म एक बेजोड़ काव्य है।

अभिज्ञान शाकुन्तल—नाटक के क्षेत्र में कालिदास का अभिज्ञान शाकुन्तल संसार के नाट्य क्षेत्र में अपना श्रेष्ठ स्थान रखता है। इसका वस्तु का सुकुमारता कथा वस्तु का गठन, चरित्र चित्रण की उच्चता कविता का भाव प्रवाह और शैली की मनोरमता सभी अनुपम है। इस नाटक को पढ़ते-पढ़ते जर्मनी का महान कवि गेटे हर्षोन्मत्त होकर नाचने लगा। और वह उठा—

Wouldst thou see springs blossoms—
and the Fruits of Its decline
Wouldst thou see by what the souls
enraptured feasted fed
Would t thou see have this earth and
heaven in one Sole name combine
I name thee Oh Sakuntla ! and all
Atonce is said

विक्रमोर्वशी—विक्रमोर्वशी का कथानक ऋग्वेद के पुरुरवा और उर्वशी की कहानी से लिया गया है। उर्वशी को देखकर राजा पुरुरवा प्रेम में पागल हो जाता है। इन्द्र के आदेश से कुछ काल के लिए उर्वशी उसकी प्रेम पिपासा को शान्त करती है, मगर जब उसकी अवधि पूरी हो जाती है तब प्रणय सुख जनित राजा की मोहनिद्रा एकाएक टूटती है और पुरुरवा का दिगन्त व्यापी विलाप दिगन्त में छा जाता है। करुणा की एक वेगवती धारा नाटक में बह निकलती है।

मालविकाग्नि मित्र—इस नाटक में शुंग वंशीय सम्राट् पुष्यमित्र के पुत्र विदिशा के राजा अग्निमित्र के साथ मालविका के प्रणय सम्बन्ध का उल्लेख है।

ऋतु संहार—इसमें छहों ऋतुओं का काव्यमय भाषा में वर्णन है—

बंगला के प्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय लिखते हैं—

हमारा जन्म सार्थक है क्योंकि जिस देश में कालिदास और भवभूति ने जन्म लिया था उसी देश में हम पैदा हुए हैं और जिस भाषा में इन महती रचनाओं की सृष्टि हुई है वह हमारी ही भाषा है। अनेक शताब्दियों के पहले इन दोनों महा कवियों ने जिस नारी चरित्र का चित्र खींचा था वे शकुन्तला और सीता हमारी परमधर्मी—सहधर्मिणी होकर हमारे गार्हस्थ्य जीवन की अधिष्ठात्री देवी होकर आज भी हिन्दुओं के घरों में विराज रही हैं। हम समझते हैं हम जानते हैं हम अनुभव करते हैं कि ये दोनों चरित्र जगत् में केवल हमारी ही सम्पत्ति हैं और

रिमी भी नहीं। एक साथ इतनी लज्जा से मुक्त हुई, इतनी सुन्दरी, इतनी पवित्र, इतनी भोली इतनी कोमल इतना इतनी अभिमानिनी, इतनी निःस्वार्थ सेविका और इतनी कष्ट सहिष्णु ये तीनों रमणियां हमारी ही हैं और किसी की नहीं। धन्य कालिदास! धन्य भवभूति! (अभिज्ञान शाकुन्तल का पूरा वर्णन इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में देखें।)

कालिकाचार्य्य

एक प्रसिद्ध जैनाचार्य्य जिनका समय ई० स० पूर्व ७४ में माना जाता है।

उस समय उज्जयिनी नगरी में 'गर्दभिल्ल' नामक राजा राज्य करता था। जैन परम्पराओं के अनुसार यह राजा बड़ा कामी और परस्त्रीलोलुप था। जैनाचार्य्य कालिकाचार्य्य की तरुण अवस्था की बहन "सरस्वती" उस समय अपने रूप और लावण्य के लिए बड़ी प्रसिद्ध थी। उसके सौन्दर्य्य की कीर्ति को सुनकर राजा गर्दभिल्ल ने सरस्वती का अपहरण कर लिया।

इससे कालिकाचार्य्य बड़े दुखी हुए। उन्होंने राजा गर्दभिल्ल से अपनी बहन को छोड़ने की बड़ी प्रार्थना की मगर राजा गर्दभिल्ल ने उनकी प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया। तब हिन्दुस्तान के दूसरे राजाओं के पास भी वे गये कि किसी प्रकार गर्दभिल्ल पर प्रभाव डालकर उनकी बहन को मुक्ति दिला दें। मगर किसी भी राजा ने गर्दभिल्ल से दुश्मनी लेना स्वीकार नहीं किया।

तब लाचार होकर कालिकाचार्य्य ईरान के समीप राज्य करने वाले शक राजाओं के पास गये और उनको अपनी विपत्ति कथा सुनाई। इन शक राजाओं ने उस समय काठियावाड़ पर अधिकार कर लिया था और वे आगे बढ़ना चाहते थे। कालिकाचार्य्य की कहानी को सुनते ही उन्होंने उज्जैन पर आक्रमण करने की योजना बनाली और उज्जैन पर आक्रमण कर, गर्दभिल्ल को पद भ्रष्ट कर, उज्जैन पर अधिकार कर लिया और कालिकाचार्य्य की बहन सरस्वती उन्हें वापस दिलवा दी। भारत के कई इतिहासकारों ने कालिकाचार्य्य के इस काम को देशद्रोह करार देकर उनकी निन्दा की है।

विक्रमादित्य शायद इसी राजा गर्दभिल्ल का पुत्र होगा। जिसने ई० पूर्व ५७ में उज्जैन से शकों को निकाल कर वापस अपने राज्य को प्राप्त किया और शकारि की उपाधि ग्रहण कर अपना संवत् चलाया।

धार्मिक क्षेत्र में कालिकाचार्य्य एक युग प्रवर्तक आचार्य्य थे। इन्होंने जैन सूत्रों के कुछ खास प्रकरणों का अनुवाद करके 'गण्डिकानुयोग' की प्रवृत्ति जैन साहित्य में चलाई। और प्रथमानुयोग के नाम से एक कथा विषयक अमर सिद्धान्त ग्रन्थ की रचना की। इसी प्रकार इन्होंने लोकानुयोग में 'अर्हत्-संहिता' नामक निमित्त विषय की एक संहिता की रचना की थी।

कालिकाचार्य्य का विहार क्षेत्र भी बहुत विस्तृत था। पूर्व में पाटलि पुत्र तक जाकर उन्होंने संघ को अपने कर्त्तव्य का ज्ञान कराया। दक्षिण में प्रतिष्ठान पुर में चातुर्मास कर वहां पंचमी से चतुर्थी को सांवत्सरिक पर्व की घोषणा की और उधर पश्चिम में पारस की खाड़ी तक पहुँच कर उन्होंने शाही राजाओं पर अपना प्रभाव डाल कर उन से सहायता प्राप्त कर गर्दभिल्ल का नाश करवाया।

कालिका चार्य की मृत्यु अनुमानतः ई० सन् पूर्व ६२ में हुई।

कालिनिन

(मिखाइल इवानोविच कालिनिन)

सोवियट रूस में कम्यूनिस्ट शासन के एक सुप्रसिद्ध व्याख्याकार। कम्यूनिस्ट सिद्धान्तों की व्याख्या पर सन् १९१९ से सन् १९४६ तक इनके कई भाषण कम्यूनिस्ट संकलनों में हुए।

मिखाइल इवानोविच कालिनिन ने सोवियट राज्य के सर्वोच्च संगठन के नेता के रूप में २७ वर्षों से भी ज्यादा समय तक व्यापक रूप से काम किया। उन्होंने सोवियट युवकों की कम्यूनिस्ट शिक्षा की समस्याओं पर बहुत अधिक ध्यान दिया। सोवियट युवकों को उन्होंने जो सीख दी वह बहुत ही महत्वपूर्ण और उपयुक्त है। इस शिक्षा में कालिनिन के अनुभवपूर्ण जीवन की झाँकी देखने को मिलती है।

कारडर (पीटर रिची कारडर)

इंग्लैंड में विज्ञान के जनसम्पर्क अधिकारी और प्रसिद्ध लेखक। जिनका जन्म सन् १९ ९ में स्टॉकपोर्ट में हुआ।

पीटर रिची कारडर के पिता स्टॉकपोर्ट की एक कपड़ा मिल में मजदूर थे। जो आगे चलकर अपनी योग्यता से एक कारखाने के मैनेजर बन गये।

कारडर ने १६ वर्ष की उम्र में ही शार्टहैण्ड लिपि का ज्ञान प्राप्त कर हाई स्कूल छोड़ दिया और प्रेस-रिपोर्टर का काम करने लगे। उन्होंने लन्दन के 'डेलीन्यूज' नामक पत्र में सन् १९१ तक वैज्ञानिक अनुसन्धान के रिपोर्टर का काम किया।

प्रारम्भ से ही "कारडर" को वैज्ञानिक विषयों में बड़ी अभिरुचि थी और वे इस विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के सम्पर्क में रहते थे। और 'डेली हेरल्ड' पत्र में नियमित रूप से वैज्ञानिक विषयों पर लेख भी लिखते थे।

कारडर की पहली रचना 'बर्थ ऑफ दी फ्यूचर" सन् १९३४ में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में विज्ञान की अभी तक की उपलब्धियों का विवरण था।

द्वितीय महायुद्ध के समय उन्होंने। अपने लेखों तथा "दि लेसन ऑफ लन्दन" "डेली आर्म लन्दन" नामक पुस्तकों के द्वारा ब्रिटिश जनता की सुरक्षा उस पर आने वाली मुसीबतों और नागरिक सुरक्षा की अपर्याप्त तैयारी का बड़ा ज्वलन्त चित्र खींचा। इसके परिणामस्वरूप वे विदेश विभाग की प्रचार शाखा के योजना अधिकारी बनाये गये।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् कारडर के जीवन का सबसे महत्वपूर्ण अध्याय प्रारम्भ हुआ। १९४७ में वे यूनेस्को में ब्रिटिश प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य बनाये गये। इसी वर्ष विश्व-खाद्य कृषि संगठन द्वारा बुलाए गये 'अकाल निवारण संघ' के वे विशेष सलाहकार बनाये गये। इसी सिलसिले में उन्होंने भूख की समस्या पर "कामन सेन्स अबाउट ए स्टार्विंग" नामक प्रसिद्ध और प्रमाणिक पुस्तक प्रकाशित की।

प्रो कारडर की सबसे महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध रचना "आफ्टर दी सेवेंथ डे" है। इस ग्रन्थ में उन्होंने मानव के अभी तक के बौद्धिक विकास, अणुयुद्ध, और जन संख्या के विस्तार की विभीषिका का वर्णन करके यह विश्वास प्रकट किया है कि विज्ञान के द्वारा विश्वमें स्वर्ग युग की स्थापना की जा सकती है। इसी प्रकार वैज्ञानिक विषयों पर उन्होंने बीस से अधिक महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। जिनका संसार की उन्नीस भाषाओं में अनुवाद हो चुका है।

इन पुस्तकों के द्वारा उन्होंने विज्ञान के कठिन टैकनिकल विषयों को साधारण सीधी भाषा में लिखकर जनगम्य बना दिया है। इसके उपलक्ष्य में सन् १९६ में उन्हें "कलिंगपुरस्कार" प्राप्त हुआ।

सन् १९६१ में एडिनबरा विश्वविद्यालय ने उनको अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार का प्रोफेसर नियुक्त किया। मगर दिक्कत यह थी कि प्रोफेसर होने के लिए उनके पास किसी भी प्रकार की कोई डिग्री नहीं थी। वे तो केवल हाई स्कूल पास कर कर्मक्षेत्र में निकल पड़े थे और विधान के अनुसार बिना डिग्री के कोई व्यक्ति विश्व-विद्यालय में प्रोफेसर नहीं बन सकता था अन्त में एक बहुत पुराने कानून के आधार पर विश्वविद्यालय ने उन्हें एम ए की डिग्री प्रदान की और इस प्रकार यह वैज्ञानिक बाधा दूर की गई।

कालेलकर (दत्तात्रय बालकृष्ण)

भारतीय तत्वज्ञान और गान्धी सिद्धान्त के अधिकारी प्रवक्ता। शिक्षाशास्त्री और पत्रकार काका कालेलकर। जिनका जन्म सन् १८८५ ई में महाराष्ट्र के सतारा नामक स्थान पर हुआ।

काका कालेलकर की शिक्षा पूना के सुप्रसिद्ध फर्गुसन कालेज में हुई। पूना उस समय भारतवर्ष की हिंसात्मक क्रान्तिकारी गति विधि का प्रमुख केन्द्र बना हुआ था और वहाँ ऐसी राजनैतिक संस्थाएं थीं जो हिंसात्मक उपायों से अंग्रेजी राज्य को उखाड़ फेंकना चाहती थीं। काका कालेलकर भी ऐसी संस्थाओं के सम्पर्क में आए मगर उनके जीवन पर विशेष प्रभाव लोकमान्य तिलक और स्वामी विवेकानन्द का पड़ा।

बम्बई विश्वविद्यालय से बी० ए० की डिग्री प्राप्त कर इन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश किया। शुरू-शुरू में कालेलकर बेलगांव के गणेश विद्यालय के प्रधान अध्यापक की जगह काम करने लगे। इस संस्था के बन्द हो जाने पर इन्होंने बड़ौदा के गंगानाथ सार्वजनिक विद्यालय के प्रिंसिपल के स्थान पर काम करना प्रारम्भ किया मगर इस संस्था की राष्ट्रीय गतिविधि अंग्रेज अधिकारियों को फूटी आँख भी नहीं सुहाती थी परिणाम स्वरूप बड़ौदा नरेश पर दबाव डालकर उन्होंने इस संस्था को बन्द करवा दिया।

संस्था के बन्द होजाने पर भी कालेलकर पुलिस की निगाहों के हमेशा शिकार बने रहे और हमेशा खुफिया पुलिस इन्हें तंग करती रही। एक बार मौका पाकर खुफिया पुलिस को चकमा देकर ये गायब हो गये और एक साधारण साधु के रूप में हिमालय के प्रसिद्ध स्थानों का भ्रमण करने लगे। उनका यह भ्रमण सत्य और अध्यात्म विद्या की खोज का भ्रमण था।

सन् १९१४ में कालेलकर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के शान्ति निकेतन में पहुँच गये और वहाँ बस् बाबू के नाम से अध्यापन का काम करने लगे।

कुछ समय पश्चात् अपनी दक्षिणी अफ्रीका की लड़ाई को समाप्त करके महात्मा गांधी विश्राम करने के लिए शान्ति निकेतन में आये। यहीं पर काका कालेलकर, महात्मा गांधी के सम्पर्क में आये। कुछ दिनों तक के इस सम्पर्क में जब जीवन की सब समस्याओं का समाधान उन्हें गांधी जी के सिद्धान्तों में मिल गया तब उन्होंने उनके नेतृत्व में काम करना स्वीकार कर लिया और तब से बराबर ३२ वर्ष तक उन्होंने महात्मा गांधी के नेतृत्व में आजादी की लड़ाई पूर्ण निष्ठा के साथ लड़ी।

केवल आजादी की लड़ाई में ही इन्होंने गांधी जी का साथ नहीं दिया मगर पूरी गांधी विचारधारा का पारदर्शी ढंग से अध्ययन किया। इनका अध्ययन इतना गहरा है कि गांधी विचार धारा के जो चार पारदर्शी तत्वचिंतक माने जाते हैं उनमें एक नाम इनका भी है। इन चार तत्व चिन्तकों के नाम महादेव भाई देसाई, विनोबा भावे किशोर लाल मशरूवाला और काका कालेलकर हैं।

गांधी विचार धारा के प्रमुख प्रवक्ता होने के अतिरिक्त काका कालेलकर एक प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री, पत्रकार और साहित्यकार भी हैं। महात्मा गाँधी के नवजीवन और यंग इण्डिया पत्रों का इन्होंने बड़ी योग्यता से सम्पादन किया। गांधी जी द्वारा स्थापित गुजरात विद्यापीठ नामक राष्ट्रीय विद्यालय के ये आठ वर्ष तक उप कुलपति रहे।

इसी काल में काका कालेलकर ने साहित्य के क्षेत्र में भी अपनी बहुमूल्य सेवाएं अर्पित कीं। मातृभाषा न होने पर भी गुजराती भाषा में इन्होंने अपनी प्रतिभा का पूर्ण प्रकाशन किया। इनकी गुजराती रचनाएं इतनी लोकप्रिय हुईं कि गुजरात के प्रत्येक विद्याप्रेमी घर में उनका प्रचार हुआ, और मैट्रिक से लेकर एम० ए० कक्षाओं तक के पाठ्य क्रम में वे स्वीकार हुईं।

गुजराती के अतिरिक्त हिन्दी और मराठी भाषाओं में भी इनकी रचनाएँ बड़ी लोकप्रिय हुईं। इन तीनों भाषाओं तथा अंग्रेजी में अभी तक उन्होंने करीब ५० ग्रन्थों की रचना की है। महाकवि रवीन्द्रनाथ की गीताञ्जलि का इन्होंने तीन खण्डों में मराठी भाषा में भाष्य किया है।

काका कालेलकर भारतीय युनिवर्सिटी ग्रांट्स कमीशन बोर्ड हिंदुस्तानी प्रचार सभा गांधी विचार परिषद् इत्यादि अनेक संस्थाओं के अध्यक्ष रह चुके हैं। देश की स्वाधीनता की लड़ाई में कई बार ये जेलों की यात्रा भी कर चुके हैं।

कालेवाला

फिनलैण्ड के साहित्य का एक वीर काव्य, जिसका संग्रह एलियस लोनरट नामक विद्वान ने किया। इस काव्य में 'कालेवा' और पोहयोला नामक दो जातियों की लड़ाइयों का वर्णन है। इसके छन्द चित्र अनन्त हृदयग्राही और मार्मिक हैं। फिनलैण्ड के साहित्य और संगीत पर इस वीर काव्य का बड़ा प्रभाव पड़ा। इसकी रचना सन् १८३५ में हुई।

क्लाइव रावर्ट

भारतवर्ष में अंग्रेजी राज्य का प्रथम प्रतिष्ठाता। जिसका जन्म सन् १७२५ की २९ सितम्बर को इंग्लैण्ड के मार

शायर Shropshire) के मारकेट ड्रेटन नामक स्थान में हुआ और मृत्यु सन् १७७४ की २२ नवम्बर को कुछ लोगों के अनुसार आत्महत्या के द्वारा हुई।

बचपन में क्लाइव अत्यन्त उद्दण्ड, नटखट और स्वेच्छाचारी था। इसने अपनी स्कूल के कुछ आवारा लड़कों की एक जमात बना ली थी। ये लोग मारकेट ड्रेटन के बाजार की दुकानों में कभी कभी डाके भी डालते थे। इसलिए इनके उपद्रव से बचने के लिए वहाँ के दुकानदारों को इस जमात को रोजाना कुछ पैसे देना पड़ते थे।

अपने पुत्र की ऐसी हालत से तंग आकर क्लाइव के पिता ने उसको ईस्ट इण्डिया कम्पनी में ४) मासिक की एक क्लर्क की नौकरी दिलवाकर मद्रास भेज दिया। किसी प्रकार सन् १७४४ में मद्रास पहुँचकर इसने क्लर्की का काम आरम्भ किया।

उस समय अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों के बीच पूरा तनाव पैदा हो रहा था और फ्रान्सीसियों की शक्ति बढ़ी हुई थी। जिसके फल स्वरूप मारीशस के फ्रेंच गवर्नर लेबर डॉन ने मद्रास पर आक्रमण करके वहाँ अधिकार कर लिया और अंग्रेजों ने वहाँ से भागकर सेण्ट डेविड के किले में आश्रय ग्रहण किया।

मगर फ्रेंच लोगों ने अंग्रेजों का पीछा करते हुए सेण्ट डेविड के किले पर भी घेरा डाल दिया। इस कठिन समय में क्लाइव ने एक वीर सैनिक की तरह हथियार ग्रहण करलिये और जब तक एडमिरल ग्रिफिन के द्वारा बाहर से सहायता प्राप्त न हुई तब तक उसने बड़े साहस से सेण्ट डेविड दुर्ग की रक्षा की।

सेण्ट डेविड की रक्षा के इस उद्योग में क्लाइव की काफी ख्याति हुई और उसे कम्पनी की ओर से एक प्रतिष्ठा सूचक पद भी मिला।

इसके बाद क्लाईव कलकत्ता जाकर वहाँ कम्पनी का काम करने लगा।

क्लाइव की भाग्योन्नति का दूसरा अवसर तब आया जब सन् १७४८ में दक्षिण के निजाम की मृत्यु हो गई। और फ्रेंच गवर्नर डूप्ले ने मिरजा मुजफ्फरजंग को दक्षिण का निजाम और चन्दा साहब को कर्नाटक का नवाब बनादिया।

मगर अंग्रेजों ने चन्दा साहब को कर्नाटक का नवाब मानने से इन्कार कर दिया और करनाटक के भूतपूर्व नवाब के लड़के मुहम्मद अली को करनाटक का वास्तविक अधिकारी घोषित कर दिया, और उसे त्रिचनापल्ली के किले में रख दिया। यह सुनकर चन्दा साहब ने एक बड़ी सेना के साथ त्रिचना पल्ली पर घेरा डाला दिया।

तब मद्रास के गवर्नर ने क्लाइव को ५ सेना देकर अर्काट विजय करने के लिए भेजा। अर्काट के युद्ध में क्लाइव ने जिस साहस और धैर्य का परिचय दिया उससे उसकी कीर्ति बहुत बढ़ गई। सिर्फ पाँच सौ सैनिकों के द्वारा उसने अर्काट के रक्षक दो तीन हजार सिपाहियों को परास्त कर दुर्ग पर अधिकार कर लिया। उस दुर्ग की रक्षा के लिए चन्दा साहब ने अपने पुत्र राजा साहब के मातहत चार पाँच हजार सेना को भेजा तो किले के अन्दर से क्लाइव के सैनिकों ने गहरी मार-मारकर इस सेना को भी मार भगा दिया। इस सारी लड़ाई में उसके केवल छ सैनिक मारे गये।

इस विजय से क्लाइव की कीर्ति सब दूर फैल गई। इसके कुछ समय पश्चात् एडमण्ड मास्केलन की पुत्री मार्गरेट से क्लाइव का विवाह हुआ और वह इस देश से वापस इंग्लैण्ड चला गया।

सन् १७५५ में क्लाइव दूसरी बार भारतवर्ष में कम्पनी की सम्पूर्ण सेनाओं का लेफ्टिनेंट कर्नल बनकर आया।

दूसरी बार यहाँ आने पर क्लाइव ने कम्पनी के राज्य का विस्तार करने के लिए बड़े-बड़े राजनैतिक दाँव पेचे और उनमें पूर्ण सफलता प्राप्त की। बंगाल के नवाब अलीवर्दीखाँ की मृत्यु हो जाने पर जब नवाब सिराजुद्दौला ने अंग्रेजों के खिलाफ कड़ा रुख अपनाया तो क्लाइव ने सिराजुद्दौला के प्रधान सेनापति मीरजाफर को तथा सेठ अमीचन्द को गुप्त रूप से अपनी ओर मिला कर विश्वासघात के द्वारा प्लासी की लड़ाई में सिराजुद्दौला की ५ हजार सेना को पराजित कर मीरजाफर के लड़के से सिराजुद्दौला का वध करवा दिया और अंग्रेजों की कठपुतली मीरजाफर को बंगाल का नवाब बना दिया।

गद्दीपर बैठते ही मीरजाफर ने क्लाइव की सलाह से हिन्दू राजाओं को हटाकर उनके स्थान पर मुसलमानों को नियुक्त करना प्रारम्भ किया। जिससे सारे हिन्दू राजा मीर जाफर के विरुद्ध हो गये।

इसी समय क्लाइव को सारे भारतवर्ष में अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना की कल्पना आई और उसने ७ जनवरी सन् १७५९ को इंग्लैण्ड के प्रधान मंत्री विलियम पिट को एक पत्र भेजा। जिसका कुछ अंश इस प्रकार है—

'अंग्रेजी फौज की कामयाबी के जरिये एक महान् क्रान्ति इस देश में की जा चुकी है। उस क्रान्ति के बाद एक संधि की गई है जिससे कम्पनी को भारी फायदे हुए हैं। मुझे मालूम है कि इन सब बातों की तरफ अंग्रेज जाति का ध्यान आकर्षित हो चुका है। किन्तु मौका मिलने पर अभी बहुत कुछ किया जा सकता है। दो साल की मेहनत और तजुर्बे से मैंने इस देश की हुकूमत के विषय में और यहां के लोगों के स्वभाव के सम्बन्ध में पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया है। उससे मैं साहस के साथ कह सकता हूँ कि ऐसा मौका जल्दी ही आने वाला है। क्योंकि मौजूदा नवाब बूढ़ा है और उसका लड़का जालिम और निकम्मा है। ऐसी हालत में केवल दो हजार अंग्रेजों की छोटी-सी सेना हमें दोनों ओर से बेखटके कर देगी।

'हिन्दुस्तान के लोगों को अपने राजाओं के प्रति किसी प्रकार का प्रेम नहीं है। इसलिए इस काम में हमें कोई कठिनाई नहीं होगी। इतना अवश्य है कि बिना अंग्रेज जाति की सहायता के अकेली कम्पनी इतने बड़े राज्य की व्यवस्था नहीं कर सकेगी। विचारणीय बात यह है कि यह सारा नक्शा अपनी मातृभूमि पर बिना किसी प्रकार का बोझ डाले बनाया जा सकता है।"

इसके बाद सन् १७६० में क्लाइव वापिस इंग्लैण्ड चला गया और सन् १७६५ में तीसरी बार फिर भारत आया। इससे मालूम होता है कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की कल्पना करने में, उसकी नींव डालने में और उसकी नींव को मजबूत बनाने में क्लाइव का कितना गहरा हाथ था।

वह कम्पनी की स्थिति मजबूत करने के साथ साथ में अपना निजी धन बढ़ाने में भी कसर न रखता। इस धन से क्लाइवने श्रापशायर, सरे इत्यादि स्थानों अपनी बड़ी बड़ी इमारतें बनवा डालीं।

इन सब बातों से इंग्लैण्ड में उसकी बड़ी निन्दा होने लगी। नवाब लोगों से उसने जो धन लूटा था और अमीचन्द के साथ उसने जैसा व्यवहार किया था उसकी चर्चा पार्लमेंट में खुले आम होने लगी। तब पार्लमेंट ने क्लाइव के सारे केस की जाँच के लिए एक कमेटी नियुक्त की। इस कमेटीने उससे ऐसे टेढ़े-मेढ़े सवाल किये कि क्लाइव घबड़ा उठा और उसने कहा—'कमेटी मुझसे इस प्रकार के प्रश्न कर रही है जैसे किसी भेड़ बकरी चुराने वाले से किये जाते हैं। पर इससे कमेटी के रुख में कोई फर्क नहीं आया और अन्त में पार्लमेंट ने क्लाइव को मीरजाफर से गैरकानूनी धन लेने के अपराध में अपराधी करार दिया।

इन सब बातों का क्लाइव के मनपर ऐसा भयङ्कर असर पड़ा कि कई इतिहासकारों के मत से उसने सन् १७७४ में जहर खाकर आत्महत्या करली। उस समय उसकी उम्र केवल ४९ वर्ष की थी।

कालूराम जैनाचार्य

जैन श्वेताम्बर तेरा पंथी सम्प्रदाय के आठवें धर्माचार्य।

करीब ढाई सौ, तीन सौ वर्ष पहले श्वेताम्बर जैन स्थानकवासी सम्प्रदाय में "भिक्षु" नामक एक साधु हुए। वे एक मौलिक विचारक और क्रान्तिकारक व्यक्ति थे। उस समय के प्रचलित रिवाजों और शास्त्र के किये जाने वाले अर्थों पर उन्हें कुछ शङ्का हुई और उन्होंने इनका एक नवीन और मौलिक ढंग से विवेचन करना प्रारम्भ किया और अपना एक स्वतंत्र पंथ "तेरापन्थ" के नाम से स्थापित किया।

जैन धर्म में दान और दया की अभी तक जिस रूप में व्याख्या होती आ रही थी आचार्य भिक्षु ने उसे गलत बताया और इन विषयों की व्याख्या कर उन्होंने एक नवीन विचारधारा का निर्माण किया। इस प्रकार जैन धर्म में चले आने वाले अनेक पंथों में एक नवीन पंथ की और वृद्धि हुई।

आचार्य भिक्खू के सम्प्रदाय का विशेष स्वागत बीकानेर स्टेट के थली प्रान्त में विशेष रूप से हुआ। वहाँ पर इस तेरा पंथ के हजारों अनुयायी बन गये।

आचार्य भिक्खू की परम्परा में आठवें स्थान पर आचार्य कालूराम पूज्य हुए। ये बड़े प्रभावशाली व्यक्तित्व के धर्माचार्य थे। राजस्थान के जिस स्थान पर इनका चातुर्मास होता था उस स्थान पर कलकत्ते से इनके हजारों भक्त स्पेशल ट्रेनों के द्वारा वहाँ पर पहुँच कर इकट्ठा होते थे। और लाखों रुपयों का आगत स्वागत में खर्च होता था।

आचार्य कालूराम के देहान्त के पश्चात् आचार्य तुलसी इस सम्प्रदाय के नवीन आचार्य हुए जो इस समय विद्यमान हैं। आचार्य तुलसी भी अत्यन्त विद्वान शास्त्रज्ञ और समन्वय नीति के पक्षपाती हैं। इन्होंने राजस्थान की संकीर्ण सीमा को छोड़ कर अपने विहार के क्षेत्र में काफी वृद्धि की और कलकत्ता आकर यहां पर भी चातुर्मास किया। आचार्य तुलसी के भाषण इतने व्यापक होते हैं कि जैनों को छोड़कर अजैन लोग भी उन भाषणों को बड़ी दिलचस्पी से सुनते हैं।

आचार्य तुलसी ने "अणुव्रत संघ" के नाम से एक नवीन संघ की स्थापना की है और उनका कहना है कि अणुव्रत के नियमों पर चल कर ही युद्धोन्माद से ग्रस्त विश्व में शांति स्थापना की जा सकती है। उनका यह अणुव्रत आन्दोलन पचशील के सिद्धान्तों पर आधारित है। देश के कई बड़े-बड़े नेताओं ने आचार्य तुलसी से अणुव्रत सिद्धान्तों पर विचारों का आदान-प्रदान कर आचार्य तुलसी के प्रति श्रद्धा और अणुव्रत आन्दोलन के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की है।

काशी (वाराणसी)*

भारत वर्ष की अत्यन्त प्रसिद्ध, प्राचीन और पवित्र नगरी। जिसकी महिमा से भारत का प्राचीन साहित्य भरा पड़ा है।

सुप्रसिद्ध इतिहास कार डॉ मोतीचन्द अपने 'काशी का इतिहास' नामक वृहद् पुस्तक की सुन्दर भूमिका में काशी का परिचय देते हुए लिखते हैं—

'धर्म, शिक्षा और व्यापार से काशी का घना सम्बन्ध होने के कारण इस नगरी का इतिहास केवल राज नैतिक इतिहास न रहकर एक ऐसी संस्कृति का इतिहास बन गया है जिसमें भारतीयता का पूरा दर्शन होता है। समय के बदलते चलचित्र का सारा प्रभाव काशी के इतिहास पर भी देख पड़ता है पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि काशी की संस्कृति का जो नक्शा प्राचीन काल में बना, वह अनेक परिवर्तनों के होते हुए भी मूल में ज्यों का त्यों बना रहा। मध्यकालीन बनावट, गन्दगी, और ठगहारियाँ इत्यादि कमजोरियों के होते हुए भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि बनारस उस सभ्यता का सर्वथा परिपोषक रहा है जिसे हम भारतीय सभ्यता कहते हैं और जिसके बनाने में अनेक मत मतान्तरों और विचारधाराओं का सहयोग रहा है। यह नगरी हिन्दू विचारधारा का केन्द्र तो थी ही मगर यहाँ अशोक के समय में बौद्ध धर्म भी खूब फूला फला। तीर्थंकर पार्श्व नाथ की जन्म भूमि होने के कारण जैन भी इस नगरी पर अपना अधिकार समझते हैं। इस तरह भिन्न-भिन्न धर्मों और संस्कृतियों का पवित्र संगम बन जाने से काशी भारत के कोने-कोने में बसनेवालों का पवित्र तीर्थस्थल बन गई। अगर एक सीमित क्षेत्र में सारे भारत की झांकी लेना हो तो वह काशी में ही देखने को मिल सकती है। विविध भाषाओं के बोलने वाले, नाना वेष भूषाओं के पहनने वाले तरह तरह के भोजन करने वाले, तरह-तरह के रीति रिवाज मानने वाले काशी में सिर्फ एक ध्येय यानी तीर्थ यात्रा के उद्देश्य से न मालूम कितने प्राचीन काल से इकट्ठे होते हैं। यह निश्चित है कि बहुरूपी भारतीय सभ्यता के समन्वय में काशी का बहुत बड़ा हाथ रहा है और शायद इसी से काशी के प्रति हिन्दुओं का इतना आकर्षण है।"

काशी नगरी का प्रधान महत्व धर्म, सभ्यता और शिक्षा के एक महान् केन्द्र, पवित्र तीर्थ स्थान और गंगा नदी की वजह से है। राजनैतिक दृष्टि से विशेष कर यह दूसरे बड़े साम्राज्यों का ग्रास बनकर रही है। कभी मगध

* डॉ मोतीचन्द लिखित 'काशी का इतिहास' के आधार पर।

काशी खण्ड के चौसठवें अध्याय में दिवोदास के सम्बन्ध की एक कथा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—

काशी के राजा दिवोदास ने काशी से "शिव" को छोड़कर सब देवताओं को निकाल दिया। इसका बदला लेने के लिए देवताओं ने काशी को सहायता देना बन्द कर दिया। मगर दिवोदास अपने वचन पर अडिग रहे। अन्त में देवताओं ने दिवोदास को धोखा देने की बात सोची। गणेश ने दिवोदास को इस बात के लिए राजी कर लिया कि अठारह दिन के बाद उत्तर दिशा की ओर से एक तेजस्वी ब्राह्मण आनेवाला है वह उनसे जो कुछ कहे उसकी बात को वे जरूर मान लें। तब अठारहवें दिन स्वयं विष्णु ब्राह्मण का रूप धारण करके दिवोदास के पास आये और उन्होंने दूसरे देवताओं को काशी में आने देने के लिए दिवोदास से आदेश ले लिया।

इस प्रकार की और भी कहानियों से मालूम होता है कि दिवोदास काशी का एक प्रतापी राजा रहा। मगर मध्यदेश का हैहयवंशी राजा महिष्मत काशीराज दिवोदास को हमेशा तंग करता रहता था। तब दिवोदास ने पूरब में गोमती के किनारे एक दूसरा नगर बसाया और वह वहीं रहने लगा। भद्रश्रेण्य ने काशी को जीत लिया और क्षेमेन्द्र नामक राक्षस ने वाराणसी पर अपना अधिकार कर लिया। राजा दिवोदास हैहय राजा दुर्दम के साथ युद्ध करता हुआ मारा गया। इसके बाद दिवोदास के वंश, हैहय वंश और क्षेमेन्द्र वंश में यह संघर्ष एक लम्बे समय तक चलता रहा। दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन ने अपना राज्य हैहय वंश से वापस जीत लिया। और प्रतर्दन के पौत्र अलर्क ने क्षेमेन्द्र को मारकर वाराणसी पर वापस कब्जा कर लिया।

भद्रश्रेण्य की चौथी पुश्त में हैहय वंश में अर्जुन कार्त्तवीर्य नामक राजा हुआ जो अयोध्या के राजा त्रिशंकु और हरिश्चन्द्र का समकालीन था।

सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र का भी काशी से बहुत गहरा सम्बन्ध रहा। ऋषि विश्वामित्र के जिम्मे अपना राजपाट करके वे काशी में ही आकर एक डोम के यहाँ बिके थे। उनकी स्मृति में बना हुआ हरिश्चन्द्र घाट और

उस सोम के वंशज अभी भी काशी में विद्यमान हैं ऐसा कहा जाता है।

ऐसा समझा जाता है कि राजा प्रतर्दन राजा रामचन्द्र के समकालीन थे। इस वंश का चौतीस पीढ़ी तक राज्य करने के बाद महाभारत के युद्ध में अन्त हुआ।

इन पौराणिक उल्लेखों से पता चलता है कि राजा हरिश्चन्द्र के समय तथा उससे पहले भी काशी एक पवित्र नगरी की तरह भारत में प्रसिद्ध थी।

बौद्ध साहित्य में काशी

बौद्ध-ग्रन्थों तथा जातकों में भी काशी का वर्णन कई स्थानों पर आया है। इनसे मालूम होता है कि बुद्ध के जन्म से कुछ शताब्दियों पहले काशी पर ब्रह्मदत्त-वंश का राज्य था। काशी सोलह जनपदों में एक प्रमुख जनपद था।

बौद्ध जातकों से यह भी पता चलता है कि काशी जनपद और कौशल जनपद में हमेशा संघर्ष चलता रहता था। इनमें कभी एक पक्ष की विजय होती थी, कभी दूसरे पक्ष की। इस प्रकार के संघर्षों में काशी जनपद धीरे-धीरे कमजोर पड़ता गया और ईसा से पूर्व छठी शताब्दी में यह कौशल जनपद में मिला लिया गया।

जिस समय भगवान् बुद्ध ने इसिपत्तन में धर्मचक्र प्रवर्तन किया। उस समय काशी में "यश" नामक एक श्रेष्ठि पुत्र रहता था। उसके पास धन और वैभव की कमी न थी। सब ऋतुओं में रहने योग्य अलग-अलग महल उसके लिए बने हुए थे। रात-रात भर नाच-रंग होता रहता था।

एक बार भगवान बुद्ध का उपदेश सुनने यह मृगदाव में पहुँच गया और भगवान बुद्ध का उपदेश सुनकर उसने प्रव्रज्या या दीक्षा ग्रहण की। इसके बाद यश के माता पिता, उसके रिश्तेदार और मित्रों ने प्रव्रज्या ग्रहण की और फिर तो काशी नगरी में प्रव्रज्या ग्रहण करने की लोगों में जैसे होड़ लग गई।

उसी समय बुद्ध ने अपना यह अमर उपदेश दिया—

"हे भिक्षुओ! बहुजनहिताय बहुजन सुखाय, लोगों पर अनुकम्पा करने के लिए और देवताओं तथा मनुष्यों का हित करने के लिए विचरण करो। आरम्भ में कल्याण कर मध्य में कल्याण कर और अन्त में कल्याण कर, धर्म का शब्दों और भावों में उपदेश करके सर्वांश में परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो।"

डॉ० मोतीचन्द अपने 'काशी का इतिहास' में लिखते हैं कि—

"वाराणसी से उद्घोषित बुद्ध का यह अमर-सन्देश हजारों भिक्षुओं के द्वारा इस देश के कोने-कोने में फैला। साथ ही साथ नदी, नद और भीषण रेगिस्तानों को पार करता हुआ जापान से लेकर अफगानिस्तान तक और सुवर्ण भूमि से लेकर सिंहल तक फैला था।"

जैन साहित्य में काशी

बौद्ध साहित्य की तरह जैन साहित्य भी काशी सम्बन्धी अनुश्रुतियों से भरा हुआ है। जैन परम्परा के अनुसार उनके पहले तीर्थंकर ऋषभदेव ने काशी नगरी की स्थापना की। जैनियों के तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म ईसा से आठ शताब्दी और महावीर से २५ वर्ष पूर्व बनारस में ही हुआ था। इनके पिता अश्वसेन बनारस के राजा थे। तीस वर्ष की उमर में इन्होंने श्रमणधर्म ग्रहण किया और सत्तर वर्ष उपदेश देकर सम्मेद-शिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।

सातवें तीर्थंकर "सुपार्श्वनाथ" का जन्म भी काशी के भदैनी मुहल्ले में हुआ था। भगवान् पार्श्वनाथ की जन्मभूमि भेलूपुर और सुपार्श्वनाथ की जन्मभूमि भदैनी—दोनों स्थानों पर विशाल जैन मन्दिर बने हुए हैं।

ग्यारहवें तीर्थङ्कर श्रेयांसनाथ का जन्म सिंहपुरी या सारनाथ में और आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभु का जन्म सारनाथ के पास ही चन्द्रपुरी में हुआ था। इस प्रकार काशी को एक नहीं चार-चार तीर्थंकरों की जन्म भूमि होने का सौभाग्य प्राप्त है।

इस प्रकार जैन साहित्य में भी 'काशी नगरी' बड़ी पवित्र और पूजनीय समझी जाती है।

इसके पश्चात् मौर्य्य तथा शुंग और आन्ध्र राजवंश के राज्यों में काशी इन साम्राज्यों का एक अङ्ग बन कर रही।

साम्राज्य में कभी कान्यकुब्ज साम्राज्य में और कभी देहली के साम्राज्य में इसका अस्तित्व रहा है। स्वतंत्र रूप से जनपद युग में भारत के सोलह महान जनपदों में इसका भी एक स्वतंत्र अस्तित्व था मगर बाद में यह कौशल जनपद में मिला दी गई। इसलिए राजनैतिक महत्त्व की अपेक्षा काशी का धार्मिक महत्त्व ही सर्वोपरि है।

पुराणों में काशी

काशी के सम्बन्ध में प्राचीन पुराणों में अनेक प्रकार की परम्पराएँ देखने को मिलती हैं। स्कन्द पुराण के अन्तर्गत काशी खण्ड के अनुसार स्वायंभू मनु के समय एक बार ६ वर्षों का भयङ्कर अकाल पड़ा जिससे लोग घर छोड़ कर पहाड़ों पर चले गए और मांस खाकर जीवन-यापन करने लगे। अन्त में ब्रह्मा ने राजा रिपुंजय को जो बड़ा तपस्वी था काशी का राजा बनाया, जिससे वृष्टि होने लगी और प्रजा सुखी हुई। पर भक्त राजा ने राज्य ग्रहण करते समय वचन ले लिया था कि मेरे राज्यकाल में कोई देवता काशी में न रहे। इससे महादेवजी सब देवताओं के साथ मन्दार पर्वत पर चले गये। सदियों बाद काशी में आने के लिए उत्सुक देवताओं के लिए काशी का हाल जानने के लिए शिवजी ने चौंसठ योगिनियों को भेजा जो यहीं आकर रह गईं। इनके बाद सूर्य, ब्रह्मा आदि कई देवता आए और सब यहीं रह गए। अन्त में गणराज गणेश आए जिनके प्रयत्न से रिपुंजय के पुत्र दिवोदास स्वर्ग को गए और सब देवता यहाँ पर बस गए।

सत्य युग में राजा सुदेव के पुत्र काश हुए जिनके पुत्र काश्य या काशिराज ने काशीपुरी बसाई। काश्य के उत्तराधिकारी केतुमान ने इसे अपनी राजधानी बनाया। इसके बाद हर्यश्व और उसके पुत्र सुदेव नामक दो राजाओं को हैहय वंशीय राजाओं ने मार डाला। सुदेव के पुत्र दिवोदास विजयी हुआ। जिसने दुर्ग बनवाकर नगरी को सुदृढ़ बनाया।

काशी के पौराणिक इतिहास में राजा दिवोदास का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इस राजा के सम्बन्ध में कई प्रकार की कथाएँ पुराणों में देखने को मिलती हैं।

काशी खण्ड के चौंसठवें अध्याय में दिवोदास के सम्बन्ध की एक कथा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—

काशी के राजा दिवोदास ने काशी से "शिव" को छोड़कर सब देवताओं को निकाल दिया। इसका बदला लेने के लिए देवताओं ने काशी को सहायता देना बन्द कर दिया। मगर दिवोदास अपने वचन पर अडिग रहे। अन्त में देवताओं ने दिवोदास को धोखा देने की बात सोची। गणेश ने दिवोदास को इस बात के लिए राजी कर लिया कि अठारह दिन के बाद उत्तर दिशा की ओर से एक तेजस्वी ब्राह्मण आने वाला है वह उनसे जो कुछ कहे उसकी बात को वे जरूर मान लें। तब अठारहवें दिन स्वयं विष्णु ब्राह्मण का रूप धारण करके दिवोदास के पास आये और उन्होंने दूसरे देवताओं को काशी में आने देने के लिए दिवोदास से आदेश ले लिया।

इस प्रकार की और भी कहानियों से मालूम होता है कि दिवोदास काशी का एक प्रतापी राजा रहा। मगर मध्यदेश का हैहयवंशी राजा भद्रश्रेण्य काशीराज दिवोदास को हमेशा तंग करता रहता था। तब दिवोदास ने पूरब में गोमती के किनारे एक दूसरा नगर बसाया और वह वहीं रहने लगा। भद्रश्रेण्य ने काशी को जीत लिया और क्षेमेन्द्र नामक राक्षस ने वाराणसी पर अपना अधिकार कर लिया। राजा दिवोदास हैहय राजा दुर्दम के साथ युद्ध करता हुआ मारा गया। इसके बाद दिवोदास के वंश, हैहय वंश और क्षेमेन्द्र वंश में यह संघर्ष एक लम्बे समय तक चलता रहा। दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन ने अपना राज्य हैहय वंश से वापस जीत लिया। और प्रतर्दन के पौत्र अलर्क ने क्षेमेन्द्र को मारकर वाराणसी पर वापस कब्जा कर लिया।

भद्रश्रेण्य की चौथी पुश्त में हैहय वंश में अर्जुन कार्तवीर्य नामक राजा हुआ, जो अयोध्या के राजा त्रिशंकु और हरिश्चन्द्र का समकालीन था।

सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र का भी काशी से बहुत गहरा सम्बन्ध रहा। ऋषि विश्वामित्र के लिए अपना राज्यदान करके वे काशी में ही आकर एक डोम के यहाँ बिके थे। उनकी स्मृति में बना हुआ हरिश्चन्द्र घाट और

उस कोष के संग्रह अभी भी काशी में विद्यमान है ऐसा कहा जाता है।

ऐसा समझा जाता है कि राजा प्रतर्दन राजा रामचन्द्र के समकालीन थे। इस वंश का चौबीस पीढ़ी तक राज्य करने के बाद महाभारत के युद्ध में अन्त हुआ।

इन पौराणिक उल्लेखों से पता चलता है कि राजा हरिश्चन्द्र के समय तथा उससे पहले भी काशी एक पवित्र नगरी की तरह भारत में प्रसिद्ध थी।

बौद्ध साहित्य में काशी

बौद्ध-ग्रन्थों तथा जातकों में भी काशी का वर्णन कई स्थानों पर आया है। इनसे मालूम होता है कि बुद्ध के जन्म से कुछ शताब्दियाँ पहले काशी पर ब्रह्मदत्त-वंश का राज्य था। काशी सोलह जनपदों में एक प्रमुख जनपद था।

बौद्ध जातकों से यह भी पता चलता है कि काशी जनपद और कौशल जनपद में हमेशा संघर्ष चलता रहता था। इनमें कभी एक पक्ष की विजय होती थी, कभी दूसरे पक्ष की। इस प्रकार के संघर्षों में काशी जनपद धीरे-धीरे कमजोर पड़ता गया और ईसा से पूर्व छठी शताब्दी में यह कौशल जनपद में मिला लिया गया।

जिस समय भगवान् बुद्ध ने इसिपत्तन में धर्मचक्र प्रवर्तन किया। उस समय काशी में "यश" नामक एक श्रेष्ठि पुत्र रहता था। उसके पास धन और वैभव की कमी न थी। सब ऋतुओं में रहने योग्य अलग-अलग महल उसके लिए बने हुए थे। रात-रात भर नाच-रंग होता रहता था।

एक बार भगवान बुद्ध का उपदेश सुनने यह मृगदाव में पहुँच गया और भगवान बुद्ध का उपदेश सुनकर उसने प्रव्रज्या या दीक्षा ग्रहण की। इसके बाद यश के माता पिता उसके रिश्तेदार और मित्रों ने प्रव्रज्या ग्रहण की और फिर तो काशी नगरी में प्रव्रज्या ग्रहण करने की लोगों में जैसे होड़ लग गई।

उसी समय बुद्ध ने अपना यह अमर उपदेश दिया—

"हे भिक्षुओ! बहुजनहिताय बहुजन सुखाय, लोगों पर अनुकम्पा करने के लिए और देवताओं तथा मनुष्यों का हित करने के लिए विचरण करो। आरम्भ में कल्याण कर, मध्य में कल्याण कर और अन्त में कल्याण कर, धर्म का शब्दों और भावों में उपदेश करके सर्वांश में परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो।

डॉ॰ मोतीचन्द्र अपने 'काशी का इतिहास' में लिखते हैं कि—

'वाराणसी से उद्घोषित बुद्ध का यह अमर-सन्देश हजारों भिक्षुओं के द्वारा इस देश के कोने-कोने में फैला। साथ ही साथ नदी, नद और भीषण रेगिस्तानों को पार करता हुआ जापान से लेकर अफगानिस्तान तक और सुवर्ण भूमि से लेकर सिंहल तक फैला था।"

जैन साहित्य में काशी

बौद्ध साहित्य की तरह जैन साहित्य भी काशी सम्बन्धी अनुश्रुतियों से भरा हुआ है। जैन परम्परा के अनुसार उनके पहले तीर्थंकर ऋषभदेव ने काशी नगरी की स्थापना की। जैनियों के तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म ईसा से आठ शताब्दी और महावीर से २५ वर्ष पूर्व बनारस में ही हुआ था। इनके पिता अश्वसेन बनारस के राजा थे। तीस वर्ष की उमर में इन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण किया और सत्तर वर्ष उपदेश देकर सम्मेद-शिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।

सातवें तीर्थंकर "सुपार्श्वनाथ" का जन्म भी काशी के भदैनी मुहल्ले में हुआ था। भगवान् पार्श्वनाथ की जन्मभूमि भेलूपुर और सुपार्श्वनाथ की जन्मभूमि भदैनी—दोनों स्थानों पर विशाल जैन मन्दिर बने हुए हैं।

ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ का जन्म सिंहपुरी या सारनाथ में और आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभु का जन्म सारनाथ के पास ही चन्द्रपुरी में हुआ था। इस प्रकार काशी को एक नहीं चार-चार तीर्थंकरों की जन्म भूमि होने का सौभाग्य प्राप्त है।

इस प्रकार जैन साहित्य में भी 'काशी नगरी' बड़ी पवित्र और पुनीत समझी जाती है।

इसके पश्चात् मौर्य्य काल, शुंग और आन्ध्र राजवंश के राज्यों में काशी इन साम्राज्यों का एक अङ्ग बन कर रही।

गुप्त साम्राज्य में काशी

मौर्य और शुङ्ग युग से निकल कर काशी जब गुप्त साम्राज्य के स्वर्ण युग में प्रवेश करती है उस समय सच मुच यह नगरी "स्वर्णपुरी" का रूप धारण कर लेती है। इस स्वर्ण युग में जीवन रस से छलछलाती हुई, सब पूर्ण संस्कृति के साथ साथ संस्कृत भाषा और साहित्य का चरम उत्कर्ष सामने दिखाई देने लगा। "काशिका" की रचना उसी युग की देन है जिसके कारण काशी के विद्वानों में पाणिनीय व्याकरण का पठन-पाठन और पनप गया।

डॉ वासुदेव शरण लिखते हैं कि—"लेकिन काशी जैसे शिक्षा केन्द्र ने जिस क्षेत्र में सबसे अधिक उन्नति की। वह वेदों का अध्ययन और अध्यापन था। इस विषय की जानकारी देने वाली वो मोहरें राजघाट की खुदाई में प्राप्त हुई हैं व भारतीय शिक्षा के इतिहास में बेजोड़ हैं। इन मुद्राओं की रचना काशी के कल्पनाशील कलाकारों की प्रतिभा का नमूना है। इन मुद्रा पर एक आश्रम का चित्र अङ्कित किया हुआ है। उसके मध्य में जटाधारी आचार्य खड़े हैं और अपने हाथ के कमण्डलु से वृक्षों को सींच रहे हैं। दोनों ओर ब्रह्मचारी मान मुद्रा में खड़े हुए हैं यही काशी का आदर्शन लक्ष्य था।"

"इस युग में काशी के अन्तर्गत ऋग्वेद की शिक्षा के लिए "ऋग्वेदचरण" कृष्ण यजुर्वेद की शिक्षा के लिए "चरक चरण" सामवेद की शिक्षा के लिए "छन्दोग्य चरण" चारों वेदों की शिक्षा के लिए चातुर्विद्य और तीन वेदों की शिक्षा के लिए "त्रिवेद विद्यालय" चलते थे। सम्भवतः "श्री सकल शिव" नामक विद्यालय वेदांगों और शास्त्रों की शिक्षा के लिए था। काशी का जैसा अनुपम उत्कर्ष गुप्तकाल में हुआ वैसा फिर कभी देखने में नहीं आया। धर्म ज्ञान और अर्थ इन तीनों का अपूर्व समन्वय इस युग की काशी में हुआ और नगर के जीवन पर धर्मतीर्थ, मोक्षतीर्थ और अर्थतीर्थ के आदर्शों की स्पष्ट छाप के लिए योजना दी गई। जो आज तक काशी के मनस्वी नागरिकों को अनुप्राणित करती है।"

गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत इस क्षेत्र की काफी उन्नति हुई। सम्राट् हर्षवर्धन के समय में काशी उसके साम्राज्य का एक महत्वपूर्ण अङ्ग थी। इसी समय प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्युएनसांग भारतवर्ष में आया और उसने अपने विवरण में काशी का आँखों देखा वर्णन किया।

ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में कलचुरी राजवंश के राजा कर्णदेव ने काशी को विजय किया। इस राजा को प्रबन्ध चिन्तामणि ग्रन्थ में 'काशिराज' नाम से सम्बोधित किया गया है। इस राजा ने काशी में "कर्णमेरु" के मन्दिर का निर्माण करवाया। इसी शताब्दी में बंगाल के पाल वंशीय राजा महीपाल ने भी (संवत् १०८३) काशी में कई मन्दिरों का निर्माण करवाया और धर्मचक्र का जीर्णोद्धार करवाया।

गाहड़वाल राजवंश

ईसा की बारहवीं सदी में कान्यकुब्ज (कन्नौज) में गाहड़वाल वंश के राजा चन्द्रदेव ने प्रतिहारों की सत्ता समाप्त करके गाहड़वाल-राजवंश का सूत्रपात किया।

गाहड़वाल राजवंश का काशी से बहुत निकटवर्ती सम्बन्ध रहा। रायबहादुर चिंतामणि वैद्य तथा अन्य कई इतिहासकारों के मत से गाहड़वाल राजाओं ने कन्नौज के साथ साथ काशी को भी अपनी दूसरी राजधानी बनाया। मगर डॉ मोतीचन्द ने अपने काशी के इतिहास में "काशी को ही गाहड़वाल राजवंश की प्रधान राजधानी माना है। फारसी के इतिहासकारों ने भी गाहड़वाल राजाओं को काशी के राजा नाम से ही लिखा है।

गाहड़वाल राजवंश में चन्द्रदेव के पश्चात् मदन-पाल और उसके बाद गोविन्दचन्द्र बहुत प्रतापी हुए। गोविन्दचन्द्र का विवाह पीठिका के द्विजेन्द्र-वंशीय राजा देवरक्षित की पुत्री कुमारदेवी से हुआ था। कुमारदेवी बौद्धधर्म की मानने वाली थी। गोविन्दचन्द्र के समय के चालीस पत्र मिले हैं जिनमें पन्द्रह पत्र केवल बनारस के हैं। गाहड़वाल युग में बनारस की धार्मिक वैदिक, इत्यादि सभी प्रकार की सर्वाङ्गीण उन्नति हुई इस युग में कई मन्दिरों का भी निर्माण हुआ।

मुसलमानी आक्रमण

गाहड़वाल वंश के राजा जयचन्द्र के समय में काशी पर शहाबुद्दीन गोरी का भीषण आक्रमण हुआ। सन् ११९१ में शहाबुद्दीन गोरी ने पोरस्कार पर हमला की थी।

बदायूँ में शाहबुद्दीन राजा जयचन्द को पूर्ण रूप से पराजय कर दिया और उसकी राजधानी काशी में पहुंच कर उसे बुरी तरह लूटा, देव मन्दिरों को तोड़ा और लूट का सामान १४ ऊँटों पर लादकर ले गया।

गौरी के बाद दिल्ली के तख्त पर गुलामवंश आसीन हुआ। गुलाम वंश के सम्राटों ने बनारस में तोड़े हुए हिन्दू मन्दिरों के अमले से कई मसजिदें बनवाई। इनमें राजघाट से हनुमानफाटक की सड़क पर अढ़ाई कंगूरेवाली मसजिद प्रधान है। इस मसजिद का गुम्बज दर्शनीय है। इसका निचला भाग हिन्दू मन्दिरों के अमले से बना है। इस मसजिद के दूसरे मंजिल पर सन् ११६ का एक संस्कृत लेख लगा है जिसमें कुछ मन्दिरों और इमारतों के बनने का उल्लेख है।

चौखम्भा मुहल्ले की चौबीस खम्भेवाली मसजिद भी सम्भवतः इसी युग की बनी हुई है। इसी प्रकार राजघाट की मसजिद और बकरियाकुण्ड के पास की मसजिद भी इसी युग की अर्थात् तेरहवीं सदी के आरम्भ की बनी हुई मालूम होती है।

गुलामवंश के बाद बलबन वंश और उसके बाद खिलजी वंश दिल्ली के राजसिंहासन पर आया। खिलजी वंश में अलाउद्दीन बड़ा प्रतापी राजा हुआ। इसने हिन्दू धर्म को मटियामेट करने का पूरा प्रयत्न किया, मगर इसका ज्यादा जोर दक्षिण की तरफ ही रहा। बनारस इसकी चपेट से बच गया। इस युग में अर्थात् सन् १२९६ में पद्मेश्वर नामक व्यक्ति ने विश्वनाथ मन्दिर के सामने पद्मेश्वर का एक मन्दिर बनवाया और दूसरे वीरेश्वर नामक व्यक्ति ने मणिकर्णिकेश्वर का मन्दिर बनवाया। इससे मालूम होता है कि अलाउद्दीन के युग में काशी में नये मन्दिरों का निर्माण भी होने लगा था।

खिलजी वंश के बाद तुगलक वंश दिल्ली के राजसिंहासन पर आया। इस वंश के प्रसिद्ध राजा मुहम्मद तुगलक के समय में जिनप्रभसूरि नामक एक प्रसिद्ध जैनाचार्य हुए। इन जैनाचार्य का मुहम्मद तुगलक पर काफी प्रभाव था। इन्होंने "विविध तीर्थकल्प" नामक एक ग्रन्थ लिखा। जिसमें सम्पूर्ण भारत के जैन तीर्थों का वर्णन है। इस ग्रन्थ में काशी का भी बड़े विस्तार से बयान हुआ है।

इस ग्रन्थ के अनुसार उस समय बनारस चार भागों में विभक्त था। (१) देववाराणसी जिसमें विश्वनाथ का मन्दिर बना हुआ था इस देववाराणसी में जैनचतुर्विंशति पट्ट की उस समय भी पूजा होती थी (२) राजधानी वाराणसी इसमें यवन राजकर्मचारी लोग रहते थे। (३) मदन वाराणसी और (४) विजय वाराणसी। आचार्य लिखते हैं कि इस नगरी में लौकिक तीर्थों की गणना करने में कौन समर्थ हो सकता है।

इससे पता चलता है कि चारों ओर मुसलमानी अत्याचार होने पर भी चौदहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में काशी में सैकड़ों मन्दिर बने हुए थे और यहाँ की धार्मिक प्रतिष्ठा पहले ही की तरह सारे भारत में फैल रही थी। सम्राट् अलतमश के समय में विश्वनाथ मन्दिर का भी फिर से निर्माण हो गया था।

मुगल साम्राज्य में काशी

मुगल साम्राज्य के समय में शाहजहाँ और औरंगजेब के पहले तक बनारस में शान्ति रही। अकबर की धार्मिक उदारता और टोडरमल तथा राजा मानसिंह के प्रयत्नों से बनारस फिर चमक उठा। सम्राट् अकबर के राजत्वकाल में राल्फफिच नामक एक अंगरेज यात्री सन् १५८३ में बनारस आया था। इसने तत्कालीन बनारस का अच्छा चित्र खींचा है। इससे मालूम होता है कि बनारस के लोग उस समय सुखी और समृद्ध थे। यह शहर उस समय बंगाल के व्यापार का बड़ा केन्द्र था और यहाँ के बने हुए कपड़े बड़े प्रसिद्ध थे। इसी समय में राजा टोडरमल के प्रयत्न से काशी में विश्वनाथ मन्दिर का पुनर्निर्माण हुआ।

सन् १६२७ में बादशाह शाहजहाँ गद्दी पर बैठा। यह एक कट्टर मुसलमान था। उसके गद्दीनशीन होने के कुछ समय पश्चात् इस्लाम के धर्माधिकारियों ने सम्राट् के सामने काशी के विरुद्ध कान भरना प्रारम्भ किया। सम्राट् को बतलाया गया कि जहाँगीर के राज्य में बनारस बुत परस्तों का प्रधान अड्डा बन गया है और बुतपरस्त लोग वहाँ सैकड़ों नये मन्दिरों का निर्माण करवा रहे हैं।

तब सन् १६३२ ई० में एक बादशाही हुक्म जारी हुआ कि बनारस में या साम्राज्य में और भी दूसरी जगह जितने अधबने मन्दिर हैं उन्हें तोड़ दिया जाय। इस

आदेश के अनुसार अकेले बनारस जिले में ७६ प्रमुख मन्दिर तोड़े गये।

सन् १६५८ में बादशाह औरंगजेब दिल्ली की गद्दी पर आया। औरंगजेब इस्लाम धर्म का कट्टर अनुयायी था। इसने गद्दीपर अपने पैर मजबूत होते ही हिन्दू-मन्दिरों के खिलाफ सन् १६६९ में एक आदेश निकाला जिसमें सब सूबेदारों को आदेश दिया कि—"वे अपनी इच्छा से काफिरों के तमाम मन्दिरों और पाठशालाओं को गिरा दें और इस प्रकार की मूर्तिपूजा सम्बन्धी शास्त्रों का पठन-पाठन और मूर्तिपूजा को बन्द कर दें।"

दो सितम्बर सन् १६६९ को इस आज्ञा के अनुसार औरंगजेब के अधिकारियों ने विश्वनाथ मन्दिर को गिरा दिया और उसके ऊपर ज्ञानवापी की मसजिद उठा दी गई।

इसी लपेटे में बिन्दुमाधव का मन्दिर भी आ गया और बिन्दु माधव के मन्दिर को तोड़ कर वहां भी मसजिद बनवायी गई। बिन्दुमाधव का मन्दिर पंचगंगा से राम घाट तक फैला हुआ था और इसके अहाते में राम और लक्ष्मण गौरी के मन्दिर और पुजारियों के मकान बने हुए थे। इन सबको तोड़ कर इनकी जगह एक बहुत ऊंची धरहरों वाली मसजिद बनाई गई।

रुस्तम अली

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् काशी के इतिहास में मीररुस्तम अली का नाम विशेष उल्लेखनीय माना जाता है। सन् १७२२ ई० में इन्होंने ८ लाख रुपये साल पर बनारस का बन्दोबस्त अपने हाथ में ले लिया। मीररुस्तम अली बड़े ही शौकीन मिजाज के व्यक्ति थे। बनारस का प्रसिद्ध 'बुढ़वा मंगल' का मेला इन्होंने ही चलाया ऐसा माना जाता है। कुछ लोग इस मेले को चेतसिंह का चलाया हुआ मानते हैं।

इसके बाद बनारस के इतिहास में बनारस राज्य के संस्थापक मनसाराम का नाम आता है। मनसाराम रुस्तम अली की नौकरी में थे। इनके पिता का नाम मनोरंजन सिंह था। मनसाराम की राजनैतिक बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण और दूरदर्शी थी और राजनैतिक महत्वाकांक्षा इनमें शुरू से ही थी। इन्होंने रुस्तम अली के खिलाफ षड्यन्त्र करके और रुस्तम अली की मालगुजारी से चार लाख रुपये अधिक मालगुजारी देना कबूल करके मुहम्मदशाह के जरिये बनारस की जमींदारी की 'सनद' लिखवा ली। सनद लिखवाने के कुछ समय पश्चात ही मनसाराम की मृत्यु हो गयी और उनकी गद्दी पर 'बलवन्तसिंह' बैठे।

बलवन्त सिंह

गद्दी पर बैठते ही बलवन्तसिंह ने ११७००० रुपये मुहम्मद शाह को नजराना भेजकर उससे 'राजा' का खिताब और जरवार वगैरह तीन और मौजों की जमींदारी अपने नाम करवाली। बलवन्त सिंह भी बहुत साहसी और महत्वाकांक्षी पुरुष थे।

जब नवाब सफदर जंग किसी लड़ाई के सिलसिले में दिल्ली गये, तब उनके तहसीलदारों को बलवन्त सिंह ने अपने क्षेत्रों से निकाल दिये और इलाहाबाद के सरकारी आमलदार अलीकुली खाँ को परास्त कर के उसके कुछ परगने दबा लिये।

सन् १७५४ ई० में इन्होंने गंगापुर की गढ़ी को सुरक्षित न समझ कर रामनगर का किला बनवाया। नवाब सफदर जंग की मृत्यु होने के बाद नवाब शुजा उद्दौला के समय में बलिवन्त सिंह ने चुनार को जीतने का प्रयत्न किया मगर इसमें उन्हें सफलता नहीं हुई।

सन् १७५७ ई० में इन्होंने गाजीपुर सरकार पर अधिकार कर लिया।

बक्सर की लड़ाई में बलवन्त सिंह नवाब की तरफ से ७ हजार सेना लेकर गये थे, मगर वहाँपर उन्होंने लड़ाई नहीं की। बक्सर के युद्ध के बाद वह लौट आये और लतीफपुर चले गये। इन्होंने १ वर्षों तक शासन किया और अपने सुदीर्घ शासन-काल में अपने साहस नीति निपुणता और चतुरता से १९ परगनों को अधिकृत कर बनारस गाजीपुर, जौनपुर और चुनार की चार सरकारों का एक विशाल राज्य बना लिया।

सन् १७७० ई० में राजा बलिवन्त सिंह की मृत्यु हो गयी।

चेतसिंह

राजा बलिवन्त सिंह के पश्चात् चेतसिंह बनारस की गद्दीपर बैठे। उस समय वारन हेस्टिंग्स कलकत्ते का गवर्नर जनरल था और मि० फौक बनारस के रेजिडेन्ट थे। उस

समय कलकत्ते के ऊँचे राजकीय क्षेत्र में हेस्टिंग्स और फ्रान्सिस के बीच गहरे मतभेद चल रहे थे। बनारस के रेजिडेण्ट मि० फौक फ्रांसिस के सहायक थे और वारन हेस्टिंग्स के खिलाफ षड्यन्त्र कर रहे थे। समझा जाता है कि चेतसिंह ने भी वारनहेस्टिंग्स के विरुद्ध मि० फौक और फ्रांसिस का साथ दिया जिससे वारन हेस्टिंग्स चेतसिंह का सख्त दुश्मन हो गया।

अवसर आते ही हेस्टिंग्स ने बनारस के रेजिडेण्ट मि० फौक को हटाकर उसके स्थान पर टॉमस ग्रेहम की नियुक्ति बनारस के रेजिडेण्ट की जगह कर दी।

इसके बाद वारन हेस्टिंग्स ने चेतसिंह को तंग करना शुरू किया। सन् १७७८ में चेतसिंह से निश्चित करके अलावा पाँच लाख रुपये और माँगे गये। दूसरे साल इन पाँच लाख रुपया के अतिरिक्त लड़ाई के लिए २ हजार घुड़सवार भी माँगे गये।

हेस्टिंग्स के इस व्यवहार से चेतसिंह अत्यन्त दुःखी हुआ। उसने हेस्टिंग्स को समझाने के सभी नम्रतापूर्ण प्रयत्न किये और इस भारी टैक्स को कम करने का निवेदन किया।

मगर हेस्टिंग्स टस से मस न हुआ और इस टैक्स को वसूल करने के लिए ४ तैलंगाना बटालियनों के साथ स्वयं बनारस आ पहुँचा।

उसके बाद हेस्टिंग्स और चेतसिंह की फौजों में भयंकर लड़ाई हुई। एक बार हेस्टिंग्स की सेनाओं को चेतसिंह की फौजों ने करारी पराजय देकर भगा भी दिया और उसके हाथ से सिपाहियों को मार भी डाला। मगर अन्त में चेतसिंह को बलभद्र गंगा में कूदकर भागना पड़ा।

चेतसिंह के स्थान पर वारन हेस्टिंग्स ने बरिबण्ड सिंह के नाती महीपनारायण सिंह को गद्दी पर बैठाया। उनके दीवानी और फौजदारी के अधिकारों को छीन लिया गया और उनका सालाना टैक्स बढ़ा कर चालीस लाख रुपया कर दिया गया। इसी समय बनारस अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया और राजाओं की गद्दी रामनगर में स्थापित हुई।

महीपनारायण सिंह के पश्चात बनारस की राजगद्दी पर इस राजवंश के उदितनारायण सिंह, ईश्वरी नारायण सिंह, प्रभुनारायण सिंह और आदित्यनारायण सिंह और विभूतिनारायण सिंह क्रमशः आसीन हुए। विभूतिनारायण सिंह के समय में इस स्टेट का उत्तर प्रदेश में विलीनीकरण हो गया।

वारेन हेस्टिंग्स के शासन में काशी

काशी को ब्रिटिश शासन या कम्पनी के शासन में मिला लेने के बाद गवर्नर जनरल वॉरेन हेस्टिंग्स ने शहर में दीवानी और फौजदारी अदालतें कायम करवाई और शहर की सुरक्षा का प्रबन्ध भी किया जो प्रायः अठारहवीं सदी की अराजकता में नष्ट हो गया था और चारों तरफ गुण्डे बदमाशों का जोर बढ़ गया था। सन् १७८१ में वॉरेन हेस्टिंग्स ने एक हुक्मनामा जारी किया जिसका आशय इस प्रकार है :—

'सभी बड़े-बड़े नगरों और जिलों का यह रिवाज है कि नगर निवासियों के जान और माल की सुरक्षा के लिए अधिकार पूर्ण व्यवस्था की जाय। पर अभी तक बनारस के लोगों के लिए ऐसी व्यवस्था नहीं बनी है। हालां कि यहाँ पर सारे हिन्दुस्तान से यात्री लोग आते हैं और सारा हिन्दू समाज इस नगर को श्रद्धा की निगाह से देखता है। इस लिए यह आवश्यक है कि बनारस की सुरक्षा का प्रबन्ध किया जाय। इसलिए सपरिषद् गवर्नर जनरल अपनी तथा कम्पनी के अधिकार से यह आदेश देते हैं —

बनारस के नागरिकों की रक्षा या व्यवस्था के लिए एक ऐसे अधिकार सम्पन्न व्यक्ति की नियुक्ति की जाय जिसका बनारस के निवासियों और तीर्थवासियों पर पूरा अधिकार हो। इस पद के अधिकारी को 'हाकिम'' कहा जायेगा।'

हाकिम की आज्ञाओं को दाद देने के लिए तीन अधिकारी नियुक्त किये जायेंगे। इन तीन अधिकारियों के जिम्मे तीन विभाग रहेंगे। ये तीन अधिकारी (१) शहर कोतवाल (२) फौजदारी अदालत का दारोगा और (३) दीवानी अदालत का दारोगा होंगे।

(१) शहर कोतवाल का कर्तव्य होगा कि वह खून खराबी डाका चोरी तथा शान्ति भंग करने वालों को पकड़ कर फौजदारी अदालत के सामने पेश करे। उसे यह भी अधिकार होगा कि वह गुण्डों को दंगा फसाद और हत्या करने से रोके। तथा ऐसे लोगों को बीस कोड़े लगाने तक की सजा दे सके। कोतवाल तथा उसके सहायकों की नियुक्ति तथा बरखास्तगी का अधिकार हाकिम को होगा और वह हाकिम का तावेदार समझा जायेगा।

२—फौजदारी अदालत में एक दारोगा और तीन विद्वान मौलवी रहेंगे। इन्हें फौजदारी कानून की जानकारी होना आवश्यक है। हर एक मुकदमे की जाँच करके उसका फतवा या फैसला वे हाकिम के पास भेजेंगे और हाकिम उस पर दस्तखत करके वापस इन्हें लौटा देगा ताकि वे उस फैसले पर अमल करें। ये लोग भी कोतवाल की तरह हाकिम के तावेदार रहेंगे।

३—दीवानी अदालत में एक दारोगा और तीन मुन्सिफ रहेंगे। यह अदालत लेन देन, खरीद, बेच, विवाह उत्तराधिकार आदि दीवानी मामलों का निर्णय हिन्दुओं के लिए हिन्दू कानून के अनुसार और मुसलमानों के लिए इस्लामी कानून के अनुसार करेगी। हिन्दू कानून की जानकारी के लिए दो हिन्दू पण्डित और इस्लामी कानून की जानकारी के लिए मौलवी इनकी सहायता के लिए रहेंगे।

इस हुक्म के अनुसार "अली इब्राहीम खां" मशहूर सन् १७८१ में काशी नगर के पहले हाकिम बनाये गये। और मिर्जा वाकेबेग खां शहर के पहले कोतवाल नियुक्त हुए। आगे चलकर आधुनिक काल में कोतवाल राधेश्याम शर्मा ने काशी की गुण्डागिरी को समाप्त करने में बड़ा नाम कमाया।

हेस्टिंग्स के सुधारों के पश्चात् सन् १७८७ में जोनेथन डंकन बनारस के रेजिडेण्ट होकर आये। इनकी रेजिडेण्टी के समय में बनारस में अनेक प्रकार के सुधार हुए। अपनी कार्य कुशलता और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार के कारण वे सारी जनता में "बड़े भाई" के नाम से मशहूर हो गये।

सन् १७९७ में मि० डंकन चले गये और उनके जाते ही बनारस में फिर विद्रोह की आग सुलग उठी। इस विद्रोह के नेता अवध के पदच्युत नवाब वजीर अली थे। अंग्रेज सरकार ने इन्हें अवध की नवाबी से पदच्युत करके सआदत अली को अवध का नवाब बना दिया था। इससे वे अंग्रेजों के बड़े विरुद्ध हो गये थे और उनकी सत्ता को उखाड़ने का षड्यंत्र करते रहते थे। तब अंग्रेज सरकार ने इन्हें काशी से हटाकर कलकत्ता भेजने का निश्चय किया। वजीर अली को जब यह मालूम पड़ा तो वे २ हथियार बन्द सिपाहियों को लेकर रेजिडेण्ट "चेरी" के बंगले पर उनसे मुलाकात करने का बहाना करके पहुँचे और वहां उन्होंने रेजिडेण्ट चेरी और उनके सेक्रेटरी इवान्स को मार डाला और उसके बाद ही जिलाधीश डेविस के बंगले पर हमला कर दिया। किसी प्रकार डेविस और उनके परिवार की जान बची। अन्त में अंगरेजी फौज के आने पर वजीर अली बनारस से भाग गये। उनके बहुत से साथी मार डाले गये या पकड़े गये और किसी प्रकार यह विद्रोह शान्त हुआ। बाद में वजीर अली पकड़े गये और उन्हें पहले फोर्ट विलियम कलकत्ता में और बाद में वेल्लोर में रक्खा गया। वहीं उनकी मृत्यु हुई।

काशी में दूसरा विद्रोह सन् १८ ९ में हिन्दू मुसलमानों के दंगे के रूप में हुआ। यह दंगा ज्ञानवापी की मसजिद को लेकर उठा और अन्त में बढ़ते-बढ़ते सारे नगर में फैल गया। मुसलमानों ने लाटभैरों और औरंगजेब की बनाई मसजिद के बीच वाले चालीस फुट ऊँचे एक स्तम्भ को तोड़ डाला और लाटभैरों के मन्दिर को अपवित्र करने के लिए वहाँ एक गाय की हत्या कर डाली।

फिर तो हिन्दुओं का पारा एकदम तेजी पर आ गया। उन्होंने जहाँ मुसलमान मिला उसको मारा, जहाँ मसजिद देखी उसको तोड़ी और जलाई और आग लगाना आरम्भ कर दी और पचासों मसजिदों को जमींदोज कर दिया। सारे शहर में आग लगी हुई थी। कई बाजार जल रहे थे और जुलाहों के मुहल्ले की तो मिट्टी पलीद हो चुकी थी। उस समय यहाँ के मजिस्ट्रेट मि० बर्ड थे। उन्होंने बड़ी कठिनाई से स्थिति पर काबू किया मगर उसके पहले इस दंगे की आग में सैकड़ों व्यक्ति मारे जा चुके थे।

इसके बाद सन् १८५२ में काशी में नागरों का बलवा हुआ। उस समय बनारस के कलक्टर मि० गबिन्स थे। इस विद्रोह में भी बहुत लोगों की जानें गयी। यह विद्रोह १ अगस्त से ५ अगस्त तक पूरे पाँच दिन चलता रहा।

उसके बाद सन् १८५७ के गदर की लहर भी बनारस में आई। थोड़े बहुत उपद्रव भी हुए। मगर अन्त में इन सब चीजों पर काबू पा लिया गया और बनारस इस विद्रोह की विभीषिका से बड़ी आसानी से बच गया।

सन् १८५७ के बाद सारे देश की तरह बनारस में भी अंगरेजी सल्तनत के पंजे मजबूती से जम गये और यहाँ शान्ति स्थापित हो गई। यहाँ की कला और वाणिज्य भी उन्नति करने लगे और यहाँ की देव पूजा और यात्रा भी खूब ठाट से चलने लगी।

काशी के मन्दिर

काशी के मन्दिर और देवालयों का इतिहास बड़ा अद्भुत और विचित्र है। कितनी बार ये तोड़ दिये गये कितनी बार इनके सामानों से बड़ी-बड़ी मसजिदें तैयार कर दी गई। मगर फिर फिर कर ये ज्यों के त्यों हो गये। आक्रमणकारियों ने जितनी शीघ्रता से इन्हें तोड़ा, भक्तों ने उससे अधिक शीघ्रता से फिर बना डाला। अभिमानी आक्रमणकारी समय की ठोकरों से चूर-चूर हो गये। उनके साम्राज्य भी समाप्त हो गये। मगर काशी के घण्टे और घड़ियाल आज भी उसी शान के साथ बज रहे हैं जिस शान से प्राचीन काल में बजते थे। आज भी छोटे बड़े हजारों मन्दिर काशी की गली-गली में बने हुए भक्त लोगों की निष्ठा का परिचय दे रहे हैं।

श्री विश्वनाथ मन्दिर

काशी के धर्म स्थानों में सबसे महत्वपूर्ण घटक श्री विश्वनाथ का मन्दिर है। यही बाबा विश्वनाथ सारे भारत की हिन्दू जाति का आकर्षण बिन्दु है। सन् ११९४ में मुसलमानों के आक्रमण में जब काशी के सब मन्दिरों को भूमिसात कर दिया तो उस चपेट में विश्वनाथ का मन्दिर भी ध्वस्त हो गया। मगर सम्राट अल्तमश के समय में यह मन्दिर फिर से बनाया गया और इसकी पूजा के लिए गुजरात के प्रसिद्ध सेठ वस्तुपाल ने एक लाख रुपया भेजा।

उसके बाद सम्राट अकबर के साम्राज्य काल में बनारस में फिर विश्वनाथ की स्थापना हुई और मानसिंह तथा टोडरमल के प्रयत्नों से इस नगरी को नया जीवन मिला।

औरंगजेब के समय में विश्वनाथ मन्दिर पर फिर मौखा विपत्ति आई और बनारस के तीन प्रसिद्ध मन्दिर विश्वनाथ मन्दिर कृत्तिवासेश्वर मन्दिर और बिन्दु माधव मन्दिर तोड़कर मसजिदों में बदल दिये गये।

इसके १२५ वर्ष बाद सन् १७८५ के करीब इन्दौर की महारानी अहिल्या बाई ने विश्वनाथ मन्दिर का फिर से निर्माण कराया। जो इस समय विद्यमान है। वारन हेस्टिंग्ज की आज्ञा से इस पर नौबत खाना बनवाया गया और महाराजा रणजीत सिंह ने इसके शिखर पर सोना चढ़वाया। ज्ञानवापी का मण्डप सन् १८२८ में बायजाबाई सिन्धिया ने बनवाया। इसी प्रकार अठारहवीं सदी में काशी नगरी के उत्थान में मराठों ने भी बहुत योग दिया। उन्होंने यहाँ पर बहुत से मन्दिरों का निर्माण किया।

विश्वनाथ मन्दिर के अतिरिक्त

बनारस के मन्दिरों में संकट मोचन हनुमान का मन्दिर, संकठा देवी का मन्दिर, अन्नपूर्णा का मन्दिर, दुर्गा मन्दिर, केदारनाथ मन्दिर इत्यादि मन्दिर बहुत प्रसिद्ध हैं जहाँ हजारों दर्शनार्थी जाते रहते हैं।

हिन्दुस्तान में पूजित अनेकानेक देवीदेवताओं के मन्दिर आपको बनारस में देखने को मिलेंगे। यहाँ तक कि वेश्याओं की देवी 'मेनका' का मन्दिर भी यहाँ पर देखने को मिलेगा। जहाँ साल भर में एक बार बनारस की समस्त वेश्याएँ संगीत और नृत्य के रूप में अपनी श्रद्धाञ्जलि देवी मेनका को अर्पित करती हैं।

मन्दिरों का ऐसा जमघट हिन्दुस्तान में कहीं अन्यत्र देखने को नहीं मिलेगा। इस नगरी में छोटे-बड़े करीब १५ मन्दिर बने हुए हैं। लार्ड बकिंघम नामक अंगरेज ने यहाँ के मन्दिरों का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

'गंगा के किनारे असंख्य छोटे बड़े मन्दिर हैं। जिनमें बहुत से तो पानी तक चले आए हैं। ये मन्दिर एक सा पत्थर के इतने मजबूत बने हुए हैं कि बाढ़ के समय गंगा की तीव्र धारा का भली प्रकार मुकाबिला कर सकते हैं। कुछ मंदिर तो रंग और सुनहले काम से सुसज्जित हैं और कुछ सादे ही बने हुए हैं।

घाट और अखाड़े

गंगा के किनारे अर्द्धाकार रूप में बने हुए मेंगीरद घाट काशी की अपूर्व शोभा है।

बनारस के घाटों का वर्णन करते हुए डा० मोतीचन्द काशी के इतिहास में लिखते हैं—

'सन् १८१२ तक बनारस के अधिकतर घाट बनकर तैयार हो चुके थे। यदि हम असपुरा से गंगा के बहाव के साथ साथ नाव पर चलें तो सबसे पहले हमें अस्सी घाट और मात्रा मिलता है। इसके बाद कई अखाड़े हैं। जिनमें बड़े गूदड़ जी का अखाड़ा जो रीवां वालों की तरफ से चलता था और छोटे गूदड़ जी का अखाड़ा प्रधान थे। ये दोनों अखाड़े अठारहवीं सदी में कायम हुए थे। इनके अतिरिक्त दिगम्बरी अखाड़ा, वेद अखाड़ा पण्डितजी का अखाड़ा और निष्णुपथी अखाड़ा तथा रामपंथी अखाड़ा भी यहाँ पर है।

अस्सी से आगे बढ़ने पर तुलसी घाट मिलता है जहाँ सन् १६२३ में *महाकवि तुलसीदास की मृत्यु हुई।* तुलसी घाट के आगे हनुमान घाट पड़ता है। इसी घाट के ऊपर एक मकान में श्री वल्लभाचार्य रहते थे। इसके बाद शिवाला घाट है जहाँ निरंजनियों और निर्वाणियों के अखाड़े हैं। इसके बाद राय बलदेव सहाय और बच्छराज के घाट पड़ते हैं। बलदेव सहाय के घाट को अब आनन्दमयी घाट कहते हैं।

खिड़की घाट के पहले सुप्रसिद्ध हरिश्चन्द्र घाट बना हुआ है। जनश्रुति के अनुसार सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र ने इसी स्थान पर डोम की नौकरी की थी। उस डोम का वंश अभी भी इस घाट पर रहता है। इस घाट पर श्मशान भी बना हुआ है।

इसके बाद खिड़की घाट पड़ता है, जो राजा परिक्षत सिंह के इंजीनियर वैजनाथ मिश्र ने बनवाया था और जहाँ से गंगा में कूद कर चेतसिंह भागे थे। इसके बाद केदार घाट, चौकी घाट मानस घाट, अमृतराव घाट गंगा महल भुवनेश्वर, पाँडे घाट, चौसट्टी घाट राना घाट और मुन्शी घाट पड़ते हैं।

इसके बाद दशाश्वमेध घाट पड़ता है यह घाट काशी के पाँच प्रधान घाटों में से एक है। दशाश्वमेध घाट से मिला हुआ अहिल्या बाई का घाट है।

इसके बाद मान मन्दिर घाट पड़ता है जो आमेर के राजा मानसिंह ने यात्रियों को ठहरने के लिए बनाया था। आगे चलकर उन्हीं के वंश के सवाई जयसिंह द्वितीय ने एक प्रसिद्ध वेधशाला का इस घाट पर निर्माण करवाया। इस वेधशाला का नक्शा समरथ जगन्नाथ नाम के जयसिंह के एक ज्योतिषी ने बनाया था।

मान मन्दिर के बाद मीरघाट पड़ता है। इससे पहले जरासन्ध घाट कहते थे। इसके बाद दत्तात्रेयगिरि घाट और उसके बाद जलसाई अर्थात् श्मशान घाट पड़ता है।

मणिकर्णिका घाट काशी का बहुत प्राचीन तीर्थ है। इसका उल्लेख शास्त्रों सभी में भी मिलता है। इस घाट पर राजा दिग्भङ्गा की ओर से एक धर्मशाला बनी है जिसमें आसन्न मृत्यु मनुष्यों को मुक्ति प्राप्ति के लिए लाकर रक्खा जाता है।

मणिकर्णिका के बाद वीरेश्वर घाट, सिंधिया घाट संकठा घाट और भौंसला घाट बने हुए हैं। भौंसला घाट पर नागपुर के राजा ने नरनारायण का मन्दिर उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में बनवाया था।

भौंसला घाट के बाद गणेश्वर घाट रामघाट, मङ्गला-गौरी घाट और वसन्त घाट पड़ते हैं।

पंचगंगा घाट पर हिन्दुओं के विश्वास के अनुसार गंगा धूतपापा कीर्णनन्दा, किरणा और सरस्वती ये पाँच नदियाँ आकर मिलती हैं और इसलिए यह काशी का मुख्य तीर्थ माना जाता है। इस घाट को श्रीधरराव नामक एक महाराष्ट्रियन ब्राह्मण ने बनवाया था।

पंचगंगा के बाद ब्रह्माघाट और दुर्गाघाट का निर्माण सन् १७०४ में नारायण दीक्षित आमगाँव करके करवाया। इन घाटों के बाद रामसन्दिर घाट, लालघाट, गायघाट, त्रिलोचन घाट, महूघाट तेलियानाला महादेवघाट और राजघाट पड़ते हैं।

बनारस के सन्त महात्मा और साहित्यकार

हम ऊपर लिख आये हैं कि काशी का वास्तविक महत्व यहाँ के राजनेताओं की वजह से उतना नहीं जितना यहाँ के धर्म नेताओं सन्तों साहित्यकारों और महात्माओं की वजह से रहा है। इसका महत्व एक राजक्षेत्र की तरह नहीं एक धर्म क्षेत्र और एक सांस्कृतिक क्षेत्र की तरह है।

इस सम्बन्ध में यह नगरी हमेशा भाग्यशाली और सम्पन्न रही है। प्राचीन युग में जैनधर्म के तीर्थंकर पार्श्वनाथ और भगवान् बुद्ध के उपदेश से यह नगरी पवित्र हुई। इनका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं।

स्वामी रामानन्द—मध्य काल में स्वामी रामानन्द का नाम काशी के इतिहास में बड़ा महत्व पूर्ण माना जाता है। ये पहले रामानुज सम्प्रदायके थे। परम्पराओं के अनुसार स्वामी रामानन्द का जन्म सन् १२९९ में प्रयाग के एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। बारह बरस की उम्र में ये बनारस आये और वैष्णव संत राघवा चार्य के शिष्य होकर विशिष्टा द्वैतवादी हो गये। मगर छुआछूत, वादविवाद और खानपान की संकीर्णता प्रवृति से ऊब कर रामानन्द रामानुजी सम्प्रदाय से निकल गये और उन्होंने अपना एक स्वतन्त्र मत चलाया और मूढ धार्मिक विरवासों से ऊपर उठकर उन्होंने प्रेम और भक्ति का एक नया रास्ता दिखलाया। उनके शिष्यों में एक ब्राह्मण एक चमार एक राजपूत और एक स्त्री भी थी। जुलाहा वंश के कबीर साहब भी इनके शिष्यों में बतलाये जाते हैं। इन सब फकीरों ने गाँव-गाँव घूमकर अपने मत का प्रचार किया।

कबीर—रामानन्द के सम्प्रदाय में कबीर साहब का बहुत बड़ा स्थान है। कबीर साहब एक महान क्रान्ति कारी सन्त, कवि और सुधारक थे जो खुले शब्दों में सत्यवार ने वाले महात्मा थे। कबीर का पूर्ण परिचय इसी भाग में "कबीर" शीर्षक के नीचे दिया गया है।

वल्लभाचार्य—जिस समय बनारस में कबीर सुधारकों को ललकार रहे थे और निर्गुण प्रेम का पाठ सबको पढा रहे थे। उसी समय काशी में एक नये महात्मा वल्लभाचार्य का अविर्भाव हुआ। वल्लभाचार्य के मातापिता तैलंग ब्राह्मण थे। सन् १४७९ में वल्लभाचार्य का जन्म मध्य प्रदेश में हुआ। उसके बाद वे अपने माता पिता के साथ मथुरा चले गये मगर थोड़े ही समय के बाद पिता का देहान्त हो जाने पर ये बनारस में आकर बस गये। यहीं पर उन्होंने नारायण भट्ट ब्रह्म सूत्र और गीता पर भाष्य लिखे। और एक नवीन सम्प्रदाय की स्थापना की। वल्लभाचार्य के द्वारा प्रचारित मत शुद्धाद्वैत कहलाया। इन्होंने रामानन्द के विशिष्टा द्वैत और शंकराचार्य के मायावाद को अस्वीकृत किया। इनका चलाया हुआ मत पुष्टि मार्ग कहलाया। इसकी प्रधान गद्दी पहले मथुरा में और फिर नाथ द्वारा में स्थापित हुई।

काशी के संतों में तैलंग स्वामी, भंगड़ भिक्षुक और कीनाराम औघड़ का नाम भी बहुत प्रसिद्ध है। कीनाराम औघड़ का काशी में एक अखाड़ा भी बना हुआ है जहाँ पर प्रति वर्ष मेला लगता है। इस मेले में खूब नाच गाना होता है।

नारायण भट्ट—काशी के महान् पण्डितों और विद्वानों में नारायण भट्ट का नाम भी बहुत प्रसिद्ध है। इन्होंने अकबर के काल में टोडरमल की सहायता से विश्वनाथ मन्दिर की पुनः स्थापना की। नारायण भट्ट के पिता मूलतः दक्षिण भारत में पैठन नामक स्थान के निवासी थे। सन् १५१४ में नारायण भट्ट का जन्म हुआ और उसके कुछ समय पश्चात् यह परिवार स्थायी रूप से काशी में आकर बस गया। यह एक आश्चर्य जनक बात है कि इस परिवार के लोग तीन सौ बरस तक बनारस के गण्यमान्य पण्डित रहते आये।

नारायणभट्ट ने काशी में हिन्दू धर्म और संस्कृति के ऊपर भारतीय सिद्धान्तों के निकट हिन्दू संस्कृति और जीवन के दक्षिण भारतीय सिद्धान्तों का प्रति पादन किया। नारायण भट्ट ने भिन्न-भिन्न विषयों पर करीब-करीब बाईस ग्रन्थों का निर्माण किया। जिनमें धर्म प्रवृत्ति प्रयोग रत्न वृत्त रत्नाकर (टीका) इत्यादि रचनायें प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अपने समय के बड़े-बड़े शास्त्रियों को शास्त्रार्थ में पराजित किया।

तुलसीदास—महान कवि तुलसीदास यद्यपि पूर्णरूपेण काशी के निवासी नहीं थे फिर भी काशी से उनका घना सम्बन्ध रहा और उनके जीवन का अन्तिम समय यहीं पर व्यतीत हुआ। ऐसी स्थिति में काशी उनके गौरव से वंचित नहीं रह सकती।

तुलसीदास ने रामचरित मानस में भक्ति और आदर्श की जो धारा बहाई उसने मुगलकालीन भारत में हिन्दू धर्म की रक्षा कर ली। नहीं तो हिन्दू घोर अन्धकार के गड्ढे में बराबर गिरते ही जाते। अनेक अत्याचारों को भोगते हुए भी हिन्दुओं के सामने तुलसीदास के राम का एक ऐसा आदर्श था जो उनके पूरे जीवन में एक भक्ति की लहर दौड़ाकर उन्हें अपने भीतरी और बाहरी कष्टों से मुक्ति

करने के लिए तैयार करता था। रामभक्ति ने कर्मकांड मय हिन्दूधर्म की शुष्कता दूर करके उसमें रसधार बहा दी।

वि सं १६८० में गोस्वामी तुलसीदास का अस्सी घाट पर देहान्त हुआ।

कवीन्द्राचार्य—सत्रहवीं सदी में बनारस के सर्वश्रेष्ठ पंडित कवीन्द्राचार्य सरस्वती थे। ये संस्कृत और हिन्दी दोनों ही भाषाओं के पंडित थे। बादशाह शाहजहाँ ने इन्हें 'सर्व विद्या निधान' की पदवी से और काशी के पंडितों ने 'कवीन्द्र' की पदवी से अलंकृत किया था। इनकी प्रसिद्ध रचनाओं में 'कवीन्द्र कल्पद्रुम' 'पदचन्द्रिका' 'दशकुमार टीका' इत्यादि उल्लेखनीय है।

रामानन्द त्रिपाठी—पं रामानन्द त्रिपाठी का नाम भी उन विद्वानों में है जिन्होंने अपनी विद्वता और भावुकता से काशी के गौरव को ऊपर उठाया। रामानन्द त्रिपाठी सरयूपारी ब्राह्मण थे और सत्रहवीं सदी के मध्य में काशी में विद्यमान थे। सम्राट् शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह से इनके बहुत अच्छे सम्बन्ध थे और दाराशिकोह की प्रेरणा से इन्होंने 'विराट् विवरण' नामक ग्रन्थ की रचना की। रामानन्द संस्कृत भाषा के प्रतिभाशाली और भावुक कवि थे।

संस्कृत के इन उद्भट विद्वानों के साथ साथ काशी में ब्रज भाषा के भी अच्छे अच्छे कवि हुए। बनारस के राजा उदितनारायण सिंह और ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह का दरबार अच्छे अच्छे कवियों से भरा हुआ रहता था। राजा उदितनारायण सिंह के समय में गोकुलनाथ गोपीनाथ और मणिदेव नामक तीन कवियों ने मिलकर सम्पूर्ण महाभारत का ब्रजभाषा की कविता में २ पृष्ठों में अनुवाद किया। इस ग्रन्थ के निर्माण में पचास वर्ष लगे और काशी नरेश के लाखों रुपये खर्च हुए।

राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द—हिन्दी गद्य का विकास करने और उसको प्रारम्भिक रूप देने में काशी के राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द का नाम अत्यन्त उल्लेखनीय है। राजा शिवप्रसाद अत्यन्त दूरदर्शी दुनिया के उतार चढ़ाव को समझने वाले व्यवहार सिद्ध व्यक्ति थे। इन्होंने हिन्दी गद्य में इतिहास तिमिर नाशक इत्यादि पुस्तकें लिखीं। इनकी भाषा में यद्यपि उर्दू शब्दों की भरमार होती थी। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि हिन्दी के उखड़े हुए पैर जमाने में इनका योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण था।

भारतेंदु हरिश्चन्द्र—मगर हिन्दी गद्य को सर्वांग में आधुनिक रूप देने का श्रेय काशी के भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को है। राजा शिवप्रसाद द्वारा चलाया हुआ उर्दू हिन्दी का यह खिचड़ी रूप भारतेन्दु को पसन्द नहीं आया और उन्होंने संस्कृत की पदावली की ओर झुकता हुआ एक नया रूप हिन्दी भाषा को दिया। इनके द्वारा रचित अनेक हिन्दी रचनाएँ अभी भी हिन्दी के गौरव को बढ़ा रही हैं।

जयशंकरप्रसाद—आधुनिक युग के कवियों और लेखकों में काशी के भी जयशंकर प्रसाद का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये हिन्दी काव्य में छायावाद युग के प्रवर्तकों में माने जाते हैं। इनका 'कामायनी' नामक काव्य हिन्दी साहित्य को छायावाद युग की एक महान् देन है। इसके अतिरिक्त प्राचीन भारत के इतिहास प्रसिद्ध राजाओं पर इन्होंने कई सुन्दर नाटकों की भी रचना की।

बाबू श्यामसुन्दर दास—हिन्दी गद्य साहित्य के विकास में काशी के बाबू श्यामसुन्दर दास का नाम भी नहीं भुलाया जा सकता है। इन्होंने अनेक लेखकों को प्रोत्साहन देकर हिन्दी में लिखने को प्रवृत्त किया। इन्हीं के प्रयत्नों से काशी में नागरी प्रचारिणी सभा भी स्थापना हुई जिसने हिन्दी के प्राचीन और महत्वपूर्ण साहित्य के प्रकाशन में महत्वपूर्ण योग दान दिया।

डॉ भगवान दास—दार्शनिक और तत्वचिंतन के क्षेत्र में अपनी महत्वपूर्ण रचनाएँ अर्पित करने में काशी के डॉ भगवान दास का नाम अमर है। सब तरह से सम्पन्न होते हुए भी डॉ भगवान दास का जीवन ऋषियों की तरह था। उनका मन हमेशा तत्वचिंतन में डूबा रहता था।

बाबू शिवप्रसाद गुप्त—गांधी युग और भारतीय स्वाधीनता के युग में पूर्ण मनोयोग से सहयोग देने वाले और आधुनिक काशी के सांस्कृतिक निर्माण में महत्वपूर्ण

नींव देने वाले बाबू शिवप्रसाद गुप्त भी काशी के आधुनिक इतिहास में एक प्रकाश स्तम्भ की तरह हैं। हिन्दी भाषा में उत्तम साहित्य का प्रकाशन करने के लिए इन्होंने ज्ञान मण्डल प्रकाशन की और हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र को उन्नत करने के लिए बहुत व्यय उठाकर भी इन्होंने 'आज' और 'स्वार्थ' के समान प्रसिद्ध पत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ किया। काशी के सांस्कृतिक क्षेत्र में इन्होंने भारत माता मन्दिर, काशी विद्यापीठ इत्यादि संस्थाओं की स्थापना की। कबीर चौरा का विशाल अस्पताल इन्हीं की स्मृति में चल रहा है।

प्रेमचन्द—उपन्यासों के क्षेत्र में काशी के श्री प्रेमचन्द ने एक नवीन युग का आविर्भाव करके अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की। हिन्दी भाषा में उच्च कोटि के प्रथम उपन्यासकार प्रेमचन्द ही माने जाते हैं। पात्रों के चरित्र चित्रण और मानसिक द्वन्द्व का चित्रण करने में इन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली है।

इसके अतिरिक्त काशी के वैज्ञानिक क्षेत्र में डॉ सम्पूर्णानन्द, समालोचना के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल नाटकों के क्षेत्र में राधाकृष्ण दास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जयशंकर प्रसाद उपन्यासों के क्षेत्र में बाबू देवकीनन्दन खत्री, किशोरी दास बाजपेयी प्रेमचन्द ऐतिहासिक ग्रन्थ निर्माता में डा वासुदेव शरण डॉ भगवतशरण उपाध्याय इत्यादि कोषकारों में बाबू रामचन्द्र वर्मा, सम्पादन के क्षेत्र में बाबूराव विष्णु पराड़कर इत्यादि धुरन्धर व्यक्तियों ने काशी के गौरव को बढ़ाया है।

काशी नागरी प्रचारणी सभा

काशी के गौरव को बढ़ाने और हिन्दी का प्रचार करने में काशी नागरी प्रचारणी सभा की सेवायें भी अत्यन्त बहुमूल्य हैं। हिन्दी भाषा में शब्दकोष वैज्ञानिक कोष भाषा तथा साहित्य का इतिहास प्राचीन दुर्लभ ग्रन्थों का प्रकाशन तथा विश्वकोष के प्रकाशन द्वारा इस सभा ने हिन्दी की महती सेवा की है।

काशी की पत्र-पत्रिकाएँ

काशी में सबसे पहला पत्र राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द के प्रयत्न से सन् १८४५ में 'बनारस अखबार' के नाम से प्रकाशित हुआ। इसके बाद भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के द्वारा 'कवि वचन सुधा' नामक पत्र सन् १८६८ में प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ। इसके बाद भारतेन्दु बाबू ने सन् १८७४ में लड़कियों के लिए 'बालाबोधिनी' पत्रिका और नवयुवकों के लिए 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' निकालना प्रारम्भ किया। इसके पश्चात् 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' काशी पत्रिका इत्यादि प्रकाशित हुए।

सन् १८८४ में बाबू रामकृष्ण वर्मा के सम्पादन में 'भारत जीवन' नामक साप्ताहिक पत्र काशी से प्रकाशित हुआ जो बराबर ४ साल तक चला। सन् १८८४ में 'पीयूष-प्रवाह' पत्रिका पं अम्बिका दत्त व्यास ने निकाली। यह पत्रिका भी काफी लोकप्रिय हुई। इसके बाद 'धर्म सुधावर्षण' 'धर्म प्रचारक' सन् १८९३ में, 'आर्य मित्र' 'गौ सेवक' 'व्यापार हितैषी' 'व्यापारी और कारीगर' सन् १९०८ में वाणिज्य सुधावायक १९११ में 'विनोद-वाटिका' इत्यादि और भी कई पत्र पत्रिकायें प्रकाशित होते रहे। सन् १९०९ में श्री जयशंकर प्रसाद ने सरस्वती के मुकाबले में 'इन्दु' पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इसके सम्पादक अम्बिका प्रसाद गुप्त थे। मगर थोड़े दिन चल कर यह बन्द हो गया।

मगर काशी की सम्पादन कला का वास्तविक विकास बाबू शिवप्रसाद गुप्त के हाथों से हुआ। जब उन्होंने सन् १९२२ से 'आज और स्वार्थ' नामक दैनिक और मासिक पत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ किया। हिन्दी के दैनिक पत्रों में 'आज' एक प्रकाश स्तम्भ की भाँति सिद्ध हुआ। और सुप्रसिद्ध सम्पादकाचार्य बाबूराव विष्णु पराड़कर के सम्पादन में तो यह पत्रकार कला के चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया था।

आज के पश्चात् काशी से 'संसार' 'बनारस गार्जियन' इत्यादि दैनिक पत्र भी इस समय प्रकाशित हो रहे हैं।

काशी की कला

काशी की कला के इतिहास का बीज काल से लेकर ईसा की १२ वीं शताब्दी तक की मिली हुई सामग्रियों से पता चलता है। सारनाथ में मिली हुई कला मूर्तियों व कला की दृष्टि से सुन्दर 'अशोक स्तम्भ का शीर्ष' है। इसका आकार सिंह युक्त कमल की तरह है।

बनारस के राजघाट की गुफाओं में मिली हुई कुछ 'चक्रिय मौर्य-कालीन सभ्यता का प्रदर्शन करती हैं। ऐसा

चाहिए तब शिला, कोसम पाटलीपुत्र और वैशाली की खोदाई में भी मिली है।

कुषाण—युग में बनारस की कला को विशेष प्रोत्साहन मिला और मथुरा की कला के अनुकरण पर यहाँ की कला का विकास हुआ।

सन् १९०५ ई० में श्री ओएरटेल को बुद्ध की एक विशाल मूर्ति मिली। इस मूर्ति का निर्माण ईसवी सन् पूर्व ८१ में हुआ माना जाता है। वह कनिष्क के राज्य का तीसरा वर्ष था। यह मूर्ति मथुरा से बन कर काशी आयी थी। यह भगवान बुद्ध की सब से पहली मूर्ति थी। समझा जाता है कि सम्राट् कनिष्क के पहले बौद्ध धर्म में मूर्तियों का रिवाज नहीं था।

बुद्ध की इस मूर्ति के अनुकरण पर बनारस के कारीगरों ने दूसरी और तीसरी शताब्दी में स्थानीय कला के मेल से एक नवीन मूर्ति कला का सृजन प्रारम्भ किया।

बनारस की इस नवीन मूर्तिकला ने करीब चार सौ वर्षों के निरन्तर चातुर्य के पश्चात् एक अपूर्व रूप ग्रहण किया। डॉ० मोतीचन्द्र के अनुसार 'इस कला में आध्यात्मिकता और लावण्य व्यञ्जना का एक ऐसा व्यापक समन्वय पाया जाता है जैसा और किसी युग की कला में नहीं पाया जाता। गुप्त युग में रूप भेद, प्रमाण भाव, लावण्य और सादृश्य तो कला के गुण हैं ही पर इन सब के ऊपर इस कलायें उस अपूर्व आध्यात्मिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति पाई जाती है जो केवल योग द्वारा ही अनुभूत हो सकती है। अगर हम यों कहें कि भारतीय कला के इतिहास को अनेक धाराओं का गुप्त काल की कला में अपूर्व समन्वय है तो ठीक ही होगा।"

इसके अतिरिक्त काशी में मिट्टी के रंग बिरंगे बर्तन बनाने वाले कुम्भकार, खिलौने बनाने वाले शिल्पी इत्यादि कई प्रकार के कलाकार प्राचीन काल से ही रहते आये हैं

पर काशी की कला का सर्वोत्कृष्ट नमूना यहाँ के बने हुए रेशम और जरी के वस्त्रों में मिलता है। इस प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख बौद्ध जातकों में "कासेय्यक" या "काशिकेय्यक" नाम से देखने को मिलता है। आज भी काशी के इन रेशम और जरी के वस्त्र संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं।

काशी के पर्व और त्योहार

काशी अपने पर्व, त्योहार और रागरंग के लिए हमेशा से प्रसिद्ध रहा है। "आठ वार और नौ त्योहार" वाली कहावत यहाँ हूबहू चरितार्थ होती है। हर तरह के त्योहार में जीवन को राग रंग और मौज मजा से युक्त बना देना काशी के लोगों के स्वभाव में शामिल होगया है। नाच, गायन, कजली, होली, मजाक भाँग छानना इत्यादि सभी चीजों के लिए काशी सदा प्रसिद्ध रहा है। थोड़े खर्च में, आदमी के साथ इस बेफिकर त्योहार मना लेने की क्रिया बनारस के अतिरिक्त भारत वर्ष के दूसरे किसी भी हिस्से में नहीं है।

इतिहास के अनन्त प्राचीन युग के साहित्य में भी बनारस के रागरंग और यहाँ पर मनाये जाने वाले त्योहारों का उल्लेख आया है। प्राचीन काल के त्योहारों में दीवाली, कन्मगल, हस्ति मङ्गल, गिरिरोत्सव इत्यादि त्योहार मनाये जाते थे।

इस समय जो त्योहार बनारस में मनाये जाते हैं उनका मासिक विवरण इस प्रकार है।

चैत्रमास—इस महीने में नवरात्रि का मेला गनगौर का मेला और रामनवमी का मेला प्रधान है। नवरात्रि में नौ दिन तक भक्त लोग एक-एक दिन नौ दुर्गाओं के दर्शन करने जाते हैं। यह मेला दुर्गाकुण्ड पर लगता है। गनगौर का मेला रामनगर में लगता है। यह त्योहार मारवाड़ियों का चलाया हुआ है। रामनवमी का मेला रामघाटपर लगता है। चैत्र कृष्ण त्रयोदशी को बारुणी का त्योहार मनाया जाता है पहले इस त्योहार पर लोग शराब पीते थे अब भंग छानते हैं।

वैशाख—इस महीने में नरसिंह चतुर्दशी का मेला बड़े गनेश पर लगता है। इस मेले में नरसिंह लीला दिखाई जाती है।

जेठ—इस महीने में गाजी मियाँ का मेला बकरिया कुण्ड पर लगता है। गंगा दशमी का मेला पंच गंगाघाट पर लगता है इन मेलों में नृत्य नाच गाना होता है। इसी प्रकार इस महीने में निर्जला एकादशी और स्नान यात्रा

का मेला भी लगता है। ज्येष्ठ कृष्ण अमावस्या को स्त्रियाँ बड़के पेड़ और सावित्री का पूजन करती हैं।

असाढ़—असाढ़ में जगन्नाथ की रथयात्रा असाढ़ शुक्ल २–३–४ को बेनीराम के बाग में और पञ्चक्रोशी का मेला गुरु पूर्णिमा को चौकाघाट में लगता है।

सावन—सावन के हर रविवार को लोलार्क पर, हर मंगल को दुर्गाजी पर, हर सोमवार को सारनाथ पर और हर बृहस्पतिवार को फातमान पर मेला लगता है। दुर्गाजी के मेले में और फातमान के मेले में वार-वनिताओं का खूब नाच-गान होता है। इस प्रकार सारे सावन भर बनारस मस्ती में झूमता रहता है। इस महीने में नाग-पञ्चमी का मशहूर मेला नाग कुआँ पर लगता है। रक्षा बन्धन का पवित्र त्यौहार भी बनारस में बड़ी शान के साथ मनाया जाता है। बहन भाई को राखी बाँधती है।

भादों—इस महीने मे कजरी तीज का मेला शंखूधारा और ईसरगंगी पर बड़े ठाट-बाट से लगता है। बनारस की गौनहारिनी की कजली और नाच इन मेलों में होते हैं। मेलों के सिवाय इस अवसर पर बनारस के घर घर और मोहल्ले २ में कजरी को मस्तानी राग छायी हुई रहती है। इसी प्रकार भादों में लोलार्क छठ का मेला अस्सी के समीप लोलार्क कुण्ड पर, वामन द्वादशी का मेला चित्रकूट और वरना सगम पर, तथा सोरहिया का सोलह दिन का मेला लक्ष्मीकुण्ड पर लगता है। अनन्त चौदस से रामनगर में रामलीला प्रारम्भ हो जाती है। जन्माष्टमी का त्यौहार भी काशी में बड़े ठाट बाट से मनाया जाता है।

कुँआर—कुआर महीना में रामलीला के उत्सव बनारस में कई स्थानों पर बड़े ठाट बाट से मनाये जाते हैं। नाटी इमली के भरत मिलाप में लाखों आदमी सम्मिलित होते हैं। इसी प्रकार यहाँ बंगालियों द्वारा दुर्गापूजा का उत्सव भी बड़ी शान शौकत के साथ मनाया जाता है।

कार्तिक—कार्तिक में धनतेरस का मेला चौखम्भा पर तथा ठठेरी बाजार में उसके दूसरे दिन नरक चौदस का मेला मछैनी और मीरघाट में, दीवाली का उत्सव सारे नगर में, तथा यम द्वितीया या भाईदूज का मेला यमघाट पर लगता है। भाईदूज के दिन सब बहन अपने भाइयों को टीके निकालती हैं और उनके मुँह में मिठाई देती हैं। इस सारे महीने में प्रातःकाल के समय असंख्य नर नारी गंगा के घाटों पर कार्तिक स्नान करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। इस समय गंगा के घाटों की अपूर्व शोभा हो जाती है। कार्तिक कृष्ण चतुर्थी को चेतगंज की नकटैया का और शुक्ल चतुर्थी को नागनथैया का मेला अत्यन्त कलापूर्ण और आकर्षक होता है।

अगहन—इस महीने के पहले मंगल को वरना नदी पर पियाले का मेला लगता है। इस मेले में कलछा और सहना को शराब का भोग लगाया जाता है और शराब पीकर लोग खूब नाचते गाते हैं। इसमें नीची जाति के लोग विशेष सम्मिलित होते हैं। इसी महीने की कृष्ण पञ्चमी ७-८ को पंचकोशी का मेला लगता है। पिशाच-मोचन पर इस महीने में 'लोटा भंटा' का मेला लगता है। इसमें लोग रोटी बनाकर बैंगन के भुरते के साथ खाते हैं। अगहन की पूर्णिमा को नगर पूर्णिमा का मेला होता है।

माघ—माघ शुक्ल ४ को बड़े गणेश पर भारी मेला लगता है। माघ महीने के हर सोमवार को रामनगर के वेदोव्यास नामक स्थान पर एक मेला लगता है। बसन्त पंचमी को सरस्वती पूजा का उत्सव मनाया जाता है।

फागुन—इस महीने की कृष्ण त्रयोदशी को महा शिवरात्री का मेला विश्वनाथ-मन्दिर पर बड़े विशाल रूप में लगता है। शिव को प्रसन्न करने के लिए इस दिन लोग भाँग-बूटी छानते हैं।

होली का त्यौहार बनारस में बड़े रागरंग आनन्द और मस्ती के साथ मनाया जाता है। फगुने का यह उत्सव एकादशी से पूर्णिमा तक मनाया जाता है। रंगभरी एकादशी को विश्वनाथ मन्दिर में खूब अबीर गुलाल का आदान प्रदान होता है। दुलहण्डी के दिन सबेरे सारे बनारस में रंगभार, गाली गलौज, कीचड़मस्ती अश्लील गाने इत्यादि की खूब धूम रहती है। दुपहर में लोग नहा धोकर श्वेत वस्त्र पहन कर अबीर की झोली लेकर निकलते हैं। पहले वे इस त्यौहार की अधिष्ठात्री चौसठी देवी के दर्शन करते हैं। फिर जान पहचान के सम्बन्धी मित्रों, भाई बन्धुओं से गले मिलकर उनको अबीर लगाते हैं। फिर

इनमें से बहुत से शौकीन मिजाज के लोग होलियाँ और कबीर गाते हुए दालमण्डी में वार-वनिताओं के घरों के सम्मुख जाकर खूब रंगरेलियाँ करते हैं।

होली के बाद पहले मंगल वार को गंगाजी में बुढ़वा मंगल का मेला लगता था। कुछ लोगों के मतानुसार इस मेले का आरम्भ मीर रुस्तम अलीने और कुछ के मत से चेतसिंह ने किया था। इस मेले में बहुत से बजड़े और नौकाएँ खूब सजाकर गंगाजी में छोड़ दिये जाते थे। बनारस के तमाम बड़े-बड़े शौकीन मिजाज के लोग इकट्ठे होते थे और बनारस की तमाम नामाङ्कित नर्तकियों के नाच और गानों से काशी का वातावरण मादक हो उठता था। इस मेले में मैना नामक नर्तकी ने बड़ी प्रसिद्धि पाई थी। यह मेला चार दिनतक चलता था। अब यह बन्द हो गया है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कितने त्यौहार और मेले बनारस में होते हैं और जिस शान और राग रंग के साथ बनारस के लोग इन्हें मनाते हैं वैसे हिन्दुस्तान के अन्य किसी शहर में नहीं मनाए जाते हैं। काशी नगरी हमेशा मस्ती मस्ती और मौज मजे के लिए सुप्रसिद्ध रही है। भाँग बूटी, पान की गिलौरियाँ चैनसुख और नाच मुजरा यहाँ के जीवन का प्रधान अंग रहा है। यहाँ की नर्तकियों ने संगीत और नृत्य की कला के क्षेत्र में समय समय पर काफी यश और कीर्तिका सम्पादन किया है। यहाँ के गायक भी अपनी कला के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। यहाँ की गौनिहारिनें भी यहाँ के नागरिकवासियों का मनोरंजन करने में अपना पार्ट अदा करती हैं। तीतर और बटेर की लड़ाई करानेवाले बुलबुल पालनेवाले कबूतरबाज और पतंगबाज भी यहाँ के शहर की मस्ती को बनाने में अपनी कला का इस्तेमाल करते हैं। जिन्दगी का कोई रंगीन पहलू ऐसा नहीं है जिसके दर्शन काशी में न होते हों।

इसके साथ ही गुण्डागिरी, पण्डागिरी और ठगाही के क्षेत्र में भी बनारस किसी से पीछे नहीं है। बड़े-बड़े गुण्डों के अड्डे, साधासधारियों के अड्डे इत्यादि भी यहाँ बहुत रहे हैं। आजकल कुछ कम हो गये हैं। साण्डों की लड़ाई भी बनारस की एक दर्शनीय वस्तु है जो अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलेगी।

काशी की शिक्षण संस्थाएँ

अपनी शिक्षण संस्थाओं के लिए काशी हमेशा से सारे भारत में प्रसिद्ध रहा है। अन्य जातियों में यज्ञोपवीत के समय यज्ञोपवीत लेने वाले को काशी जाकर विद्या प्राप्त करने का दस्तूर अदा किया जाता है।

गुप्त साम्राज्य के समय में काशी शिक्षा का बहुत बड़ा केन्द्र था। राजघाट की खुदाई में मिली हुई मुद्राओं से पता चलता है कि उस काल में काशी में आन्वीक्षिकी, त्रयीवार्ता दण्डनीति और शास्त्रधी इन चार प्रकार की विद्याओं की शिक्षा देने वाली शिक्षण संस्थाएँ विद्यमान थीं। इसी प्रकार ऋग्वेद की शिक्षा देने वाली, सामवेद पढ़ाने वाली भी अलग-अलग पाठशालाएँ थीं। ऐसा समझा जाता है कि उस समय काशी के हर एक मन्दिर के साथ-साथ एक पाठशाला रहती थी।

गाहड़वाल युग में भी काशी शिक्षा का बहुत बड़ा केन्द्र था। अलबेरूनी के अनुसार बनारस और काश्मीर उस समय संस्कृत ज्ञान, विज्ञान और शिक्षा के बहुत बड़े केन्द्र थे। बनारस के पण्डितों और पाठशालाओं में उस समय सिद्ध मातृका अक्षर चलते थे।

गाहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्र के युग में काशी में दामोदर पण्डित नामक एक प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री हुए थे। वे यजुर्वेद की वाजसनेयी शाखा को मानने वाले, सूर्य भक्त और ज्योतिष के पाँच सिद्धान्तों के पण्डित थे। इस युग में अर्थात् बारहवीं सदी में काशी के विद्यार्थी सिर मुड़ाते थे लम्बी चोटी रखते थे और धोती पहनते थे।

अठारहवीं सदी में भी काशी में उच्च शिक्षा का वही प्रबन्ध था जो मुगलकाल में या उससे भी पहले से चला आ रहा था। विद्यार्थियों को काशी के गुरु निःशुल्क पढ़ाते थे और साथ ही साथ उनके भोजन और रहने का भी प्रबन्ध करते थे। इसके लिए उन्हें राजाओं तथा धनी लोगों से पर्याप्त सहायता मिलती थी।

बनारस संस्कृत कॉलेज

पहली जनवरी सन् १७९२ को पण्डित काशीनाथ की प्रेरणा से यहाँ के रेज़िडेण्ट जोनेथन डङ्कन ने बनारस में संस्कृत शिक्षा के लिए एक कॉलेज खोलने का प्रस्ताव गवर्नर जनरल वारन हेस्टिंग के पास भेजा और उन्होंने तत्काल उस प्रस्ताव को मंजूर कर उसके लिए बीस हजार रुपये की मंजूरी दे दी। कालेज के पहले प्रधान आचार्य पं० काशीनाथ बनाये गये। और इनका वेतन दो सौ रुपया प्रतिमास निश्चित किया गया।

काशी में अंगरेजी शिक्षा के अधिक प्रचार का श्रेय राजा जय नारायण घोषाल को है। सितम्बर सन् १८१४ में जब वारेन हेस्टिंग्स बनारस आये तब जयनारायण स्कूल की नींव पड़ी। इस स्कूल का प्रबन्ध एलफिन्स्टन नामक एक पादरी देखते थे और इस में विद्यार्थियों को अंगरेजी बाइबिल, इतिहास, फारसी, गणित, भूगोल और अंग्रेजी पढ़ाई जाती थी।

सन् १८३ में इण्डियन सेमिनरी स्कूल के नाम से एक अंग्रेजी स्कूल की काशी में स्थापना हुई और १८३६ में इसका नाम बदल कर गवर्नमेंट स्कूल कर दिया गया। सन् १८५२ में इस स्कूल की विशाल इमारत बनी जिसमें तेरह हजार पौण्ड खर्च हुआ। इस समय इस स्कूल के प्रिंसिपल मि० ग्रैफेल्टाइन नामक एक अंगरेज थे।

इसके पश्चात् काशी में अंग्रेजी शिक्षा के लिए क्वीन्स कॉलेज, हरिश्चन्द्र मेमोरियल स्कूल, हरिश्चन्द्र कॉलेज, दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कॉलेज, नगरसीटाला हाईस्कूल, सनातन धर्म कॉलेज उदयप्रताप कॉलेज सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज थियासोफिकल नेशनल हाई स्कूल बसन्त कॉलेज पाँर विमेन्स इत्यादि अनेक शिक्षा संस्थाओं का निर्माण हुआ। जो इस समय भी शान के साथ चल रही हैं।

काशी के संस्कृत विद्यालयों में संस्कृत कॉलेज को छोड़कर अनेक विद्यालय मारवाड़ी व्यापारियों की ओर से चल रहे हैं। इन विद्यालयों में (१) मारवाड़ी संस्कृत कॉलेज (२) रिक्मावि संस्कृत कॉलेज (३ श्री चन्द्र महा विद्यालय (४) बिड़ला संस्कृत विद्यालय (५) विशुद्धानन्द विद्यालय (६) सांगवेद विद्यालय विशेष उल्लेखनीय है। इनके सिवाय भी छोटी बड़ी पचासों संस्कृत पाठशालाएँ चल रही हैं।

हिन्दू विश्वविद्यालय काशी

मगर काशी को सब से बड़ा शैक्षणिक गौरव तब प्राप्त हुआ जब महामना मदनमोहन मालवीय ने ज्ञान की इस उर्वरा भूमि में हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की।

सन् १९०४ में काशी नरेश प्रभुनारायणसिंह के सभापतित्व में मिण्टहाउस की एक सभा में मालवीय जी ने हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव रक्खा। कुछ समय के पश्चात् प्रयाग में सनातन धर्म सभा के अधिवेशन में यह निश्चय हुआ कि इस संस्था के लिए कम से कम एक करोड़ रुपया इकट्ठा किया जाय।

इसी बीच थियोसोफिकल सोसायटी तथा भारतीय राजनीति की प्रसिद्ध नेत्री श्रीमती एनीबीसेण्ट ने और दरभंगा के महाराज रामेश्वर सिंह ने भी काशी में इसी प्रकार के विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए अलग-अलग योजनाएँ बनाई। इस प्रकार एक ही स्थान में एक ही समय में तीन-तीन विश्वविद्यालयों की योजनाएँ बन गई जिनका सफल होना सम्भव नहीं था।

तब पं० मालवीय जी, श्रीमती एनीबीसेण्ट और महाराजा दरभङ्गा से मिले और उनके साथ हिन्दू विश्वविद्यालय की योजना पर कई बार विचार किया और अन्त में सन् १९११ में अथक उद्योग और परिश्रम के द्वारा उन्होंने उन्हें अपने पक्ष में कर लिया। तब पण्डित मालवीय और दरभंगा नरेश इस सम्बन्ध में भारत के वायसराय लार्ड हार्डिंज और शिक्षा मंत्री बटलर से मिले। इन लोगों ने कुछ शर्तों के साथ इस कार्य में सरकारी सहायता देने का वचन दिया।

दिसम्बर सन् १९११ में हिन्दू विश्वविद्यालय सोसायटी का रजिस्ट्रेशन हुआ। इस सोसायटी के अध्यक्ष महाराजा दरभंगा और मंत्री सर सुन्दरलाल बनाये गये।

जब इस संस्था के लिए धन इकट्ठा करने को डेपूटेशन निकला। इस डेपूटेशन में मालवीयजी के साथ

दरभंगा नरेश भी थे। इस डेपुटेशन ने बंगाल बिहार संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त, पंजाब और राजपूताने की कुछ रियासतों का दौरा किया और नवम्बर १९११ तक इस कोष में ८२ लाख रुपये के वचन और करीब ४२ लाख रुपये नगद इकट्ठे कर लिये।

इस बीच में सेंट्रल हिन्दू कॉलेज के ट्रस्टियों ने वह कॉलेज हिन्दू विश्वविद्यालय को सौंपना तय कर लिया और सन् १९१५ में बड़ी कौन्सिल में हिन्दू यूनिवर्सिटी एक्ट भी पास हो गया।

४ फरवरी सन् १९१६ को बसन्त पञ्चमी के दिन बड़े समारोह के साथ अनेकों राजा महाराजा जमींदार, श्रीमन्त और कई प्रान्तों के गवर्नरों की उपस्थिति में वाइसराय लार्ड हार्डिंज ने हिन्दू विश्वविद्यालय का शिलान्यास किया। हिन्दू विश्वविद्यालय के इतिहास में यह दिन चिरस्मरणीय है।

इस विश्वविद्यालय की इमारतें बनाने के लिए जमीन खरीदी गई जिसमें कुछ जमीन राजा प्रभुनारायण सिंह ने अपनी ओर से विश्वविद्यालय को दान में दी और सन् १९१८ में इस नगरावस की देखरेख में इमारतें बनाने का काम प्रारम्भ किया गया। तीन वर्ष में बहुत सी इमारतें बनकर तैयार हो गई और सन् १९२१ में प्रिन्स ऑफ वेल्स के हाथों से विश्वविद्यालय का उद्‌घाटन किया गया।

उद्‌घाटन के पश्चात् महामना मालवीय जी के सफल प्रयत्नों से इस संस्था की दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति होने लगी। विश्वविद्यालय का पहला कॉलेज सेन्ट्रल हिन्दू कालेज था। उसके बाद प्राच्यविद्या कॉलेज आयुर्वेदिक कॉलेज, ट्रेनिंग कॉलेज, लॉ कॉलेज, महिला कॉलेज इंजीनियरिंग कॉलेज, माइनिंग कॉलेज कृषि कॉलेज, फौजी शिक्षा कॉलेज, और विशाल लायब्रेरी इत्यादि अनेकानेक संस्थाओं की इस विश्वविद्यालय में स्थापना होती गई। और आज तो शायद अपनी व्यापकता और विशालता में सारे भारत में यह विश्व विद्यालय सबसे बड़ा है।

विश्वविद्यालय नगर लगभग दो मील लम्बे और एक मील चौड़े क्षेत्र में बसा हुआ है। इस भूमि में २१ मील लम्बी कई सड़कें बनी हुई हैं। इन सड़कों के किनारे २ वृक्ष लगे हुए हैं। इस भूमि में बड़े-बड़े आयुर्वेदिक वनस्पतियों के उद्यान भी बने हुए हैं। स्थान स्थान पर कई खेल के मैदान भी बने हुए हैं। विद्यार्थियों के रहने के लिए दस से अधिक बड़े-बड़े विशाल छात्रावास और शिक्षकों के रहने के लिए सैकड़ों बंगले बने हुए हैं।

इस प्रकार काशी हिन्दू विश्वविद्यालय अपनी शान शौकत और विविध विषयों की शिक्षा के द्वारा काशी के गौरव को उच्च शिखर पर पहुँचा रहा है।

काशी विद्यापीठ

महात्मा गांधी के द्वारा संचालित राष्ट्रीय आन्दोलन के समय देश में कई स्थानों पर राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना हुई। काशी में भी बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने इस समय में काशी विद्यापीठ नामक एक राष्ट्रीय विद्यालय की सन् १९२२ में स्थापना की। शहर से बाहर बनारस छावनी स्टेशन के रास्ते पर दो बड़े बड़े विशाल बगीचों में इमारतें बनवाकर या मरम्मत करवा कर इस विद्यापीठ को प्रारम्भ किया गया। इसके निर्माण में कई लाख रुपये खर्च हुए। बीच में राजनैतिक कारणों से विद्यापीठ बन्द करना पड़ा। इस समय यह विद्यापीठ चल रहा है और इसके साथ एक विशाल पुस्तकालय भी है।

काशी की विचित्रताएँ

काशी के सम्बन्ध में ऊपर जो वर्णन किया गया है उससे मालूम पड़ता है कि—

काशी—भारतवर्ष में धर्म ध्यान की खान जिस प्रकार है, राग रंग की और मौज मजे की नगरी है। वाणिज्य व्यापार, कला कौशल मेहनत मजदूरी सभी क्षेत्रों में यहाँ के लोग अग्रणी हैं मगर इन सब बातों के करते हुए भी यहाँ के लोग 'जीवन के आनन्द' को एक क्षण के लिए भी नहीं भूलते। मशीन के इस युग में जबकि दुनिया के सभी शहरों के लोग मशीन की तरह कार्यरत होकर जीवन के वास्तविक आनन्द को भूल गये हैं, इस नगरी में आज भी प्राचीन युग की तरह जीवन का आनन्द अटखेलियाँ मारता हुआ दिखाई देता है।

काशी—साहित्य और कला का केन्द्र है। युगों-युगों से यह नगरी भारतवर्ष को साहित्य और कला सम्बन्धी महत्वपूर्ण सम्पदा देती रही है। कबीरदास तुलसीदास, भारतेन्दु

प्रसाद, मारवनलाल का भगवानदास इत्यादि बड़े-बड़े अनेकों साहित्यकारों की सेवाएँ इस नगरी को प्राप्त हुई।

काशी—बाबा विश्वनाथ की नगरी है जिनके भूत भावनरूप का दर्शन करने के लिए पूरब, पश्चिम उत्तर, दक्षिण चारों दिशाओं से ठठ के ठठ लोग उस समय भी उमड़ पड़ते थे जब आने जाने के लिए रेलें नहीं बनी थीं।

काशी—भगवान पार्श्वनाथ की नगरी है। यहीं पर सुपार्श्वनाथ चन्द्र प्रभु, श्रेयांसनाथ और पार्श्वनाथ के समान चार-चार तीर्थंकरों ने अवतीर्ण होकर जैन धर्म के गौरव को बढ़ाया था।

काशी—गंगा माई की पवित्र नगरी है। यहाँ की गंगा में प्रति वर्ष लाखों देश-विदेश के यात्री स्नान कर, सूर्य को अर्घ्य चढ़ाकर अपने जन्म जन्मान्तर के पापों को काटने की चेष्टा करते हैं।

काशी—धर्माचार्यों की नगरी है। पार्श्वनाथ कबीर दास, वल्लभाचार्य और शंकराचार्य जैसे महान नेताओं ने अपने धर्म ज्ञान से इस नगरी को अलंकृत किया है।

काशी—पं० मदनमोहन मालवीय, डॉ० भगवानदास और बाबू शिवप्रसाद गुप्त के समान उदार नेताओं की नगरी है जिन्होंने अपनी महान सेवाओं और प्रेरणाओं से उसे इस युग की श्रेष्ठ नगरी बना लिया।

काशी—वार, त्यौहार और पर्वों की नगरी है। यहाँ प्रतिदिन किसी न किसी स्थान पर कोई न कोई उत्सव और गाना बजाना होता रहता है और बड़े-बड़े त्यौहारों पर तो यह नगरी अपने घाटों सहित नव वधू की तरह सज जाती है। धनतेरस के दिन यहाँ की ठठेरा बाजार की सजावट इन्द्रपुरी की तरह हो जाती है।

काशी—यहाँ की वारांगनाएँ और यहाँ की सौन्दर्य हाट प्राचीन काल से बहुत प्रसिद्ध रही हैं। प्राचीन काल के कवियों ने अपने ग्रन्थों में काशी की वारांगनाओं के वैभव की बहुत चर्चा की है। बौद्ध जातकों में काशी की 'अड्ढकासी' नामक वेश्या की बड़ी प्रशंसा की गई है। पाँचवीं सदी के श्यामिलक कवि ने काशी की 'पराक्रमिका' नामक वेश्या की और आठवीं सदी में कश्मीर के दामोदर गुप्त ने काशी की 'मालती' नामक वेश्या की बड़ी प्रशंसा की है। आधुनिक युग में भी यहाँ की कई नामाङ्कित नर्तकियों ने संगीत और नृत्य के क्षेत्र में काफी ख्याति प्राप्त की है। काशी का 'दालमण्डी' नामक बाजार मारवाड़ का एक प्रसिद्ध सौन्दर्य कला और वासनाओं का केन्द्र रहा है।

काशी—दङ्गलों की नगरी है। नागपंचमी पर यहाँ कुश्ती के दङ्गल होते हैं। श्रावण महीने में यहाँ कजली और बिरहा के दङ्गल होते हैं। सर्दी की ठण्डी रातों में यहाँ कव्वाली के दङ्गल होते हैं। मकर संक्रान्ति पर यहाँ पतंगबाजी तीतर-बटेर और बुलबुलों के दङ्गल होते हैं। गर्मियों में यहाँ तैराकी और नौकाओं के दङ्गल होते हैं जिनमें हजारों दर्शक मनोरंजन करते हैं।

काशी—गलियों और घाटों का नगर है। एक चन्द्राकार रूप में गंगाजी पर जिस प्रकार विशाल क्षेत्र में यहाँ घाटों की श्रेणी बनी हुई है वैसी संसार के किसी नगर में किसी नदी पर देखने को नहीं मिलेगी। इन घाटों से निकली हुई गलियाँ आपको सारे शहर में जाल की तरह बिछी हुई मिलेंगी। काशी के एक सिरे से प्रारम्भ करके काशी के दूसरे सिरे तक आप गलियों ही गलियों में जाकर पहुँच सकते हैं। इस प्रकार की गलियाँ कहीं भी दूसरे शहर में देखने को न मिलेंगी। वैशाख और जेठ के झुलसाने वाले महीनों में भी ये गलियाँ 'एअर कन्डीशन्ड' रहती हैं। गलियों में गन्दगी बहुत रहती है, पर सफाई भी दिन में दो बार होती है।

काशी—यहाँ की गुण्डागिरी भी बड़ी अद्भुत है। दिन दहाड़े भरी सड़क पर लोगों को गंडासा मार कर हत्या कर देना यहाँ मामूली बात है। समय-समय पर ऐसे केस यहाँ बने ही ही जाते हैं।

काशी—गुण्डों की ही तरह काशी के सांड भी बड़े प्रसिद्ध हैं। बीच बाजार में सांडों की लड़ाई जैसे भयंकर रूप में यहाँ देखने को मिलेगी वैसी कहीं भी न मिलेगी।

काशी—बाबा जोगियों की नगरी है। हर तरह के साधु सन्त बाबा और धार्मिक यहाँ पर देखने को मिलेंगे। इनमें कुछ लोग वास्तव में सिद्ध और पहुँचे हुए होते हैं। मगर अधिकांश लोग धार्मिक वेष भूषा की आड़ में भीख

मस्ती से खाते-पीते हैं। यहाँ की किसी के पास कोई कमी नहीं है। औघड़, कापालिक, वाममार्गी नागा इत्यादि सभी प्रकार के साधु इस भूमि में विचरण करते हुए देखे जाते हैं।

काशी—देवी देवताओं की नगरी है। हिन्दू-धर्म का कोई देवता ऐसा नहीं जिसका मन्दिर यहाँ न हो। करीब-करीब पन्द्रह सौ मन्दिर इस नगरी में बने हुए हैं। संसार के अधिकांश घण्टे-घड़ियालों की आवाज इस युग में जहाँ बहुत मन्द पड़ चुकी है, वहाँ काशी के घण्टे घड़ियाल आज भी प्रतिदिन उसी धूम धाम से बजते हैं जैसे हजार बरस और दो हजार बरस पहले बजते थे। संकटमोचन हनुमान के स्थान पर परीक्षा के समय में बनारस के हजारों विद्यार्थी पास होने की मनौती लेकर प्रतिदिन यहाँ साष्टांग दण्डवत करते तथा प्रसाद चढ़ाते हैं।

काशी भिन्न भिन्न संस्कृतियों का एक अद्भुत समन्वय है। बंगाली, दक्षिणी, मद्रासी, राजस्थानी, जैन बौद्ध शैव, वैष्णव सभी संस्कृतियों का इस नगरी में एक अपूर्व सम्मेलन देखने को मिलता है।

काशी—शौकीन मिजाज लोगों की नगरी है। यहाँ के व्यापारी साहित्यकार पण्डित, अध्यापक, विद्यार्थी यहाँ तक कि साधु बाबा तक भी बड़े शौकीन मिजाज होते हैं। मगही पान की गिलौरियाँ चबाना यहाँ के शौकीनों का पहला शौक है। चुन्नटदार रेशमी मलमल का कुरता और धोती पहनना बढ़िया सैंट और इत्र लगाना नौका में घूमना, संकटमोचन और सारनाथ का दर्शन करना, शाम को किसी महफिल की शोभा बढ़ाना या गहिरेनाय इक्कों पर फिकर सैर को निकलना ये सब यहाँ के शौकीन लोगों के प्रधान शौक हैं।

काशी—प्राचीन काल से समस्त भारतवर्ष में शिक्षा का एक महान् केन्द्र रहा है। देश के कोने-कोने से उच्च विद्या का अध्ययन करने के लिए हजारों विद्यार्थी यहाँ आते थे। गुरुओं के आश्रम में उन्हें शिक्षा खाना और रहना निःशुल्क प्राप्त होता था। आज भी काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के कारण सारे देश में शिक्षा का एक महान् केन्द्र बना हुआ है। देश भर के हजारों विद्यार्थी प्रतिवर्ष यहाँ पर कला और विज्ञान के भिन्न भिन्न अंगों की शिक्षा ग्रहण करने आते हैं और उनसे शहर की रौनक बढ़ी हुई रहती है।

काशी—रेशमी और जरी के कामों का एक अत्यन्त प्रसिद्ध केन्द्र बहुत पुराने समय से बना हुआ है। यहाँ के कारीगरों के हाथ की बनाई हुई महीन जरी और रेशम की साड़ियों का कलात्मक रूप देखकर स्वयं कला भी निहाल हो उठती है और मनुष्य वाह वाह कर उठता है। यह कारीगरी अभी भी यहाँ बहुत सुरक्षित है।

काशी—सुप्रसिद्ध लंगड़ा आम, मगही पान, रामनगरी बेर, बनारसी आँवला और इलाहाबादी अमरूदों की नगरी है। प्रकृति के प्रसाद से ये उत्कृष्ट वस्तुएँ उसे प्राप्त हैं और यहाँ से सारे देश में भेजी जाती हैं।

काशी—सत्व, रज और तम तीनों गुणों की मिश्रित नगरी है। यहाँ पर बड़े-बड़े योगी, दार्शनिक, तपस्वी, साहित्यकार और व्यापारी भी रहते हैं साथ ही बड़े-बड़े गुण्डे, बदमाश, व्यभिचारी और ठगों का भी इस महानगरी में आश्रय मिलता है।

मतलब यह कि 'काशी तीन लोक से न्यारी' वाली कहावत आज भी इस नगरी के लिए चरितार्थ है। भिन्न-भिन्न प्रकार की जितनी विचित्रताओं का समूह इस क्षेत्र में देखने को मिलेगा वैसा शायद संसार में अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिलेगा। भगवान् शंकर की यह नगरी अत्यन्त प्राचीन काल से सारे भारतवर्ष के लिए गौरव की वस्तु रही है और आज भी है। इसीलिए यहाँ के लोग कहते हैं—

चना चबेना गंगजल, जो पुरवै करतार—
काशी कबहुँ न छोड़िये विश्वनाथ दरबार।

डॉ. वासुदेवशरण लिखते हैं कि काशी ज्ञान की पुरी है और यह महादेवी है, ये काशी के अध्यात्म-मूल हैं। इन्हीं की नित्य नई-नई व्याख्या काशी के जीवन की सार्थकता है। यदि ज्ञान इस मानव जीवन के लिए आवश्यक है और उस ज्ञान का अन्तिम प्रयोजन ब्रह्म का साक्षात्कार है तो इन दोनों की उपलब्धि काशी में होना चाहिए। तभी काशी में निवास करने और गंगा में स्नान करने की सार्थकता है।

काशीप्रसाद जायसवाल

भारतवर्ष के एक सुप्रसिद्ध इतिहासकार और पुरातत्वज्ञ जिनका जन्म उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चतुर्थांश में हुआ और मृत्यु बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हुई।

डॉ० जायसवाल पटने से प्रकाशित होने वाले 'पाटलिपुत्र' नामक साप्ताहिक पत्र के सम्पादक थे। इतिहास सम्बन्धी खोजों का इन्हें प्रारम्भ से ही शौक था। प्राचीन भारत के इतिहास के सम्बन्ध में इनके निकाले हुये तथ्य और खोजें बड़ी प्रामाणिक मानी जाती हैं और देश के कई गण्यमान्य इतिहासकार अपने ग्रन्थों में प्रमाण रूप से जायसवाल की खोजों के उद्धरण देते हैं।

काशीरामदास

बंगला-साहित्य में महाभारत के प्रसिद्ध अनुवादकर्ता जिनका जन्म सोलहवीं सदी के अन्त में और मृत्यु सन् १६७८ के करीब हुई।

काशीरामदास बर्दवान जिले के इन्द्राणी परगने के एक गाँव के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम प्रियंकर था।

काशीरामदास महाभारत का बंगला भाषा में अनुवाद कर प्रसिद्ध हो गये। इनके पहले भी "सञ्जय" "कवीन्द्र परमेश्वर" "द्विजअभिराम" नित्यानन्द घोष" "द्विज रविचन्द्र" इत्यादि कई लेखकों ने महाभारत या उसके किसी पर्व का बंगला में अनुवाद किया था।

मगर इन सबमें काशीरामदास के अनुवाद को सबसे अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। काशीरामदास के अनुवाद में निजी कल्पनाओं का बड़ा अद्भुत समावेश है। कई विशेष स्थानों पर कवि की प्रतिभा का प्रकाश दिखाई पड़ता है। कवि ने अपनी कृति का स्वर ठीक वैसा ही रक्खा है। गहरे आध्यात्मिक दर्शन से उसका सम्बन्ध नहीं वह भक्ति की भावनाओं से ओत प्रोत है।

काशीरामदास महाभारत के केवल आदिपर्व सभापर्व वनपर्व और विराटपर्व के कुछ अंश का ही अनुवाद कर पाये। इसके बाद उनके अधूरे काम को उनके पुत्र नन्दराम ने पूरा किया।

कास्ट्रो

क्यूबा के राष्ट्रपति। जिनका जन्म १३ अगस्त सन् १९२७ ई० को ओरिएंट प्रान्त के 'मयारीनगर' में हुआ था। उनके पिता एंजल-कास्ट्रो, स्पेन से क्यूबा आये थे और गन्ने की खेती में उन्होंने लाखों रुपये उपार्जित किये थे। बाल्यकाल में कास्ट्रो ने इन्हीं खेतों में काम किया था और जवानी में इसी स्थान पर विद्रोही सेनाओं का संचालन भी किया।

सन् १९४५ में उन्होंने कालेज से दीक्षान्त उपाधि पायी। उसी समय से वे सरकार के विरुद्ध एक विद्रोही दल में शामिल हो गये। अपनी सरकार की नीतियों का वह सदैव विरोध करते रहे।

इसके कुछ समय पश्चात् १ मार्च सन् १९५२ को 'बातिस्ता' नामक एक व्यक्ति ने सैनिक विद्रोह के द्वारा क्यूबा की सरकार का तख्ता उलट दिया और स्वयं वहाँ का शासन हाथ में लेकर वहाँ का 'तानाशाह' बन गया।

देश की बागडोर हाथ में आ जाने पर बातिस्ता ने क्यूबा में आतंक का राज्य कायम कर दिया और हर तरह के विरोध को संगीनों की नोक से कुचल दिया।

कास्ट्रो ने बातिस्ता के अत्याचारों को समाप्त करने के लिए अपने छोटे भाई के साथ विद्रोहियों का एक दल संगठित किया और २६ जुलाई सन् १९५३ को 'सान्तियागो और 'क्यूबा' में सैनिक चौकियों और सरकारी भवनों पर हमला बोल दिया परन्तु वह विद्रोह सरकारी सेनाओं ने बुरी तरह से कुचल दिया। कास्ट्रो पकड़ लिये गये और उन्हें १५ वर्ष की सजा का सख्त दण्ड सुना दिया गया। मगर सन् १९५५ में आम रिहाई के समय कास्ट्रो भी मुक्त कर दिये गये।

मुक्त होकर कास्ट्रो क्यूबा न जाकर पहले न्यूयार्क और फिर मैक्सिको में गये और वहाँ पर रहने वाले क्यूबा वासियों का मजबूत संगठन किया।

२ दिसम्बर सन् १९५६ को कास्ट्रो अपने छोटे भाई

और ८ अन्य विद्रोहियों के साथ एक पुरानी बोट में क्यूबा के तट पर उतरे पर वहाँ उतरते ही उनपर आक्रमण हुआ। उनमें से कुछ मारे गये और बाकी 'मायस्त्रा' की पहाड़ियों में भाग गये।

इसके बाद कास्ट्रो ने क्यूबा में बातिस्ता के विरुद्ध जो विद्रोही भावनाएँ फैली हुई थीं उनको अद्भुत रूप से संगठित किया। जिसके फलस्वरूप जनवरी सन् १६६ में जेनरल बातिस्ता भाग खड़ा हुआ और फिडेल कास्ट्रो की सेनाओं ने क्यूबा में प्रवेश किया।

क्यूबा की राजसत्ता हाथ में आने के बाद फीडेल कास्ट्रो ने क्यूबा का नवीनीकरण प्रारंभ किया। जिसके फलस्वरूप उनको अमेरिका से विरोध मोल लेना पड़ा। क्योंकि राजनैतिक रूप से स्वतन्त्र होने पर भी क्यूबा आर्थिक दृष्टि से अमेरिका की पराधीनता में रहा है। क्योंकि यहाँ की अर्थ-व्यवस्था के सबसे मजबूत आधार चीनी उद्योग पर अमेरिका का नियन्त्रण था।

फीडेल कास्ट्रो ने जब इस आर्थिक दासता से मुक्ति पाने के लिए कदम उठाना प्रारम्भ किया तो अमेरिका बिगड़ उठा।

दूसरी तरफ कास्ट्रो ने अमेरिका से मोर्चा लेने के लिए रूस के साथ सांठ-गाँठ करना प्रारम्भ किया। रूस ने अमेरिका के समीप ऐसा सुविधाजनक अड्डा पाने के अवसर को हाथ से न छोड़ा और उसने अपने जहाजों और पनडुब्बियों को क्यूबा के तट पर भेजना प्रारम्भ किया और अमेरिका को धमकी दी कि वह स्वतन्त्र क्यूबा के मामले में हस्तक्षेप न करे, क्योंकि रूसी 'राकेट' क्यूबा की रक्षा करने को तैयार हैं।

मगर अमेरिका ने इस नाजुक प्रसंग पर बड़ी दृढ़ता और साहस से काम लिया और रूस को चेतावनी दे दी कि अमुक अमुक समुद्री सीमा के भीतर रूसी जहाज और पनडुब्बियाँ प्रवेश न करें, वर्ना उन्हें तबाह कर दिया जायगा और इस चेतावनी के साथ ही अपनी जल शक्ति को तुरन्त उन सीमाओं पर जाने का आदेश दिया।

अमेरिका के इस सख्त कदम से रूस आश्चर्य में आ गया और उसने क्यूबा के मामले में आगे बढ़ाये हुए कदम को पीछे हटा लिया। रूस की इस दुर्बल नीति की उस समय अन्तर्राष्ट्रीय संसार में कड़ी मजाक और आलोचना हुई, मगर राजनीति में तो ऐसा होता ही है।

रूस की इस कमजोरी से कास्ट्रो के हौसले भी कुछ टूट पड़ गये और उधर से आने वाले बाह्य-स्रोत पूर्ण समाचार भी बन्द हो गये और ऐसा मालूम होता है कि अब वहाँ पर साधारणतया वैधानिक शासन चल रहा है।

काहिरा (कैरो)

सुप्रसिद्ध प्राचीन मिस्र देश की वर्तमान राजधानी, अफ्रीका महाद्वीप का सबसे बड़ा नगर, जो नील नदी के दक्षिणी किनारे पर नदी तथा उत्तर पश्चिमी पहाड़ के अन्तिम छोर पर स्थित है।

काहिरा नगर की स्थापना सन् ९६९ में "जोहर" नामक एक सेनानायक ने मिस्र को जीतकर की थी। सन् ११७० में सलादीन नामक सुलतान ने इस नगर के चारों ओर पत्थर का मजबूत परकोटा बनवाया। सन् १३५७ में यहाँ की सबसे दर्शनीय मसजिद "सुलतान हसन" का निर्माण हुआ। इस समय सारे नगर में २५० से अधिक मसजिदें बनी हुई हैं।

काहिरा का "अल अजहर" नामक विश्वविद्यालय सारे इस्लामी जगत् का एक प्रमुख शिक्षा केन्द्र है। इस विश्वविद्यालय में सभी इस्लामी देशों के विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने को आते हैं। काहिरा नगर का इस्माइलिया भवन मिस्र का राज निवास है और आब्दीन महल में मिस्र का शासनिक और सैनिक कार्य का संचालन होता है।

काहिरा इस समय सारे विश्व के राजनीतिज्ञों का एक आकर्षक केन्द्र बना हुआ है। यहाँ के राष्ट्रपति नासिर एक प्रभावशाली और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ हैं।

मुसलमानी राष्ट्रों को एक सूत्र में बाँधने के लिए सन् १९४५ में काहिरा में "अरब लीग" नामक एक संस्था का संगठन किया गया। इस संगठन में शुरू शुरू में मिस्र ईराक जोर्डन, सीरिया लेबनान सऊदी अरब, सूडान ट्यूनिशिया यमन और मोरक्को शामिल हुए। फिर मतभेद होने पर कुछ राष्ट्र इसमें से निकल भी गये।

काहिरा के मुख्य बाजार "खान अल-खलीली" तथा मुस्की नामक गली है।

परिशिष्ट

अकारादिक्रम के सिलसिले में कुछ नाम जो भूल से छूट गये थे परिशिष्ट के रूप में नीचे दिये जा रहे हैं।

कालीमेकस

प्राचीन यूनान का एक प्रसिद्ध कवि जिसका जन्म ईस्वी सन् पूर्व ३११ में और मृत्यु ई पू २४ में हुई। यह सिकन्दरिया के प्रसिद्ध पुस्तकालय का पुस्तकाध्यक्ष था।

कालीमेकस यूनान के हैलोनिक युग का एक प्रसिद्ध कवि था। सिकन्दर महान् की संसारव्यापी विजयों के कारण दूर-दूर के देशों में ग्रीक साहित्य के केन्द्र स्थापित हो गये थे। इनमें सिकन्दरिया का केन्द्र सबसे बड़ा था।

इस समय ग्रीक कविता के अन्तर्गत प्राचीनतावादी और रोमान्टिक दो प्रकार की परम्परायें प्रचलित थी। पहली परम्परा का नेता अपोलोनियस था जो होमर की वीर काव्य परम्परा का प्रवर्तक था और दूसरी रोमान्टिक परम्परा का प्रवर्तक "कालीमेकस" था। इन दोनों परम्पराओं में काफी संघर्ष चला। मगर अन्त में कालीमेकस की विचारधारा ही फलीभूत हुई और ग्रीक साहित्य में रोमान्टिक कविताओं का बोलबाला हो गया। आगे चलकर रोमन कवियों पर और उसके बाद सारे यूरोपियन साहित्य पर इस काव्य परम्परा का प्रभाव पड़ा।

कामता प्रसाद जैन डॉक्टर

हिन्दी भाषा में जैन साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान लेखक और सम्पादक जिनका जन्म सन् १९ १ में हुआ।

श्री कामता प्रसाद जैन रॉयल एशियाटिक सोसायटी लन्दन, भारतीय इतिहास परिषद वाराणसी दी वैमरसिंग भी विद्यापीठ ओसावगो जर्मनी वरपोम मिशनरी सोसाइटी कनाडा इत्यादि अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यिक संस्थाओं के सदस्य हैं। इनके अतिरिक्त "मुन्शन" (दैनिक) और आदर्श "जैन" "अहिंसा वाणी" वायस ऑफ अहिंसा इत्यादि पत्र पत्रिकाओं के भी सम्पादक रह चुके हैं तथा अब भी हैं।

जैन साहित्य के प्रकाशन में श्री कामता प्रसाद जैन की सेवायें बहुमूल्य हैं। कुछ खण्डों में प्रकाशित इनका जैन इतिहास जैन साहित्य में एक महत्वपूर्ण प्रकाशन है। इसी प्रकार "भगवान महावीर" "भगवान पार्श्वनाथ" "महावीर तथा बुद्ध" "अहिंसा और उसका विश्व व्यापी प्रभाव" "विचार और वितर्क" "वाहुबलि गोमटेश्वर" इत्यादि इनकी रचनाओं ने जैन साहित्य के अनुसन्धान में बड़ा महत्वपूर्ण भाग अदा किया है।

श्री कामता प्रसाद जैन को "जैन इतिहास" की खोज पर वि सो या जैन एकेडेमी द्वारा "डॉक्टर ऑफ लॉ" और धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन पर नेशनल कॉलेज अयूकमेनिकल चर्च टोरेन्टो कैनाडा के द्वारा डॉ ऑफ फिलासफी" की उपाधि प्राप्त हुई।

फाग-यू-वेई

उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के प्रारम्भ में चीनी साहित्य का एक क्रान्तिकारी साहित्यकार। जिसका जन्म सन् १८५२ में और मृत्यु सन् १९२७ में हुई।

उन्नीसवीं सदी में चीन के अन्तर्गत क्रान्ति की जो लहर प्रवाहित हुई उसने वहाँ के साहित्य को भी बहुत प्रभावित किया। फाग-यू-वेई इस काल का प्रभावशाली लेखक था। इसने अपनी लेखनी से उस समय के विचारों में एक तूफान पैदा कर दिया। राजनीति, दर्शन साहित्य इत्यादि सभी क्षेत्रों में इसकी रचनाओं ने एक युगान्तर उपस्थित कर दिया।

कारेल-हीनेक-माचा

चकोस्लाविया का एक प्रसिद्ध कवि जिसका जन्म सन् १८१ में और मृत्यु सन् १८३६ में हुई।

कारेल-हीलैण्ड-भाषा रोमान्टिक स्कूल का कवि था। सिर्फ छब्बीस वर्ष की उम्र में ही इसकी मृत्यु हो गई मगर इस छोटी सी उमर में ही उसने अपनी कविताओं से चेक-भाषा के साहित्य को एक नवीन धारा प्रदान की। इसकी मृत्यु के बाद ही इसकी कविताओं का विशेष आदर हुआ।

कार्ल ऑगस्ट

अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जर्मनी के 'वाइमर नगर का ड्यूक।

कार्ल ऑगस्ट जर्मनी के इतिहास में एक प्रसिद्ध *कलाप्रेमी, ज्ञान संरक्षक और उदार व्यक्ति हुआ है।*

इसके समय में जर्मनी का वाइमर नगर यूनान के प्राचीन एथेन्स नगर की तरह ज्ञान और कला का केन्द्र हो गया था।

इसी ड्यूक की संरक्षा म जर्मनी के गेटे, हर्डर, शिलर इत्यादि महान् कवियों ने अपने साहित्य का विकास कर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की थी। कार्ल ऑगस्ट का शिक्षक "क्रिस्टोफ मार्टिन वीलैण्ड" था। यह वह व्यक्ति था जिसकी प्रतिभा का प्रभाव हर्डर और गेटे पर पड़ा था। यह एक उच्चकोटि का उपन्यासकार भी था।

कालिन्स-विलियम

अंग्रेजी साहित्य में विषादपूर्ण कविताओं को लिखने वाला एक कवि जिसका जन्म सन् १७२१ में और मृत्यु १७५९ में हुई।

कॉलिन्स की रचनाओं में "ओड टू इवनिंग" "डर्ज इन सिम्बेलिन" इत्यादि रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। इन कविताओं के एक-एक शब्द में विषाद की गहरी छाया झलकती है।

क्लाउडियो-मोण्टेवर्डी

इटली का एक सुप्रसिद्ध ऑपेरा गायक जिसका जन्म सन् १५६७ में और मृत्यु सन् १६४३ म हुई।

क्लाउडियो ने इटली में सुप्रसिद्ध ऑपेरा नाट्यकला के आरम्भ और प्रचार में बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग अदा किया।

कार्लोपोर्टा

इटालियन साहित्य का एक सुप्रसिद्ध यथार्थवादी कवि जिसका जन्म सन् १७७५ में और मृत्यु सन् १८२१ में हुई। इसकी रचना "मिलानानिन वोर्गी" बहुत प्रसिद्ध है।

कॉमेडिया डेलआर्टे

इटली में प्रारम्भ होनेवाली सोलहवीं सदी की एक प्रसिद्ध और लोकप्रिय रंगमंचीय शैली।

इस नाट्यकला में सुखान्त या कॉमेडी नाटकों के अभिनय होते थे। इसके दृश्यों में एक विशेष प्रकार की सेटिंग रहती थी। इसका प्रत्येक दृश्य अभिनेता की स्वनिर्मित बुद्धि पर आधारित रहता था। जिस प्रकार भारतवर्ष में भाण्डों की नकल और नाच के तमाशे गाँवों में हुआ करते थे उसी प्रकार आधार हीन और कुरुचिपूर्ण प्रदर्शन इन खेलों में हुआ करते थे। योरप की भाँति ही इन खेलों का प्रचार भी सारे यूरोप में इटालियन कम्पनियों ने ही किया। जो बड़े ठाट-बाट से यूरोप में भ्रमण करती रहती थीं।

कारपेण्टर-मेल्कम-स्कॉट

अमेरिका के द्वारा संचालित दूसरी अन्तरिक्ष उड़ान में उड़ने वाले मानव यात्री, कारपेण्टर मैल्कम स्कॉट, जिनका जन्म १ मई सन् १९२५ को हुआ।

२४ मई १९६२ गुरुवार का दिन अमेरिका के अन्तरिक्ष अभियान कार्यक्रम के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा जब कि अन्तरिक्ष यात्री मैल्कम स्कॉट कारपेण्टर ने "औरोरा-सेवन" नामक अन्तरिक्ष यान में सवार होकर पृथ्वी की तीन परिक्रमाएँ कीं। और इस प्रकार अमेरिका की द्वितीय अन्तरिक्ष उड़ान को सफल बनाया। इस उड़ान में प्रति घण्टा १७,५१२ मील की गति से उड़ान भरते हुए ४ घण्टे ५६ मिनिट में उन्होंने पृथ्वी की तीन परिक्रमाएँ पूरी कीं।

कारपेण्टर का जन्म १ मई सन् १९२५ को बोल्डेर (कोलराडो) में हुआ था। सन् १९४१ में माध्यमिक स्कूल की पढ़ाई समाप्त कर वे अमेरिकन नौ सेना में उड्डयन शिक्षार्थी के रूप में भरती हो गये। सन् १९४९ में उन्होंने "कोलोराडो" विश्वविद्यालय से उड्डयन इन्जीनियरिंग की स्नातकीय उपाधि प्राप्त करली।

कर्नेल ग्लान एवं गवैन मूनियर द्वारा की गई अन्तरिक्ष की प्रथम कक्षागत उड़ान के दौरान कारपेन्टर को वैकल्पिक अन्तरिक्ष यात्री की तरह चुना गया था। उसके पश्चात् सन् १९६१ में प्रधान यात्री की तरह उन्होंने अन्तरिक्ष की सफल उड़ान भर कर अमेरिकन इतिहास म अपना रेकार्ड कायम कर दिया।

ऐकेडेमी

उच्चज्ञान शोधक और प्रचारक संस्था, जिसमें उच्च साहित्य के निर्माण और पठन पाठन की व्यवस्था रहती है।

सब से पहली ऐकेडेमी सम्भवतः ई. सन् से ३८७ वर्ष पूर्व यूनान के ऐथेन्स नगर में महान् तत्व ज्ञानी अफलातून या प्लेटो के द्वारा स्थापित की गई थी। इसमें अफलातून के रिपब्लिक (Republ c) नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में दी हुई उच्च शिक्षा की रूपरेखा के अनुसार गणित, ज्योतिष तर्क, न्याय नीति और प्रशासन की शिक्षा दी जाती थी और अनुसन्धान किये जाते थे।

सिकन्दरिया ऐकेडेमी

सिकन्दर महान की मृत्यु के पश्चात् ई. पू. तीसरी शताब्दी में उसके सेनापति टॉलमी ने सिकन्दरिया नगर में ऐकेडेमी की तरह एक विशाल ज्ञान सशोधक संस्था की स्थापना की। इस संस्था में बड़े-बड़े विद्वान ज्ञान की खोज में संलग्न रहते थे। यूक्लिड एरेस्टोस्थनीज (प्रसिद्ध गणितज्ञ) हिप्पाकस (प्रसिद्ध ज्योतिषी) आर्किमिडिस इत्यादि इतिहास प्रसिद्ध मीक तत्ववेत्ताओंने इसी संस्था के संरक्षण में अपने अनुसन्धान किये थे। इसी प्रकार के अनेक विद्वानों के कारण सिकन्दरिया उस समय संसार का सबसे बड़ा ज्ञान केन्द्र बन गया था।

बैतुल अल-हिकमा

अब्बासी खलीफा अल-मामून के समय में अर्थात् आठवीं सदी में बगदाद में "बैतुल अल-हिकमा" नामक एक ज्ञान-शोधक संस्था की स्थापना हुई थी। इसी शोध केन्द्र में "इब्राहीम अल फजारी" नामक एक अरबी विद्वान ने भारतीय साहित्य के गणित ज्योतिष के एक ग्रन्थ का अनुवाद "अल सिन्द हिन्द" नाम से किया। इस ग्रन्थ के द्वारा भारतीय अङ्क-प्रणाली का अरब लोगों को पहले पहल परिचय हुआ और उन्हीं के द्वारा यह अङ्क प्रणाली संसार में फैली।

इसी प्रकार की एक ज्ञान-संस्था दसवीं सदी में बगदाद में "इखवा-अल-सफा" के नाम से स्थापित हुई जिसमें विश्व-कोष शब्द कोष और महान् पुरुषों की जीवनियों पर अनुसन्धान होते थे।

इटालियन ऐकेडेमी

सन् १६६ में रोम के अन्तर्गत एक ऐकेडेमी की आर्कादिया के नाम से स्थापना हुई। इसका प्रधान उद्देश्य इटालियन कवियों को आडम्बर और कुरुचि से मुक्तकर शुद्ध मर्यादा में प्रतिष्ठित करना था। इसके सदस्यों में प्रसिद्ध समालोचक मार्जिना और मेटेस्टेसी भी थे। अठारहवीं सदी में इस ऐकेडेमी की शाखाएं समस्त इटाली में फैल गई। इस ऐकेडेमी की क्रियाशीलता का प्रभाव अन्य लोगों पर भी काफी पड़ा।

फ्रेञ्च ऐकेडेमी

सन् १६३४ में लुई चौदहवें के शासन काल में फ्रेञ्च ऐकेडेमी की स्थापना हुई। फ्रेञ्च ऐकेडेमी की स्थापना ने रेनेन्सा या पुनर्जागरण के आन्दोलन को राष्ट्रीय बना कर उसे स्थायित्व प्रदान किया। भाषा साहित्य और उसमें रची जाने वाली रचनाओं का उसके अधिकारी सदस्य

निर्मित करते थे। साथ ही अपनी प्रतिभा से ग्रन्थ के सम्पादक साहित्यकार उनका मार्गदर्शन भी करते थे।

कार्नेगी इन्स्टीट्यूट

इसी प्रकार की एक ज्ञान-संस्था २८ जनवरी सन् १९ २ को अमेरिका के वाशिंगटन नगर में कार्नेगी इन्स्टीट्यूशन के नाम से स्थापित हुई। इसके लिए अमेरिका के धन कुबेर कार्नेगी ने दो करोड़ पचास लाख डॉलर दिये थे।

इस संस्था की ओर से कैलीफोर्निया के विल्सन पर्वत पर हजार फीट की ऊँचाई पर एक विशाल वेध शाला की स्थापना की गई है जिसमें ग्रहों पर महत्वपूर्ण अनुसन्धान होते हैं। इसके अतिरिक्त साहित्य, विज्ञान कला कौशल आदि पर भी इस संस्था में अनुसन्धान किये जाते हैं।

ऐकेडेमी का शब्द अब तो सारे संसार में व्यापक रूप से प्रचलित हो गया है। और संसार के सभी सभ्य देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञान पर अनुसन्धान करने वाली अनेक एकेडेमियों की स्थापना हो चुकी है। भारत में भी केन्द्रीय सरकारों और राज्य सरकारों ने कई एकेडेमियों की स्थापना की हुई है।

सम्मति

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

श्री चन्द्रराज भण्डारी हिन्दी के पुराने और प्रसिद्ध साहित्य-सेवी हैं। उन्होंने "वनौषधि चन्द्रोदय" नामक भारतीय वनस्पतियों का विश्व कोष आज से लगभग बीस वर्ष पूर्व प्रकाशित किया था।

उसी संग्रहात्मक प्रतिभा और परिश्रम का सदुपयोग करते हुये अब आपने "विश्व इतिहास कोष" नामक महान् ग्रन्थ का लेखन आरम्भ किया है।

इस ग्रंथ का प्रथम खण्ड मेरे सामने है। इसे देखकर मुझे अत्यधिक प्रसन्नता हुई है।

इस भाग में लगभग ६५ ऐतिहासिक व्यक्तियों देशों और संस्थाओं के परिचय अकारादि क्रम से बहुत ही बोधगम्य सरल शैली में दिये गए हैं। भारतवर्ष और विश्व के अनेक देशों के महापुरुषों का परिचय एक ही स्थान में पाठकों के लिए इस कोष में सुलभ है। राजनीति, धर्म दर्शन साहित्य और कला इन सभी क्षेत्रों में जिन व्यक्तियों ने कोई उल्लेखनीय कार्य किये हैं और जिनके परिश्रम से मानव-जाति का इतिहास समृद्ध बना है उनका यह सुलभ परिचय हिन्दी संसार के लिये विशेष उपयोगी होगा ऐसी आशा है। मैं ऐसे ज्ञान-वर्धक आयोजन की हृदय से सफलता चाहता हूँ।

विशेषतः शिक्षण संस्थाओं में ऐसे ग्रन्थ का व्यापक प्रचार लाभप्रद होगा।